राजसभा में मानसिंह तोमर
(प्रस्तावना देखें)

—म० प्र० पुरातत्व विभाग के सौजन्य से

तोमरों का इतिहास

द्वितीय भाग

ग्वालियर के तोमर

तथा

मालवा के तोमर, सीसौदिया सामन्त रामसिंह, मुगलों के तोमर सामन्त,
सांस्कृतिक प्रवृत्तियाँ तथा अमृत मन्थन

* श्री हरिहरनिवास द्विवेदी *

मुरार, ग्वालियर–४७४००६

प्रथम संस्करण
अप्रैल, १९[illegible]६

मूल्य : ७५ रुपये

आवरण ;
मानमन्दिर की हथियापौर

मुद्रक
लॉ जर्नल प्रेस
जयेन्द्रगंज, ग्वालियर-१

प्रकाशक
विद्यामन्दिर प्रकाशन
मुरार, ग्वालियर-६

लिट्०, एल्-एल्० बी०)

यों तो भारतीय इतिहास के राजनीतिक पहलू की रूप-रेखा बहुत-कुछ सुस्पष्ट हो गई है, तथापि उसमें आज भी अनेकानेक बड़े-बड़े ऐसे अंतराल विद्यमान हैं, जहाँ पर प्रामाणिक इतिहास का मन्द प्रकाश भी अब तक नहीं पहुँच पाया है। यही नहीं, भारतीय इतिहास के आर्थिक, प्रशासन संगठनीय, धार्मिक, सामाजिक, सांस्कृतिक, साहित्यिक, आदि कई-एक विभिन्न अतीव महत्त्वपूर्ण पक्षों की जाँच-पड़ताल और अध्ययन का अत्यावश्यक कार्य अभी प्रारम्भ ही हुआ है। अपितु अनादिकाल से अद्यावधि अनवरत बहने वाली जन-जीवन की अविच्छिन्न धारा के स्वरूप, उसकी गति-विधियों, उतार-चढ़ावों, आदि के अनुक्रम तथा देश-काल के फलस्वरूप उत्पन्न विभिन्नताओं में भी पाई जाने वाली उसकी अजस्र अविरल एकता के इतिहास के अध्ययन की ओर अब अधिकाधिक ध्यान दिया जाने लगा है। परन्तु इन उद्देश्यों की पूर्ति के लिए आज यह सर्वथा अनिवार्य हो गया है कि राजनीतिक इतिहास में पाए जाने वाले क्रमभंगों को दूर करने के लिए अंधकार पूर्ण व्यवधानों पर तत्परता के साथ खोज की जाए।

किसी भी राष्ट्र अथवा देश का इतिहास अपने-आप में एक अविच्छिन्न इकाई होते हुए भी उस देश के विभिन्न प्रदेशों अथवा सब ही क्षेत्रों के स्थानीय इतिहासों की अविकल समष्टि भी होता है। अतएव देश के इतिहास को परिपूर्ण करने के लिए प्रादेशिक, क्षेत्रीय अथवा स्थानीय इतिहासों की खोज तथा उनका गहन अध्ययन अनिवार्य हो जाता है। यही नहीं. क्षेत्रीय इतिहास के साथ ही किन्हीं विशेष कालों में उस क्षेत्र के जन-जीवन अथवा इतिहास को अत्यधिक प्रभावित करने वाले व्यक्तियों और कुलों के भी विवरणों का शोध और अध्ययन अत्यावश्यक हो गया है। अतः श्री हरिहरनिवास द्विवेदी का "ग्वालियर के तोमर" ग्रन्थ की रचना करने का प्रारम्भिक निश्चय सर्वथा समुचित, समीचीन, अत्यावश्यक और अपने-आप में भी बहुत महत्त्वपूर्ण था।

श्री हरिहरनिवास द्विवेदी स्वयं ग्वालियर क्षेत्र के निवासी हैं, अतः ग्वालियर के पुरातत्व और इतिहास के साथ ही वहाँ की संस्कृति, भाषा, साहित्य तथा कला के प्रति भी उनका विशेष आकर्षण और निष्ठा होनी स्वाभाविक ही है। प्रारंभ से ही इन सभी विषयों के प्रति उनकी विशेष रुचि रही है और पर्याप्त अध्ययन कर उन पर उन्होंने बहुत कुछ लिखा तथा प्रकाशित भी किया है। "ग्वालियर राज्य के अभिलेख" प्रकाशित किए और "ग्वालियर राज्य की मूर्ति-कला" की विवेचना की। "मध्यदेश" नाम की परम्परा को बहुत से प्रमाणों से वे लगभग हमारे समय तक ले आए हैं। "मध्यदेशीया" अथवा ग्वालियरी भाषा के संबंध में नयी सामग्री के द्वारा भाषा और साहित्य के इतिहास

की एक खोई हुई कड़ी प्रस्तुत करने का उन्होंने प्रयत्न किया। यही नहीं "मानसिंह तोमर के ग्वालियर में और ग्वालियरी भाषा के पद-साहित्य में सूर की साहित्यक साधना के सूत्रों" के द्वारा व्रज-भाषा और ग्वालियरी में निरन्तर पाई जाने वाली अनवच्छिन्न परम्परा की स्थापना के फलस्वरूप ग्वालियर क्षेत्रीय साहित्य के महत्त्व को सुस्पष्ट रूप से प्रमाणित कर उक्त साहित्य के पुनरुद्धार और प्रकाशन के लिए विशेष आयोजनों को श्री हरिहर निवास द्विवेदी सयत्न कार्यान्वित करते रहे हैं। मानसिंह तोमर कृत "मानकुतूहल" की खोज में जब कश्मीर के सूबेदार फकीरुल्ला कृत "मानकुतूहल" का सम्बन्धित फारसी अनुवाद "राग-दर्पण" उन्हें मिला तो उस फारसी ग्रन्थ का हिन्दी अनुवाद "मानसिंह और मानकुतूहल" नामक पुस्तक में छपवा दिया। ग्वालियर के शासक मानसिंह तोमर कृत मूल "मानकुतूहल" की प्रतिलिपि के लिए उनकी खोज आज भी अविरत चल रही है। इसी प्रकार मानसिंह तोमर के राजदरबार में ध्रुपद के गायकों में सर्वश्रेष्ठ नायक बख्शू के पदों के संग्रह 'हजार ध्रुपद-इ-नाइक बख्शू* की प्रतिलिपि के लिए भी वे भरसक प्रयत्न कर रहे हैं।

ग्वालियर क्षेत्र कई शताब्दियों तक साहित्य, संगीत और कला का महत्त्वपूर्ण केन्द्र रहा है। प्राचीन काल से ही ग्वालियर क्षेत्र के साथ अनेकानेक साम्राज्यों, कई महत्त्वपूर्ण राजघरानों, कुछ दुर्द्धर्ष आक्रमणकारियों अथवा बहुत से उद्भट सेनानायकों का समय-समय पर निकट सम्बन्ध रहा है, जिनके अमिट चिह्न और लेख आज भी वहाँ यत्र-तत्र देख पड़ते हैं। परन्तु ग्वालियर क्षेत्र से भी कहीं अधिक ग्वालियर नगर की इन परम्पराओं को सुस्पष्ट स्वरूप देने तथा उन्हें सयत्न सुदृढ़तया स्थायी बनाने में सब से अधिक हाथ ग्वालियर के तोमर शासकों का रहा था, जिससे वहाँ के स्थानीय इतिहास में इस तोमर राजघराने का अनुपम स्थान और अत्यधिक महत्त्व है। इसी कारण कोई बीस वर्ष पहले श्री हरिहरनिवास द्विवेदी ग्वालियर के तोमरों का राजनीतिक और सांस्कृतिक इतिहास लिखने को प्रवृत्त हुए थे, तथा इधर लगभग एक युग के अन्तर्विराम के बाद अब उसे उन्होंने पूरा किया है।

तोमर वशीय क्षत्रिय दिल्ली को ही अपना मूल स्थान मानते आए हैं, क्योंकि सर्वमान्य सुज्ञात ऐतिहासिक प्रवाद के अनुसार भारत की सुविख्यात सर्वाकर्षक राजधानी दिल्ली की सर्वप्रथम स्थापना तोमरों ने ही की थी। अतएव भूमिका के रूप में ही क्यों न हो, ग्वालियर के तोमरों के इतिहास के प्रारम्भ में भी दिल्ली के तोमरों का विवरण दिया जाना स्वाभाविक ही था। भारतीय इतिहास में तोमर वंशीय क्षत्रियों का सुनिश्चित उत्थान ईसा की १० वीं शताब्दी के उत्तरार्ध में ही हुआ था। किन्तु भारत की अमरपुरी दिल्ली के संस्थापक और आदि शासक ऐतिहासिक तोमर राजवंश का इतिहास अब भी अंधकारपूर्ण तथा बहुत कुछ अज्ञात ही रहा है। तब तक की अनुश्रुतियों के आधार पर "आईन-इ-अकबरी" में दी गई मालवा के तोमर राजाओं की वंशावली ने एक गहन समस्या उत्पन्न कर दी है। जहाँ तदर्थ अत्यावश्यक समकालीन प्रामाणिक आधार-सामग्री

*बोड्लियन लायब्रेरी, आक्सफर्ड, फारसी हस्तलिखित ग्रंथ 'औस्ले, क्र० १५८'।

के अभाव के साथ ही उसके प्रति इतिहासकारों की उपेक्षा के कारण दिल्ली के तोमर राजवंश के महत्त्वपूर्ण इतिहास को अब तक सुनिश्चितरूपेण सुव्यवस्थित और क्रमबद्ध नहीं किया जा सका है, वहाँ सैकड़ों वर्षों तक जाति विशेष के कण्ठ पर चले आ रहे "पृथ्वीराज-रासो" की निरन्तर बदलती अथवा बढ़ती हुई परम्पराओं तथा उनसे प्रभावित तत्कालीन अन्य आधार-सामग्री के ही फलस्वरूप ईसा की १२वीं सदी के उत्तरार्ध कालीन अजमेर-दिल्ली क्षेत्र के इतिहास की मूलगत रेखाएँ भी अस्पष्ट अथवा भ्रामक हो गई हैं। अतः तोमरों के इस प्रारम्भिक इतिहास की रूप-रेखा को सुस्पष्ट करने को श्री हरिहरनिवास द्विवेदी समुत्सुक हो उठे।

तोमरों के प्रारम्भिक इतिहास विषयक खोज करते हुए श्री द्विवेदी इस प्रकार अनायास दिल्ली के तोमरों के इतिहास की ओर अनिवार्यरूपेण आकर्षित हुए। तब तोमरों के इतिहास की तत्कालीन अनेकानेक अबूझ पहेलियों, उलझी हुई गुत्थियों तथा उत्कट समस्याओं का सही प्रामाणिक हल प्रस्तुत करने को कटिबद्ध होकर जब वे अपने उस मूल-ग्रन्थ के उन प्रास्ताविक प्रारम्भिक अध्यायों को संशोधित कर लिखने लगे, तबतो ये प्रारम्भिक अध्याय द्रौपदी के चीर की तरह निरन्तर बढ़ते ही गए; यहाँ तक कि दिल्ली के तोमरों के इतिहास को लेकर एक पूरा स्वतन्त्र ग्रन्थ बन गया है। अतएव अब इस परिवर्धित संशोधित ग्रन्थ 'तोमरों का इतिहास' के दो भाग हो गए हैं; प्रथम भाग में "दिल्ली के तोमर" राजाओं का इतिहास वर्णित है और दूसरे भाग "ग्वालियर के तोमर" में पूर्व प्रस्तावित इतिहास को पूर्णतया संशोधित और सुव्यवस्थित कर प्रस्तुत किया गया है।

दिल्ली के तोमरों के इस अन्धकारपूर्ण इतिहास पर अत्यावश्यक प्रकाश डाल कर उसको समुचितरूपेण क्रमबद्ध करने के लिए श्री हरिहरनिवास द्विवेदी ने इतिहासकारों द्वारा अब तक प्रयुक्त किए जाते रहे सभी सुज्ञात ऐतिहासिक आधारों के अतिरिक्त बहुत-सी ऐसी आधार-सामग्री भी एकत्र की, जिसकी ओर इतिहासकारों का ध्यान नहीं गया था अथवा जो अब तक प्रकाश में नहीं आई थी। ऐसी सब ही प्रकार की ऐतिहासिक आधार-सामग्री का विशद विवरण और उसका समालोचनात्मक विवेचन लेखक ने प्रथम भाग के प्रथम खण्ड में सविस्तर दिया है।

प्रथम भाग के सब ही परिच्छेद तत्कालीन इतिहास के आधुनिक इतिहासकारों और भावी संशोधकों के लिए विचारोत्पादक तथा प्रेरक प्रमाणित होंगे। प्रथम भाग के दूसरे परिच्छेद में तोमर मुद्राओं पर अंकित लाञ्छन (प्रतीक-सिम्बल) और श्रुतिवाक्य (लेख-लेजण्ड) का गहराई तक अध्ययन कर तत्कालीन तथा-कथित चौहान मुद्राओं के साथ उनकी तुलना करने के बाद श्री द्विवेदी ने अपने जो निष्कर्ष निकाले हैं, वे वस्तुतः मुद्रा-विज्ञान के विशेषज्ञों को चौंका देने वाले ही नहीं, बहुत प्रेरक और विचारणीय भी हैं। उनके द्वारा यों प्रस्तुत इन सारी जटिल गुत्थियों को सुलझाने के लिए इन विशेषज्ञों को श्री द्विवेदी की

स्थापनाओं का अनिवार्यरूपेण गहन परीक्षण तथा अपनी अब तक की मान्यताओं पर पुनर्विचार करना होगा।

तोमर राज्य के अधीन क्षेत्रों में, विशेषतया दिल्ली में प्राप्य स्थापत्य और शिलालेखों के साथ चौहानों आदि के संबंधी शिलालेखों का परिक्षण किया गया है। "पार्श्वनाथ चरित", "खरतरगच्छ बृहद्-गुर्वावलि" आदि जैन कृतियों की जाँच-पड़ताल की गई है। "ललित विग्रहराज" नाटक आदि संस्कृत ग्रन्थों में उपलब्ध इतिहास-सामग्री को भी परखा गया है। हिन्दी आख्यान काव्यों की परम्परा में "पृथ्वीराज-रासो" में मिलने वाले दिल्ली अथवा तोमरों आदि विषयक उल्लेखों की अनैतिहासिकता को सुस्पष्ट रूपेण प्रमाणित किया गया है। फारसी आख्यानों और अबुल फजल कृत "आईन-इ-अकबरी" के विवरण पर आधारित तोमर इतिहास के इतिवृत्तों के अतिरिक्त विभिन्न वंशावलियों अथवा पश्चात्कालीन अनुश्रुतियों आदि का विश्लेषण किया गया है। यही नहीं, "ढिल्लिकाग्रहणश्रांतम्" के मिथ्या प्रवाद के शिलांकित किए जाने और उसके कूटनीतिक प्रचार के संभावित हेतु का अनुमान लगाने के साथ ही कई प्रमाणों द्वारा अपनी स्थापना का समर्थन करते हुए उक्त प्रवाद के सृष्टाओं के नाम भी श्री द्विवेदी ने निर्धारित किए हैं।

इस प्रकार, विस्तृत जाँच-पड़ताल और संयत्न किए गए गहन विश्लेषण द्वारा उन्होंने जो-जो स्थापनाएँ की हैं, उन सबका समुचित प्रयोग करते हुए इस ग्रन्थ के प्रथम भाग के द्वितीय खण्ड में भी श्री द्विवेदी ने दिल्ली के तोमरों के इतिहास की संशोधित तथा परिवर्धित क्रमबद्ध रूप-रेखा को अपने विशिष्ट ढंग से सप्रमाण प्रस्तुत किया है। तोमरों की उत्पत्ति सम्बन्धी प्राप्त संकेतों का उल्लेख करके लेखक ने तत्सम्बन्धी संभावित सामाजिक प्रक्रिया विषयक अपना मत भी स्पष्ट किया है। तोमरों के आदि-क्षेत्र तंवरघार का भौगोलिक सीमांकन करने के बाद तोमरों का प्रारम्भिक इतिहास देते हुए आदि तोमर राजा अनंगपाल द्वारा अनंग राज्य और उसकी राजधानी दिल्ली की स्थापना का वर्णन किया है।

दिल्ली के तोमर राज्य के साथ हुए अजमेर के चौहान राजाओं तथा गजनी के तुर्क सुलतानों के अनेकानेक युद्धों अथवा विकट-संघर्षों का इतिवृत्त दिया गया है। वंशानुगत क्रम से दिल्ली पर राज्य करने वाले विभिन्न तोमर राजाओं का विवरण लिखते हुए लेखक ने दिल्ली के शासक पृथ्वीपाल तोमर का जो वृत्तांत लिखा है; उसमें तोमर-चौहान संघर्ष के फलस्वरूप प्रारम्भ हुए तोमर राज्य के विघटन का भी स्पष्ट उल्लेख किया गया है। आगे दिल्ली के अन्तिम प्रतापी तोमर राजा चाहड़पाल ने तराईं के दोनों ऐतिहासिक युद्धों में क्या-कुछ किया है इसका सप्रमाण विवरण देते हुए तराईं के द्वितीय निर्णायक युद्ध में राजपूत सेना की पूर्ण पराजय के फलस्वरूप अजमेर के शासक पृथ्वीराज चौहान (राय पिथौरा) की मृत्यु कब, कैसे और कहाँ हुई थी, तराईं यह भी

निर्धारित करने का प्रयत्न इस इतिहास-ग्रन्थ के प्रथम भाग में किया गया है। मुहम्मद गोरी द्वारा दिल्ली में नियुक्त सेनानायक अधिकारी गुलाम कुतुबुद्दीन ऐवक ने कोई एक वर्ष वाद जव दिल्ली के अंतिम तोमर राजा तेजपाल का वध करवा दिया, तव उसके साथ ही दिल्ली के तोमर-राज्य के इतिहास पर भी यवनिकापात हो गया। तेजपाल के पुत्र ने चम्वल के वीहड़ों की राह ली और तोमर पुनः अपने पूर्वस्थान पर लौट आए। यह इतिहास लिखे जाने के वाद प्राप्त दिल्ली के राजवंशों की वंशावलियों और "दिल्ली-नामा" को इस भाग के अन्तिम परिशिष्ट में प्रकाशित कर श्री द्विवेदी ने भावी संशोधकों के लिए उन्हें सुलभ कर दिया है।

इस प्रकार श्री हरिहरनिवास द्विवेदी ने इस ग्रन्थ के प्रथम भाग में दिल्ली के तोमर राज्य का खोजपूर्ण क्रमवद्ध इतिहास प्रस्तुत किया है। दिल्ली के तोमरों का ऐसा पूर्ण इतिहास अभी तक नहीं लिखा गया है, अतएव यह ग्रन्थ ऐतिहासिक साहित्य की एक उल्लेखनीय उपलव्धि है। दिल्ली के तोमरों का इतिहास लिखते समय श्री द्विवेदी को अनिवार्यरूपेण उनके पड़ौसी और प्रायः विरोधी अजमेर के चौहान राजघराने के इतिहास का भी गहरा अव्ययन और वारम्वार विवेचन करना पड़ा है। इसी के फलस्वरूप अपने इस ग्रन्थ में श्री द्विवेदी ने अव तक सर्वस्वीकृत कई एक प्राचीन मान्यताओं को भ्रान्त अथवा निराधार प्रमाणित कर उन्हें अग्राह्य घोषित करने के वाद उनके स्थान पर अपनी नयी स्थापनाएँ प्रस्तुत की है, जो तत्कालीन इतिहास के विशेषज्ञों और संशोधकों के लिए वहुत वड़ी चुनौती हैं, जिनकी न तो उपेक्षा ही की जा सकेगी और जिनका न आसानी से संक्षेप में निराकरण ही संभव हो सकेगा।

तत्काल यह कहना संभव नहीं कि श्री द्विवेदी की इन स्थापनाओं में से कितनी सर्वमान्य होकर भविष्य में लिखे जाने वाले इतिहास में समाविष्ट की जा सकेंगी; परन्तु यह वात स्पष्ट है कि उनके इस ग्रन्थ से दिल्ली के तोमरों के इतिहास पर सर्वथा नया प्रकाश पड़ा है, और तोमरों के दिल्ली-राज्य के इतिहास पर अधिकाधिक शोध के हेतु इससे जो विशेष प्रेरणा मिलेगी, उससे तत्कालीन इतिहास विषयक हमारे ज्ञान की परिधि आगे भी निरन्तर वढ़ती ही जाएगी।

श्री हरिहरनिवास द्विवेदी द्वारा प्रस्तावित मूल ग्रन्थ **"ग्वालियर के तोमर"** अव इस **'तोमरों का इतिहास'** के द्वितीय भाग के रूप में प्रकाशित किया जा रहा है।

तोमरों के दिल्ली राज्य का अन्त होने के कोई दो शताव्दी वाद तोमरों ने ग्वालियर में अपने स्वाधीन राज्य की नींव डाली। इन दो तोमर राजघरानो को सीधी जोड़ने वाली प्रामाणिक जानकारी उपलव्व नहीं है। अतः दिल्ली के व्वस्त हो जाने के वाद चम्वल के वीहड़ों में शरण लेकर कालान्तर में वहाँ धीरे-धीरे अपनी शक्ति वढ़ाने

वाले चम्बल के दक्षिणी तट के तोमर सामन्तों का प्राप्य विवरण देते हुए श्री द्विवेदी ने ग्वालियर के तोमर राजाओं को दिल्ली के तोमर राजघराने से जोड़ सकने वाली संभावित कड़ियों का संकेत किया है, तथा खड्गराय कृत "गोपाचल आख्यान" अथवा "ग्वालियर नामा" से प्राप्त जानकारी के साथ फारसी आधार-ग्रन्थों के उल्लेखों का यथासंभव सामंजस्य स्थापित करने का भी प्रयत्न किया है।

यों ग्वालियर के इस तोमर राजघराने की संभावित प्राचीन वंश-परम्परा तथा ऐतिहासिक पृष्ठ-भूमि प्रस्तुत करने के बाद श्री द्विवेदी ने तोमर राजघराने के इतिहास-प्रसिद्ध ग्वालियर राज्य का राजनीतिक इतिहास पर्याप्त विस्तार के साथ दिया है। वीरसिंह देव तोमर द्वारा उसका बीजारोपण और प्रारम्भिक विकास, तैमूर के भारत-आक्रमण के फलस्वरूप उत्पन्न परिस्थितियों से पूरा-पूरा लाभ उठा कर वीरमदेव द्वारा उसका उत्थान, डूंगरेन्द्र और कीर्तिसिंह का उसे समर्थ तथा शक्तिशाली बनाना, मानसिंह द्वारा उसका बहुमुखी विकास तथा चरमोत्कर्ष, और अन्त में इब्राहीम लोदी के हाथों विक्रमादित्य की पूर्ण पराजय तथा ग्वालियर पर दिल्ली सल्तनत के एकाधिपत्य का भाव-पूर्ण सटीक विवरण दिया गया है। दिल्ली सल्तनत की निरन्तर बदलती हुई परिस्थितियों, वहाँ के शासक-घरानों में फेर-बदल और विभिन्न सुल्तानों के विभिन्न दृष्टिकोणों का उल्लेख कर ग्वालियर के इस नवोदित राज्य के साथ समय-समय पर बदलते हुए दिल्ली सल्तनत के पारस्परिक सम्बन्धों की चर्चा करते हुए उनके प्रभाव तथा परिणामों को भी सुस्पष्ट किया गया है। साथ ही ईसा की १५वीं शताब्दी कालीन उत्तरी भारत में पास-पड़ौस के अनेकानेक छोटे-बड़े हिन्दू-मुसलमान राज्यों के साथ ग्वालियर के इन तोमर शासकों के पारस्परिक सम्बन्धों का विवेचन करते हुए उनके साथ यदा-कदा किए गए आपसी समझौतों अथवा संघर्षों की पृष्ठ-भूमि को भी स्पष्ट करने का प्रयास किया गया है। इन्हीं संदर्भों में महाराणा कुम्भा के शासनकाल में मेवाड़ राज्य के एक ही महती शक्ति के रूप में उभरने का जो प्रभाव समसामयिक इतिहास पर पड़ा, और वही परम्परा आगे महाराणा सांगा के समय तक चलती गई थी, उसकी भी समीक्षा की गई है। इसी तरह ग्वालियर के पास-पड़ौस के नरवर आदि कुछ राज्यों और वहाँ के राजघरानों आदि के सम्बन्ध में उपयोगी जानकारी भी दी गई है, जो क्षेत्रीय इतिहास पर नया प्रकाश डालती है।

ग्वालियर के तोमर राज्य के अन्त के साथ ही श्री द्विवेदी ने अपने इस इतिहास-ग्रन्थ को समाप्त नहीं किया है, वरन् वहाँ के तोमर घराने के बाद के इतिहास की भी कई महत्त्वपूर्ण झाँकियाँ प्रस्तुत की हैं। पुनः मालवा, गढ़वाल और नूरपुर के कुछ ऐसे तोमर घरानों का भी प्राप्त विवरण दिया है, जिनका ग्वालियर के इस तोमर राजवंश के साथ सम्भवतः कोई वंश-परम्परागत सम्बन्ध हो।

ग्वालियर के तोमर राज्य के राजनीतिक इतिहास के साथ-साथ तथा अलग भी उसके सांस्कृतिक इतिहास का विशेष रूपेण विस्तृत वृत्तांत दिया गया है। वहाँ के प्रमुख अधिकारियों, उनकी वंशगत अथवा गुरु-शिष्य परम्पराओं का भी इसमें उल्लेख है।

तोमर राजघराने के साथ लगे हुए सनाढ्य पुरोहित आदि सुज्ञात ब्राह्मण घरानों के वंशपरम्परागत सम्बन्धों का विवरण देकर इस भारतीय सांस्कृतिक विशेषता का एक उल्लेखनीय उदाहरण समुपस्थित किया गया हैं। पुनः तत्कालीन जैन साधु, आचार्यों, विद्वानों अथवा भट्टारकों के प्रति इन तोमर शासकों के समादर तथा प्रश्रय का विवरण देकर अन्य धर्मावलम्बियों के प्रति उन तोमर राजाओं की सहिष्णुतापूर्ण उदार नीति की जानकारी ही नहीं दी गई है, वरन् उन युगों की तत्कालीन राजनीति पर उनके विशेष प्रभाव के साथ ही तब की सांस्कृतिक, साहित्यिक आदि गतिविधियों में जैन धर्मावलम्बियों के महत्त्वपूर्ण सक्रिय योगदान को भी सुस्पष्ट कर दिया है।

तोमर-कालीन ग्वालियर की संगीत-साधना मध्यकालीन भारत के सांस्कृतिक इतिहास की एक सर्वव्यापी प्रभावशील उपलब्धि और अतीव महत्त्वपूर्ण घटना थी, जिसकी पुष्ठ-भूमि को सुस्पष्ट करने के लिए भारत के प्रारम्भिक मुसलमान सुल्तानों के राज-दरबारों में मान्यता प्राप्त ईरानी संगीत के साथ भारतीय संगीत प्रणाली के अत्यावश्यक समन्वय के हेतु अमीर खुसरो के सफल प्रयासों का श्री द्विवेदी ने विस्तृत विवरण दिया है। तब उत्तरी भारत में प्रचलित संगीत के विविध अंगों के शास्त्रीय विवेचन के साथ ही उसे अधिक लोकप्रिय बनाने और भारतीय संस्कृति के अनुरूप उसे ढालने के हेतु ग्वालियर के तोमर राजाओं के सतत प्रयत्नों और आयोजनों के वृत्तांत में तब "विष्णुपद" तथा "ध्रुपद" गायन-शैलियों के प्रारम्भ और विकास के साथ ही ध्रुपद की चार वाणियों की प्रतिष्ठा तथा "धमार" और "होरी" के प्रचार पर भी नया प्रकाश डाला है। ग्वालियर के तोमर राज्य की समाप्ति के बाद किस प्रकार ग्वालियरी संगीत देश भर में फैला और उसे मुगलों और बीजापुर के राज-दरबारों में ही प्रतिष्ठा नहीं प्राप्त हुई, अपितु ब्रज में पहुँच कर वहाँ अपने विशिष्ट स्वरूप में वह भक्तों के कंठों से और कृष्णमन्दिरों में भी प्रतिध्वनित होने लगा, इसका भी विवेचन किया गया है।

यह बात यहाँ विशेषरूपेण उल्लेखनीय है कि अपनी इस कृति में भी लेखक ने ग्वालियर के इतिहास-प्रसिद्ध तोमरों के राज्य तथा उनके काल का बहुविध इतिहास प्रस्तुत करके ही संतोष नहीं कर लिया है; प्रत्युतः ग्वालियर दुर्ग, नगर और क्षेत्र के विगत वृत्त विषयक बहुतसी आधार-सामग्री भी इस ग्रंथ में संग्रहीत कर दी है। ग्वालियर दुर्ग, वहाँ के तोमर-कालीन राज-महलों, बाग-बगीचों और पास-पड़ौस के रमणीय प्राकृतिक स्थलों आदि का जो विस्तृत समकालीन विवरण बाबर की आत्मकथा में मिलता है, उसका हिन्दी अनुवाद उद्धृत करते हुए उस पर अपनी जानकारी पूर्ण सटीक टिप्पणियाँ भी श्री द्विवेदी ने साथ में जोड़ दी हैं। पंचम खण्ड के 'दूसरे परिशिष्ट' (पृ० ३६१-३६९) में ग्वालियर दुर्ग आदि के प्राचीन इतिहास विषयक प्राप्य महत्वपूर्ण आधार-सामग्री की यथेष्ट जानकारी दी गई है। अतएव ग्वालियर क्षेत्रीय इतिहास के संशोधकों के लिए उस सबकी खोज, उसका अध्ययन और समुचित उपयोग करना अब अनिवार्य हो गया है।

तत्संबंधी अत्यावश्यक संदर्भग्रन्थों की दुर्लभता के कारण ही श्री द्विवेदी फारसी में लिखे गये उन ग्वालियर-नामाओं के बारे में जो जानकारी नहीं दे पाये हैं, उसे यहाँ देदेने का लोभ मैं संवरण नहीं कर पारहा हूँ।

सैय्यद मुजफ्फर खां खानजहाँ बारहा कोई सत्रह वर्ष (१६२८-१६४५ ई०) तक ग्वालियर का किलेदार और जागीरदार रहा था। उसके मुन्शी शेख जलाल हिसारी ने श्याम ब्राह्मण कृत एक हिन्दी ग्रन्थ † के आधार पर अपने 'ग्वालियर-नामा' (फ़ारसी) की रचना सन् १६४५ ई० में संपूर्ण की थी। फारसी में लिखे गये 'ग्वालियर-नामाओं' में यही ग्रन्थ प्राचीनतम है। इसमें प्राप्य विवरण को यथावत् अपने ग्रन्थ में सम्मिलित कर हीरामन ने उसके बाद के बीस वर्षों की घटनाएँ भी अपने 'ग्वालियर-नामा' में जोड़ दी हैं। तदनन्तर ईसा की १८वीं शताब्दी में मोतीराम और खुशहाल ने अपना 'अहवाल-इ-किला-इ-ग्वालियर' लिखवाया था। उसके कुछ ही वर्षों बाद खैरुद्दीन इलाहाबादी ने अपना 'ग्वालियर-नामा' अथवा 'कारनामा-इ-ग्वालियर' लिखा था। इन सब ही फारसी ग्रन्थों की हस्तलिखित प्राचीनतम प्रतिलिपियाँ लंदन के ब्रिटिश म्यूजियम में सुरक्षित हैं।*

इस ग्रन्थ के अंतिम परिच्छेद 'समुद्र-मंथन और नीलकण्ठ' में उसके अध्ययनशील खोजी लेखक ने गंभीर विचारोत्पादक ढंग से भारत के मुसलमान आक्रमणकारियों की धार्मिक नीति के वास्तविक कारणों तथा दिल्ली की मुसलमानी सल्तनत के शासनकाल में उसके क्रमागत विकास आदि का सप्रमाण विवरण बहुत ही संयत शब्दों में देने का प्रयत्न किया है। मुसलमानी सल्तनतों में हुए उन अनेक धर्म-संघर्षों की प्रतिक्रियाओं के फलस्वरूप तब समन्वय-सूत्रों के जो अंकुर फूटे उनका उल्लेख करते हुए भारतीय योग-तंत्र के प्रभाव तथा उस सब में सूफी संतों, नाथपंथी योगियों, जैन संप्रदाय, आदि ने जो भी थोड़ा-बहुत योगदान किया था उसका श्री द्विवेदी ने सुस्पष्ट विवेचन किया है। इस धार्मिक समन्वय को भरसक बढ़ाने में ग्वालियर के तोमर शासकों का बहुत हाथ रहा था, तथा काश्मीर के सुलतान जैनुल-आबदीन ने तत्सम्बन्धी एक विशिष्ट अनुकरणीय आदर्श प्रस्तुत किया था, उसका इस परिच्छेद के अंत में सविस्तार विवरण लिखा गया है। यों तत्कालीन इतिहास के प्रत्येक अध्येता अथवा संशोधक के लिए यह परिच्छेद विशेषरूपेण पठनीय और मननीय हो गया है।

† 'कुल्याते-ग्वालियरी' में घनश्याम पंडित कृत जिस 'तारीखे ग्वालियर' का उल्लेख है, वह संभवतः यही ग्रन्थ होगा।

* इन प्रतिलिपियों के संग्रहालय-संदर्भ ये हैं :—

१. शेख जलाल हिसारी कृत 'ग्वालियर-नामा'—क्र० एडीशनल १६, ८५९ (४);
२. हीरामन कृत 'ग्वालियर-नामा'—क्र० एडीशनल १६, ७०९;
३. मोतीराम और खुशहाल द्वारा लिखवाया गया 'अहवाल-इ-किला-इ-ग्वालियर'—क्र० एडीशनल १६, ७१०;
४. मुहम्मद खैरुद्दीन कृत 'ग्वालियर-नामा'—क्र० ओरियण्टल, १७७१ (१)।

उपर्युक्त २-४ ग्रन्थों की कुछ और प्रतिलिपियाँ अन्यत्र भी सुरक्षित हैं। स्टोरी, पर्शियन लिटरेचर, खण्ड २-(३), पृ० ७३५-७३७।

इस इतिहास-ग्रन्थ को लिखने में भी श्री हरिहरनिवास द्विवेदी ने फारसी तथा अन्य भाषाओं में तत्सम्वन्धी ऐतिहासिक आधार ग्रन्थों के साथ ही सम्बद्ध क्षेत्रों में प्राप्य शिलालेखों और तव वहाँ रचित अथवा उस काल के इतिहास आदि सम्वन्धी अनेकानेक विभिन्न विषयक साहित्य में प्राप्त जानकारी का भी यथासंभव पूरा-पूरा उपयोग किया है। जैन साधुओं और आचार्यो की रचनाओं में किए गए उल्लेखों और तव लिखे गए ग्रन्थों की पुष्पिकाओं आदि में इन तोमर राजाओं सम्वन्धी संकेतों से भी लाभ उठाया गया है। यों यह इतिहास-ग्रन्थ तत्कालीन हिन्दी साहित्य, समाज और संस्कृति की समसामयिक प्रवृत्तियों और प्रगति पर भी महत्त्वपूर्ण नया प्रकाश डालता है, जिससे इस ग्रन्थ की उपादेयता वहुविध हो गई है। अतः "तोमरों का इतिहास" के इस द्वितीय भाग "ग्वालियर के तोमर" का भी हृदय से स्वागत करता हूँ और आशा करता हूँ कि तोमर राजवंश तथा राज्य के ही नहीं, तत्कालीन भारतीय इतिहास और संस्कृति के भी संशोधक तथा इतिहासकार श्री हरिहरनिवास द्विवेदी के इस नये प्रकाशन का ध्यानपूर्वक गहराई तक अध्ययन करेंगे। श्री द्विवेदी के तर्कपूर्ण एवं विचारोत्तेजक विवेचनों और निश्चयात्मक स्थापनाओं से प्रेरित होकर "तोमरों का इतिहास" के इन दोनों भागों में वर्णित इतिवृत्त विषयक विचार-विमर्श अथवा वाद-विवाद उक्त इतिहास के विशेषज्ञों, संशोधकों और अन्य विषयक विद्वद्वृन्द में भी होने लगे तो उसे लेखक की सवसे वड़ी सफलता ही मानना होगा, क्योंकि कालान्तर में इस प्रकार ही तथ्यों का निरूपण और वास्तविकता का उद्घाटन संभव हो सकेगा।

वड़ी मेहनत, पूरी लगन और विशेष तन्मयता के साथ इस वृहत् ग्रन्थ की रचना कर उसका लेखक उसे स्वच्छ सुचारु रंग-रूप में प्रस्तुत कर रहा है। अतः इतिहासकार ही नहीं, साहित्य और संस्कृति के अध्येता भी तदर्थ सदैव श्री हरिहरनिवास द्विवेदी के कृतज्ञ रहेंगे।

"रघुवीर निवास"
सीतामऊ (मालवा)
रामनवमी, २०३३ वि०

(डा० रघुवीरसिंह)

ऐसाह के ईश
(प्रस्तावना देखें)

In the Realms of Gold

When I first went to call on Sri Harihar Nivasji, I knew that I was to meet a scholar who had been an enthusiastic collector of manuscripts, a writer on the language of Madhya Desh, and an Editor of Gwaliori texts. I was also aware that he was writing on the Tomars, both of Delhi and of Gwalior.

Not only did I find all this, but it was indeed an added pleasure to discover, like the thrill Keats describes in his sonnet on 'Chapman's Homer, I had met another who had travelled in the realms of gold, one who for the last thirty years had laboured on the Tomars, discovered and rescued and edited precious texts on this attractive dynasty, not only in 15th century Hindi, but in Sanskrit, Apabhramsh and Persian, and had almost completed a life time's work by massive two volumes on all the Tomars, their history, their inscriptions, their monuments, their art, their literary works, their devotion to music, and the extensive culture of their Court and household. These two volumes, forming a true regional history of the type first pioneered by Dr. Raghuvir Singh for Malwa, at the same time open a new Chapter in the cultural and communal history of medieval India, and fill a gap in the general histories of India, which was glaring, and very much needed to be filled. Gwalior is now given its rightful place on the historical map of India.

Dvivediji's history supplies not only a new Chapter in our history, but sweeps away many a misconception ; in particular it restores the XIIth century Tomars of Delhi to their true position in the defence of India against Muslim invaders, and sheds new light on such vexed questions as the original builders of the monuments of Delhi. I trust that before long he will put forward *in extenso* his views on the original form and method of construction of the Qutub Minar, and Quwwat-al-Islam monuments in particular. His liberal views on the vexed questions of communal politics in the XVth century will, I believe, go far to restore a sense of balance to the

pre-Mughal period of history. In this he has indeed churned up a whole ocean of earlier partisan writings, and in the process swallowed the poison, and produced what I, for one, feel to be a true *amrit*, the first coherent account of how the major communities of medieval India, Hindu, Muslim and Jain, were able to a large extent to reach a mutual accommodation and live together with a surprisingly large degree of toleration and even harmony. Raja Man Singh's blue tiles are for us a true symbol of the blue throat of Lord Shiva; the nectar that followed will be found in Dvivediji's volumes, first on *the Tomars of Delhi* and now *reaching completion* in this volume on the Tomars of Gwalior and their branches. The elaborate reticulation of the Gwaliori Jhilmili finds its literary counterpart in these volumes; massive sculptures alternate with dazzling screens and delicate, graceful plants and animals; his incisive style, clear cut exposition and sharp wit and, at times, barbed *shafts hurled at the pretences of others, inter* larded with the *alankars of* a rich Hindi style; all have been integrated into a first rate work of pioneering scholarship.

Scindia School
Gwalior
April 8, *1976*.

प्रस्तावना

मानसिंह तोमर कृत मानकुतूहल की खोज मैंने कभी १९४० ई० के आसपास प्रारम्भ की थी। वह मूल ग्रन्थ मुझे प्राप्त न हो सका। उसके स्थान पर फकीरुल्ला सैफखाँ द्वारा औरंगजेब के समय में किया गया उसका फारसी अनुवाद ही सन् १९४५ में उपलब्ध हुआ। उसका हिन्दी अनुवाद कर उसे प्रकाशित करते समय मानसिंह तोमर के विषय में सुगमता से उपलब्ध सामग्री का संकलन कर प्रस्तावना में ग्वालियर के तोमरों का संक्षिप्त इतिहास भी दे दिया था। इस प्रकार सन् १९५४ ई० में 'मानसिंह और मानकुतूहल" पुस्तक प्रकाशित हुई। उस पुस्तक में दिए गये तोमरों के संक्षिप्त इतिहास से मैं सन्तुष्ट न हो सका और तद्विषयक सामग्री एकत्रित करता रहा। फिर सन् १९५५ में "मध्यदेशीय भाषा (ग्वालियरी)" प्रस्तुत करते समय ईसवी पन्द्रहवीं शताब्दी के हिन्दी साहित्य का अध्ययन करना आवश्यक हुआ। उस संदर्भ में ज्ञात हुआ कि उनमें से अधिकांश कवि ग्वालियर के तोमरों के आश्रित थे। इन कवियों की कृतियों में भी ग्वालियर के तोमरों के इतिहास के निर्माण की प्रचुर सामग्री प्राप्त हुई। अपभ्रंश के जैन कवि रइधू, भट्टारक यशःकीर्ति, गुणकीर्ति आदि के ग्रन्थों में भी तत्कालीन ग्वालियर का भव्य चित्र सामने आया। स्वयं तोमर राजाओं की कृतियों ने भी इस विषय को अधिक स्पष्ट किया। इस सब सामग्री के साथ समकालीन तथा परवर्ती शिलालेखों से प्राप्त जानकारी ने ग्वालियर के तोमरों से मेरा परिचय अत्यन्त घनिष्ट कर दिया। फिर समकालीन और परवर्ती फारसी इतिहास ग्रन्थों में उपलब्ध जानकारी के आधार पर सन् १९६८ ई० के आसपास 'ग्वालियर के तोमर' नामक पुस्तक की प्रथम पाण्डुलिपि तयार की जा सकी।

यह सुनिश्चित है कि ग्वालियर का तोमर राजवंश दिल्ली के तोमरों का उत्तराधिकारी था, अतः प्रारम्भिक अंश के रूप में दिल्ली के तोमरों के विषय में कुछ लिखना आवश्यक था। उनके विषय में आधुनिक इतिहासों में जो कुछ लिखा मिला उसके आधार पर कुछ पृष्ठ लिख डाले। यह समस्त सामग्री टंकित कराकर इतिहास के प्रसिद्ध विद्वान महाराजकुमार डा० श्री रघुवीरसिंहजी की सेवा में भेज दी। उनके द्वारा समस्त पुस्तक बहुत मनोयोग पूर्वक दोहराई गई। उनके पत्र से ज्ञात हुआ कि 'ग्वालियर के तोमर' इतिहास से वे जितने सन्तुष्ट हैं, उतने ही वे दिल्ली के तोमरों के मेरे विवरण से असन्तुष्ट हैं। उनके निदेशन पर दिल्ली के तोमरों के इतिहास के मूल स्रोतों का अध्ययन प्रारम्भ किया। इसके परिणामस्वरूप ग्वालियर के तोमरों का इतिहास तोमरों का वृहत् इतिहास बन गया। उस इतिहास का प्रथम भाग 'दिल्ली के तोमर' शीर्षक से मई सन् १९७२ में प्रकाशित हो गया। मान्यवर डा० श्री रघुवीरसिंहजी ने अपने प्राक्कथन में इस सब पर प्रकाश डाला अवश्य है, परन्तु उन्होंने संकोच या उदारतावश अपने स्वयं के योगदान के विषय में कुछ नहीं लिखा है। 'दिल्ली के तोमर' उन्ही की प्रेरणा के कारण लिखे गए हैं।

इस बीच डा० श्री सन्तलाल कटारे ने ग्वालियर गढ़ के गंगोलाताल के शिलालेख खोज निकाले। उनके साथ उन शिलालेखों को भी पढ़ने का सुअवसर मिला और उनके आधार पर 'ग्वालियर के तोमर' अंश को पुनः लिखना पड़ा। इसी समय रायसेन गढ़ के सलहदी तथा पूरनमल आदि के शिलालेख भी प्रकाश में आए। उनके आधार पर मालवा के तोमरों के विषय में भी दुबारा लिखना पड़ा। जब इस पुस्तक के ३७० पृष्ठ मुद्रित हो चुके थे, तब कुछ और शिलालेखों की ओर श्री आर्थर ह्यूज ने ध्यान दिलाया। उनके आधार पर परिच्छेद २३ का पाँचवाँ परिशिष्ट जोड़ना पड़ा तथा चौबीसवें परिच्छेद को दुबारा लिखना पड़ा।

इस पुस्तक का पंचम खण्ड 'सांस्कृतिक प्रवृत्तियाँ' केवल ग्वालियर के तोमरों से सम्बन्धित नहीं है। वास्तव में वह ईसवी नौवीं शताब्दी से सोलहवीं शताब्दी के प्रारम्भ तक का उत्तर भारत का सांस्कृतिक इतिहास है। उसे स्वतंत्र पुस्तक भी माना जा सकता है। उस खण्ड के लिए एक परिच्छेद 'भाषा तथा साहित्य' विषयक भी लिखा है, परन्तु वह अनुपात में बहुत बड़ा हो गया और उसे रोक लेना पड़ा।

इस पुस्तक के लिए चित्रों की व्यवस्था ने वास्तविक समस्या उत्पन्न कर दी। कुछ चित्र मेरे पास पहले से थे, परन्तु २०-२५ वर्ष के अन्तराल ने उन्हें मुद्रण के योग्य नहीं रहने दिया था। पुस्तक प्रकाशित करने के पूर्व तोमरों के प्राचीन ठिकाने भी देख लेना आवश्यक था। सबसे पहले तोमरों के मूल स्थान ऐसाह की यात्रा की। ऐसाह में जो कुछ देखा उससे मध्ययुगीन तोमरों की शक्ति से स्रोत का उद्गम ज्ञात हो सका। चम्बल, क्वांरी, आसन और साँक के जल से अभिषिक्त नृवंश निश्चय ही दुर्दमनीय रहा होगा, उसका साहस भी अदम्य रहा होगा।

ऐसाह कभी 'ईसा मणिमोला' या 'ऐसाह मणि' कहा जाता था। 'ऐसाह' या 'ईसा' का मूल ईश, शिव, में है। कुछ मील दूर 'अम्बाह' है जिसका उद्गम 'अम्बा' में है। 'ईश' और 'अम्बा' के ये स्थल कभी तोमर-शक्ति की धुरी थे।

ऐसाह निश्चित ही बहुत प्राचीन स्थल है। वहाँ के अवशेषों को देखने से ऐसा ज्ञात होता है कि चम्बल दाहिनी ओर को करवट लेती गई और ऐसाह की प्राचीन बस्ती को ध्वस्त कर उसके निवासियों को दक्षिण की ओर धकेलती गई। ऐसाह के पास चम्बल के सैकड़ों फुट ऊँचे भरकों के विभिन्न स्तरों में अनेक युगों के अवशेष फँसे हुए दिखाई देते हैं। इनमें कम से कम दो-तीन हजार वर्षो की गाथा छिपी हुई है।

मूर्तियों के अवशेषों में सर्वाधिक संख्या शिव-परिवार की मूर्तियों की है। अनेक शिवलिंग ८ फुट से भी ऊँचे हैं। उनमें से एक एक-मुख शिव ईसापूर्व पहली से तीसरी शताब्दी के बीच का हो सकता है। गणेश, कार्तिकेय, नन्दी आदि की कुछ प्रतिमाएँ भी बहुत प्राचीन हैं। कम से कम दो प्राचीन शिव-मन्दिरों के स्थलों की पहचान हम कर

ऐसाह की विष्णु-प्रतिमा
(प्रस्तावना देखें)

ऐसाह के शिवमंदिर के द्वार का प्रस्तर

सके। उनमें से एक की महामुद्रा भी पड़ी हुई है। एक मन्दिर की छत के मधुछत्र की पीठ पर हनुमान की मूर्ति उकेर दी गई है।

ऐसाह में ग्यारहवीं शताब्दी में कोई विष्णु-मन्दिर भी निर्मित हुआ था ; उसकी खण्डित विष्णुप्रतिमा तथा अन्य मूर्तियाँ ग्रामवासियों ने एक चबूतरे पर रख दी हैं।

सती-स्तम्भ और स्मारक-स्तम्भ ईसवी ग्यारहवीं शताब्दी से पन्द्रहवीं शताब्दी तक के यत्र-तत्र विखरे पड़े हैं। ऐसाह की वर्तमान वस्ती मुख्यत: तोमर ठाकुर और सनाढ्य ब्राह्मणों की है।

तोमरों का ऐसाह का गढ़ संभवत: आधा मील से अधिक लम्बा रहा होगा। उसकी चौड़ाई का अनुमान कर सकने का कोई साधन शेष नहीं है। आज दक्षिण-पश्चिम की एक बुर्जी और उसके पास एक कुआ ही शेष वचा है। उत्तर-पूर्व की ओर चम्बल के किनारे एक वहुत बड़ा टीला गढ़ की उत्तरी सीमा ज्ञात होता है। गढ़ की वर्तमान अवशिष्ट वुर्जी ईसवी तेरहवीं शताब्दी या चौहदवीं शताब्दी के प्रारम्भ में निर्मित की गई ज्ञात होती है। ग्राम-निवासियों का कथन है कि उन्हें या उनके पुरखों को जब भी प्रस्तरों की आवश्यकता होती थी वे गढ़ी से उठा लाते थे। तोमरों के इस गढ़ को कुछ चम्बल ने तोड़ा, कुछ मानवों ने। चम्बल के वीहड़ पार कर कोई शत्रु-सेना इस गढ़ तक पहुँच सकी होगी, यह कल्पना नहीं की जा सकती।

ऐसाह गढ़ से कुछ दूर चम्बल किनारे वाघेश्वरी नामक स्थान है। इस स्थान तक पहुँचने में मार्ग में चम्बल के वीहड़ों की उत्तुंग गरिमा और रौद्र सौन्दर्य मूर्तिमन्त हो जाते हैं। वाघेश्वरी कभी व्याघ्रेश्वरी का स्थान रहा होगा, अव वहाँ सीमेण्ट के वेडौल मंदिर का निर्माण कर जयपुरी संगमरमर की राम, जानकी और लक्ष्मण की मूर्तियाँ स्थापित करदी गई हैं।

जब विदिशा, पद्मावती, कान्तिपुरी तथा मथुरा पर नागों का साम्राज्य फैला हुआ था उस समय ऐसाह भी समृद्ध नगर था, ऐसा उसके अवशेषों से ज्ञात होता है। संभव है कान्तिपुरी (वर्तमान सुहानिया-कुतवार) के नाग ऐसाह पर ही चम्बल पार कर मथुरा की ओर जाते होंगे।

ऐसाह में श्री राव रामखिलाड़ी सिंह तोमर ने मुझे वतलाया कि वहाँ से कुछ मील दूर पर एक प्राचीन शिवमन्दिर है, उस मन्दिर में किसी तोमर-राजा ने शिव को अपना शीश समर्पित किया था। यह स्थानीय अनुश्रुति निराधार ज्ञात नहीं होती। खड्गराय ने गोपाचल आख्यान में संग्रामसिंह के विषय में यह लिखा है कि उसने शिव को शीश समर्पित किया था। पृष्ठ २६२ पर इस विषय में मैंने लिखा हैं कि संग्रामसिंह ने काशी में जाकर वहाँ यह कृत्य किया होगा। परन्तु खड्गराय के पाठ में काशी का उल्लेख नहीं है। नाना कवि के पाठ से सम्वद्ध पाठ को मिलाने पर वह चौपाई निम्न रूप में प्राप्त हुई—

ऐसै सीस ईस कौं चढ़ाई
मुक्ति पयानौ कीनौ राई ।

सम्भावना यह ज्ञात होती है कि नरवरगढ़ में विजयस्तम्भ स्थापित करने के उपरान्त संग्रामसिंह अपने मूल स्थान ऐसाह गए हों और वहाँ, नरवर पर आधिपत्य दिलाने के लिए कृतज्ञता-ज्ञापन में, उन्होंने ऐसाह के ईश को शीश समर्पित किया हो । खड्गराय के पाठ में काशी का उल्लेख नहीं है, उसमें 'ऐसाह' या 'ऐसा' का उल्लेख ज्ञात होता है । खड्गराय ने संग्रामसिंह की आत्माहुति के दो-चार वर्ष उपरान्त ही गोपाचल आख्यान लिखा था, अतएव उसका विवरण विश्वसनीय होना चाहिए । परवर्ती तोमरों ने भी ऐसाह से सम्बन्ध-विच्छेद नहीं किया था ।

सुहानियाँ और कुतवार का क्षेत्र कभी नाग सम्राटों की राजधानी 'कान्तिपुरी' था । सुहानियाँ में वीरमदेव तोमर के अम्बिकादेवी के मन्दिर के अतिरिक्त कुछ टीलों के बीच माता देवी का भव्य मंदिर है । यह मन्दिर ईसवी प्रथम शताब्दी से पन्द्रहवीं शताब्दी की मूर्तियों और शिलालेखों की प्रदर्शनी बन गया है । ज्ञात होता है कि आसपास अनेक प्राचीन मन्दिर थे, जो ध्वस्त हो गए । उनके प्रस्तर खण्डों, मूर्तियों और शिलालेखों को जोड़कर मन्दिर के आगे सरोवर की पार और मन्दिर की चहारदीवारी बना दी गई है । यह मन्दिर इस प्रकार कभी विक्रम संवत् १५१६ (सन् १४५९ ई०) में बना होगा, जैसा उसके दाईं ओर के सभामण्डप के स्तम्भ के एक शिलालेख से ज्ञात होता है । उसमें केवल 'संवत् १५१६ वर्षे चैत्रवदि ९ सभामण्डपु' शब्द पढ़े जा सके । इन अक्षरों के ऊपर एक विचित्र गोलाकार वृत्त खोदा गया है, मानो रस्सी से लट्टू लटक रहा हो । इस आकार का आशय मैं नहीं समझ सका । इस मन्दिर के गर्भगृह की प्राचीन प्रतिमा हटाकर एक ओर रख दी गई है और गर्भ-गृह में नयी संगमरमर की प्रतिमा स्थापित करदी गई है । इस मन्दिर का मूल स्थापत्य अद्भुत है । कुछ अत्यन्त प्राचीन और सुन्दर मूर्तियाँ पत्थरों से टिकी रखी हैं । उनमें एक नागराज तथा नागरानी की प्रतिमा अत्यन्त आकर्षक है । ये मूर्तियाँ कब तक यथास्थान रखी रहेंगी कहा नहीं जा सकता । भारत के मूर्ति-वैभव को तुर्कों ने तो नष्ट किया ही है, उसे आधुनिक पीढ़ी ने अधिक क्षति पहुँचाई है ।

सिन्धु, पारा, लवणा, पार्वती, वेतवा और चम्बल के क्षेत्र में भारत के अतीत के इतिहास की अत्यन्त बहुमूल्य सामग्री बिखरी पड़ी है । उसकी खोज-बीन का काम हुआ है, परन्तु वह नाममात्र के लिए ही है । सुहानियाँ के मातादेवी के मन्दिर के चारों ओर के टीले अपने अंचल में बहुत प्राचीन इतिहास छुपाए पड़े हैं । उनकी कुछ ईंटें और पत्थर सुहानियाँ के आधुनिक निर्माणों की नीवों में समा चुके हैं । हमारा अतीत वर्तमान और भविष्य के भवनों में समा जाए यह स्वाभाविक है, तथापि वह बिना अपनी कहानी कहे तिरोहित हो जाए, यह हृदय विदारक है ।

तिघरा के पास सुजवाया, मालीपुरा तथा सोजना ग्रामों के पास ईसवी आठवीं-नौवीं शताब्दी तक के मन्दिरों के अवशेष प्राप्त हो गए हैं। श्री रामप्रकाश चौधरी, संग्रहाध्यक्ष, गूजरीमहल संग्रहालय, ग्वालियर ने वहाँ के एक शिलालेख में वीरसिंह का नाम भी पढ़ा है। मुझे अब सन्देह नहीं रहा कि यह स्थल ग्वालियर के तोमरों के किसी सामन्त का प्रमुख स्थल था। बाबर ने भी इसी स्थल को देखा था और सलहदी यहीं के तोमर सामन्त की सन्तान था। ग्वालियर के तोमर अपने भाई-भतीजों को ही अपना सामन्त नियुक्त करते थे। ऐसी दशा में अपने इस अनुमान को अब मैं पुष्ट मानता हूँ कि मालवा का सलहदी ग्वालियर के तोमरों का सपिण्ड था (पृष्ठ २१६ भी देखें)।

मितावली का एकोत्तर-सौ महादेव का मन्दिर या उसका कुछ अंश वि० सं० १३८० (सन् १३२३ ई०) में किसी देवपालदेव द्वारा निर्मित किया गया था (ग्वा० रा० के अभिलेख, क्र० १९०)। यह देवपालदेव घाटमदेव (कमलसिंह) तोमर के पहले हुए हैं। इनका नाम ऐसाह के राजाओं की सूची में नहीं मिलता। परन्तु ज्ञात यह होता हैं कि देवपालदेव भी कोई तोमर सामन्त थे। इनके अतिरिक्त मितावली के मन्दिर पर वीरमदेव के नामोल्लेख युक्त, देऊ के पुत्र वासू का शिलालेख प्राप्त हुआ है (पृष्ठ ६५ देखें)। यह वासु संभवत: वही व्यक्ति है जिसे मितावली के ही एक शिलालेख में 'वत्सराज' कहा गया है। यह वासू या वत्सराज वीरमदेव तोमर का स्थानीय सामन्त होना चाहिए। कीर्तिसिंह तोमर के नामोल्लेखयुक्त एक तिथिरहित शिलालेख भी मितावली के मन्दिर पर प्राप्त हुआ है। इसी शिलालेख में किसी रामसिंह का उल्लेख है (ग्वा० रा० के अभिलेख, क्र० ६९५ तथा ६९६)। फिर किसी महाराज रायसिंह का भी उल्लेख है। हम्मीरदेव चौहान से कीर्तिसिंहदेव तोमर तक का मितावली का इतिहास कुछ धुँधले रूप में इन शिलालेखों से सामने आता है। परन्तु यह सुनिश्चित ज्ञात होता है कि हम्मीरदेव चौहान की मृत्यु के उपरान्त ही यह क्षेत्र ऐसाह के तोमरों के अधीन हो गया और फिर ग्वालियर के तोमरों के अधीन बना रहा। मितावली से दो मील दूर पढ़ावली है। इस स्थल पर प्राचीनतम शिलालेख वि० सं० ११०७ (सन् १०५० ई०) का प्राप्त होता है। यह शिलालेख मन्दिर के प्रवेश द्वार पर है परन्तु यह पढ़ा नहीं जा सका है (ग्वा० रा० के अभि०, क्र० ४०)। इस शिलालेख से यह ज्ञात होता है कि या तो यह मन्दिर सन् १०५० ई० में बना था या उसके कुछ पहले अस्तित्व में था। वि० सं० १३३२ (सन् १२७५ ई०) में यहाँ किसी विक्रमदेव का राज्य था। संभव है विक्रमदेव किसी के सामन्त हों या स्वतंत्र राजा हों, कुछ कहा नहीं जा सकता। परन्तु आगे चलकर यह क्षेत्र ग्वालियर के तोमरों के अधीन हो गया था, ऐसा वि० सं० १५२८ (सन् १४७१ ई०) के कीर्तिसिंहदेव के शिलालेख से ज्ञात होता है (ग्वा० रा० के अभिलेख, क्र० ३१०)।

ग्वालियर के तोमरों के इतिहास को पूर्णता उपलब्ध कराने के लिए चम्बल के किनारों पर स्थित ग्रामों और खेड़ों का विस्तृत अनुशीलन आवश्यक है। साँक, आसन,

क्वांरी, वेतवा और सिन्ध के किनारों पर भी उनके अवशेष प्राप्त होंगे। गूजरों के ग्रामों की भी विस्तृत खोजबीन आवश्यक है। लहार, भाण्डेर तथा श्योपुर के क्षेत्र भी इस प्रयोजन के लिए अन्वेषणीय हैं। परन्तु यह कार्य मेरे द्वारा न हो सका, और अब हो भी न सकेगा। नवीन आबादियों, सड़कों और नहरों में ये प्राचीन अवशेष समाप्त हों उसके पूर्व इस क्षेत्र का विस्तृत अन्वेषण आवश्यक है।

इस पुस्तक के मुद्रित हो जाने के उपरान्त डा० श्री सन्तलाल कटारे ने गंगोलाताल के मानसिंह तोमर के शिलालेख का फोटो भेजने की कृपा की है। उसका चित्र भी दिया जा रहा है। पृष्ठ १३० पर मैंने इस शिलालेख का वह पाठ दिया है जो अनेक वर्ष पूर्व मूल छाप से कुछ जल्दी में पढ़ा गया था। इस फोटो को देखने से ज्ञात हुआ कि जिस शब्द को 'श्री टोकर' पढ़ा गया था, वह वास्तव में 'श्री टोडर' है। पन्द्रहवीं शताब्दी में 'टोडर' शब्द का प्रयोग बहुत हुआ है। मध्ययुग में जब कोई राजा किसी मल्ल के शक्ति-प्रदर्शन से प्रसन्न होता था तब वह उसे पैर में सोने का कड़ा पहनने का अधिकार प्रदान करता था। यह कड़ा 'टोडर' कहा जाता था और वह मल्ल कहा जाता था 'टोडर मल्ल'। 'टोडर' शब्द का रूढ़ अर्थ फिर 'परमवीर' हो गया (पृष्ठ ८८ की पाद-टिप्पणी भी देखें)। ज्ञात यह होता है कि मानसिंह तोमर के प्रधान मंत्री क्षेमशाह, खेमशाह या खेमल का विरुद 'श्री टोडर' था।

गूजरीमहल पुरातत्त्व संग्रहालय में मानसिंह तोमर की राजसभा का एक चित्र होने की मुझे जानकारी थी। उसका चित्र मैंने 'मानसिंह और मानकुतूहल' में प्रकाशित भी किया था। परन्तु मुझे उसके विस्तृत अध्ययन का अवसर नहीं मिला था। इस संग्रहालय के संग्रहाध्यक्ष, श्री रामप्रकाश चौधरी तथा मार्गदर्शक श्री हरिशंकर चतुर्वेदी ने उस चित्र के अतिरिक्त मानसिंह तोमर के दो और चित्र उपलब्ध करा दिए। इनमें से राजसभा तथा गजारूढ़ मानसिंह के चित्र हिजरी सन् १२४३ में बनाए गए थे; ऐसा उन पर लिखी इबारत से ज्ञात होता है। तीसरा अश्वारूढ़ मानसिंह का चित्र किसी 'कन्वीर फकीर हाजी मदनी' ने बनाया है। ये तीनों चित्र १८५७ ई० के पश्चात् बनाए गए हैं, परन्तु ज्ञात यह होता है कि इनके चित्रकारों ने किन्हीं पुराने भित्तिचित्रों अथवा पटचित्रों की प्रतिकृतियाँ की हैं।

मानसिंह तोमर की राजसभा के चित्र को देखने से उनमें अनेक व्यक्तियों को पहचाना जा सकता है। बीच में गद्दी पर स्वयं महाराज मानसिंह हैं। उनके सामने तलवार बाँधे युवराज विक्रमादित्य बैठे हुए हैं। मानसिंह के पीछे उनके प्रधान मंत्री क्षेमशाह, खेमशाह (खेमल) खड़े हैं। मानसिंह के बायीं ओर संभवतः परमवीर धुरमंगद हैं। राजसभा में बैठे मानसिंह और गजारूढ़ मानसिंह की आकृति और वेशभूषा में अत्यधिक समानता है, इस आधार पर उन्हें पराम्परागत मानसिंह की छवि माना जा सकता है। राजसभा के चित्र में सभी व्यक्तियों के मुखमंडल पर किसी गंभीर समस्या के चिन्तन की सजग अभिव्यक्ति की गई है। मदनी के चित्र का महत्व इसमें है कि उसके द्वारा ढोंढापौर की ओर से दिखने वाले ग्वालियर गढ़ के दृश्य का अनुमान किया जा सकता है। चित्र के दाहिनी ओर लदेड़ी के निर्माण दिखाई देते हैं।

इन तीनों चित्रों को इस पुस्तक में प्रस्तुत करने में बहुत प्रसन्नता है। ऐसाह के दुर्लभ चित्रों के समान ही इन चित्रों को भी मैं विशेष उपलब्धि मानता हूँ।

'ग्वालियरी झिलमिली' शब्द-समूह के प्रस्तोता खेड़ू सूत्रधार का इस बात के लिए आभार मानना होगा कि उसके शिलालेख से ही मैं यह जान सका कि 'ग्वालियरी झिलमिली' की सराहना पन्द्रहवीं शताब्दी में की जाती थी (पृष्ठ ३८० भी देखें)। मानमन्दिर और गूजरीमहल में पत्थर को मोम के पट्ट के समान अत्यन्त कलापूर्ण आकारों में आर-पार कटी जाली या उकेरी हुई इकतरफा जाली के रूप में काटा गया है। इस विषय में कुछ अधिक अध्ययन करने के उपरान्त मैं इस परिणाम पर पहुँचा हूँ कि भारत में कहीं भी इतनी सुन्दर और इतनी प्राचीन झिलमिली उपलब्ध नहीं हैं। लदेड़ी का कल्याणमल्ल तथा लादखाँ के समय का भव्य द्वार मानमन्दिर और गूजरीमहल से भी पहले का है। लदेड़ी में ही उस समय का एक मजार भी बना हुआ है उसमें झिलमिली की कला अपने चर्मोत्कर्ष पर दिखाई देती है। मुझे अब सन्देह नहीं रहा कि आगरा तथा फतहपुर सीकरी की झिलमिलियाँ उन्हीं कारीगरों के वंशजों ने उकेरी हैं जिनके द्वारा लादखाँ की मस्जिद, उसके उद्यान के द्वार और मजार की जालियाँ उकेरी गई थीं। इस प्रसंग में यह स्मरणीय है कि शेख मुहम्मद गौस का मकबरा मूलतः जैन मन्दिर है और उसकी झिलमिलियाँ वीरमदेव तोमर (१४०२-१४२३ ई०) के समय में उकेरी गई थीं।

इस पुस्तक को प्रस्तुत करने में मुझे अनेक संस्थाओं एवं विद्वानों ने उदारतापूर्वक सहायता दी है। इस पुस्तक के प्रथम भाग में उन सबका कृतज्ञतापूर्वक स्मरण कर चुका हूँ और इस भाग की पाद-टिप्पणियों में भी उन समस्त स्रोतों का उल्लेख कर दिया है जिनसे मैंने सहायता ली है।

यहाँ मैं श्री आर्थर ह्यूज (अवकाश-प्राप्त आई० सी० एस०, ओ०बी० ई०) के प्रति आभार प्रदर्शित करना अपना कर्तव्य समझता हूँ। उन्होंने मुझे उदारता पूर्वक अनेक नवीन शिलालेखों से अवगत कराया और मुझे इस पुस्तक को पूर्ण करने की दिशा में बहुत सहयोग दिया। वे मेरे साथ चम्बल के बीहड़ों में भी घूमते रहे। उनके उत्साहवर्धक अभिमत ने मुझे उपकृत किया है।

श्री प्रवीणचन्द्र सेन, आई० ए० एस०, निदेशक, मध्यप्रदेश पुरातत्व तथा संग्रहालय, भोपाल, ने चित्रों को उपलब्ध करने में सहयोग देने की कृपा की है। केन्द्रीय पुरातत्व विभाग, भोपाल, तथा निदेशक लोक सम्पर्क एवं सांस्कृतिक कार्य, हरियाणा, ने भी अनेक चित्र प्रदान किए हैं। मुरार के शर्मा स्टूडियोज के श्री किशोर शर्मा, मेरे साथ कैमरा लिए बीहड़ों और पहाड़ियों पर घूमते रहे और उनके द्वारा कुछ दुर्लभ चित्र उतारे गए हैं। शोधविद्यार्थी श्री गुलाबखाँ ने मुझे फजलअली की कुल्याते-ग्वालियरी के सम्बन्धित उद्धरण उपलब्ध करा दिए और लादखाँ की मस्जिद के भी दर्शन करा दिए। मैं इन सबका हृदय से आभारी हूँ।

भाई श्री शान्तिचन्द्र ने इस ग्रन्थ के दोनों भागों की रूपसज्जा में अत्यधिक श्रम किया है। श्री भगवानलाल चतुर्वेदी ने इसके मुद्रण को सुचारु रूप से पूर्ण किया है।

इस ग्रन्थ के प्रथम भाग 'दिल्ली के तोमर' का जो स्वागत हुआ है, उससे मुझे पर्याप्त आत्मसंतोष मिला है। हिन्दी में लिखी इतिहास की पुस्तकें बिकें भले ही नहीं, उसके प्रसंशक अवश्य अभी हैं। यद्यपि मान-सम्मान तथा अपमान-निन्दा से प्रभावित होने की वय बीत चुकी है, तथापि उत्तरप्रदेश राज्य शासन ने 'दिल्ली के तोमर' को 'आचार्य नरेन्द्र-देव इतिहास पुरस्कार' प्रदान कर उस कृति को गौरवान्वित किया है, उससे मुझे संतोष मिला है। कुछ पत्र-पत्रिकाओं ने भी इसके विषय में प्रोत्साहक टिप्पणियाँ लिखी हैं। उनका मैं आभारी हूँ।

यौवन के उत्साह और उमंग के क्षणों में जिस कार्य को प्रारम्भ किया था, जीवन की संध्यावेला में उसे प्रस्तुत करते समय संतोष और संकोच की मिश्रित भावना से अभि-भूत हूँ। संतोष इस कारण है कि यद्यपि इसके प्रस्तुत करने में बहुत विलम्ब हो गया तथापि संयोग यह रहा कि महाकाल ने मुझे इतना अवसर दे दिया कि इसे प्रस्तुत किया जा सके। संकोच इस बात का है कि इस कृति का वर्ण्य विषय कुछ अधिक साधन-सम्पन्नता, विद्वत्ता और कर्मठता की अपेक्षा करता है, जो मुझमें नहीं है। हिन्दी के स्थान पर यदि अंगरेजी माध्यम अपनाता तब संभवतः इस ग्रन्थ के दोनों भागों में वर्णित इतिहास-पुरुष कुछ जल्दी अपना उचित स्थान प्राप्त कर सकते। हिन्दी माध्यम अपनाने के कारण इसमें कुछ विलम्ब होगा, परन्तु उसके लिए मुझे अनुताप नहीं है। महाकवि मैथिलीशरण गुप्त के शब्दों से सम्बल लेकर वाग्देवी के मन्दिर में यह विनम्र भेंट प्रस्तुत कर रहा हूँ। हिन्दी-देवी की देहली पर 'रंकवराटिका' को भी वही महत्त्व मिलता है जो 'नृप हेममुद्रा' को—

> **जय देवमन्दिर देहली**
> **समभाव से जिस पर पड़ी**
> **नृप हेममुद्रा और रंक वराटिका।**

अप्रैल १५, १९७६
विद्यामंदिर
मुरार (ग्वालियर)

हरिहरनिवास द्विवेदी

श्री हरिहरनिवास द्विवेदी

का

इतिहास, पुरातत्व तथा हिन्दी साहित्य
के क्षेत्र में योगदान

- तोमरों का इतिहास (दो भाग)
- कीर्तिस्तम्भ (कुतुबमीनार)
- मध्यभारत का इतिहास (चार भाग)
- भारत की मूर्तिकला
- त्रिपुरी
- ग्वालियर राज्य के अभिलेख
- तानसेन
- दृश्य संगीत (रागमाला चित्र)
- संवत् प्रवर्तक विक्रमादित्य
- महारानी लक्ष्मीबाई
- ग्वालियर राज्य की मूर्तिकला
- हिन्दी साहित्य
- भारतीय साहित्य की मौलिक एकता
- शासन-शब्द-संग्रह
- मध्यभारत किधर
- आसुओं का इतिहास
- मध्यदेशीय भाषा (ग्वालियरी)
- छिताई चरित
- मानसिंह और मानकुतूहल
- महाकवि विष्णुदास
- महात्मा कबीर
- पंत और गुंजन
- लखनसेन पदमावती रास
- लौकिक आख्यान काव्य परंपरा और मधुमालती
- मैनासत

संपादन

- विक्रम-स्मृति-ग्रन्थ
- भारती मासिक
- सर्वोच्च न्यायालयीन निर्णय
- साप्ताहिक मंगलप्रभात
- दैनिक नवप्रभात

'जबलपुर लॉ जर्नल" एवं "मध्यप्रदेश राजस्व निर्णय" विधि-मासिकों का पच्चीस वर्ष से सम्पादन तथा एक लाख से अधिक मुद्रित पृष्ठों का हिन्दी एवं अंगरेजी का विधि-साहित्य

विषय-सूची

तोमरों का इतिहास

(द्वितीय भाग)

प्रथम खण्ड—ग्वालियर के तोमर

परिशिष्ट

तृतीय खण्ड—युगान्त

चतुर्थ खण्ड—मुगलों के तोमर सामन्त

पंचम खण्ड—सांस्कृतिक प्रवृत्तियाँ

परिशिष्ट—पांच

— समाप्त —

शुद्धि-पत्र

पृ०	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
६	पादटिप्पणी	आसकरन	राजसिंह
३१	३६	सभी	कभी
३८	३१	तुलुगकों	तुगलुकों
५९	३	सफल	विजयी
६७	१०	१४६५	१४५६
१०३	१५	जितने	जीतने
	२६	सरपदे	सरपर्दे
११३	२	१४८८	१४८६
१३०	१६	श्री टोकर	श्री टोडर
१४१	२५	दामोदर	देवचन्द्र
१५६	३	१५२४	१५०४
१७७	२६	छोटे भाई	काका
२१३	१६	भारवौ	मारवौ
२७९	१	षष्ठम	पंचम
२८३	४	संस्या	संख्या
२८४	२४	खुसरों	खुसरो
२८७	१८	जी	जो
३१२	२१	थानही	नहीं
३१८	१२	भय	भये

चित्र-सूची

रेखा-चित्र (पाठ के साथ)

प्रथम खण्ड

• ग्वालियर के तोमर •

परिच्छेद १

ऐसाह के राजा

(११९४–१३७५ ई०)

चम्वल के तोमरों ने सन् ७३६ ई० में अपना राज्य हरियाणा क्षेत्र में स्थापित किया था और वे सन् ११९२ ई० तक ढिल्लिका को राजधानी वनाकर राज्य करते रहे। १ मार्च सन् ११९२ ई० में ताराइन के निर्णायक युद्ध में चाहडपालदेव तोमर की मृत्यु के साथ तोमरों का दिल्ली साम्राज्य समाप्त हुआ। चाहडपालदेव का युवराज तेजपाल केवल १५ दिन के लिए दिल्ली-पति वना। उसे भी १७ मार्च ११९२ ई० में शाहवुद्दीन के हाथ पराजित होना पड़ा और वह तुर्कों के करद राजा के रूप में कुछ समय तक राज्य करता रहा। सन् ११९३ ई० में उससे दिल्ली छीन ली गई। उसने पुनः दिल्ली प्राप्त करने का प्रयास किया, परन्तु सफल न हो सका और कुत्वुद्दीन ऐवक ने उसका सिर काट कर दिल्ली में उसके राजप्रासाद पर टँगवा दिया। फिर उसका पुत्र अचलव्रह्म कुछ समय तक दिल्ली प्राप्त करने का प्रयास करता रहा। इस हेतु उसने अजमेर के राजा हरिराज के साथ संगठन करना चाहा, परन्तु सन् ११९४ ई० में अचलव्रह्म तोमर तथा हरिराज, दोनों ही पराजित कर दिए गए। हरिराज ने विना युद्ध किए ही नर्तकियों के साथ आत्मदाह कर लिया और अचलव्रह्म तोमर रणक्षेत्र में पराजित होकर चम्वल क्षेत्र की अपनी प्राचीन राजधानी 'ऐसाह' की ओर चले आए।

अजमेर में पराजित होने के पश्चात् अचलव्रह्म किस मार्ग से और कैसे चम्वल क्षेत्र में ऐसाह तक आए, इसका कोई विवरण उपलब्ध नहीं है। संभव है, वे तंवरवाटी (तँवरावती) गए हों, संभव है, श्रीपथ की ओर गए हों; परन्तु, यह निश्चित है कि शाहवुद्दीन गोरी की सेनाएँ भी उनके पीछे-पीछे चम्वल क्षेत्र की ओर वढ़ने लगीं।

त्रिभुवनगढ़ का आत्मसमर्पण

सन् ११९६ ई० में शाहवुद्दीन गोरी ने अपने सेनापति कुत्वुद्दीन ऐवक और वहाउद्दीन तुगरिल के साथ त्रिभुवनगढ़[1] पर आक्रमण किया।

१, ताजुल-मआसिर में इस स्थान का नाम 'थंगर' लिखा है और तवकाते-नासिरी में उसे 'थनकीर' लिखा है। फरिश्ता ने उसे 'वयाना' से अभिन्न माना है। फरिश्ता के कथन को आधुनिक इतिहासकारों ने भी माना है। वास्तविकता यह है कि 'थनकीर' या "थंगर" त्रिभुवनगढ़ या ताहनगढ़ के लिए प्रयुक्त हुए हैं। उससे १४ मील दूर वह नगर है जिसे वयाना कहा जाता है। इसका मूल नाम श्रीपथ नगर है, उसे विजयगढ़ भी कहा जाता था; वही वाद को वयाना कहलाया। जिस प्रदेश में श्रीपथ और त्रिभुवनगढ़ नगर थे, उसे 'भादानक देश' कहा जाता था। (देखें—जैन ग्रन्थ-प्रशस्ति-संग्रह, भाग २, पृ० ६९ तथा ८९।)

त्रिभुवनगढ़ के जिस राजा पर शाहबुद्दीन ने आक्रमण किया था उसका नाम ताजुल-मआसिर में 'कुपाल' मिलता है। इसका वास्तविक नाम कुमारपाल था। सन् ११४६ ई० के लगभग त्रिभुवनगढ़ में श्री जिनचन्द्र सूरि पधारे थे और उन्होंने राजा कुमारपाल को प्रतिबोध दिया था।[1] सन् ११९६ ई० में कुमारपाल अत्यन्त वृद्ध हो गया होगा। ताजुल-मआसिर के अनुसार 'कुपाल' ने आत्मसमर्पण कर दिया और प्राणों की भिक्षा माँगी। तुर्कों ने उसे प्राणदान दे दिया, परन्तु उसका राज्य ले लिया और "उसके राज्य से मूर्तिपूजा का विनाश कर दिया गया; समस्त मुसलमानों, हर्बियों और जिम्मियों से देय राजकर निश्चित करा लिया।"[2]

त्रिभुवनगढ़ के वृद्ध राजा द्वारा आत्मसमर्पण करने के पश्चात् वहाँ की जनता पर क्या बीती, इसका कुछ वर्णन समकालीन कवि लाखू या लक्ष्मण ने अपने 'जिनदत्त चरित' में किया है[3] —

> ताह जि णंदणु लक्खणु सलक्खु,
> लक्खण-लक्खिउ–सयदल–दलक्खु।
> विलसिय-विलास-रस-गलिय-गव्व,
> ते तिहुअणगिरि णिवसंति सव्व।
> सो तिहुअणगिरि भग्गउ उज्जवेण,
> घित्तउ बलेण मिच्छाहिवेण।
> लक्खणु सव्वाउ समाणु साउ,
> वित्थायउ विहिणा जणिय-राउ।
> सो इत्थ तत्थ हिंडंतु पत्तु,
> पुरे बिल्लराम लक्खणु सु-पत्तु।

त्रिभुवनगढ़ के निवासी श्रेष्ठि आनन्द-विलास का जीवन बिता रहे थे। म्लेच्छवाहिनी ने बलपूर्वक उन्हें भगा दिया, वे विस्थापित हो गए। लक्ष्मण को बिलरामपुर (बिलग्राम) में प्रश्रय मिल गया। जब श्रेष्ठियों की यह दुर्दशा हुई तब औरों का क्या हुआ होगा, यह कल्पना की जा सकती है।

ताजुल-मआसिर, खरतरगच्छ वृहद्गुर्वावलि और जिनदत्त चरित से तत्कालीन भारतीय समाज का कुछ स्वरूप सामने आ जाता है। कुमारपाल संभवतः यदुवंशी था। उसने अपने यौवनकाल में ही जैनधर्म ग्रहण कर लिया था। उसके राज्यकाल में जैन धर्म बहुत पनपा तथा जैन श्रेष्ठि भी बहुत सम्पन्न हो गए। ताजुल-मआसिर से यह ज्ञात होता है कि तुर्कों के आक्रमण के बहुत पहले ही त्रिभुवनगढ़ जैसे नगरों में पर्याप्त संख्या में

---

१. खरतरगच्छ वृहद्गुर्वावलि (सिंघी जैन ग्रन्थमाला), पृ० १९।

२. इलियट एण्ड डाउसन, भाग २, पृ० २२७।

३. जैन-ग्रन्थ-प्रशस्ति-संग्रह, भाग २, सम्पादक पं परमानन्द जैन शास्त्री (वीर सेवामन्दिर सोसायटी, दरियागंज, दिल्ली), पृ० १७।

मुसलमान बसे हुए थे। वृद्ध राजा ने अपने प्राण बचाने के लिए आक्रामक के समक्ष घुटने टेक दिए और समस्त जनता को लुटेरों को सौंप दिया। शाहबुद्दीन गौरी को, एक भी तुर्क सिपाही का रक्त बहाए बिना, अपार सम्पदा हाथ लग गई। जनता में न प्रतिरोध की भावना थी, न शक्ति। राजा के साथ रहने वाले और जनता के धन और श्रम से पलने वाले असिजीवियों ने क्या किया, यह ज्ञात नहीं होता। ताजुल-मआसिर में जिन 'र्हावियों' का उल्लेख है, वे संभवतः असिजीवी ही थे। उन्होंने तुर्कों को कर देने का वचन देकर अपने प्राण बचाए। अन्य जातियों के लोग जिम्मी, यानी ऐसे गैर-मुस्लिम बन गए जिन्हें कुछ अधिक कर चुकाने पर हिन्दू बना रहने दिया जाता था। पुराने भारतीय मुसलमानों को भी तुर्क सुल्तान को कर देने का वचन देना पड़ा। बड़े-बड़े सेठ नगर छोड़ कर भाग गए, सम्भवतः उनके साथ पण्डे-पुजारी भी भाग गए होंगे। विशृंखल, विभाजित और एकतन्त्र छोटे-छोटे राजाओं के समूह उस भारत का यह अत्यन्त दयनीय चित्र है।

यहाँ प्रासंगिक बात यह है कि शाहबुद्दीन गौरी की फतह हुई और त्रिभुवनगढ़, विजयगढ़ (बयाना) जैसे समृद्ध नगरों की श्री उसके चरणों में अर्पित हुई। गौरी ने अपने सेनापति बहाउद्दीन तुगरिल को त्रिभुवनगढ़ का प्रशासक बना दिया। बहाउद्दीन ने लुटे हुए त्रिभुवनगढ़ को फिर अपने ढंग से बसाया। वहाँ उसने अपनी छावनी डाल ली और खुरासान तथा भारत के व्यापारियों को एकत्रित किया और उन्हें उजड़े हुए भवनों में बसाया। कुछ समय पश्चात् उसके अनुगामियों की संख्या इतनी अधिक हो गई कि त्रिभुवनगढ़ उनके लिए अपर्याप्त ज्ञात होने लगा। उसने अपनी छावनी पास ही सुल्तान कोट के नाम से बसा ली। यहाँ से उसने ग्वालियर के विरुद्ध सेनाएँ भेजना प्रारम्भ किया।[1]

ग्वालियर गढ़ का पराभव

सन् ११९६ ई० में शाहबुद्दीन गौरी ने ग्वालियर पर आक्रमण किया। हसन निजामी ने ताजुल-मआसिर में ग्वालियर गढ़ के राजा का नाम सोलंखपाल लिखा है।[2] खड्गराय के गोपाचल-आख्यान में उसका नाम लोहंगदेव मिलता है।[3]

कक्कुक के वि० सं० १०३८ (सन् ९८१ ई०) के शिलालेख[4] से ज्ञात होता है कि ग्वालियर प्रदेश पर कभी 'कच्छपान्वय' वंश प्रभावशाली था। इन कच्छपान्वयों का एक तिथि रहित शिलालेख गंगोलाताल में भी मिला है।[5] इससे ज्ञात होता है कि कच्छपान्वय

---

१. तबकाते-नासिरी, रेवर्टी, पृष्ठ ५४५।

२. इलियट एण्ड डाउसन, भाग २, पृष्ठ २२८।

३. खड्गराय ग्वालियर निवासी सनाढ्य ब्राह्मण था, न कि 'भाट'। मेजर जनरल कनिंघम ने भूल से उसे भाट लिख दिया और फिर यह कथन दुहराया जाता रहा। खड्गराय ने अपना पूरा परिचय गोपाचल आख्यान में दिया है। उसने शाहजहाँ के समय में कृष्णसिंह तोमर के आग्रह पर गोपाचल आख्यान लिखा था।

४. ग्वालियर राज्य के अभिलेख, क्रमांक २३।

५. गंगोलाताल के इन महत्वपूर्ण शिलालेखों की छापें डॉ० सन्तलाल कटारे ने उतारी थीं। उनका उपयोग यहाँ किया गया है।

या कच्छपों का ग्वालियर गढ़ पर भी राज्य हो गया था। यह 'कच्छप' या कच्छपान्वय आजकल काछी नाम से इस प्रदेश में फैले हुए हैं।

ज्ञात यह होता है कि कच्छपों या कच्छपान्वयों को जिस असिजीवी जाति ने पराजित कर उनसे सत्ता छीन ली, वह 'कच्छपघात' कहलाई। पद्मनाभ (सास-बहू) मन्दिर के दो शिलालेखों से यह ज्ञात होता है कि लक्ष्मण के पुत्र वज्रदामन ने कन्नौज के राजा को पराजित किया और गोपाचल गढ़ पर भी विजय प्राप्त की।[1] इन शिलालेखों में इन कच्छपघात राजाओं की पूरी वंशावली दी गई है। वज्रदामन के पश्चात् मंगलराज, कीर्तिराज, मूलदेव (भुवनैकमल्ल एवं त्रैलोक्यमल्ल विरुद), देवपाल (अपराजित विरुद), पद्मपाल तथा महीपाल हुए। वि० सं० ११५० (सन् १०९३ ई०) में गोपाचल गढ़ पर महीपाल राज्य कर रहा था। एक अन्य शिलालेख से ज्ञात होता है कि महीपाल के पश्चात् भुवनपाल हुआ और उसका पुत्र मधुसूदन वि० सं० ११६१ (सन् ११०४ ई०) में ग्वालियर गढ़ पर राज्य कर रहा था।[2] इन कच्छपघातों को महमूद के आक्रमण का सामना करना पड़ा था। यह आक्रमण सम्भवतः कीर्तिराज कच्छपघात के समय में हुआ था।

मधुसूदन के सन् ११०४ ई० के शिलालेख के पश्चात् किसी कच्छपघात राजा का शिलालेख ग्वालियर क्षेत्र में प्राप्त नहीं होता।[3] कच्छपघातों को ग्वालियर गढ़ किस प्रकार छोड़ना पड़ा इसका विवरण खड्गराय ने दिया है। इस वंश का अन्तिम राजा तेजकरन या दूल्हाराय था। अपने भानेज परमार्दिदेव प्रतीहार (या परमालदेव परिहार) को गढ़ सौंपकर तेजकरन देवसा की राजकुमारी से विवाह करने चला गया। यह घटना सन् ११२८ ई० की है। परमार्दिदेव प्रतीहार ने फिर तेजकरन को गढ़ न लौटाया और स्वयं राजा बन बैठा। इस प्रतीहार शाखा का कोई विस्तृत शिलालेख प्राप्त नहीं हुआ है। ग्वालियर और नरवर के बीच चिटौली ग्राम में वि० सं० १२०७ (सन् ११५० ई०) का एक शिलालेख मिला है जिसमें रामदेव प्रतीहार का उल्लेख है।[4] यह रामदेव, संभव है, परमार्दिदेव प्रतीहार के पुत्र होंगे। इसके पश्चात् ग्वालियर गढ़ के गंगोलाताल के वि० सं० १२५० तथा १२५१ (सन् ११९३ ई० तथा ११९४ ई०) के दो शिलालेख प्राप्त हुए हैं, जिनसे यह ज्ञात होता है कि इन वर्षों में गढ़ पर अजयपालदेव राज्य कर रहे थे। इन अजयपालदेव की मुद्राएँ भी प्राप्त हुई हैं, जिन्हें भ्रमवश शाकंभरी के समनाम राजा की मुद्राएँ मान लिया गया है। हसन निजामी ने जिस 'सोलंखपाल' का उल्लेख किया है वह इन्हीं अजयपाल के उत्तराधिकारी होंगे और, संभवतः, उनका वास्तविक नाम सुलक्षणपाल था।

१. ग्वालियर राज्य के अभिलेख, क्रमांक ५५ तथा ५६।
२. ग्वालियर राज्य के अभिलेख, क्रमांक ६१।
३. आसकरन कछवाहा के वि० सं० १६३६ तथा १६३९ (सन् १५७९ तथा १५८२ ई०) के दो शिलालेख अवश्य ग्वालियर गढ़ पर प्राप्त हुए हैं। उनसे यही ज्ञात होता है कि अकबर ने आसकरन को इस गढ़ का प्रशासक नियुक्त कर दिया था।
४. आर्कोलाजीकल सर्वे रिपोर्ट, भाग २, पृ० ३७८।

शाहवुद्दीन ने ग्वालियर गढ़ घेर लिया। परन्तु उसने यह भी अनुभव किया कि सीधा आक्रमण करने से यह अभेद्य गढ़ हस्तगत न किया जा सकेगा, इसके लिए वहुत लम्वे समय तक गढ़ को घेरे रहना पड़ेगा। हसन निजामी के ताजुल-मआसिर के अनुसार "सुलक्षणपाल भयभीत और हताश" हो गए तथा उन्होंने सन्धि की चर्चा की और कर देने के लिए सहमत हो गए तथा दस हाथी उपहार में दिए।[1] शाहवुद्दीन ने यह संधि स्वीकार कर ली। शाहवुद्दीन गजनी लौट गया, उसका एक सेनापति कुत्वुद्दीन दिल्ली लौट गया और दूसरा सेनापति वहाउद्दीन तुगरिल त्रिभुवनगढ़ चला गया।

परन्तु, शाहवुद्दीन की यह सन्धि दिखावा मात्र थी; वास्तव में, उसके पास इतना समय नहीं था कि वह लम्वे समय तक ग्वालियर में उलझा रहता। ग्वालियर से चलते समय ही उसने वहाउद्दीन तुगरिल से कहा था "इस दृढ़ गढ़ को हस्तगत करने का कर्तव्य मैं तुझ पर छोड़ता हूँ। इसे जीत कर इसे तू ही ले लेना।"

तुगरिल के लिए यह वहुत वड़ा प्रलोभन था। उसने त्रिभुवनगढ़ से अपनी छावनी हटाकर सुल्तानकोट के नाम से नयी छावनी डाली और ग्वालियर पर आक्रमण प्रारम्भ कर दिए। जव इन आक्रमणों का भी कुछ परिणाम न निकला तव उसने ग्वालियर गढ़ को घेर लिया और उससे कुछ दूर पर ही अपनी छावनी डालदी। उसने आसपास के इलाके को नष्ट कर डाला। डेढ़ वर्ष तक गढ़ घिरा रहा और रसद पहुंचना असंभव हो गया।

सुलक्षणपाल के सामने आत्मसमर्पण के अतिरिक्त कोई मार्ग शेष न रहा। उसने तुर्क सेनापतियों में विद्वेष के वीज वोने का उपक्रम किया। सुलक्षणपाल ने वहाउद्दीन तुगरिल से सन्धि की चर्चा करने के स्थान पर कुत्वुद्दीन ऐवक को गढ़ सौंप दिया। इस कारण कुत्वुद्दीन ऐवक तथा वहाउद्दीन तुगरिल के वीच मनमुटाव हो गया; और संभव है उनमें युद्ध ठन जाता, परन्तु इसी वीच तुगरिल की मृत्यु हो गई और गोपाचल गढ़ कुत्वुद्दीन ऐवक को प्राप्त हो गया।

ज्ञात होता है सुलक्षणपाल प्रतीहार इस पराजय के पश्चात् भी जीवित रहे, परन्तु इसके पश्चात् उनका कहीं उल्लेख नहीं मिलता।

ग्वालियर गढ़ की पुनर्प्राप्ति

ग्वालियर के प्रतीहारों ने पुनः ग्वालियर गढ़ प्राप्त करने का प्रयास किया। कुरैठा के वि० सं० १२७७ (सन् १२२० ई०) के ताम्रपत्र से प्रकट होता है कि उस समय ग्वालियर गढ़ पर मलयवर्मनदेव प्रतीहार राज्य कर रहे थे। इस ताम्रपत्र के अनुसार

१. इलियट एण्ड डाउसन, भाग २, पृ० २२८।

इस शाखा का मूल पुरुष नट्टल था। उसका पुत्र था प्रतापसिंह। प्रतापसिंह के पुत्र विग्रहराज के विषय में इस लेख में लिखा है कि वह म्लेच्छ राजा से लड़ा और उससे गोपगिरि छीन लिया।[1] विग्रहराज ने यह विजय सन् १२१० ई० के आसपास कुत्बुद्दीन ऐबक के पुत्र आरामशाह पर प्राप्त की थी। विग्रहराज का विवाह चौहान केल्हणदेव की राजकुमारी लाल्हणदेवी के साथ हुआ था। उसने अपने राजकुमार मलयवर्मन का विवाह ऐसाह के तोमर राजा अचलब्रह्म की राजकुमारी से किया। इस प्रकार शक्ति संचित कर विग्रहराज गोपाचल गढ़ पुनः प्राप्त कर सके।

मलयवर्मन की पराजय और गोपाचल पर जौहर

जब विग्रहराज प्रतीहार ने आरामशाह से गोपाचल गढ़ छीन लिया, उसी के पश्चात् आरामशाह को अपदस्थ कर कुत्बुद्दीन ऐबक का एक दास शम्शुद्दीन इल्तुतमिश[2] सन् १२१० ई० (६०७ हि०) में दिल्ली का सुल्तान बना। अपने राज्य के प्रारम्भिक २० वर्षों में उसे ग्वालियर को हस्तगत करने का अवसर न मिल सका। उसने सन् १२३१ ई० (६२९ हि०) में गोपाचल गढ़ पर आक्रमण करने की योजना बनाई। इस समय तक विग्रहराज प्रतीहार की मृत्यु हो चुकी थी और उसके राजकुमार मलयवर्मनदेव का राज्य प्रारम्भ हो गया था। समकालीन इतिहास लेखक मौलाना मिनहाज सिराज ने इस राजा का नाम मलिकदेव या मंगलदेव लिखा है। गोपाचल आख्यान में खड्गराय उसे सारंगदेव कहता है। मिनहाज सिराज द्वारा दिया गया नाम श्रुतिदोष और लिपिदोष का परिणाम है। खड्गराय द्वारा प्रयुक्त नाम, संभव है, मलयवर्मन का अपरनाम या विरुद हो। तत्कालीन राजा का नाम मलयवर्मनदेव था, इसमें सन्देह नहीं। मलयवर्मनदेव की मुद्राएँ भी उपलब्ध हुई हैं।

इल्तुतमिश और मलयवर्मनदेव के बीच हुए भीषण युद्ध का वर्णन दो रूप में मिलता है। खड्गराय ने भी इस युद्ध का वर्णन विस्तार से किया है और इस युद्ध के प्रत्यक्षदर्शी मौलाना मिनहाज सिराज ने भी। वास्तव में ये दोनों वर्णन एक दूसरे के पूरक हैं, कुछ स्थलों पर ही अन्तर है। मिनहाज सिराज ने 'जौहर' का उल्लेख नहीं किया है और मलयवर्मनदेव का भाग जाना लिखा है। खड्गराय ने जौहर का विस्तार से वर्णन किया है, साथ ही सारंगदेव (मलयवर्मनदेव) का युद्ध क्षेत्र में मर जाना लिखा है। खड्गराय का वर्णन अधिक प्रामाणिक है; क्योंकि ग्वालियर की इस प्रतीहार शाखा के जितने शिलालेख प्राप्त हुए हैं, उनमें सन् १२३१ ई० के पश्चात् मलयवर्मन देव का अस्तित्व होना नहीं पाया जाता। उसका अन्तिम शिलालेख गंगोलाताल का वि० सं०

---

१. ग्वालियर राज्य के अभिलेख, क्र० ९७।

२. इल्तुतमिश ने अपने कुछ सिक्के देवनागरी अक्षरों में भी ढलवाए थे। उनमें उसका नाम 'लिलितमिसि' अंकित मिलता है। कुछ राजपूत शिलालेखों में उसे "योगिनीपुर (दिल्ली) का सुरत्राण लिलितमिसि" लिखा मिलता है।

१२५१ (सन् १२२५ ई०) का है। उसके पश्चात् उसके भाई नरवर्मन के शिलालेख कुरैठा आदि स्थलों पर प्राप्त हुए हैं।[१]

तवकाते-नासिरी में मौलाना मिनहाज सिराज ने लिखा है[२] —

"जब उस किले के निकट उसके (सुल्तान के) शिविर लगे तो दुष्ट[३] वसील (विग्रहराज) के पुत्र दुष्ट मलिकदेव (मलयवर्मनदेव) ने युद्ध प्रारम्भ कर दिया। सुल्तान ग्यारह मास तक उस किले के निकट ठहरा रहा।"

इसके बाद मौलाना मिनहाज सिराज ने ग्वालियर पहुँचने तथा सुल्तानी सेना के समक्ष तज्कीरें (प्रार्थनाएँ) करने के लिए नियुक्त किए जाने का उल्लेख किया है। अपनी ९५ तज्कीरों और अनेक नमाजों के विवरण के उपरान्त उसने लिखा है—

"सेना ग्वालियर किले को मंगलवार २६ सफर ६३० हि० (१२ दिसम्बर १२३२ ई०) तक घेरे रही, तब उस पर विजय प्राप्त हुई। मंगलदेव रात्रि में किले से निकल कर भाग गया। आठ सौ विधर्मियों (गब्र)[४] को पड़ाव के सामने कत्ल कर दिया गया। इसके उपरान्त उसने (इल्तुतमिश ने) अमीरों तथा गण्यमान्य व्यक्तियों में से मज्दलमुल्क जियाउद्दीन जुनैदी को अमीरदाद (मुख्य न्यायाधीश) तथा सिपहसालार रशीदुद्दीन को कोतवाल नियुक्त किया। मिनहाज सिराज को कज़ा, खितावत, एहतिसाव तथा शरई कार्यों की देखभाल एवं खिलअत और बहुत से इनाम प्रदान किए।" "उसी वर्ष दूसरी रबी-उल-आखिर (१६ जनवरी १२३३ ई०) को सुल्तान ने किले से एक फरसंग (तीन मील) की दूरी पर अपने शिविर लगा दिए।"

मलयवर्मन पराजित हुए थे, शम्सुद्दीन इल्तुतमिश ने ग्वालियर गढ़ जीता भी था; तथापि, मलयवर्मन की पराजय और मृत्यु किसी दूसरे ही रूप में हुई थी। मिनहाज सिराज ने उसका वर्णन नहीं किया है; तथापि, उस घटना का वर्णन विशद रूप में खड्गराय ने किया है।

खड्गराय के अनुसार शम्सुद्दीन पश्चिम की ओर से आँतरी पहुँचा।[५] सवेरे शाह ग्वालियर की घाटी के पास आया। उसने अपने वजीर से पूछा कि गढ़ पर कौन राज्य

१. ग्वा० रा० अभि०, क्र० ११०।

२. तवकाते-नासिरी, मेजर एच० जी० रेवर्टी, पृ० ६१९; इलियट एण्ड डाउसन, भाग २, पृ० २२८।

३. मौलाना द्वारा प्रयुक्त इस विशेषण से रुष्ट होने की आवश्यकता नहीं है। मध्ययुग में इतिहास इसी शैली में लिखे जाते थे, चल तो यह शैली अब भी रही है।

४. 'गब्र' का अर्थ शाब्दिक रूप से 'अग्नि पूजक' है। परन्तु उस समय ग्वालियर में ८०० पारसी कत्ल किए जाने के लिए उपलब्ध नहीं हो सकते थे। यहाँ मिनहाज सिराज का आशय "गैर मुस्लिम" से है।

५. शम्सुद्दीन का यह आक्रमण ग्वालियर गढ़ के उरवाही द्वार की ओर से हुआ था, जहाँ उसने अपनी विजय के उपलक्ष्य में शिलालेख खुदवाया था।

कर रहा है। उसे बतलाया गया कि गढ़ पर परिहार राजा राज्य कर रहा है। शाह ने अपने अमीर बुलाकर उनसे गढ़ लेने की मंत्रणा की। उसने चारों ओर से गढ़ घेर लिया। गढ़ बहुत समय तक घिरा रहा, परन्तु प्रतिरोध में कमी नहीं हुई। तब हैवतखाँ चौहान[1] को वसीठ (दूत) बनाकर गढ़ के भीतर भेजा गया। हैवतखाँ ने परिहार राजा के सम्मुख प्रस्ताव रखा कि वह सुल्तान को बेटी दे दे और उसकी शरण में जाए। राजा ने उससे कहा कि यदि उसे मरना न हो तो वह तुरन्त लौट जाए। राजा ने मंत्रियों से सलाह की। पटरानी चौहान थी। उससे भी मंत्रणा की। सब ने युद्ध करने की सलाह दी। फिर भयंकर युद्ध प्रारम्भ हुआ। तुर्क कटहरों (साबात) की ओट में आगे बढ़े और गढ़ के कंगूरों तक पहुँच गए। गढ़ के ऊपर से बड़े-बड़े पत्थर लुढ़काए गए, जो सुल्तानी कटक पर गिरने लगे। तुर्क सैनिक खुदा का नाम लेते हुए मरने लगे। क्रोधित होकर तुर्कों ने कलमा पढ़कर खाई को पार किया और गढ़ की ओर चले। वहाँ बहुत भीषण युद्ध हुआ। हैवतखाँ मारा गया। वीरभानु चौहान ने बहुत शौर्य दिखाया। यादव और पांडव-वंशी तोमर, सिकरवार, सूर्यवंशी राजपूत अत्यन्त पराक्रम से लड़ रहे थे। विवश होकर सुल्तान को अपने अमीरों को पीछे हटने का आदेश देना पड़ा।

कुछ समय पश्चात् सुल्तान ने पुनः आक्रमण किया। सारंगदेव (मलयवर्मन) के अनेक शूर सामन्त पहले युद्ध में मारे जा चुके थे, अतएव अब उसे अपनी पराजय के आसार दिखाई देने लगे। वे रनिवास में गए। तोवँरि रानी तथा अन्य रानियों ने उससे कहा— "राजा, आप निश्चिन्त होकर युद्ध करें, हम आपके समक्ष ही जौहर की ज्वाला में प्राण दे देंगी।"

जौहर का प्रबन्ध किया गया। चन्दन की चिता बना कर उसमें अग्नि प्रज्वलित की गई। समस्त रानियाँ शृंगार कर हँसती हुई अग्नि में कूदने लगीं और 'राम राम' शब्द का उच्चारण करने लगीं—

स्वर्ग अपछरा आईं लेन, देवत्रिया भरि देखें नैन।
धन्य-धन्य तेऊ ऊचरैं, सुर मुनि देख सबै जै करैं।

आज जिसे जौहरताल कहते हैं उसके पास यह जौहर हुआ था। जौहर हो जाने के पश्चात् राजा क्रुद्ध होकर अपने भाई-बन्दों के साथ सुल्तानी फौज पर टूट पड़ा।

राजा हाँकि करतु हथियार, मनु दामिनि चमकै असवार।
लागी मार दुहू दल हौन, रवि थकि रह्यौ न डुलई पौन।
झरैं हथ्यार सार सौं सार, मनु दुपहर टूटैं अंगार।
जूझे बहुत सिपाही जान, भयौ संदेह साहि मन आनि।
आपुनु साहि उतारै भये, अति रिसि लागि सामुहें भये।
आतसबाजी बरनै कोई, जम कर मार दुहू दिसि होई।

१. ज्ञात होता है कि ये कोई नौमुस्लिम थे जो चौहान से 'खाँ' हो गए थे।

अति हो माची गाध मसान, देखत ताहि भइ अवसान।
रुधिरु प्रवाह महा धरु परै, रुंड मुंड तहाँ लोटत फिरै।
पाँच हजार तीन सौ साठि, परै अमीर लोह धरि पाटि।
जूझौ सारंगद्यो रंन रंग, एक हजार पांच सौ संग।।

खड्गराय के इस अवतरण के अनुसार जौहर के पश्चात् जब मलयवर्मनदेव ने तुर्की सेना पर आक्रमण किया तब खलबली मच गई और अनेक तुर्की सैनिक धराशायी हुए। इल्तुतमिश अपनी सुरक्षित सेना के साथ पास से ही युद्ध देख रहा था। अपनी सेना के अग्रभाग को विपत्ति में देख कर उसने इस सुरक्षित सेना के साथ स्वयं आक्रमण कर दिया। युद्ध अत्यन्त भयंकर हो गया। तुर्कों के पाँच हजार तीन सौ साठ सैनिक मारे गए। उनके शवों से धरती पट गई। परन्तु, इस युद्ध में सारंगदेव (मलयवर्मनदेव) भी अपने डेढ़ हजार योद्धाओं के साथ रणक्षेत्र में धराशायी हुए।

इसके पश्चात् वह कांड हुआ जिसका उल्लेख मौलाना मिनहाज सिराज ने तबकाते नासिरी में किया है—"आठ सौ विधर्मियों को पड़ाव के सामने कत्ल कर दिया गया।" ये 'विधर्मी' वे थे जो असिजीवी नहीं थे।

खड्गराय और मिनहाज सिराज के विवरणों में विस्तार भेद तो है ही, दो घटनाएँ विशेष ध्यान आकर्षित करती हैं। मिनहाज सिराज ने 'जौहर' का उल्लेख नहीं किया है। परन्तु जौहर हुआ था, इसमें सन्देह नहीं। ग्वालियर गढ़ का जौहरताल आज भी उसका मूक साक्षी है। दूसरा तथ्य है, मलयवर्मनदेव का "रात में किले से भाग निकलना"। यदि उसे रात में किले से भाग निकलना था तब उसने समस्त रनिवास और परिवार को जौहर की ज्वाला में क्यों झौंका था? भाग कर फिर वह गया कहाँ?

इस विषय में खड्गराय का विवरण सत्य है और मौलाना मिनहाज सिराज का कथन भ्रम या भूल पर आधारित है। इसका समर्थन शिलालेखों से भी होता है।

शिलालेखों के अनुसार विग्रहराज के दो पुत्र थे; मलयवर्मन और नरवर्मन। मलयवर्मन के तीन राजकुमार थे; हरिवर्मन, जयश्रवर्मन और वीरवर्मन।

इल्तुतमिश से हुए इस भीषण युद्ध के समय मलयवर्मन राजा थे, इसमें कोई सन्देह नहीं है। सन् १२२५ ई० के पश्चात् मलयवर्मन अथवा उनके किसी राजकुमार के उल्लेख युक्त कोई शिलालेख प्राप्त नहीं होता है। इसके विपरीत उनके भाई नरवर्मन का एक शिलालेख गोपाचलगढ़ के गंगोलाताल पर ही प्राप्त हुआ है और दूसरा सन् १२४७ ई० का कुरैठा का ताम्रपत्र है, जिसमें उसे स्वयं राजा कहा गया है। इससे ज्ञात होता है कि १२ दिसम्बर १२३२ ई० के भीषण युद्ध में मलयवर्मन और उनके तीनों राजकुमार मारे गए और नरवर्मन ने तुर्कों का साथ दिया। इस विश्वासघात के फलस्वरूप तुर्की सुल्तान इल्तुतमिश ने उसे गोपाचल पर कुछ समय तक अपने अधीन रहने दिया और उसी समय नरवर्मन ने अपनी इस 'विजय' के उपलक्ष्य में गंगोलाताल में अपना शिलालेख खुदवाया।

परन्तु, ज्ञात यह होता है कि कुछ दिन बाद ही इल्तुतमिश ने नरवर्मन को गढ़ पर से भगा दिया और वर्तमान शिवपुरी के पास किसी इलाके का उसे 'राजा' बना दिया। संभवतः वह अपने आपको 'ग्वालियर का राजा" ही कहता रहा। चन्देल वीरवर्मन के सन् १२८१ ई० के शिलालेख से यह ज्ञात होता है कि उसके सेनापति मल्लय ने गोपाचल के राजा हरिराज को परास्त किया था। सन् १२८१ ई० में गोपाचल तुर्कों के अधीन था। ज्ञात होता है कि हरिराज प्रतीहार नरवर्मन प्रतीहार के वंशज थे और अपने आपको गोपाचल के राजा कहते थे, यद्यपि उनका राज्य कहीं शिवपुरी के आसपास के क्षेत्र पर था।

इन सब तथ्यों को देखते हुए यह कहा जा सकता है कि मलयवर्मनदेव और उनके तीनों राजकुमार १२ दिसम्बर १२३२ ई० के युद्ध में पराजित होकर मारे गए और नरवर्मन प्रतीहार ने अपने भाई के साथ ही धोखा किया जिसके पुरस्कार के रूप में उसे तुर्कों के अधीन वर्तमान शिवपुरी का इलाका प्राप्त हुआ; तथापि, उसे कहा जाता रहा "ग्वालियर का राजा"।

जज्जपेल्ल वंश का उदय

सन् १२४७ ई० में नरवर में एक नवीन राजवंश का उदय हुआ था जिसके राज्य की स्थापना चाहड़देव नामक राजा ने की थी। तेहरवीं शताब्दी में समस्त उत्तर भारत के जिन राजपूत कुलों ने तुर्क सैनिक-तंत्र से लोहा लेने के प्रयास किए थे उनमें नरवर के इस राजवंश का महत्वपूर्ण स्थान था।

यह बड़ी विचित्र बात है कि नरवर के इस राजवंश के लगभग ६० शिलालेख मिले हैं, परन्तु उनमें किसी में भी यह संकेत नहीं मिलता कि यह राजवंश किस राजपूत कुल का था। भीमपुर के वि० सं० १३१९ के शिलालेख में उल्लेख है[1] —

यज्वपाल इति सार्थक नामा संबभूव इतिवसुधाधवंशः

वि० सं० १३३९ के कचेरी के शिलालेख[2] में यह उल्लेख है कि इनके किसी पूर्वज का नाम "जयपाल" था और इस कारण इस वंश का नाम "जज्जपेल्ल" पड़ा।

सम्भव है, यह तोमरों की ही कोई शाखा हो; सम्भव है, ये प्रतीहार हों। प्रतीहार नागभट्ट प्रथम का एक विरुद "पेलापेल्ल" भी था। सम्भव है, यह "जज्जपेल्ल" वैसा ही कोई शब्द हो।

जयपाल के विषय में यह उल्लेख मिलता है कि वह "रत्नगिरि" का स्वामी था। जब तक "रत्नगिरि गिरीन्द्र" की पहचान न हो, जयपाल का मूल स्थान ज्ञात होना संभव नहीं है। इस वंश में चाहड़ के पहले एक "परमादिराज" भी हुआ था[3] और चाहड़ को उसका उत्तराधिकारी कहा गया है। सम्भव है, यह परमादि चन्देल हो, और चाहड़ उन्हीं की शाखा में हो।

---

१. ग्वा० रा० अभि०, क्र० १२२।
२. ग्वा० रा० अभि०, क्र० १४१।
३. ग्वा० रा० अभि०, क्र० १२२।

रतौल के ताम्रपत्र में किसी महाकुमार चाहड़देव का उल्लेख है, जिसे अर्णोराज और पृथ्वीराज का वंशज कहा गया है।[1] यह असम्भव नहीं है कि इस चाहड़देव ने ही नरवर में आकर नये राजवंश की स्थापना की हो। यह सम्भव है कि जज्जपेल्लवंश के शिलालेख का "रत्नगिरि गिरीन्द्र" रणथंभोर हो। परन्तु इस स्थापना में सबसे बड़ी अड़चन यह है कि यदि नरवर के जज्जपेल्ल "शाकंभरी' के चौहान थे तब उनके द्वारा नवीन नाम "जज्जपेल्ल" क्यों ग्रहण किया गया ? कहीं यह कारण तो नहीं है कि यह शाखा राय पिथौरा के दासीपुत्र "गोलाराय" की हो ? यह भी विचार करने की बात है कि आज नरवर क्षेत्र में 'जज्जपेल्ल' पूर्णतः विलुप्त क्यों हो गए हैं ? आजकल कहीं भी इस नाम के राजपूत नहीं सुने जाते।

जज्जपेल्ल चाहड़ का राज्य निश्चित ही बहुत विस्तृत हो गया था और उसकी सैन्य-शक्ति भी प्रबल थी। उसका राज्य सुरवाहा और कदवाहा तक फैला हुआ था और उसने मालवा के परमारों पर भी आक्रमण किया था।[2] मिनहाज सिराज ने उसे "मालवा" प्रदेश का सबसे बड़ा राजा लिखा है। उसके पास ५ हजार सवार और दो लाख प्यादे थे।[3] सन् १२३४ में शम्शुद्दीन इल्तुतमिश ने गोपाचल गढ़ के प्रशासक के रूप में शाहबुद्दीन गौरी के गुलाम मलिक नुसरतुद्दीन तयासी को नियुक्त कर दिया था। उसने कालिंजर पर आक्रमण किया और चन्देल राजा को पराजित कर दिया। चन्देलों की लूट का माल लेकर जब वह ग्वालियर की ओर लौट रहा था, मार्ग में चाहड़ ने उस पर आक्रमण कर दिया। एक सकड़ी घाटी पर युद्ध हुआ और तयासी बुरी तरह पराजित हुआ।[4] सन् १२५१ में बलबन ने नरवर पर आक्रमण किया। इस युद्ध में चाहड़ पराजित हुआ और नरवर गढ़ को लूटा गया परन्तु बलबन भी चाहड़ के राज्य को समाप्त न कर सका।

चाहड़देव के पश्चात् नरवर का राजा नरवर्मनदेव हुआ। नरवर्मन ने धार के दम्भी राजा से चौथ वसूल की थी, ऐसा एक शिलालेख में उल्लेख है।[5] नरवर्मन के पश्चात् उसका पुत्र आसल्लदेव नरवर का राजा हुआ। इसका राज्यकाल वि० स० १३११ (सन् १२५४ ई०) से वि० सं० १३३६ (सन् १२७९ ई०) तक रहा, ऐसा उसके सिक्कों और शिलालेखों से ज्ञात होता है।

सन् १२७९ में जज्जपेल्ल राज्य का स्वामी गोपालदेव हुआ। इसके राज्यकाल की प्रमुख घटना चन्देल वीरवर्मन द्वारा जज्जपेल्ल राज्य पर आक्रमण है। कचेरी के शिलालेख में उल्लेख है कि गोपालदेव ने चन्देल वीरवर्मा को पराजित किया था—

---

१. एपी० इण्डि०, भाग १२, पृ० २२४।

२. ग्वा० रा० अभि०, पृ० २३२।

३. डॉ० रिजवी, आदि-तुर्क-कालीन भारत, पृ० ४९-५०; तबकाते नासिरी, रेवर्टी, पृ० ६९१।

४. डॉ० रिजवी, आदि-तुर्क-कालीन भारत पृ० ६० ; तबकाते नासिरी, रेवर्टी, पृ० ७३३।

५ ग्वा० रा० अभि०, क्र० ७०४। यह नरवर्मन जज्जपेल्ल इसी नाम के प्रतीहार राजा से भिन्न है।

जेजाभुक्तिप्रभुमधिबलवीरवर्माणजित्वा

परन्तु, वीरवर्मन चन्देल ने अपने शिलालेख में दावा किया है कि उसके सेनापति मल्लय ने नरवर के गोपालदेव को भी पराजित किया और गोपाचल के हरिराज को भी। यह युद्ध निश्चय ही चैत्र सुदी ७ वि० सं० १३३८ (सन् १२८१ ई०) को हुआ था। उस तिथि के अनेक स्मारक-स्तम्भ शिवपुरी के पास बंगला ग्राम में बलुआ नदी के किनारे मिले हैं। इनसे यह भी प्रकट है कि आक्रमण वीरवर्मन चन्देल के सेनापति ने किया था। क्यों किया था, इसका पता इन शिलालेखों से नहीं चलता।

सन् १२९१ में नरवर का राजा गोपालदेव का पुत्र गणपतिदेव हुआ। गणपतिदेव के समय में जज्जपेल्लों का राज्य प्रभावशाली था। एक शिलालेख में उल्लेख है कि उसने कीर्ति दुर्ग अर्थात् चन्देरी पर विजय प्राप्त की।[1]

इस जज्जपेल्ल वंश ने सन् १२४७ ई० से सन् १२९८ ई० तक मध्यप्रदेश के बहुत बड़े भू-भाग पर राज्य किया था। परन्तु इसी बीच दिल्ली सल्तनत अलाउद्दीन खलजी के हाथ में आ गई। उसने तुर्क साम्राज्य को अत्यंत विस्तृत और सुदृढ़ रूप दिया। उसी के हल्ले में कभी सन् १२९८ ई० के आसपास नरवर का जजपेल्ल, जज्जपेल्ल या जज्वपेल्ल राज्य भी समाप्त हो गया। समस्त राजपूत-तंत्र फिर अवसर की प्रतीक्षा करते हुए अपने-अपने आन्तरिक इलाकों में सिमिट गए। इस बीच चम्बल-क्षेत्र के तोमर किस प्रकार दिन बिता रहे थे, यह उनके मध्ययुगीन इतिहास लेखक खड्गराय ने भी नहीं लिखा है।

जज्जपेल्ल सिक्के

अलाउद्दीन खलजी गणपतिदेव को पराजित कर उसका राजकोष भी लूट ले गया था। नरवर में जज्जपेल्ल-सिक्कों की टकसाल थी। अलाउद्दीन के खजाने के रत्नपारखी ठक्कुर फेरू ने अपनी "द्रव्यपरीक्षा" पुस्तक में चाहड़देव और आसल्लदेव की मुद्राओं को क्रमशः चाहडी और आसल्ली मुद्रा कहा है।[2]

कनिंघम ने प्रतीहार मलयवर्मन की मुद्राओं को भी इसी राजवंश की मुद्राओं में सम्मिलित कर दिया है। उक्त विद्वान ने चाहड़पालदेव तोमर और चाहड़देव जज्जपेल्ल की मुद्राओं को भी एक ही राजा की मुद्राएँ माना है।[3] परन्तु ठक्कुर फेरू ने चाहड़पाल तोमर और नरवर के चाहड़ की मुद्राओं को स्पष्ट रूप से अलग-अलग राजाओं की मुद्राएँ माना है; अतएव, अब किसी भ्रम को स्थान नहीं रहना चाहिए।

इब्नबतूता का ग्वालियर

इब्नबत्तूता दो बार ग्वालियर आया था। पहली बार जब वह ग्वालियर आया था तब उसने लिखा—

१. ग्वा० रा० अभि०, क्र० १७४।
२. रत्नपरीक्षादि-सप्त-ग्रन्थ संग्रह, पृ० ३०।
३. काइन्स ऑफ मेडीवल इण्डिया, पृ० ९०-९३।

"ग्वालियर का किला एक ऊँची पहाड़ी पर स्थित है और ऐसा ज्ञात होता है मानो पहाड़ी को काट कर बनाया गया हो। उसके निकट अन्य कोई पहाड़ नहीं है। उसके अन्दर पानी के हौज हैं। किले की दीवार से मिले हुए लगभग २० कुएँ हैं। उसके निकट ही की दीवार पर मंजनीक तथा अरादे लगे हुए हैं। किले तक जाने के लिए एक चौड़ा रास्ता है। उस रास्ते पर हाथी तथा घोड़े सुगमतापूर्वक चल सकते हैं। किले के दरवाजे पर पत्थर की कटी हुई हाथी की मूर्ति महावत सहित वर्तमान है। दूर से देखने पर वह सचमुच हाथी मालूम होती है। किले के नीचे सचमुच बड़ा सुन्दर नगर बसा है। समस्त भवन तथा मस्जिदें सफेद पत्थर की बनी हैं। दरवाजे के अतिरिक्त किसी स्थान पर भी लकड़ी नहीं लगी है। बादशाह का महल[1] भी इसी प्रकार का बना हुआ है। मकबरे और बंगले भी पत्थर के बने हुए हैं। यहाँ के निवासी अधिकतर काफ़िर (हिन्दू) हैं। यहाँ ६०० शाही सवार रहते हैं, जो सर्वदा काफिरों से युद्ध किया करते हैं, कारण कि यह नगर काफ़िरों के बीच बसा हुआ है।"

निश्चय ही इब्नबत्तूता का आस-पास के काफिरों से मतलब उन तोमरों, प्रतीहारों, सनाढ्यों, हरियानियों और गूजरों से है जो आगे तोमरों के राज्य में सुल्तानों के लिए कण्टक बने।

इब्नबत्तूता फिर एक बार १५ सितम्बर १३४२ ई० में ग्वालियर आया। उसने लिखा है—

"फिर हम लोग कालियूर या कियालीर (ग्वालियर) की ओर गए। यह एक बहुत बड़ा नगर है। इसका किला एक पृथक् पहाड़ी पर अत्यन्त दृढ़ बना हुआ है। इसके द्वार पर एक हाथी तथा हाथीवान की पत्थर की मूर्तियाँ खड़ी हैं। इसका उल्लेख सुल्तान कुत्बुद्दीन के हाल में हो चुका है। इसका अधिकारी अहमद-बिन-शेरखाँ है। वह बड़ा चरित्रवान है। उसने इस यात्रा के पूर्व जब मैं उसके पास ठहरा था, मेरा बड़ा आदर-सत्कार किया था। एक दिन जब मैं उसके पास गया तो वह एक काफिर (यानी हिन्दू) के टुकड़े करानेवाला था। मैंने आग्रह किया कि वह ईश्वर के लिए ऐसा न करें क्योंकि मैंने अपने सामने किसी की हत्या होने नहीं देखी। उसने मेरी प्रार्थना के कारण उसे बन्दी बनाने का आदेश दे दिया। इस प्रकार मेरे कारण उसके प्राण बच गए।"

इब्नबत्तूता ग्वालियर से नरवर गया। वहाँ का अधिकारी मुहम्मद-बिन-बैरम था। उस समय तक जज्जपेल्ल वंश के राजाओं का राज्य समाप्त होकर नरवर में सुल्तानों का शासन हो गया था।

नरवर का प्रसंग अन्यत्र आएगा। अभी प्रत्यक्ष सम्बन्ध ग्वालियर गढ़ के अधिकारी अहमद-बिन-शेरखाँ से है, क्योंकि उससे तथा उसके उत्तराधिकारी से ही ग्वालियर गढ़ लेने के लिए तोमरों को निपटना पड़ा था।

---

१. यह महल यथार्थ में किसी 'बादशाह' का न होकर भोज प्रतीहार का था, जिसमें उनके वंशज राजा रहते थे। किसी 'बादशाह' ने गोपाचल गढ़ पर महल नहीं बनाया था।

अचलब्रह्म से वीरसिंहदेव तक

अचलब्रह्म दिल्ली से विस्थापत होकर तँवरघार के अपने प्राचीन स्थान "ऐसाह"[1] आ गए और उस संघर्ष में भाग लेने लगे जो इस क्षेत्र के राजाओं और तुर्कों के बीच चल रहा था। उसके पश्चात् लगभग सवा सौ वर्ष तक तँवरघार के तोमरों की स्थिति क्या रही, इसका उल्लेख किसी स्रोत से प्राप्त नहीं होता। विभिन्न स्रोतों से जो तोमर वंशावलियाँ मिलती हैं उसमें कुछ नाम ही प्राप्त होते हैं, उन नामों के साथ किसी घटना का उल्लेख नहीं मिलता। शिलालेखों में प्राप्त वंशावलियों में पहला नाम वीरसिंहदेव का प्राप्त होता है। वीरसिंहदेव के ऊपर दो नाम उनके द्वारा वि० सं० १४३९ (सन् १३८२ ई०) में लिखे गए वीरसिंहावलोक नामक ग्रन्थ में प्राप्त होते हैं। एक वंशावली खड्गराय के गोपाचल आख्यान में दी गई है। एक *अन्य वंशावली मेजर जनरल कनिंघम ने स्थानीय* तोमर जमींदार से प्राप्त की थी। इन तीनों स्रोतों से निम्नलिखित वंशावली प्राप्त होती है :—

वीरसिंहावलोक	गोपाचल आख्यान	तोमर जमींदार
—	अचलब्रह्म	दिलीपपाल
—	वीरशाह	वीरपाल
—	मदनपाल	अनूपपाल
—	भूपति	सोनपाल
—	कुंवरसी	सुल्तानपाल
कमलसिंह	घाटमदेव	कुंवरपाल
देववर्मा	देवब्रह्म	देवब्रह्म
वीरसिंहदेव	वीरसिंहदेव	वीरसिंहदेव

अचलब्रह्म के पश्चात् के चार नाम वास्तव में क्या थे, और गोपाचल आख्यान तथा तोमर जमींदार की वंशावली में से कौन-सी ठीक हैं, यह जाँचने का कोई आधार नहीं है। पाँचवा नाम तीनों स्रोतों से तीन रूप में मिलता है: कमलसिंह, घाटमदेव तथा कुंवरपाल। इनमें से कुंवरपाल संभवत: वही व्यक्ति है जिसे गोपाचल आख्यान में चौथे स्थान पर कुंवरसी लिखा है। पाँचवे व्यक्ति का नाम, वीरसिंहावलोक के आधार पर, सुनिश्चित रूप से 'कमलसिंह' माना जा सकता था; परन्तु, इस मान्यता में एक कठिनाई है। वीरसिंहावलोक की जितनी प्रतियाँ उपलब्ध हैं, उनमें से एक में ही कमलसिंह का नाम दिया गया हैं; शेष

---

१. 'ऐसाह' वर्तमान अम्बाह तहसील के पश्चिमी की ओर चम्बल नदी से लगभग एक मील दक्षिण में बसा हुआ है। 'ऐसाह' के पास ही 'गढ़ी' है। 'ऐसाह' के पास ही चम्बल का उसैंत घाट है। खड्गराय के गोपाचल आख्यान में इन स्थानों का उल्लेख है। फज्ल अली के 'कुल्याते ग्वालियरी' में 'ऐसाह' को अशुद्ध लिखा गया है और उसे वर्तमान इतिहासकारों ने 'ईसा मणिमोला' कर दिया है।
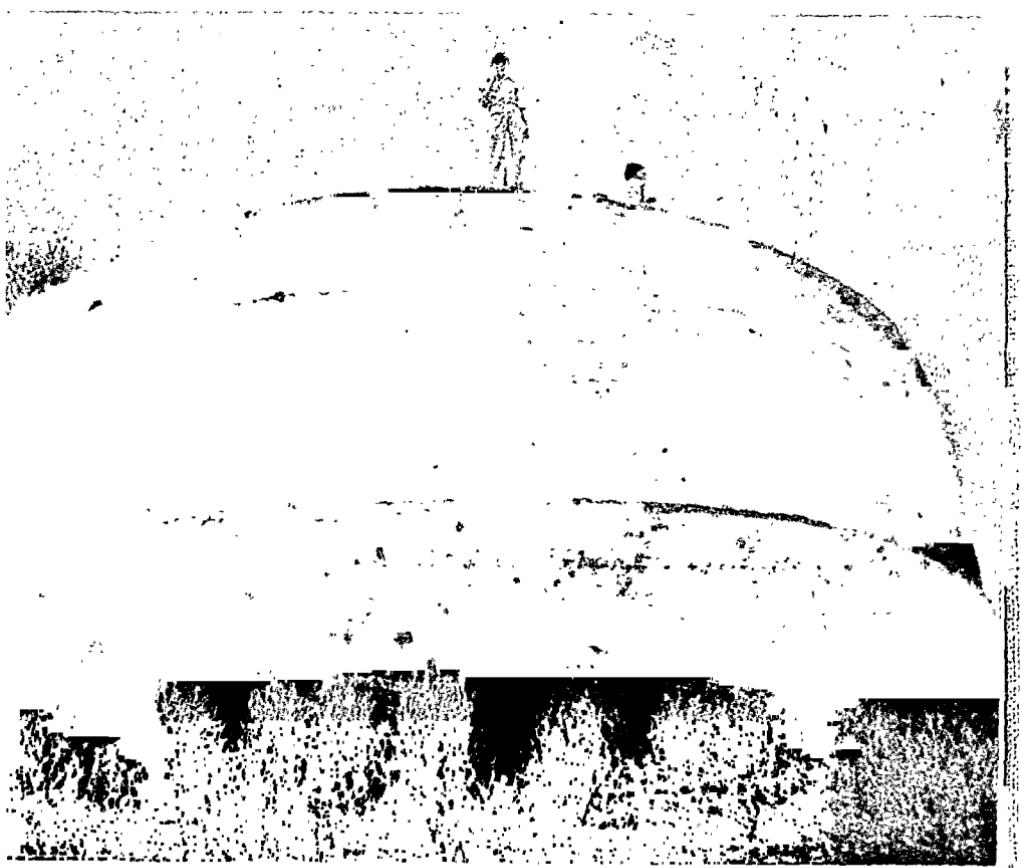
ऐसाह के गढ़ की बुर्जी
(प्रस्तावना तथा पृष्ठ १६ देखें)

में केवल वीरसिंहदेव और उनके पिता देववर्मा के नाम प्राप्त होते हैं। जिस प्रति में कमलसिंह का नाम प्राप्त होता है वह लक्ष्मीवेंकटेश्वर मुद्रणालय, मुम्बई, से वि० सं० १९८१ (सन् १८९७ ई०) में प्रकाशित हुई थी।[1] ग्रन्थ की समाप्ति के उपरान्त उसमें निम्नलिखित पंक्तियाँ मिलती हैं :—

य: श्रेष्ठस्तरणिप्रभावजनितो वंश: समालोक्यते
रामाद्या: पृथिवीश्वरा: समभवन्यत्र प्रभावोन्नता: ।
नो वा यत्र युधिष्ठिरप्रभृतयो भूपा अभूवंस्तत:
सृष्टस्तोमरवंश एष विधिना सत्कर्मसंसेविना ॥

तत्राभवत् कमलसिंह इति प्रसिद्ध:
सर्वागमाचरणसेवितदेवसिद्ध: ।
तस्मादभूत्सुगतिभूपतिदेववर्मा
विद्याविनोदमतिरापूतपुण्यकर्मा ॥

श्रीदेववर्मात्मज एष धीर: स्वशस्त्रसंतापितशत्रुवीर: ।
श्री वीरसिंह: क्षितिपालसिंह: शास्त्रत्रयाद्ग्रंथमिमं व्यधत्त ॥

वीरसिंहावलोक के इस पाठ के अनुसार वीरसिंहदेव के पिता का नाम देववर्मा और प्रपिता का नाम कमलसिंह था।

देववर्मा या देवब्रह्म के पिता का नाम खड्गराय ने गोपाचल आख्यान में "घाटमदेव" लिखा है। यह नाम भी अशुद्ध या काल्पनिक ज्ञात नहीं होता। ऐसाह के तोमर चम्बल के उसैतघाट पर आधिपत्य रखते थे। इस आधिपत्य को संभवत: देवब्रर्मा के पिता कमलसिंह ने प्रभावशाली बनाया होगा और घाटमदेव का विरुद या अपरनाम प्राप्त किया होगा। इब्नबतूता के यात्रा विवरण से इस विषय पर कुछ प्रकाश पड़ता है। उसने लिखा है[2]—"मरह से हम अलावपुर (अलापुर) पहुँचे। यह एक छोटा कस्बा है। इस कस्बे से एक दिन की यात्रा पर एक हिन्दू राजा का राज्य है, उसका नाम "कतम" है। यह 'जंबील' का राजा था।"

'जंबील' निश्चय ही 'चम्बल' के लिए है। स्थानीय बोली में चम्बल को चामिल या चांबिल कहा जाता है। इब्नबतूता की लिपि के प्रताप से यह 'जंबील' हो गयी। कतम नाम "कमल" के लिए भी हो सकता है और "घाटम" के लिए भी। चम्बलक्षेत्र के राजा कमलसिंह या घाटमदेव के राज्य की सीमा अलापुर से "एक दिन की यात्रा" की दूरी पर ही है।

कमलसिंह (घाटमदेव १३४० ?)

वीरसिंहावलोक से कमलसिंह के विषय में कोई विशेष जानकारी नहीं मिलती। "सर्वागमाचरणसेवितदेवसिद्ध:" केवल प्रकृतिविषयक व्यापक शब्द हैं। सन्

१. वीरसिंहावलोक की एक प्रति भण्डारकर ओरिएण्टल रिसर्च इन्स्टीट्यूट पूना में है। सिंधिया प्राच्यविद्या शोध प्रतिष्ठान, विक्रम विश्वविद्यालय, उज्जैन में भी इसकी ५ प्रतियाँ हैं। मुम्बई से मुद्रित प्रति अब दुर्लभ है, तथापि उसकी एक प्रति उज्जैन के शोध प्रतिष्ठान में है।
२. डा० रिजवी, तुगलुक कालीन भारत, भाग १, पृष्ठ २६६।

१३८२ ई० में जिनका पौत्र "वीरसिंहावलोक" जैसा ग्रन्थ लिख सकता था और "स्वशस्त्र से शत्रुओं को संतापित" कर सकता था, उस कमलसिंह के अस्तित्व के समय का कुछ अनुमान किया जा सकता है। इब्नबत्तूता के विवरण से यह ज्ञात होता हैं कि उसके द्वारा उल्लिखित राजा "कतम" सन् १३४२ ई० के कुछ वर्ष पूर्व युद्धक्षेत्र में मारा गया था।

कमलसिंह (घाटमदेव) के इतिहास का एकमात्र आधार इब्नबत्तूता का यात्रा विवरण है। उसके विवरण को भी ज्यों का त्यों मानने के मार्ग में एक कठिनाई है। उसने इस राजा की मृत्यु दो बार कराई है, एक बार रापरी के युद्ध में और दूसरी बार ग्वालियर गढ़ के युद्ध में। इब्नबत्तूता कहाँ भूला है, यह समझना कठिन है, परन्तु उसके विवरण से अनुमान यह होता है कि रपरी का युद्ध पहले हुआ और ग्वालियर गढ़ का बाद में। इब्नबत्तूता के विवरण से कमलसिंह (घाटमदेव) के जीवन की तीन घटनाएँ सामने आती है।

बद्र-वध

उस समय अलापुर पर दिल्ली की तुर्क सल्तनत की ओर से बद्र नामक हब्शी दास अमीर (प्रशासक) था। इब्नबत्तूता के अनुसार "वह बड़ा लम्बा तथा मजबूत था और एक बार में पूरी एक भेड़ खा जाता था तथा भोजन के पश्चात् डेढ़ रतल (तीन पाव) घी पी जाता था। उसका पुत्र भी इसी आकार-प्रकार का था। बद्र आसपास के इलाकों पर आक्रमण कर देता था और वहाँ के हिन्दुओं को या तो मार डालता था या वन्दी बना लेता था"। इब्नबत्तूता के अनुसार "इस प्रकार वह दूर-दूर तक प्रसिद्ध हो गया और काफिर (हिन्दू) उसके नाम से डरने लगे थे"।

चम्बल के तोमरों का इलाका अलापुर से "एक दिन की यात्रा" की दूरी पर था। उस इलाके के एक गाँव पर भी बद्र ने आक्रमण किया। संभवतः उस गाँव के निवासियों ने आक्रमण का प्रतिरोध किया। युद्ध में बद्र अपने घोड़े सहित एक गढ्ढे में गिर गया। वहीं एक ग्रामवासी जा घुसा और कटार से उसकी हत्या करदी। बद्र की सेना ने ग्राम के "पुरुषों की हत्या करदी, स्त्रियों को वन्दी बना लिया और सब कुछ लूट लिया"। सैनिक बद्र के घोड़े को लेकर अलापुर पहुँचे और उसे बद्र के वेटे को दे दिया।

बद्र का वध ऐसाह के तोमरों के क्षेत्र के एक ग्राम में हुआ था।[1] बद्र के पुत्र ने उनसे अकेले झगड़ना ठीक न समझा और अपने पिता के ही घोड़े पर बैठ कर दिल्ली के सुल्तान के पास फरियाद करने के लिए चल दिया। कमलसिंह (घाटमदेव) भी सतर्क हुए और उन्होंने बद्र के पुत्र को मार डाला।

इसके पश्चात् अलापुर का प्रशासन बद्र के दामाद ने सँभाला। तोमरों ने उसे भी मार डाला। इस प्रकार कमलसिंह (घाटमदेव) ने इस क्षेत्र को इस दैत्य-परिवार से मुक्ति दिलाई।

---

१. इब्नबत्तूता ने इसे "हिन्दुओं का ग्राम" लिखा है।

रापरी पर आक्रमण

इसी समय रापरी पर खत्ताव नामक अफगान अमीर (प्रशासक) था। कमलसिंह ने स्थानीय राजपूत राजाओं के साथ खत्ताव पर आक्रमण कर दिया, परन्तु वे विजयी न हो सके। यद्यपि इब्नवत्तूता के अनुसार कमलसिंह (घाटमदेव) रापरी के युद्ध में मारे गए, तथापि घटनाक्रम यह बतलाता है कि वहाँ से अपने क्षेत्र में लौट आए।

ग्वालियर गढ़ पर आक्रमण

अपनी स्वतंत्र सत्ता स्थापित करने के लिए कमलसिंह को ग्वालियर गढ़ को प्राप्त करना आवश्यक प्रतीत हुआ। उस समय ग्वालियर गढ़ पर अहमद-बिन-शेरखाँ अमीर (प्रशासक) था। कमलसिंह ने ग्वालियर गढ घेर लिया। उसी युद्ध में उनकी मृत्यु हो गई। जैसा ऊपर लिखा जा चुका है, यह घटना सन् १३४२ ई० के पूर्व की है। सन् १३४२ ई० में इब्नवत्तूता अलापुर आया था और उसी समय उसने "कतम" या कमलसिंह (घाटमदेव) के पराक्रम का विवरण सुना था।

ज्ञात यह होता है कि गोपाचल गढ़ को प्राप्त कर चम्बल के तोमरों के स्वतंत्र राज्य की स्थापना करने की कल्पना के सृष्टा कमलसिंह थे। वे सफल न हो सके, उनके इस लक्ष्य को प्राप्त कर सका उनका पौत्र—वीरसिंहदेव।

इब्नवत्तूता ने उन परिस्थितियों पर प्रकाश डाला है जिनके कारण तुर्क सुल्तानों के अधीन स्थानीय जनता विद्रोह के लिए विवश हो जाती थी और किसी ऐसी शक्ति की खोज में रहती थी जो उसे बद्र जैसे अमीरों (तुर्क प्रशासकों) के अत्याचारों से त्राण दिला सके। इब्नवत्तूता के अनुसार इस प्रदेश के निवासी उस समय "जिम्मी काफिर", अर्थात्, हिन्दू बने रहने की छूट के लिए विशेष कर देना स्वीकार करलेनेवाले थे। कमलसिंह (घाटमदेव) यद्यपि चम्बल के "राजा" मान लिए गए थे, तथापि वे भी दिल्ली के सुल्तान की अधीनता स्वीकार करते थे। इब्नवत्तूता के अनुसार "यहाँ गेहूँ अत्यंत उत्तम प्रकार का होता है। यहाँ के समान गेहूँ कहीं भी नहीं होता है। यहाँ से गेहूँ दिल्ली भेजा जाता है। यहाँ के गेहूँ के दाने लम्बे, अधिक पीले और बड़े होते हैं। चीन के अतिरिक्त ऐसे गेहूँ मैंने कहीं नहीं देखे।" फिर इब्नवत्तूता लिखता है "वहाँ एक हिन्दू जाति होती है। वे बड़े डील-डौल के तथा रूपवान हैं। उनकी स्त्रियाँ बड़ी ही रूपवती होती हैं। वे अपने आकर्षण.... के लिए प्रसिद्ध होती हैं।"

गेहूँ भी दिल्ली जाता था और "बड़े डीलडौल वाले" पुरुषों की हत्या कर उनकी "रूपवती" स्त्रियाँ भी पकड़कर दासियाँ बनाकर दिल्ली भेजी जाती होंगी! विद्रोह अनिवार्य था। विस्फोट हुआ, प्रथम बलि दी घाटमदेव ने!!

देववर्मा

वीरसिंहावलोक में कमलसिंह (घाटमदेव) के पुत्र का नाम "देववर्मा" लिखा है। खड्गराय ने गोपाचल आख्यान में चौपाई की तुक मिलाने के लिए उसे 'धौब्रह्म' कर दिया

है, तथापि वह तोमर जमींदार के पास मिली वंशावली के समान 'देवब्रह्म' ही है। जब तक वीरसिंहावलोक की किसी प्राचीनतर प्रति से अन्यथा ज्ञात न हो, उसका नाम "देववर्मा" मानकर ही चलना उचित होगा।

वीरसिंहावलोक में देववर्मा के लिए 'भूपति' शब्द प्रयुक्त हुआ है और उनके विषय में लिखा है कि वे "विद्याविनोदमतिरापृतपुण्यकर्मा" थे। खड्गराय ने देववर्मा या देवब्रह्म के विषय में कुछ विस्तार से लिखा है—

राजा बड़े भये द्यौब्रह्म, तिनके हृदय बसै परब्रह्म।
महासूर सूरन कौ नाह, चाँबिलबार रहै ऐसाह॥
आदिथान दिल्ली ही रह्यौ, कछु दिन बास छूटि सो गयौ।
जोतिक व्यास थापि हो गयो, मन परतीत न परचौ भयौ।
बहुरि कछू दिन पूरब रहे, फिरए साहि जु आए कहे॥

इन दो सन्दर्भों से ही देववर्मा का कुछ विवरण प्राप्त होता है।

मुहम्मद तुगलुक के राज्य के अन्तिम दिनों में तुगलुक साम्राज्य में अराजकता गई थी। उसी समय कमलसिंह (घाटमदेव) अपना अधिकार-क्षेत्र बढ़ाने में सफल हुए थे। जब देववर्मा ऐसाह के 'भूपति' बने उस समय मुहम्मद तुगलुक ही दिल्ली का सुल्तान था। संभवतः देववर्मा भी कुछ समय तक स्वतन्त्र सत्ता का उपभोग करते रहे। २० मार्च १३५१ ई० को मुहम्मद तुगलुक की मृत्यु हो गयी और २३ मार्च १३५१ ई० को फीरोजशाह सुल्तान बना। उसके समय में दिल्ली सल्तनत ने पर्याप्त दृढ़ता प्राप्त कर ली थी। ज्ञात होता है कि देववर्मा ने यही उचित समझा कि वे नवीन तुगलुक सुल्तान के कृपापात्र बन जाएँ।

खड्गराय के कथन से ज्ञात होता है कि इसी उद्देश्य की पूर्ति के लिए देववर्मा अपने दल-बल सहित दिल्ली गए और सुल्तान की सेना में सम्मिलित हो गए। ज्ञात होता है कि देववर्मा फीरोजशाह की सेना के साथ सन् १३५३ ई० में तिरहुत भी गए।[1] इस अभियान के पश्चात् फीरोजशाह ने देववर्मा की ऐसाह की जागीर को शाही मान्यता दे दी और वे विधिवत् 'राय' हो गए।

फीरोजशाह की विस्तृत सल्तनत में तुर्क अमीरों के अतिरिक्त अन्य 'राय' और 'राजा' भी उसकी ओर से स्थानीय प्रशासन देखते थे। ये 'राय' नियमित रूप से कर देते थे और आवश्यकता पड़ने पर अपने सैनिकों सहित सुल्तान की ओर से युद्ध में भी सम्मिलित होते थे। अपने क्षेत्र में इनका राज्य शासन स्वतन्त्र ही रहता था। इन रायों की सीमा में सुल्तान मन्दिर नहीं तोड़ता था और वहाँ की जनता को हिन्दू बने रहने के लिए जजिया भी नहीं देना पड़ता था। इन रायों का उत्तराधिकार वंशपरम्परागत रहता

---

१. विहार में अभी भी कुछ तोमर वसे हुए हैं; संभव है वे इसी समय उस ओर गए हों, संभव है शाहजहाँ के समय में मित्रसेन के साथ गए हों।

था। जब एक 'राय' विद्रोही होने पर अपदस्थ कर दिया जाता था तब बहुधा उसका पुत्र ही 'राय' बनाया जाता था।[1]

वीरसिंहावलोक में देववर्मा को 'भूपति' कहा गया है, जो जमींदार या 'राय' के लिए भी प्रयुक्त होता रहा है। खड्गराय उसे 'राजा' लिखता है। परन्तु, खड्गराय के विवरण से ही यह स्पष्ट है कि देववर्मा स्वतन्त्र 'राजा' नहीं थे, वे सुलतान फीरोजशाह के जागीरदार थे। स्वतंत्र राज्य की स्थापना का गौरव उनके पुत्र वीरसिंहदेव को प्राप्त हुआ था, वह भी फीरोजशाह की मृत्यु के पश्चात्।

---

१. इन्शाए माहरू, डा० रिजवी, तुगलुक कालीन भारत, भाग २, पृ० ३७९।

वीरसिंहदेव

(१३७५—१४०० ई०)

देववर्मा के पश्चात् ऐसाह की तोमर गद्दी उसके प्रतापी राजकुमार वीरसिंहदेव तोमर को प्राप्त हुई। वीरसिंहदेव के समय को दो भागों में विभाजित किया जा सकता है। प्रारम्भ में वे तुगलुकों के जागीरदार के रूप में ऐसाह की गद्दी के अधिपति बने रहे और उसके पश्चात् वे गोपाचल गढ़ के स्वतंत्र राजा हुए और उनके द्वारा उस राजवंश की नींव डाली गई जो लगभग सवा-सौ वर्ष तक ग्वालियर गढ़ पर राज्य करता रहा।

वीरसिंहदेव तोमर ही वास्तविक रूप से ग्वालियर के तोमर राजवंश की प्रतिष्ठा और स्वतंत्र सत्ता के संस्थापक थे। उस समय की उत्तर भारत की राजनीतिक स्थिति का स्वरूप वीरसिंहदेव के अभ्युदय से स्पष्ट होता है।

ऐतिह्य सामग्री

वीरसिंहदेव के राज्यकाल के विवरण के लिए समकालीन तथा परवर्ती ऐतिह्य सामग्री उपलब्ध है।

वि० सं० १४३९ (सन् १३८२ ई०) में स्वयं वीरसिंहदेव ने वीरसिंहावलोक नामक ग्रन्थ लिखा था। इस ग्रन्थ से वीरसिंहदेव के राजनीतिक अथवा सामरिक इतिहास पर प्रकाश नहीं पड़ता, तथापि उस युग के सांस्कृतिक इतिहास पर पर्याप्त प्रकाश पड़ता है। यह ग्रन्थ उस समय लिखा गया था जब वीरसिंहदेव ऐसाह के 'राय' थे, उन्होंने गोपाचलगढ़ पर विजय प्राप्त नहीं की थी।

स्वयं वीरसिंहदेव का एक राजकीय शिलालेख ग्वालियर गढ़ के गंगोलाताल में खुदा हुआ मिला है। यह शिलालेख आषाढ़ शुक्ल ५, वि० सं० १४३८ (जून ४, सन् १३९४ ई०) को खुदवाया गया था। इस शिलालेख से यह सुनिश्चित है कि इस दिन के पूर्व वीरसिंहदेव ने गोपाचल गढ़ जीत लिया था और एक छोटे से प्रदेश में सिमटे हुए तोमरवंश को पुनः उत्तर भारत की राजनीति में प्रभावशाली स्थान दिलाया था। यद्यपि गंगोलाताल का शिलालेख अनेक स्थलों पर भग्न है, तथापि उससे पर्याप्त जानकारी प्राप्त होती है। उसका उपलब्ध पाठ निम्न रूप में है[1]—

---

1. इस शिलालेख की छाप डॉ० सन्तलाल कटारे ने कृपाकर हमें दिखा दी थी। अब उनके द्वारा यह पाठ प्रकाशित किया जा चुका है। देखें, "टू गंगोलाताल, ग्वालियर, इन्स्क्रिप्शन्स ऑफ द तोमर किंग्स ऑफ ग्वालियर", जर्नल ऑफ द ओरिएण्टल इन्स्टीट्यूट, भाग २३, जून, १९७४।

वीरसिंहदेव का गंगोलाताल का शिलालेख
(पृष्ठ २३ देखें)
—डा० श्री सन्तलाल कटारे की छाप से साभार

ॐ नमः शिवाय ।। [पृथ्वीशरश्चवे]देन्दु श्रीविक्रम गतब्दयोः ।
आषाढ़ शुक्लपक्षेषु पचमी गुरुवासरे ।।
तोमरवंशमुद्योत सरोजं भास्करो यथा ।
वीरसिंहभूपाल गजाधि मही[............ ।।]
[.. ....] ते मुर्व्वी गजवाजिनराधिपः ।
[.... ....] ने विद्यते सकला मही ।।
उद्धरणेन [सहितः] संख्ये शकनिपातते ।।
येनेदं गो[पाचल.......................... ।।]
पं० लक्ष्मीधरसु[...................... ।।]
राजकार्य सदा कुशलो षट्कर्म्म [.......] ।।
....[त] डागं .... मुद्धृतं श्रेयसेषुच ।
नंदते च कुलं [ ] यावत्कूर्मधराधर ।।
...........कुलोत्पन्न कायस्थ माथु .... ।]
स च देवात्मजो लिलेषित गंगाधरः ।।

इस शिलालेख के संवत् के अंकों के सूचक कुछ अक्षर टूट गए हैं, तथापि 'वेदेन्दु' स्पष्ट है। यह संवत् १४०० के ऊपर कुछ वर्ष होना चाहिए। आषाढ़ शुक्ल ५ गुरुवार वि० सं० १४३८, १४४३, १४५१, १४५८ तथा १४६५ को पड़ता है। उद्धरणदेव के वि० सं० १४५८ के शिलालेख से यह स्पष्ट है कि वीरसिंहदेव की मृत्यु आषाढ़ शुक्ल ५, वि० सं० १४५७ को हुई थी। अतएव, वीरसिंहदेव के शिलालेख का संवत् १४५७ के पूर्व का होना चाहिए। वि० सं० १४३८ तथा १४४३ में वीरसिंहदेव ने गोपाचल गढ़ प्राप्त नहीं किया था, यह समकालीन फारसी इतिहासों से सुनिश्चित है। ऐसी दशा में इस शिलालेख का संवत् १४५१ अर्थात् 'पृथ्वीशरश्चवेदेन्दु' होना चाहिए। विक्रम संवत् १४५१, आषाढ़ शुक्ल ५ (जून ४, सन् १३९४ ई०) को यह शिलालेख उत्कीर्ण कराया गया था। इसके पूर्व ही कभी वीरसिंहदेव ने 'शकों का निपात' कर गोपाचल गढ़ प्राप्त किया था। गोपाचल गढ़ प्राप्त कर स्वतंत्र सत्ता स्थापित करना उस युग में इतनी महत्वपूर्ण घटना थी कि वीरसिंहदेव के प्रशस्तिकार ने उन्हें "तोमरवंश के उदीयमान सरोज के लिए भास्कर के समान" लिख दिया और यह मंगलाशा व्यक्त की कि जब तक कच्छप धरा को धारण करते रहेंगे तब तक उनके कुल का प्रतापसूर्य अस्त नहीं होगा। यह सब कैसे हुआ, कब हुआ, कब तक उसका प्रभाव रहा, यह इतिहास का विषय है।

इन दो समकालीन आधारों के उपरान्त, कुछ पश्चात्वर्ती ऐतिह्य सामग्री का उल्लेख भी आवश्यक है।

वीरसिंहदेव के पश्चात् उनकी दूसरी पीढ़ी में ग्वालियर के राजा वीरमदेव तोमर (१४०२-१४२३ ई०) हुए थे। उनके मंत्री कुशराज के आश्रित पद्मनाभ कायस्थ ने 'यशोधर

चरित' की रचना की थी। यद्यपि इस रचना में रचना की तिथि नहीं दी गई है, तथापि वह कभी सन् १४२३ ई० के पूर्व ही लिखी गई होगी। अपने राजा के दादा के विषय में पद्मनाभ को बहुत कुछ ज्ञात होगा। उसने अपने राजा के राजवंश को वर्णन करते हुए लिखा है[1]—

जातः श्रीवीरसिंहः सकलरिपुकुलव्रातनिर्घातपातो
वंशे श्रीतोमराणां निजविमलयशोव्याप्तदिक्चक्रवालः।
दानैर्मानैविवेकैर्न भवति समता येन साकं नृपाणां
केषामेषा कवीनां प्रभवति धिषणा वर्णने तद्गुणानां ॥१॥

ग्वालियर के अन्तिम स्वतन्त्र तोमर राजा विक्रमादित्य के राजकुमार रामसिंह इतिहास में बहुत प्रसिद्ध हैं।[2] हल्दीघाटी के युद्ध के पूर्व कभी सन् १५५० ई० में हिन्दी के प्रसिद्ध कवि नरहरि महापात्र रामसिंह तोमर से मिले थे। नरहरि महापात्र ने अनेक राजाओं, सामन्तों आदि की प्रशस्तियाँ लिखकर उनसे पुरस्कार प्राप्त किया था। रामसिंह तोमर को प्रसन्न करने के लिए भी उन्होंने एक छप्पय सुनाया था, जो इस प्रकार था[3]—

गोवागिरि गढ़ लिएउ वीर बिरसिंह अप्पुवर।
पुनि भौ उधरनबीर वीर गनपति उनंतकर ॥
पुनि भौ डुंगुरसाहि साहि कीरत तिसु नंदन ।
पुनि ब साहि कल्यान मान छत्रपति जगवंदन ॥
तेहि तनय साहि विक्रम भएउ नरहरि नहि दुज्जउ सरिसु ।
भगिवंत थप्पि तोंवर-तिलक सो रामसाहि नवनिधि बरसु ॥

ग्वालियर के तोमर राजाओं के एक वंशज मित्रसेन को शाहजहाँ ने बिहार के रोहिताश्व गढ़ का प्रशासक नियुक्त कर दिया था। मित्रसेन ने वि० सं० १६८८ (सन् १६३१ ई०) में वहाँ मित्रेश्वर महादेव के मन्दिर का निर्माण कराया और उस पर अपना एक विस्तृत शिलालेख खुदवा दिया।[4] उसमें मित्रसेन ने अपने पूर्वजों की वंशावली भी दी है जो वीरसिंहदेव से प्रारम्भ होती है। वीरसिंहदेव के विषय में इस शिलालेख में लिखा है—

विख्यातः सोमवंशः समभवदथ यः पाण्डुवंशस्ततोभू
द्वंशः श्रीतोमराणां समर विजयिनां कोटिशोयत्र वीराः।
तत्र श्री वीरसिंहः समजनि समरे येन जित्वा नरेन्द्रान्
दुर्गे गोपाचलाख्ये व्यरचि शतमुखी प्राज्यसाम्राज्य लक्ष्मीः॥

---

१. जैन प्रशस्ति संग्रह, प्रथम भाग, संपादक श्री जुगल किशोर मुख्तार, वीर सेवा मंदिर, दरियागंज, दिल्ली, पृष्ठ ५।

२. इनका इतिहास आगे दिया गया है।

३. इस छप्पय का अशुद्ध पाठ डॉ० सरयूप्रसाद अग्रवाल की पुस्तक 'अकबरी दरबार के हिन्दी कवि' के पृष्ठ ३२४ पर दिया गया है। उसकी छठवीं पंक्ति अशुद्ध होने के कारण उसका अर्थबोध नहीं हो सकता। शुद्ध पाठ काशी नागरी प्रचारिणी सभा में सुरक्षित हस्तलिखित ग्रन्थ क्रमांक ६२ में है।

४. जर्नल ऑफ द एशियाटिक सोसाइटी ऑफ बंगाल, भाग ८, पृ० ६९५।

इसी वंश के एक राजकुमार संग्रामसिंह तोमर को शाहजहाँ ने नरवर गढ़ का प्रशासक बना दिया था। संग्रामसिंह ने इसे कछवाहों पर अपनी परम विजय समझा, अतएव उसने नरवर में एक जयस्तम्भ बनवाया और उस पर अपनी वंशावली खुदवा दी। यह शिलालेख अत्यन्त अस्पष्ट रूप में मिला है, परन्तु उसमें प्रथम राजा का नाम "गोपाचल महादुर्गे राजा श्री वीरसिंघो भूप" पढ़ा जाता है। यह जयस्तम्भ वि० सं० १६८७ (सन् १६३० ई०) में शिवमन्दिर के समक्ष बनवाया गया था।[1]

लगभग इसी समय खड्गराय ने अपना गोपाचल आख्यान लिखा था। उसमें उसने वीरसिंहदेव के विषय में कुछ विस्तार से लिखा है।

इन समस्त उल्लेखों के साथ समकालीन और परवर्ती फारसी इतिहास लेखकों के विवरणों के आधार पर ग्वालियर के तोमर राज्य के संस्थापक वीरसिंहदेव तोमर का इतिहास बहुत स्पष्ट रूप से ज्ञात हो जाता है।

वीरसिंहदेव का राज्यकाल

देववर्मा तोमर की मृत्यु कब हुई, यह किसी स्रोत से ज्ञात नहीं हो सका है। मेजर जनरल कनिंघम ने सन् १३७५ ई० से वीरसिंहदेव का ऐसाह की गद्दी पर आसीन होना माना है। यह सन् लगभग ठीक ज्ञात होता है, क्योंकि वीरसिंहदेव की गतिविधियाँ सन् १३७८ ई० के आसपास प्रारम्भ हो गई थीं। वीरसिंहदेव की मृत्यु २७ जून, सन् १४०० ई० को हुई थी, यह सुनिश्चित है।

फीरोजशाह से सन्धि-विग्रह

यद्यपि देववर्मा की जागीर की पुष्टि फीरोज तुगलुक ने की थी, तथापि इस प्रदेश के राजपूतों के हृदय में अपनी स्वतन्त्र सत्ता स्थापित करने की प्रबल कामना कार्य कर रही थी और उसका अवसर भी आ रहा था।

इस संघर्ष का प्रारंभ इटावा के सुमेरु[2] चौहान ने किया। उनका साथ खोरा[3] के उद्धरणदेव ने दिया। सुल्तान का कोई शत्रु शरण लेने के लिए इटावा आया और राय सुमेरु ने उसे प्रश्रय दिया। उनके दमन के लिए फीरोजशाह स्वयं इटावा आया। बादशाह ने राय सुमेरु से युद्ध करने के स्थान पर उन्हें समझाया-बुझाया और प्रोत्साहन देकर उन्हें उनके स्त्री-बच्चों, घोड़ों तथा सैनिकों सहित दिल्ली ले गया।[4] उन्हें शाही दरबार में स्थान दिया गया। दरबार में आजमखाँ खुरासानी के पीछे राय मदारदेव तथा राय दत्त के साथ चौहान सुमेरु और खोरा के उद्धरणदेव का स्थान था।[5]

---

१. ज० ए० सो० बं०, भाग ३१, पृ० ४२२।
२. कुछ मध्ययुगीन मुस्लिम इतिहास लेखकों ने इनका नाम "सुवीर" भी लिखा है।
३. खोरा शम्शाबाद से ३ मील तथा फर्रुखाबाद के उत्तर-पश्चिम से १२ मील पर है (देखें, डॉ० रिजवी, उ० तै० भा०, भाग २, पृ० २०३)।
४. डॉ० रिजवी, तुगलुक कालीन भारत, भाग २, पृ० २०३; वही, पृ० ३४७।
५. डॉ० रिजवी, तुगलुक कालीन भारत, भाग २, पृ० ११७।

ये राजा, राय और रावत कितने समय तक दिल्ली रहे, इसका कोई उल्लेख नहीं मिलता, तथापि यह स्पष्ट है कि फीरोजशाह की मृत्यु के उपरान्त ही इस क्षेत्र के राजपूतों के सम्बन्ध तुगलुकों से फिर कटु हो गए।

प्रथम संगठन की पराजय

फीरोज तुगलुक की मृत्यु २० सितम्बर १३८८ ई० को हो गई। उसकी मृत्यु के पश्चात् ही तुगलुक साम्राज्य भी डाँवाडोल होने लगा। उसके उत्तराधिकार के लिए विषम विग्रह प्रारम्भ हुए। कुछ मास के लिए फीरोज का पौत्र गयासुद्दीन तुगलुक गद्दी पर बैठा। उसके अमीरों ने उसे अपदस्थ कर दिया और सन् १३८९ ई० में अबूबक्र को सिंहासन पर बैठा दिया। शाहजादा मुहम्मद ने अपने आपको सुल्तान घोषित कर दिया तथा १३९० ई० में अबूबक्र से सिंहासन छीन लिया।

अबूबक्र को हराकर मुहम्मद शाह इटावा आया। वहाँ उससे वीरसिंहदेव तोमर ने भेंट की।[1] सुल्तान को अपने गृह-कलह के लिए इस प्रदेश के राजपूतों के समर्थन की आवश्यकता थी, अतएव उसने वीरसिंहदेव को खिलअत दी और उसे उसकी जागीर में वापिस भेज दिया।[2] संभव यह भी हो सकता है कि वीरसिंहदेव अपनी जागीर की पुष्टि के लिए ही सुल्तान से मिलने गए हों, और यह भी संभव है कि वह सुमेरु चौहान के पास दिल्ली की बदलती हुई स्थिति को दृष्टि में रखते हुए, भावी कार्यक्रम की रूपरेखा निश्चित करने के लिए इटावा गए हों और सुल्तान के अचानक आ जाने से सुमेरु और वीरसिंहदेव ने उस अवसर का लाभ उठाकर अपनी अपनी जागीरों की पुष्टि करा ली हो।

परन्तु, यह स्थिति अधिक दिन नहीं चल सकी। सन् १३९१-९२ ई० (हि० ७९४) में वीरसिंहदेव तोमर, इटावा के सुमेरु चौहान, खोरा के उद्धरणदेव तथा भुईगांव के वीरभानु ने सामूहिक रूप से अपने आपको दिल्ली से स्वतन्त्र घोषित कर दिया। सुल्तान मुहम्मदशाह ने वीरसिंहदेव के विरुद्ध इस्लामखाँ को भेजा। वीरसिंहदेव ने इस्लामखाँ का सामना किया, परन्तु उनके हाथ पराजय रही और उन्हें रणक्षेत्र से पलायन करना पड़ा। इस्लामखाँ की सेना ने उनका पीछा किया, राजपूत सैनिकों का संहार किया, नागरिकों की हत्या की और वीरसिंह का समस्त इलाका उजाड़ दिया। वीरसिंहदेव पकड़े गए। पराजय स्वीकार कर उन्हें इस्लामखाँ के साथ दिल्ली जाना पड़ा।

राय सुमेरु तथा खोरा के उद्धरणदेव वीरसिंहदेव की सहायता के लिए न गए या न जा सके, तथापि उन्होंने बिलग्राम पर आक्रमण कर उसे अपने अधिकार में ले लिया। उनके विरुद्ध सुल्तान मुहम्मद स्वयं चल दिया। जब सुल्तानी सेना काली नदी के पास

१. डॉ० रिजवी, तुगलुक कालीन भारत, भाग २, पृ० २१३।

२. तारीखे मुबारकशाही में वीरसिंहदेव को प्रत्येक स्थान पर 'बरसिंह' लिखा है (या पढ़ा गया है)। सन् १९७० में भारतीय इतिहास कांग्रेस के तत्वावधान में प्रकाशित कम्प्रहैन्सिव हिस्ट्री में इसे 'नरसिंहदेव' बना दिया गया है (भाग ५, पृ० ६२७)।

पहुँची, राजपूतों का साहस डिग गया और वे बिलग्राम छोड़कर इटावा के किले में वापिस चले आए। सुल्तान इटावा की ओर चल दिया। अपनी स्थिति निर्बल समझ कर सुमेरु ने इटावा छोड़ दिया और सुल्तान ने उस पर कब्जा कर लिया।

इस प्रकार राजपूतों का यह संगठन पूर्णतः असफल हुआ। ऐसाह से अपदस्थ होकर वीरसिंहदेव को दिल्ली में अधीनता की सन्धि करना पड़ी और सुमेरु को इटावा छोड़ना पड़ा।

दूसरा संगठन और कन्नौज का हत्याकाण्ड

दूसरे वर्ष सन् १३९२-९३ ई० (हिजरी ७९५) में राजपूत पुनः सुमेरु के नेतृत्व में संगठित हुए। खोरा के उद्धरणदेव, जीतसिंह राठौर, भुईगाँव के वीरभानु और चन्दवार के अभयचन्द्र चौहान ने सुमेरु का साथ दिया और विशाल संयुक्त सेना संगठित की। सुल्तान ने इस सगठन को ध्वस्त करने के लिए मुकर्रबुलमुल्क को भेजा। मुकर्रबुलमुल्क कन्नौज की ओर बढ़ा। इस समाचार के प्राप्त होते ही सुमेरु अपनी सेना सहित उसका सामना करने के लिए बढ़ा। मुकर्रबुलमुल्क इस राजपूत वाहिनी को देखकर भयभीत हुआ और उसे अपनी पराजय सुनिश्चित दिखाई दी। उसने कूटनीति को अपनाया। उसने राजपूतों से मैत्रीभाव दिखाया और राजाओं को अनेक प्रलोभन दिए। उसने प्रस्ताव किया कि उनके द्वारा सुल्तान की अधीनता स्वीकार कर लेने पर उन्हें बहुत लाभ होंगे तथा उनका सम्मान किया जाएगा। सुमेरु को छोड़कर अन्य सभी राजपूत राजा धोखे में आ गए। व्यक्तिगत स्वार्थ ने संयुक्त संगठन में फूट डाल दी। सुमेरु को छोड़कर अन्य सब राजा और रावत सन्धि की शर्तों पर विचार करने के लिए मुकर्रबुलमुल्क के साथ कन्नौज के किले के भीतर चले गए। मूर्ख सिंह स्वेच्छा से पिंजड़े में फँस गए। खोरा के उद्धरणदेव, जीतसिंह, वीरभानु तथा अभयचन्द्र किले में बन्दी बनाए गए और उनकी हत्या कर दी गई। सुमेरु अकेला इटावा भाग सका। सुल्तान मुहम्मद का भाग्य! जो बल न कर सका, वह छल ने कर दिखाया; जो शौर्य से विजयी हो सकते थे, वे स्वार्थ और मूढ़ता के कारण विनष्ट हुए।

वीरसिंहदेव दिल्ली में अपमानजनक सन्धि के परिणाम भुगत रहे थे और एकाकी सुमेरु फिर शक्ति-संग्रह का प्रयास कर रहे थे।

वीरसिंहदेव तोमर का पुनरुत्थान

सन् १३९२-९३ ई० में वीरसिंह पराजित होकर इस्लामखाँ के साथ दिल्ली गए थे। सन् १३९४ ई० में वे ग्वालियर के अधिपति के रूप में दिखाई देते हैं। बीच के समय में वे कहाँ रहे तथा उन्होंने क्या किया, इसका विवरण केवल खड्गराय तथा फज्ल अली[1] द्वारा प्रस्तुत किया गया है। वीरसिंहदेव तोमर किसी प्रकार दिल्ली से ऐसाह चले आए

---

१. सैयिद फज्ल अली शाह कादिरी चिश्ती ने अपनी पुस्तक 'कुल्याते ग्वालियरी' शाहजहाँ के काल में लिखी थी। उसने लिखा है कि उसका ग्रन्थ किसी घनश्याम पण्डित के "तारीखेनामा ग्वालियर" पर आधारित है। कुल्याते ग्वालियरी की एक प्रति भूतपूर्व ग्वालियर राज्य के सरदार हजरतजी के पुस्तकालय में है।

और उन्होंने पुनः शक्ति-संचय करना प्रारंभ किया। जनवरी सन् १३९४ में सुल्तान मुहम्मदशाह की मृत्यु हो गई। इस अवसर का लाभ उठा कर वीरसिंहदेव ने तुर्कों के आसपास के क्षेत्रों पर आक्रमण प्रारंभ कर दिए। स्थानीय मुस्लिम अमीरों ने सुल्तान के पास शिकायतें भेजीं। दिल्ली-सल्तनत अब मुहम्मदशाह के मझले बेटे अलाउद्दीन सिकन्दरशाह हुमायूँ खाँ के हाथ में आ चुकी थी। नये सुल्तान ने वीरसिंहदेव को बुलाने के लिए नुसरतखाँ[1] के साथ अपना फरमान भेजा।

नुसरतखाँ ऐसाह पहुँचा और उसने वीरसिंहदेव को समझाया। वह उन्हें दिल्ली ले गया। वीरसिंहदेव के साथ उनके पुरोहित दिनकर मिश्र भी दिल्ली गए। वीरसिंहदेव का दल सुल्तान अलाउद्दीन सिकन्दरशाह से मिला। सुल्तान ने इस राजपूत से अच्छे संबंध स्थापित कर लेना ही उचित समझा। सुल्तान अलाउद्दीन ने वीरसिंहदेव तोमर को अपनी ओर से गोपाचल गढ़ का प्रशासक नियुक्त कर दिया और इस आशय का फरमान लिखकर उसे दे दिया। पुरोहित दिनकर मिश्र भी अपने लिए सुकुलहारी की जागीर की पुष्टि करा सके।[2] खड्गराय ने बादशाह द्वारा गोपाचल गढ़ वीरसिंहदेव को दिए जाने के विषय में लिखा है—

भयौ प्रात जब मुजरा कियौ, रोक साहि राजु ता दियौ।
घोरे दिए एक सौ एक, कीनौ तिलक साहि अवरेख।
भूप आपनौं चाकर कियौ, बैठन कौं जु ग्वालियर दियौ।

सुल्तान मुहम्मदशाह की मृत्यु के पश्चात् ही दिल्ली सल्तनत बिखर गई थी। जिन अमीरों ने अलाउद्दीन सिकन्दरशाह को तख्तनशीन कराया था उन्होंने ही समस्त सल्तनत को प्रान्तों में बाँट कर अनेक अमीरों को उनका व्यवस्थापक बना दिया। ज्ञात होता है कि उसी प्रवाह में सुल्तान ने भी अपनी ओर से वीरसिंहदेव को ग्वालियर गढ़ का प्रशासक बना दिया। परन्तु बादशाह ने जो कुछ दिया था वह एक दिवालिया कोठी के ऊपर निकाली गई हुण्डी मात्र थी। गढ़ पर कब्जा दिलाने की जिम्मेदारी उस फरमान की नहीं थी।

ग्वालियर गढ़ पर अधिकार

सन् १३९४ ई० के जनवरी या फरवरी मास में बादशाह का फरमान लेकर वीरसिंहदेव अपने दलबल सहित ग्वालियर गढ़ आए। उस पर उस समय सुल्तानों के प्रशासक

१. संभवतः फीरोजशाह का पौत्र, जो सन् १३९९ ई० में नासिरुद्दीन के नाम से स्वयं सुल्तान बना था। फज्ल अली ने नुसरतखाँ के स्थान पर सिकन्दर लिखा है।

२. केशवदास ने कविप्रिया में इस घटना के विषय में लिखा है—

तिनके दिनकर सुकुल सुत, प्रगटे पण्डित राज।

....

दिल्लीपति अलाउदीं कीन्हीं कृपा अपार॥

(अमीर) का आधिपत्य था ।[1] वीरसिंहदेव ने उसे शाही फरमान दिखलाया और ग्वालियर गढ़ सौंप देने को कहा । तुर्क सुल्तानों के इतिहास में यह अभूतपूर्व घटना थी । तुर्कों द्वारा विजित गढ़ राजपूत को सौंप दिया गया, इस बात पर प्रशासक को विश्वास नहीं हो रहा था, तथापि सुल्तान के फरमान का प्रत्यक्षरूप से वह तिरस्कार भी नहीं करना चाहता था । वह टालटूल करने लगा । वीरसिंहदेव को बहुत क्रोध आया और वे पुनः दिल्ली जाने की सोचने लगे, ताकि सुल्तान से सेना के द्वारा गढ़ दिलाने के लिए निवेदन कर सकें । परन्तु उनके मंत्रियों ने उन्हें समझाया कि दिल्ली जाने से सम्भव है कि जो कुछ मिला है वह भी लौटा लिया जाए ।

वीरसिंहदेव ने अपने मंत्रियों की इस मंत्रणा को स्वीकार किया । उन्होंने प्रशासक से यह आग्रह किया कि वह उन्हें ग्वालियर गढ़ के नीचे रहने की अनुमति देदे । प्रशासक का गढ़ पर कब्जा रखने का वैध अधिकार समाप्त हो चुका था । उसने गढ़ के नीचे बने रहने का आग्रह स्वीकार कर लिया । वीरसिंहदेव ने वहीं सेना सहित निवास प्रारम्भ कर दिया । धीरे-धीरे मेल-जोल बढ़ने लगा । इसी बीच होली का त्यौहार आगया । वीरसिंहदेव ने गढ़ के तुर्कों को भोजन के लिए निमंत्रित किया । बड़े-बड़े तम्बू ताने गए और दावत प्रारम्भ हुई । भोजन के समय सिखरन में, कहते हैं, अफीम मिला दी गई । भोजन के अन्त में सिखरन परोसी गई । संकेत पाते ही सेवकों ने तम्बू काट दिए । तम्बू गिरने लगे और भगदड़ मच गई । समस्त तोमर सेना तुर्कों पर टूट पड़ी और उन्हें मार डाला ।

जब नीचे मारकाट हो रही थी, उसी समय गढ़ के ऊपर एक डोमनी ने गढ़ का द्वार बन्द कर दिया ।[2] सात दिन तक उसने द्वार नहीं खोला और गढ़ को अवरुद्ध रखा । बड़ी कठिनाई से द्वार खुलवाया जा सका ।

नासिरुद्दीन का आक्रमण

दिल्ली में अलाउद्दीन सिकन्दरशाह तुगलुक के पश्चात् २३ मार्च सन् १३९४ ई० को फीरोजशाह का सबसे छोटा बेटा नासिरुद्दीन मुहम्मद शाह सुल्तान बना । उसे वीरसिंहदेव द्वारा ग्वालियर पर आधिपत्य करने की सूचना, संभवतः, मिल गई थी । उसने ग्वालियर पर आक्रमण करने के लिए प्रस्थान किया । निजामुद्दीन ने तबकाते अकबरी में लिखा है कि वह ग्वालियर गढ़ के निकट तक पहुँच गया ।[3] यहया ने तारीखे मुबारकशाही में भी यही लिखा है ।[4] ग्वालियर में नासिरुद्दीन ने क्या किया, इस विषय में निजामुद्दीन तथा यहया,

---

१. फज्ल अली का कथन है कि इल्तुतमिश ने ग्वालियर गढ़ का प्रशासक सैयिद मीरान याकूब को नियुक्त किया था । वीरसिंह देव के समय तक उसके वंशज ही गोपाचल गढ़ के प्रशासक रहे । सन् १३४२ में अहमद बिन शेरखां ग्वालियर गढ़ का अमीर था । सन् १३९४ में उसका पुत्र या पौत्र अमीर होगा ।

२. सैयिद फज्ल अली शाह कादिरी चिश्ती के 'कुल्याते ग्वालियरी' के अनुसार यह कार्य किसी गायक ने किया था ।

३. डॉ० रिजवी, तुगलुक कालीन भारत, भाग २, पृ० ३५७ ।

४. वही, पृ० २१६ ।

दोनों मौन हैं। ग्वालियर में क्या हुआ था, यह वीरसिंहदेव के ४ जून १३९४ ई० (आषाढ़ शुक्ल ५, वि० सं० १४३८) के गंगोलाताल के शिलालेख से ज्ञात होता है, जिसमें पढ़ा गया है "उद्धरणेन [सहितः] संख्ये शकनिपातते"; अर्थात्, वीरसिंहदेव और उनके युवराज उद्धरणदेव ने शकों का निपात किया।[1] इससे यह स्पष्ट है कि ४ जून सन् १३९४ ई० के पूर्व ही कभी नासिरुद्दीन को वीरसिंहदेव के हाथों पराजित होना पड़ा था।

खड्गराय का अनुताप

वीरसिंहदेव ने गोपाचल गढ़ प्राप्त करने में बल के साथ छल का भी प्रयोग किया था। तोमरों के इतिहास का मध्ययुग का लेखक खड्गराय इस कारण बहुत दुखी हुआ था, उसने अपने गोपाचल-आख्यान में लिखा है—

तोंवर गये जु गढ़ पर छाइ, मनवांछित फल प्रकटे आइ।
इहि विधि तोंवर कीनो राज, सुख संपति गढ़ बढो साज॥
आनि पाप सो आजम भयो, छिन में तबै छुटि गढ़ गयो।
विधना करत-हरत नहिं बार, सपने सम जानहिं संसार।

उस युग के फारसी के इतिहास लेखक और इस ब्राह्मण इतिहास लेखक की मनोवृत्ति और विचारधारा में बहुत बड़ा अन्तर है। विजय-प्राप्ति के लिए सुल्तान के प्रत्येक कुकर्म का वे "दीन" और "जेहाद" के नाम पर पूर्ण समर्थन करते हैं, परन्तु पंडित खड्गराय न कभी पाप-पुण्य को भुलाते हैं और न नियति के विधान को। पाँच-छह वर्ष पूर्व ही कन्नौज के गढ़ में जो विश्वासघात-पूर्ण हत्याएँ हुई थी, उनकी पृष्ठभूमि में वीरसिंहदेव द्वारा गढ़ की प्राप्ति के उपाय की इतनी भर्त्सना उस युग की राजनीति के परिवेश में धर्मभीरुता का कुछ अतिरेक ही है।[2] भारतीय चिन्तन की यह विशेषता है कि वह साध्य को तभी महत्व देता है जब उसके साधन भी शुद्ध हों, परन्तु उस युग में यह साधन-शुद्धि आत्मघाती ही रही।

धर्माधर्म की बात छोड़ इतिहास का तथ्य यह है कि कभी मार्च, १३९४ ई० में वीरसिंहदेव तोमर ने गोपाचल गढ़ पर आधिपत्य कर ग्वालियर के तोमर राजवंश की नींव डाली और जून १३९४ ई० में दिल्ली के सुल्तान नासिरुद्दीन मुहम्मद को पराजित करने के पश्चात् वे गोपाचल गढ़ के प्रथम स्वतंत्र तोमर राजा बने।

गोपाचल गढ़ प्राप्त करने की तिथि

ऊपर की घटनाओं से उस समय का लगभग ठीक अनुमान किया जा सकता है जब वीरसिंहदेव तोमर ने गोपाचल गढ़ पर अधिकार किया था। जिस तुगलुक सुल्तान अलाउद्दीन

---

१. इस शिलालेख के पाठ के लिए पीछे पृष्ठ २३ देखें।

२. यहया ने तारीखे मुबारकशाही में कन्नौज के हत्याकाण्ड के लिए मुकर्रबुलमुल्क की प्रशंसा ही की है। (डा० रिजवी, तुगलुक कालीन भारत, भाग २, पृ० २१०।)

सिकन्दरशाह ने वीरसिंहदेव को गोपाचल गढ़ का परवाना दिया था। उसका राज्यकाल २२ जनवरी १३९४ ई० को प्रारंभ हुआ और ८ मई १३९४ ई० को समाप्त हो गया। फरवरी १३९४ के मध्य में यह परवाना दिया गया होगा। मार्च में होली के समय वह गोष्ठी हुई होगी जिसमें गोपाचल गढ़ के प्रशासक सैयिद को प्राण देने पड़े। संभावना यह है कि चैत्र की दुर्गाष्टमी वीरसिंह ने गोपाचल गढ़ पर ही मनाई। वीरसिंहदेव ने दुर्गाभक्ति तरंगिणी पुस्तक लिखी थी। इसकी रचना इसी समय प्रारंभ की गई होगी। जून १३९४ ई० (शाबान ७९६ हि०) में नासिरुद्दीन ने गोपाचल गढ़ पर आक्रमण किया और उसी समय ४ जून सन् १३९४ ई० (आषाढ़ शुक्ल ५, वि० सं० १४५१) को गंगोलाताल की प्रशस्ति अंकित की गई।

गंगोलाताल में जितने भी शिलालेख प्राप्त हुए हैं उनसे यह प्रकट है कि किसी विशेष घटना के उपलक्ष्य में तत्कालीन राजा वर्षा के पूर्व इस तालाब को साफ कराता था और प्रशस्ति अंकित करा देता था। वीरसिंहदेव के लिए यह एक बहुत बड़ी उपलब्धि थी कि उसने चम्बल के तोमरों को गोपाचल जैसे सुदृढ़ गढ़ पर स्थापित कर दिया था और नासिरुद्दीन के उसे वापस लेने के प्रयास को भी विफल कर दिया था। उसके उपलक्ष्य में उत्सव हुआ और यह प्रशस्ति अंकित करा दी गई।

वीरसिंह का साहित्य-प्रेम

ग्वालियर के तोमरवंश का महत्व केवल उसके राजाओं की समर-शूरता के कारण ही नहीं है, वरन् उनके द्वारा छोड़े गए सांस्कृतिक दाय के कारण भी है। "तोमरवंश रूपी सरोज को विकसित करने वाले" वीरसिंहदेव जितने रणकुशल और नीतिकुशल थे, उससे बड़े विद्वान और विद्वानों के आश्रयदाता थे। वीरसिंहदेव की समर शूरता की प्रशंसा खड्गराय ने प्रचुर परिमाण में की है—

वीरसिंहद्यौ प्रगटे बलो, जिनकी कीरत नवखंड चली।
सो ऐसाह बसै कवि कहैं, मध्यदेस ता संकित रहैं।
डरपैं भुवाल और देस, ता समान नाहि और नरेस॥

परन्तु, तलवार का तेज क्षणस्थायी रहा है। उसके माध्यम से स्थापित किए गए राज्य सभी "यावच्चन्द्र दिवाकरौ" नहीं चले; आगे की पीढ़ियाँ उस सांस्कृतिक दाय को ही महत्व देती है, जिसे किसी राजवंश ने छोड़ा हो।

इस दिशा में वीरसिंहदेव का योगदान बहुत महत्वपूर्ण है। वीरसिंहदेव के शास्त्रज्ञान के साक्षी उनके द्वारा या उनके निदेश पर रचे गए दो ग्रन्थ हैं। "दुर्गाभक्ति तरंगिणी" की रचना वीरसिंहदेव ने की थी, ऐसा माना जाता है।[1] हमें यह ग्रथ या उसका कोई अंश

---

१. आफ्रेक्ट (Aufrecht) ने कैटेलोगस कैटेगोरम में लिखा है कि "शक्ति रत्नाकर" में "दुर्गाभक्ति तरंगिणी" के उद्धरण दिए गए हैं। गुरुपद हाल्दार शर्मा ने वृद्धत्रयी में भी इस रचना का उल्लेख किया है।

देखने को नहीं मिला। डॉ० वासुदेवशरण अग्रवाल के अनुसार इसी नाम के ग्रंथ का संकलन वीरसिंहदेव के कुछ पश्चात् हुए महाकवि विद्यापति ने भी किया था।[1]

परन्तु, वीरसिंहावलोक निस्संदेह रूप में वीरसिंहदेव तोमर की स्वयं की या उसके निदेश पर लिखी गई रचना है —

देवज्ञागमधर्मशास्त्रनिगमायुर्वेददुग्धोदधी-
नामथ्य स्फुरदात्मबुद्धिगिरिणा विश्वोपकारोज्ज्वलम्।
आलोकामृतमातनोति विबुधैरासेव्यमत्यद्भुतं
श्रीमत्तोमर देववर्मतनयः श्रीवीरसिंहोनृपः ॥

"श्रीमान् देववर्मन तोमर के तनय श्री वीरसिंह नृपति ने ज्योतिष, धर्मशास्त्र, वेद तथा आयुर्वेदरूपी दुग्ध के समुद्रों को अपनी तीक्ष्ण बुद्धिरूपी गिरि से मथकर विश्व के उपकार से प्रकाशमान उस अद्भुत ज्ञानामृत को प्रदान किया जिसका विद्वान (देवता) रसास्वादन करते हैं।"

वीरसिंहावलोक वि० सं० १४३९ (सन् १३८२ ई०) में लिखा गया था[2] —

अब्दे नन्दहुतासवारिधिनिशानाथांकसंख्यान्विते
श्रीमद्विक्रमभूपतेश्च विभवे मासे नभस्ये सिते
पक्षे विष्णुदिने गुरौ सहरिभे श्रीवीरसिंहो व्यधा-
द्ग्रंथं लोकहिताय पूर्वमुनिभिर्निर्दिष्ट योगैः शुभैः ॥

आयुर्वेद में रोगी के पूर्वजन्म और पूर्वकर्म को महर्षि चरक के समय में ही मान्यता दी गई है। चरक द्वारा इस विषय के सूक्ष्म उल्लेख के पश्चात्, संभवतः, पृथ्वीराज तोमर द्वारा या उसके समय में विरचित महार्णव नामक ग्रंथ में इसका विवेचन किया गया था। वीरसिंहदेव ने महार्णव की परम्परा में ज्योतिष और वैद्यक के सिद्धान्तों को मिलाकर कर्मविपाक पर वीरसिंहावलोक की रचना की। आगे हारीत संहिता में वीरसिंहावलोक में प्रस्थापित सिद्धान्तो का अनुकरण किया गया है।

सारग या शार्ङ्गधर

शार्ङ्गधरपद्धति नामक एक सुभाषित संग्रह शार्ङ्गधर द्वारा विरचित प्राप्त हुआ है। उसके रचयिता ने अपने वंश का परिचय देते हुए लिखा है कि रणथंभोर के महाराजा हम्मीरदेव के एक प्रधान सभासद राघवदेव थे। उनके तीन पुत्र हुए, भोपाल, दामोदर और देवदास। दामोदर के तीन पुत्र हुए, शार्ङ्गधर, लक्ष्मीधर और कृष्ण।

---

१. महाकवि विद्यापति की कीर्तिलता, पृष्ठ १०।

२. वीरसिंहावलोक के उद्धरण हमें भण्डारकर ओरिएण्टल रिसर्च इन्स्टीट्यूट, पूना द्वारा (निःशुल्क) प्राप्त हुए हैं। इस कृपा के लिए हम आभारी हैं। यह ग्रन्थ उक्त संस्था में सन् १८९९-१९१५ का क्र० ५८५ है। इस ग्रन्थ की कुछ प्रतियां विक्रम विश्वविद्यालय उज्जयिनी के सिन्धिया रिसर्च इन्स्टीट्यूट में भी सुरक्षित हैं।

हम्मीरदेव की मृत्यु सन् १३०१ ई० में हुई थी। यह संभव है कि शार्ङ्गधर सन् १३८२ ई० में जीवित हों। शार्ङ्गधर पद्धति में हम्मीरदेव के शौर्य के विषय में भी कुछ छन्द दिए गए हैं। ये छन्द स्वयं शार्ङ्गधर अथवा उसके पिता दामोदर द्वारा विरचित ही ज्ञात होते हैं।

वीरसिंहदेव द्वारा विरचित वीरसिंहावलोक वि० सं० १४३९ (सन् १३८२ ई०) में लिखा गया था, यह उसके ऊपर उद्धृत श्लोक से प्रकट है। इसी ग्रंथ में आगे यह श्लोक मिलता है—

वीरसिंहावलोकस्य पुस्तकं विबुधादृतं
वीरसिंहाज्ञया धीमान्सारंगोधिरिरोलिखत्

वीरसिंहदेव की आज्ञा से धीमान् सारंग ने विबुधों द्वारा समादृत वीरसिंहावलोक की पुस्तक को लिपिबद्ध किया, ऐसा आभास इन पंक्तियों से होता है।

उक्त पंक्तियाँ जिस प्रति से प्राप्त हुई हैं उसका प्रतिलिपिकाल वि० सं० १८३९ है। मूल रचना के ठीक चार सौ वर्ष पश्चात् किसी अन्य प्रति से उतारी गई प्रतिलिपि में 'शार्ङ्गधर' के लिए 'सारंगोधिरि' हो गया ज्ञात होता है।

गंगोलाताल के शिलालेख के लक्ष्मीधर

वीरसिंहदेव तोमर के गंगोलाताल के शिलालेख में किसी पं० लक्ष्मीधर का उल्लेख है। वे राजकार्य में भी कुशल थे और षटकर्म में भी। संभावना यह है कि ये लक्ष्मीधर शार्ङ्गधर के भाई थे।

रणथंभोर के हम्मीरदेव चौहान का राज्य तँवरघार के मध्य तक था और मितावली के एकोत्तर-सौ महादेव के मन्दिर में उनकी ओर से पुजारी भी रहते थे और उपासक भी। मितावली ऐसाह से २०-२५ मील दूर है। ज्ञात यह होता है कि हम्मीर-देव की मृत्यु के पश्चात् राघवदेव के पुत्र और पौत्र इसी ओर आ गए। सन् १३८२ में, जब वीरसिंहावलोक लिखा गया, शार्ङ्गधर अवश्य जीवित थे। सन् १३०१ ई० में जब हम्मीरदेव पराजित हुए, राघव ४०-५० वर्ष की वय के हो सकते हैं। उनके पुत्र दामोदर भी सन् १३७५ तक जीवित रह सकते हैं, और पौत्र शार्ङ्गधर, लक्ष्मीधर तथा कृष्ण भी वीरसिंहदेव के राज्यकाल में जीवित रह सकते हैं।

जयसिंह सूरि और सारंग

जयसिंह सूरि ने श्रीकृष्ण गच्छ या श्री कृष्णर्षि गच्छ की स्थापना वि० सं० १३९१ (सन् १३३४ ई०) में की थी। उन्होंने वि० सं० १४२२ (सन १३६५ ई०) में कुमारपाल-चरित्र-काव्य की रचना की थी। इसी वर्ष जयसिंह सूरि के प्रशिष्य नयचन्द्र मुनि ने (जो आगे स्वयं सूरि हो गए थे) इस पुस्तक की प्रथम प्रतिलिपि उतारी थी। इन नयचन्द्र मुनि

ने, जब वे सूरि पद पर आसीन हो गए, वीरमदेव तोमर के आग्रह पर हम्मीरमहाकाव्य लिखा था। नयचन्द्र सूरि के गुरु यद्यपि प्रसन्नचन्द्र सूरि थे, परन्तु उनके काव्यगुरु जयसिंह सूरि ही थे। ज्ञात यह होता है कि सन् १३८२ ई० तक जयसिंह सूरि अवश्य जीवित थे और उनकी भेंट शार्ङ्गधर से हुई थी। यह भेंट, सम्भव है, ऐसाह में हुई हो जहाँ शार्ङ्गधर ने वीरसिंहावलोक को लिपिवद्ध किया था; या संभव, है सन् १३९४ ई० के पश्चात् उस समय हुई हो जब वीरसिंहदेव गोपाचल गढ़ पर आधिपत्य प्राप्त कर चुके थे।

नयचन्द्र सूरि ने अपने हम्मीरमहाकाव्य में जयसिंह सूरि और "सारंग" के वीच हुए वाद-विवाद का उल्लेख किया है। नयचन्द्र ने लिखा है कि सूरियों के इस चक्र के क्रम में, जिनके चरित विस्मय के आवास थे, श्री जयसिंह सूरि हुए, जो विद्वानों में चूड़ामणि थे, उनके द्वारा सारंग को वाद-विवाद में पराजित किया गया। यह सारंग उन कवियों में श्रेष्ठ था जो षड्भाषा में कविता कर सकते थे तथा वह प्रामाणिकों (न्यायशास्त्रियों) में अग्रणी था।

हमारा अनुमान है कि 'षड्भाषा-कवि-चक्रशक्र' और 'अखिल प्रामाणिकों में अग्र' यह सारंग वही है जिसने वीरसिंहदेव तोमर के वीरसिंहावलोक की भाषा को अत्यन्त परिमार्जित वना दिया है। उसके एक श्लोक की वानगी ऊपर दी जा चुकी है।

यह सारंग हम्मीरदेव की राजसभा के सभासद राघवदेव के पौत्र शार्ङ्गधर ही है, इसका समर्थन नयचन्द्र का हम्मीरमहाकाव्य भी करता है। शार्ङ्गधर या उसके पिता ने हम्मीर-विषयक जो छंद लिखे थे वे देश्य-भाषा या 'भाखा' में थे, प्राचीन कवियों की विधा के अनुसार नहीं थे, उनकी शैली और भाषा कालिदास और हर्ष जैसे महाकवियों के अनुरूप नहीं थी। अतएव, शार्ङ्गधर अथवा उसके कुल को मात देने के लिए नयेन्दुकवि—नयचन्द्र ने हम्मीरमहाकाव्य की रचना की थी।

नयचन्द्र सूरि के इस महाकाव्य का परिचय वीरमदेव के इतिहास का विषय है; यहाँ केवल यह कथन करना अभीष्ट है कि रणथंभोर की राजसभा के राघवदेव के दो प्रपौत्र शार्ङ्गधर और लक्ष्मीधर ग्वालियर के तोमरों के आश्रय में आ गए थे। श्री जयसिंह सूरि भी ग्वालियर या ऐसाह पधारे थे। शार्ङ्गधर अपने साथ रणथंभोर की तेजस्वी परम्परा के विरुद लाए और श्री जयसिंह सूरि पश्चिम भारत की ज्ञान-गरिमा और जैन सूरियों की वाक्पटुता तथा व्यवहार-कुशलता लाए।

देवेन्द्रभट्ट और दामोदरभट्ट

सन् १३५० ई० के पश्चात् कभी दक्षिण के यादवों के राज्य से प्रसिद्ध संगीताचार्य देवेन्द्रभट्ट ग्वालियर आकर बस गए थे।[1] उस समय इस भट्ट-परिवार को गोपाचल गढ़ पर आश्रय देने वाला तो कोई था नहीं, संभव यह है कि उन्हें ऐसाह के राजा देववर्मा ने

1. भारत का संगीत सिद्धान्त, डॉ० कैलाशचन्द्रदेव बृहस्पति, पृ० ३११।

आश्रय दिया हो। हमारा अनुमान है कि संगीत-दर्पण का रचयिता, लक्ष्मीधर का पुत्र दामोदर भट्ट इन्हीं देवेन्द्रभट्ट के साथ या उनके कुछ समय पश्चात् ग्वालियर आया था, और वीरसिंहदेव के समय में उसने अपना संगीत-ग्रन्थ लिखा था।

ग्वालियर का तोमर राजवंश जिन प्रवृत्तियों के कारण भारत के इतिहास में प्रसिद्ध है, उन सबका सूत्रपात वीरसिंहदेव तोमर के राज्यकाल में हो गया था।

उद्धरणदेव

(१४००–१४०२ ई०)

गोपाचल गढ़ प्राप्त करने के पश्चात् वीरसिंहदेव तोमर केवल चार वर्ष ही जीवित रहे। आषाढ़ शुक्ल पंचमी, वि०सं० १४५७ (२७ जून, सन् १४०० ई०) को उनका देहान्त हो गया और उनके युवराज उद्धरणदेव इस नवनिर्मित राज्य के राजा बने। वीरसिंहदेव के उत्तराधिकारी के विषय में आधुनिकतम इतिहासों में यह कथन बहुत दृढ़ता से किया गया है कि वीरसिंहदेव के पश्चात् 'उसके पुत्र वीरम' ग्वालियर के राजा हुए थे।[1] यह भूल लगभग साढ़े चार सौ वर्ष पुरानी है। सन् १४२८ ई० में यहया द्वारा लिखी गयी तारीखे-मुबारकशाही में लिखा गया था[2] —

"जमादि–उल–अव्वल ८०५ हि० (नवम्बर–दिसम्बर १४०२ ई०) में इकबालखाँ ने ग्वालियर पर चढ़ाई की। ग्वालियर का किला मुगुलों के उत्पात (तैमूर के आक्रमण) के समय दुष्ट वरसिंह (वीरसिंह) ने मुसलमानों के अधिकारी से विश्वासघात कर छीन लिया था। जब वह नरकगामी हो गया तो उसके स्थान पर उसका पुत्र वीरमदेव गद्दी पर बैठा।"

वीरसिंहदेव 'दुष्ट' थे या 'सज्जन', इसके विवेचन की क्षमता यहया सहरिन्दी में नहीं थी, तथा नरक और स्वर्ग की कल्पना गम्भीर इतिहास में किसी भी दशा में उचित नहीं है। ग्वालियर में तोमरों के इतिहास की समकालीन सामग्री यह असंदिग्ध रूप से सिद्ध करती है कि यहया का एकमात्र यह कथन 'इतिहास' है कि मल्लू इकबाल ने जमादि-उल-अव्वल ८०५ हि० को जब ग्वालियर पर आक्रमण किया, उस समय यहाँ के राजा वीरमदेव थे; शेष सब कथन काल्पनिक है। वीरसिंहदेव ने गोपाचल गढ़ सन् १३९४ ई० में प्राप्त किया था न कि 'मुगुलों के उत्पात' के समय, इसका विवेचन किया जा चुका है। ग्वालियर के तोमरों के इतिहास के विषय में उसके अन्य कथन भी नितान्त मिथ्या हैं, यह स्पष्ट है। वास्तविकता यह है कि सुल्तानों की चाटुकारिता में लिखे गए ये 'इतिहास', उनकी दृष्टि में 'दुष्टों' के विषय में, अत्यन्त अविश्वसनीय और भ्रामक हैं।

---

१. ए कम्प्रहैंसिव हिस्ट्री आफ इण्डिया (इण्डियन हिस्ट्री कांग्रेस के तत्वावधान में सन् १९७० ई० में प्रकाशित), भाग ५, पृ० ६२७। इस इतिहास में वीरसिंहदेव का नाम 'नरसिंहदेव' कर दिया गया है।

२. डा० रिज़वी, उत्तर तैमूर कालीन भारत, भाग १, पृ० ६।
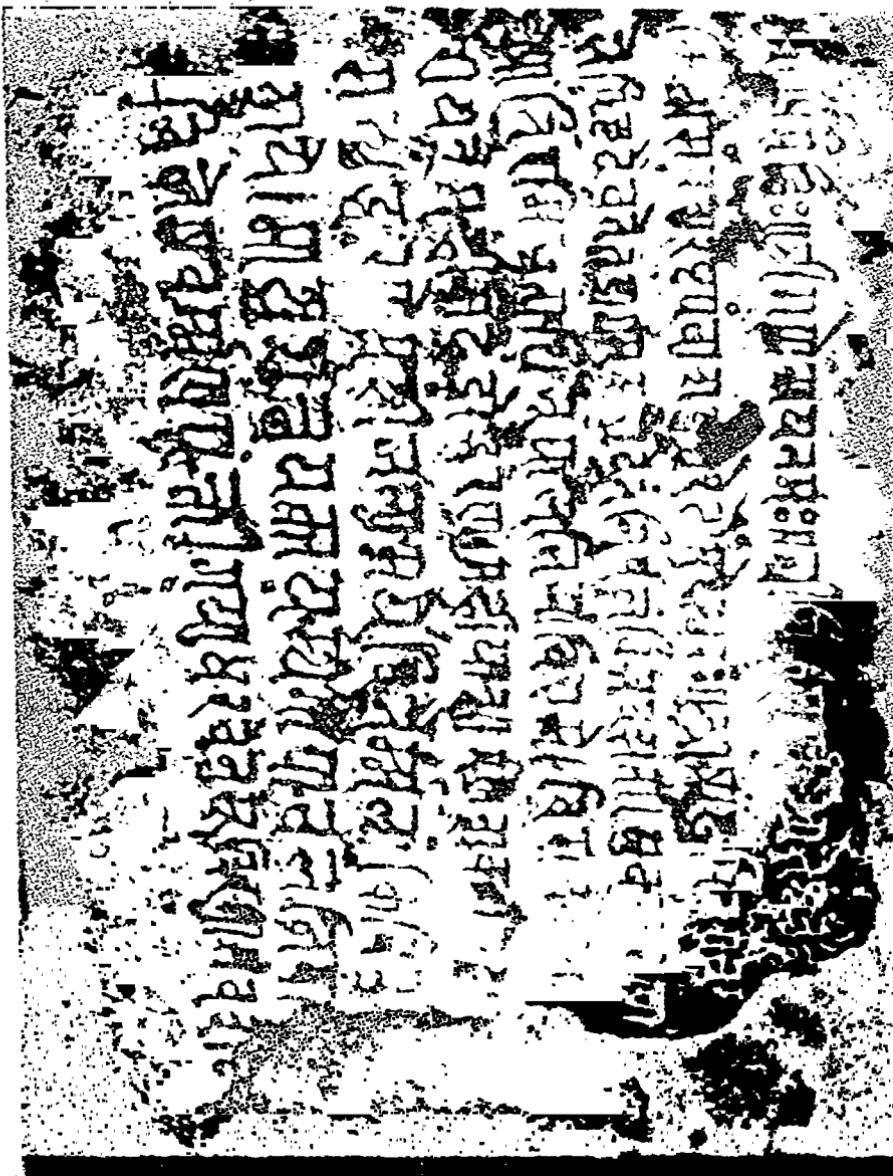
उद्धरणदेव का गंगोलाताल शिलालेख

(पृष्ठ ३७ देखें)

—डा० श्री सन्तलाल कटारे की छाप से साभार

ऐतिह्य सामग्री

वीरसिंहदेव के वि० सं० १४५१ (सन् १३९४ ई०) के गंगोलाताल के शिलालेख से यह स्पष्ट है कि उद्धरणदेव अपने युवराज-काल में ही अपने पिता के साथ राजकाज देखने लगे थे और युद्धों में भी भाग लेने लगे थे।

इसके पश्चात् प्राप्त होता है आषाढ़ शुक्ल पंचमी, वि० सं० १४५८ (१४ जून, सन् १४०१ ई०) का स्वयं उद्धरणदेव का शिलालेख, जिसमें लिखा है[1] —

॥ ॐ सिद्धिः॥ श्री गणेशायनमः ॥
श्रीविक्रमावर्कनृपतेश्चतुर्द [श शतां]किते ।
संवत्सरेष्टपंचाशद्दुत्तरे तोमरेश्वरः ॥
आषाढ़ सितपंचम्यांमे पितृदैवव्रते ।
तड़ागं करोदेतं निर्मलं चित्तवत्सतां ॥
सुवर्न्नरेषा[परि]षाभिरामेप्रत्यर्थिभूपालभियांविरामे ।
विराजते गोप [गिरौ] गरीयान् महोमहेन्द्रोद्धरणो महीयान् ॥
रणोशकगणं ह [त्वा]अरात्युद्धरणो महीं ।
जलाशयेपि नैर्म्मल्यं किं [... ...] शये ॥
माथुरान्वय कायस्थ गोपाचल निवा[ ] ।
लिलेष वर्म्मण पंक्ती गयाधर वेनसूरिणा ॥
संवत् १४५८ ॥

इस शिलालेख से अनेक तथ्य निर्विवाद रूप से सुनिश्चित हो जाते हैं । इसमें सन्देह नहीं कि १४ जून १४०१ ई० को गोपाचल गढ़ पर उद्धरणदेव तोमर राज्य कर रहे थे। इस शिलालेख से यह भी स्पष्ट है कि वीरसिंहदेव तोमर की मृत्यु इसके एक वर्ष पूर्व, आषाढ़ शुक्ल पंचमी, वि० सं० १४५७ (२७ जून, सन् १४०० ई०) में हुई थी। उनके वार्षिक श्राद्ध के समय "पितृदैवव्रते" गंगोलाताल की सफाई कराई गई और आषाढ़ शुक्ल पंचमी, वि० सं० १४५८ का यह शिलालेख अंकित कराया गया। इस शिलालेख से यह भी ज्ञात होता है कि उद्धरणदेव ने 'शकों का हतन' कर मही का उद्धार किया था।

उद्धरणदेव के पुत्र वीरमदेव के राज्यकाल में लगभग सन् १४२० ई० में पद्मनाभ कायस्थ ने यशोधर चरित लिखा था। अपने समकालीन राजा वीरमदेव के पिता के विषय में भी उसने दो श्लोक लिखे हैं[2]—

ईश्वर चूडारत्नं विनिहितकरघातवृत्तसंहातः ।
चन्द्रइव दुग्धसिंधोस्तस्माद् उद्धरण भूपतिर्जनितः ॥ २ ॥

---

१. फोटो के लिए देखें 'टू गंगोलाताल, ग्वालियर, इन्स्क्रिप्शन्स", जर्नल आफ द ओरिएण्टल इन्स्टीट्यूट, जून १९७४।

२. जैनग्रन्थ-प्रशस्ति-संग्रह, प्रथम भाग, पृ० ५।

यस्य हि नृपतेः यशसा सहसा शुभ्री कृतत्रिभुवने ऽस्मिन् ।
कैलाशंति गिरिनिकरः क्षीरति नीरं शुचीयते तिमिरं ॥ ३ ॥
तत्पुत्रो वीरमेन्द्रः ....

इस समकालीन उल्लेख को देखते हुए इस बात में कोई सन्देह शेष नहीं रह जाता कि वीरसिंहदेव के पश्चात् उनके पुत्र उद्धरणदेव-राजा हुए और उनके पश्चात् उनके पुत्र वीरमदेव ने राज्यभार सम्भाला था।

मित्रसेन के वि० सं० १६८८ (सन् १६३१ ई०) के रोहिताश्व गढ़ के शिलालेख में वीरसिंहदेव तोमर के उल्लेख के उपरान्त उद्धरणदेव के विषय में लिखा है—

पुत्रस्तस्यानु भूपः समभवदवनी मुच्चरन्नुग्रतेजाः
श्रेष्ठै विद्वद्भिरत्रोद्धरण इतिकृतं नाम यस्योचितार्थं ।

फारसी के समकालीन अथवा परवर्ती इतिहास-ग्रन्थों में किसी में उद्धरणदेव का कोई उल्लेख प्राप्त नहीं होता, केवल फज्ल अली ने कुल्याते-ग्वालियरी में यह उल्लेख किया है कि ग्वालियर गढ़ प्राप्त करने में वीरसिंहदेव को उनके युवराज उद्धरणदेव ने भी सहयोग दिया था।

राज्य-काल

वीरसिंहदेव तोमर २७ जून १४०० ई० को परलोकगामी हुए थे, इसका विवेचन पूर्व में किया जा चुका है। उसी दिन उनके युवराज उद्धरणदेव का राज्यकाल प्रारम्भ हुआ होगा। परन्तु उद्धरणदेव की मृत्यु किस दिन हुई, इसका कोई आधार प्राप्त नहीं होता है। यहया की तारीखे-मुबारकशाही से केवल यह ज्ञात होता है कि नवम्बर-दिसम्बर, १४०२ ई० को ग्वालियर गढ़ पर वीरमदेव तोमर राज्य कर रहे थे। संभावना यह है कि उद्धरणदेव का देहान्त सन् १४०२ ई० के प्रारम्भ में हो गया होगा।

शकगणं हत्वा

उद्धरणदेव का राज्यकाल केवल दो वर्ष तक रहा। ४ जून सन् १३९४ ई० के पूर्व वे अपने यशस्वी पिता के साथ गोपचल गढ़ की विजय के संघर्ष में भी सम्मलित हुए थे। ज्ञात होता है कि उस समय ही उद्धरणदेव की वय अधिक हो गई थी और जब वे सिंहासनारूढ़ हुए तब पर्याप्त वृद्ध हो गए थे। वीरसिंहदेव ने छह वर्ष इक्कीस दिन स्वतंत्र राजा के रूप में राज्य किया था। वे भी उस समय वृद्ध होंगे और अनुमान यह है कि युवराज उद्धरणदेव अपने पिता के समय से ही राजकाज देखने लगे होंगे। उद्धरणदेव का १६ जून सन् १४०१ ई० का शिलालेख यह कहता है कि उनके द्वारा रण में शकों (तुर्कों) का निपात किया गया था। ज्ञात होता है, यह उल्लेख वीरसिंहदेव के समय में हुए युद्धों के सम्बन्ध में है। सन् १३९४ ई० के पश्चात् ही दिल्ली के तुलुगकों में इतना विषम सत्ता-संघर्ष प्रारम्भ हो गया था और मल्लू इकबाल के प्रपंचों और षड़यन्त्रों ने तुगलुक राजवंश को इतना विश्रृंखल कर दिया था कि उनकी ओर से ग्वालियर गढ़ पर आक्रमण की संभावना नहीं

थी। सन् १३९९ ई० में तैमूर के आक्रमण ने दिल्ली सल्तनत को समाप्तप्राय कर दिया था। ऐसी दशा में उद्धरणदेव के राज्यकाल में शकों का हतन का प्रसंग नहीं आया होगा।

पंक्ती गयाधर वेनसूरिणा

उद्धरणदेव के शिलालेख के पाठ का सम्पादन करते समय डा० सन्तलाल कटारे ने 'पंक्ती गयाधर वेनसूरिणा' अंश का शुद्ध पाठ 'पंश्री गयाधरेण सूरिणा' सुझाया है।[1] जैन सूरियों को 'पंश्री' लिखा जाता हो, ऐसा उदाहरण प्राप्त नहीं होता, अतएव डा० कटारे द्वारा सुझाया गया पाठ असंगत ज्ञात होता है। 'वेनसूरि' एक ही शब्द है जिसका अर्थ 'मन्दिर के आचार्य' या 'वाणी के आचार्य' हो सकता है। उद्धरणदेव के शिलालेख के पंडित श्री गयाधर वेनसूरि जैन सूरि नहीं थे, वे पौराणिक सनाढ्य ब्राह्मण थे तथा हिन्दी के प्रसिद्ध महाकवि केशवदास के पूर्वज थे। यह सनाढ्य परिवार विक्रमादित्य तोमर (१५१६-१५२३ ई०) के समय तक ग्वालियर के तोमरों के साथ रहा। केशवदास ने कविप्रिया में अपने वंश का परिचय देते हुए लिखा है—

ब्रह्माजू के चित्ततें, प्रगट भये सनकादि।
उपजे तिनके चित्त में, सब सनौढिया आदि॥
परशुराम भृगुनन्द तब, उत्तम विप्र विचारि।
दये बहत्तर ग्राम तिन, तिन के पायँ पखारि॥
जगपावन वैकुण्ठपति, रामचन्द्र यह नाम।
मथुरा मण्डल में दिए, तिन्हैं सातसौ ग्राम॥
सोमवंस यदुकुल कलस, त्रिभुवनपाल नरेस।
फेरि दिए कलिकाल पुर, तेई तिन्हें सुदेस॥
कुम्भवार उद्देस कुल, प्रगटे तिन के बंस।
तिनके देवानन्द सुत, उपजे कुल अवतंस॥
तिनके सुत जगदेव जग, थापे पृथिवीराज।
तिनके दिनकर सुकुल सुत, प्रगटे पण्डितराज॥
दिल्ली पति अलाउदीं, कीन्हीं कृपा अपार।
तीरथ गया समेत जिन अकर करे बहुवार॥
गया गयाधर सुत भए, तिनके आनंदकंद।
जयानन्द तिनके भए, विद्यायुत जगवंद॥
भये त्रिविक्रम मिश्र तब, तिनके पण्डित राय।
गोपाचलगढ़ दुर्गपति, तिनके पूजे पाय॥
भावमिश्र तिनके भये, जिनके बुद्धि अपार।
भये शिरोमणि मिश्र तब, षट्दर्शन अवतार॥

---

१. 'द गंगोलाताल ग्वालियर इन्स्क्रिप्शन्स ऑफ द तोमर किंग्स ऑफ ग्वालियर'' जर्नल ऑफ द ओरिएण्टल इन्स्टीट्यूट, जून १९७४।

मानसिंह सों रोस करि, जिन जीती दिसि चारि।
ग्राम बीस तिनको दिये, राना पांव पखारि ।।
तिनके पुत्र प्रसिद्ध जग, कीन्हे हरि हरिनाथ।
तोमरपति तजि और सों, भूल न ओड्यो हाथ।।
पुत्र भये हरिनाथ के, कृष्णदत्त शुभवेष।
सभाँ शाह संग्राम की, जीती गढ़ी अशेष।।
तिनको वृत्ति पुराण की, दीन्ही राजा रुद्र।
तिनके काशीनाथ सुत, सोभे बुद्धि समुद्र।।
जिनको मधुकर साह नृप, बहुत कर्यो सनमान।
तिनके सुत बलभद्र सुभ, प्रकटे बुद्धि-निधान ।।
बालहिं तें मधुसाहि नृप, जिनपै सुनहिं पुरान।
तिनके द्वै सोदर भये, केशवदास कल्याण ।।
भाषा बोलि न जानहीं जिनके कुल के दास।
भाषा-कवि भो मन्दमति तिहि कुल केसवदास ।।

केशव के कुल के कलियुग के पूर्व के इतिहास से हमारा सम्वन्ध नहीं है। कलियुग के प्रारम्भ के पश्चात् यह सनाढ्य परिवार दिल्ली के तोमरों के आश्रित दिखाई देता है। अन्यत्र यह लिखा जा चुका है कि त्रिभुवनपाल नरेश अनंगपाल द्वितीय था और पृथ्वीराज थे दिल्ली के तोमर पृथ्वीपाल।[1] पृथ्वीपाल ने जगदेव को प्रश्रय दिया था। केशव के वर्णन से आगे का इतिहास निम्नलिखित रूप में सामने आता है—

केशव के पूर्वज	तोमर राजा	अन्य राजा
दिनकर	वीरसिंहदेव	अलाउद्दीन सिकन्दर शाह
गदाधर (गयाधर)	उद्धरणदेव	—
जयानन्द	—	—
त्रिविक्रम मिश्र	गोपाचलगढ़ दुर्गपति	—
	(डूगरेन्द्रसिंह ?)	—
भावशर्मा	—	—
शिरोमणि मिश्र	मानसिंह	मेवाड़ के राणा (?)
हरिनाथ	मानसिंह	—
कृष्णदत्त	मानसिंह—विक्रमादित्य	राणा संग्रामसिंह

यहाँ प्रसंग दिनकर और गजाधर (गयाधर) का है। दिनकर के प्रसंग में जिस 'अलाउदीं' का उल्लेख केशव ने किया है वह तुगलुक वंश का अलाउद्दीन सिकन्दर शाह हैं, जिसने वीरसिंहदेव तोमर को ग्वालियर गढ़ का परवाना दिया था। वीरसिंहदेव के

1. दिल्ली के तोमर, पृ० २३७।

चैत्रनाथ मूर्ति, सुहानिया—

(पृष्ठ ५० तथा ६७ देखें)

—भूतपूर्व ग्वालियर राज्य के पुरातत्व विभाग के सौजन्य से

साथ ही दिनकर दिल्ली गए थे। इन दिनकर के विषय में केशवदास ने लिखा है कि उन्होंने 'गया' सहित अनेक तीर्थों की यात्रा 'वहुवार' की थी। किसी एक गया-यात्रा में ही दिनकर को गया में ही पुत्ररत्न प्राप्त हुआ, जिसका नामकरण 'गयाधर' किया गया। 'गया गयाधर सुत भए' से आशय यही है कि गया में ही दिनकर की पत्नी ने पुत्र को जन्म दिया था जिसका नाम 'गयाधर' रखा गया। केशव ने उसे 'गजाधर' लिखा है।

ज्ञात यह होता है कि वीरसिंहदेव की मृत्यु के उपरान्त उद्धरणदेव ने अपने पिता के पुरोहित दिनकर को फिर गया भेजा जहाँ उनके द्वारा पिण्डदान कराया गया। दिनकर के ग्वालियर लौटने के पश्चात् गढ़ पर वीरसिंहदेव का वार्षिक श्राद्ध किया गया और उसके उपलक्ष्य में (पितृदैवृते) गंगोलाताल का लेख अंकित किया गया, जिसके रचनाकार थे दिनकर के पुत्र "पंश्री गयाधर वेनसूरि"।

'उद्धरणो महीम्'

उद्धरणदेव के गंगोलाताल के शिलालेख में प्रयुक्त शब्द 'उद्धरणो महीम्' उस युग की जन-भावना के प्रतीक हैं। उद्धरणदेव के समय तक उत्तर भारत पर तुर्क सुल्तान दो सौ वर्ष राज्य कर चुके थे। तुर्क सुल्तान और उसके स्थानीय अमीरों ने कुछ प्रशासनिक सिद्धान्त भी सुनिश्चित कर लिए थे और वे स्थानीय जनता के निकट आने का प्रयास भी कर रहे थे। परन्तु, मूलतः तुर्क प्रशासन सैनिकतन्त्र ही था और स्थानीय जनता ने उसे कभी हृदय से अंगीकार नहीं किया। गैर-मुस्लिम असिजीवी विवश होकर सुल्तानों के सैनिकों के रूप में कार्य अवश्य करते थे; तथापि, उनके हृदय में अपनी स्वतन्त्र सत्ता स्थापित करने की भावना का दमन न किया जा सका, न बल से और न सद्भाव से। सुल्तानों के स्थानीय प्रशासक जनता पर अत्याचार करने और उसका सर्वस्व अपहरण करने के लिए कुख्यात थे। फीरोजशाह हिन्दुओं के प्रति अत्यन्त असहिष्णु और क्रूर था, परन्तु अपने अमीरों की क्रूरता से वह भी स्तंभित हो जाता था। उसने एक शाही फरमान निकाला था[1], "यह सभी को ज्ञात है कि किसी भी धर्म में काफिर (हिन्दू) स्त्री की हत्या की अनुमति नहीं है।" फीरोजशाह स्वयं रणमल भट्टी की राजकुमारी के गर्भ से उत्पन्न हुआ था, परन्तु उसके धर्म ने काफिर यानी हिन्दू स्त्री की हत्या का ही निषेध किया था, उनको भगा लेने, छीन लेने या उन पर वलात्कार करने की रोक उसकी धर्मनीति या राजनीति में नहीं थी। ग्वालियर के तुर्की अमीर-अहमद-विन-शेरखाँ तथा अलापुर के अमीर हब्शी वद्र के प्रसंग में यह स्पष्ट हो चुका है कि ये अमीर जनता का शिकार करते थे, पुरुषों को दास वना लेते थे और स्त्रियों को वलपूर्वक छीन ले जाते थे। जनता की धन-सम्पत्ति वे अपनी ही मानते थे। इस प्रकार के अत्याचार से जनजीवन को त्राण दिलाने के लिए उस युग के राजपूत तथा अन्य असिजीवी अपने प्राणों का मोह त्याग विद्रोह कर देते थे। अहमद और वद्र जैसे अमीरों से त्राण प्राप्त करने के लिए ऐसाह के राजा कमलसिंह (घाटमदेव)

---

१. इन्शाए-माहरू, डा० रिजवी, तुगलुक कालीन भारत, भाग २, पृ० ३७६।

ने विद्रोह किया था। उनका प्रयास आंशिक रूप से ही सफल हो सका। कमलसिंह पूर्णतः सफल न हो सके, यह महत्वहीन है; तथापि, वे अपने वंश के लिए अनुकरणीय परम्परा का सूत्रपात कर सके। उनके कार्य को पूरा किया उनके पौत्र और प्रपौत्र वीरसिंहदेव तथा उद्धरणदेव ने। चम्बल और सिन्ध के वीच के प्रदेश को तुर्क अमीरों के अत्याचारों से विमुक्ति दिलाना स्थानीय जनता की दृष्टि में इस प्रदेश का उद्धार करना ही था। इस कार्य को उद्धरणदेव के प्रशस्तिकार गयाधर ने वराहावतार द्वारा मही के उद्धार के समकक्ष माना और 'उद्धरणो महीम्' कहा। किसी अत्याचारी और अनाचारी सत्ता से जनता को विमुक्ति दिलाना मही का उद्धार करना ही है।

ग्वालियर के नवनिर्मित राज्य के राजाओं के सामने दो कर्तव्य थे। पहला यह कि वे अपने क्षेत्र के निवासियों की रक्षा तुर्क अमीरों के अत्याचारों से करते रहें, और दूसरा यह कि वे उन्हें शान्तिपूर्ण प्रशासन दें। आदर्श रूप में ये सिद्धान्त उनके सामने रहे भी।

उद्धरणदेव के उत्तराधिकारी वीरमदेव के समय में भी यह भावना प्रतिध्वनित हुई थी। उसके आश्रय में नयचन्द्र सूरि ने रम्भामंजरी नामक सट्टक की रचना की थी। यद्यपि नयचन्द्र सूरि जैन थे, तथापि, अपने राज्य की भावना का समादर करते हुए अपनी कृति के मंगलाचरण में उन्होंने 'पंक में फँसी विश्वा—पृथ्वी—को दंष्ट्राग्र पर उठाने वाले वराहवपु' का स्तवन किया था[1]—

दंष्ट्राग्रो हृतपंकपिडवदियं विश्वा समस्ताप्यहो
गछंती प्रलयं वराहवपुषो येनोददे ध्रीयते।
देवः श्रीकुचकुंभपत्ररचनाचातुर्य चिन्तामणिः
स श्रेयांसि चरीकरीतु कृतिनां कल्याण कोटीश्वरः ॥१॥

मानसिंह तोमर के वि० स० १५५१ (सन् १४९४ ई०) के गंगोलाताल के शिलालेख में राजा की प्रशस्ति के बीच में ही दंष्ट्राग्र पर पृथ्वी को धारण किए हुए वराह की भव्य आकृति खुदी हुई है।[2] ज्ञात यह होता है कि ग्वालियर के तोमरों ने मही का उद्धार करने वाले वराह भगवान् को अपना राजचिह्न बना लिया था। उनका आदर्श यह था कि प्रजा—पृथ्वी—की अत्याचारों से सतत रक्षा की जाए।

---

१. भण्डारकर ओरिएण्टल रिसर्च इन्स्टीट्यूट पूना से प्राप्त प्रतिलिपि से साभार।

२. इस शिलालेख की छाप डा० सन्तलाल कटारे के पास है। उन्होंने कृपा कर हमें इस छाप के परीक्षण की अनुमति देकर अनुग्रहीत किया था।

परिशिष्ट

तैमूर का आक्रमण और भारत की नयी राजनीति

इस युग में इतिहास की सबसे महत्वपूर्ण घटना तैमूर का आक्रमण है। इस आक्रमण द्वारा 'साहिबे किरान अमीर तैमूर' ने अपने लिए संसार के क्रूरतम आततायियों में मूर्धन्य स्थान सुरक्षित कर लिया, साथ ही तत्कालीन भारत की वास्तविक स्थिति को भी नंगे रूप में प्रस्तुत कर दिया। इसके आक्रमण के फलस्वरूप भारत की भावी शताब्दियों के इतिहास का स्वरूप ही बदल गया।

हत्या, अग्निदाह और विनाश

तैमूर ने समरकंद से भारत की ओर प्रस्थान करने के पूर्व अपने पौत्र पीर मुहम्मद को सेना के साथ अग्रगामी दल के रूप में भारत की ओर भेजा। उसने १३९८ ई० में मुल्तान पर अधिकार कर लिया। अप्रैल १३९८ ई० में स्वयं तैमूर भारत की ओर चल पड़ा। मार्ग में अनेक स्थलों का विध्वंस करता हुआ, अगणित सैनिक और नागरिकों की हत्या करता हुआ तथा एक लाख से अधिक हिन्दुओं को बन्दी कर, १७ दिसम्बर १३९८ ई० को उसने दिल्ली में नासिरुद्दीन तुगलुक के साथ युद्ध किया। इस युद्ध को प्रारम्भ करने के पूर्व उसने एक लाख से अधिक उन भारतीयों की हत्या करवादी जिन्हें उसने मार्ग में बन्दी बनाया था। युद्ध में नासिरुद्दीन पराजित हुआ। वह गुजरात की ओर भागा और उसका प्रधान मंत्री मल्लू इकबाल बुलन्दशहर की ओर। १८ दिसम्बर १३९८ ई० को तैमूर ने दिल्ली में प्रवेश किया और वहाँ वह १ जनवरी १३९९ ई० तक रहा। पन्द्रह दिनों के भीतर तैमूर ने दिल्ली को वीरान कर दिया। जफरनामे के अनुसार, "शाही सेना के प्रत्येक व्यक्ति ने डेढ़-डेढ़ सौ स्त्री, पुरुष तथा बालक बन्दी बनाए। साधारण से साधारण व्यक्ति को बीस-बीस दास प्राप्त हो गए। हिन्दुओं के सिरों का बुर्ज आकाश तक पहुँच गया और उनका शरीर पक्षियों का भोजन हो गया।" उस दिन प्राचीन दिल्ली के सब लोग नष्ट कर दिए गए। इतिहासकार बदायूँनी के शब्दों में दिल्ली में जो लोग बच रहे थे, वे अकाल और महामारी के कारण मर गए और दिल्ली में दो महीने तक पक्षी ने भी पर नहीं मारा। दिल्ली से समरकंद लौटते समय भी तैमूर ने हत्या, लूट, अपहरण और अग्निदाह की कथा दुहराई।

भारत-आक्रमण का कारण

जफरनामा के लेखक शरफुद्दीन अली यजदी ने अमीर तैमूर के भारत के आक्रमणों पर प्रकाश डालते हुए लिखा है, "इसके पूर्व उन्होंने यह सुना कि यद्यपि हिन्दुस्तान में दिल्ली तथा इसी प्रकार अन्य स्थानों में भी इस्लाम को प्रभुत्व प्राप्त है और तौहीद के वाक्य दिरहम और दीनारों पर लिखे जाते हैं; किन्तु उसके आसपास के बहुत से प्रदेश अब भी

काफिरों के अधीन हैं, जहाँ मूर्तिपूजा और दुराचार होता है। हिन्दुस्तान का बादशाह उन मार्ग-भ्रष्ट लोगों से थोड़ी-सी खिराज लेकर सन्तुष्ट है और उन्हें कुफ्र एवं दुराचार तथा व्यभिचार की अनुमति दे रखी है। इस कारण तैमूर के हृदय में हिन्दुस्तान पर आक्रमण करने का विचार दृढ़ हो गया।"

तैमूर उस चंगेजखाँ का उत्तराधिकारी था, जिसने कभी इस्लाम ग्रहण नहीं किया था और अपने समय के मुस्लिम राज्यों का पूर्ण विनाश और विध्वंस कर दिया था। कहा जाता हैं कि चंगेज बौद्ध था। कालान्तर में उसके कुछ कबीलों ने इस्लाम ग्रहण कर लिया था। तैमूर की प्रेरणा-शक्ति इस्लाम रहा हो, ऐसा उसके इतिहास से ज्ञात नहीं होता। ज्ञात होता है, उसके कुकृत्यों को धार्मिक रूप देने की कल्पना शरफुद्दीन के मस्तिष्क की निजी उपज है, और उसने तैमूर के साथ इस्लाम को भी बर्बरता का जनक बना दिया। तैमूर का प्रधान उद्देश्य भारत का अपार धन लूटकर समरकन्द ले जाना था। इस उद्देश्य में वह सफल हुआ भी। उसकी प्रधान प्रेरक भावना 'दीन' न होकर तत्कालीन भारत की विशृंखल स्थिति थी, जिसके निर्माण में तुर्क सुल्तानों और अमीरों का योग था।

हिन्दू-तुर्क दोनों का समान हित-अहित

'साहिबे किरान' की तलवार के घाट यद्यपि हिन्दू अगणित संख्या में उतरे, तथापि भारत के तुर्क भी उसके प्रसाद से वंचित नहीं रहे। भारत के तुर्कों ने भी तैमूर के आक्रमण को विदेशी आततायी का आक्रमण ही माना। भटनेर में राव दुलचीन (?) के नेतृत्व में हिन्दू और तुर्क दोनों ने मिलकर तैमूर का सामना किया था। उस युद्ध में तैमूर ने दस हजार नागरिकों को तो मारा ही, जो लोग अपने आपको मुसलमान कहते थे 'उनके परिवारों के सिर भी भेड़ों के समान काटे।' तुगलुकपुर के मुस्लिम शासक का इलाका हिन्दुओं का था। उनकी सक्रिय सहायता से ही वहाँ के शासक मुबारकखाँ ने तैमूर का सामना किया। मुबारकखाँ पराजित हुआ और उसके क्षेत्र के 'अधर्मियों (हिन्दुओं) की बहुत बड़ी संख्या तलवार के घाट उतार दी गई, उनके स्त्री- बालक बन्दी बना लिए गए तथा सेना-वालों को अत्यधिक धन-सम्पत्ति प्राप्त हुई।' तैमूर ने परोक्ष रूप से भारतवासियों के समक्ष यह स्पष्ट कर दिया कि विदेशी आक्रान्ता के समक्ष, तुर्क हों या हिन्दू, उनका हित भिन्न नहीं है। यह पाठ पढ़ा तो गया, परन्तु बहुत धीरे-धीरे और पूरा तो कभी नहीं पढ़ा गया।

वंशनाश की कल्पना का सर्जक—तैमूर

तैमूर का प्रकट उद्देश्य था हिन्दुओं का वंशनाश। इस उद्देश्य की पूर्ति को वह सदा ध्यान में रखता था। तैमूर ने हिन्दू मुण्डों के कितने पहाड़ खड़े किए थे और उनके रक्त की कितनी नदियाँ बहाई थीं, इसकी गणना संभव नहीं है। हिन्दुओं की स्त्रियों और बच्चों को वंशनाश की भावना से ही बन्दी बनाया जाता था। नगरों और ग्रामों को उजाड़ते समय अनाज तथा फसलों को नष्ट करने का विशेष ध्यान रखा जाता था। जो बच रहें वे भूखों मर जाएँ, इसकी पूर्ण व्यवस्था की जाती थी। यद्यपि तैमूर अपने भारत

के अभियान के अपने मार्ग की रेखा पर बहुत गहरे घाव छोड़ गया, तथापि वह अपने इस उद्देश्य में सफल न हो सका। तुर्क सुल्तान हिन्दुओं का वंशनाश न कर सके थे, उसके कारण, शरफुद्दीन के अनुसार, वह उनसे रुष्ट था। उसने इन सुल्तानों के समक्ष यह उदाहरण प्रस्तुत करना चाहा कि इस उद्देश्य को किस प्रकार प्राप्त किया जा सकता है। परन्तु क्रूरतम पाशविकता का तैमूर का यह पदार्थ-पाठ भारत के तुर्क सुल्तानों के काम न आ सका और न वे इसे पूर्णतः अपना सके। इसके विपरीत प्रभाव अवश्य प्रकट हुआ। उसने तुर्कों की दिल्ली-सल्तनत को छिन्न-भिन्न कर दिया। अनेक तुर्क राज्य खड़े हो गए और अनेक हिन्दू राज्य भी उभर आए। तुर्क राज्यों को अब केवल "काफिरों को दोजख की राह पहुँचाना" या उन्हें इस्लाम की गोद में ले लेना ही प्रमुख कार्य नहीं रह गए थे। तुर्क राज्यों की आपसी टक्करों में अब उन्हें राजपूतों की सहायता की भी आवश्यकता थी और स्वतंत्र हिन्दू राज्यों से लड़ने के लिए शक्ति-संचय करना भी आवश्यक था।

तुर्क और तैमूर—नये युग का प्रारंभ

भारतीय इतिहास लेखन की परम्परा में एक अत्यन्त दुर्भाग्यपूर्ण प्रवृत्ति दिखाई देती है। सन् १२०० के पश्चात् का भारत का इतिहास सुल्तानों का ही इतिहास माना जाता है और उसके वास्तविक स्वरूप को भुला दिया जाता है। १ जनवरी १३९९ ई० में उत्तर भारत के इतिहास में जो युग-परिवर्तन हुआ था, उसके महत्व को न समझने के कारण यह भूल हुई है। इस भूल और भ्रम के दो कारण हैं। पहला कारण तो यह है कि भारत में आने वाले तुर्क, अफगान और मुगुल एक ही धर्म के अनुयायी थे, और उनके आन्तरिक विभेद और उद्देश्यों को भुला दिया गया। दूसरा प्रबल कारण मध्ययुग के मुसलमान इतिहास लेखक हैं। वे अपने इतिहासों में "हिन्दू और मुसलमान" केवल इसी विभेद पर जोर देते थे; वे इतने बुद्धिमान थे कि इस्लाम धर्म के अनुयायियों के आन्तरिक विद्वेषों को स्पष्ट रूप में लिखना नहीं चाहते थे।

ध्यान से देखने पर स्थिति यह ज्ञात होती है कि सन् ११९३ ई० के पश्चात् तुगलुक वंश के राज्य के अन्त तक उत्तर भारत पर उस नृवंश का राज्य रहा जिसे तुर्क कहा जा सकता है। वह दो सौ वर्ष तक भारत में रह-बस चुका था और धीरे-धीरे भारत की मिट्टी-पानी में घुल-मिल चला था तथा इस देश के ऐश्वर्य का भी उपभोग कर चुका था। सन् १३९९ ई० में तैमूर ने इसी तंत्र की जड़ें खोखली की थीं। भारत छोड़ते समय जिस खिज्रखाँ को वह मुल्तान में अपनी ओर से जमा गया था, वह अपने आपको तुर्क न कह कर सैयिद कहता था, अर्थात् अपने आपको हजरत मुहम्मद के अरबी वंश का बतलाता था।

सन् १४१४ ई० में खिज्रखाँ ने दिल्ली पर भी अधिकार कर लिया और तुर्कों का राज्य वहाँ से हटा दिया। तुर्क अमीरों ने भारत के विभिन्न भागों में अपने राज्य स्थापित कर लिए, अर्थात्, तुर्क साम्राज्य समाप्त हुआ, और तुर्क साम्राज्य की कल्पना भी समाप्त हुई। तैमूर द्वारा जमाया गया यह तथाकथित सैयिद वंश भी दिल्ली पर केवल ३७ वर्ष

राज्य कर सका, सन् १४५१ ई० में अफगान कबीलों के सरदार बहलोल ने उसे अपदस्थ कर दिया। बहलोल के अफगान अमीर भारत में "इस्लाम की रक्षा" के लिए नहीं आए थे, रोटी-रोजी की खोज में दस्यु के रूप में ही आए थे। तुर्कों और अफगानों का संघर्ष भारतीय सत्ता और विदेशी लुटेरों का संघर्ष था। इस संघर्ष का चरम रूप हुसैनशाह शर्की और बहलोल के युद्धों में दिखाई देता है। बहलोल इस्लाम के आशीर्वाद के कारण विजयी नहीं हुआ था और न हुसैनशाह शर्की इस कारण पराजित हुआ था कि उसकी सेना छुआछूत के दोष से पीड़ित थी अथवा संख्या और शक्ति में कमजोर थी। उसकी पराजय के वही कारण थे जो सन् ११९२-१२१० के बीच राजपूत राज्यों की पराजय के थे। बहलोल और उसके अफगान अमीर अधिक चालाक और विश्वासघाती थे, हुसैनशाह शालीनता के बोझ से दबा हुआ था और अत्यधिक आत्म-विश्वास से पीड़ित था। वह घरधनी था और अफगान भूखे, तथापि साहसिक एवं शक्तिशाली लुटेरे थे। घरधनी प्रमादी भी था और स्थानीय जनता को भी अपने साथ न रख सका अतएव पराजित हुआ।

अफगान भी केवल ७५ वर्ष दिल्ली का राज्य कर सके और उन्हें भी उनसे अधिक चालाक और चुस्त मुगुलों ने उखाड़ दिया; तथा भारत को तुर्क, अफगान और मुगुलों का रणांगण बना दिया और उसके साथ ही शिया और सुन्नी सुल्तानों का विग्रह भी आ धमका। उलमा, मुल्ला और सूफी सभी तुर्क, अफगान और मुगुल तीनों को उनके समान धर्म का स्मरण कराने का प्रयास करते रहते थे और समान-शत्रु, भारत की हिन्दू जनता, विशेषत: उनके असिजीवी वर्ग, राजपूत, एवं प्रबुद्ध-वर्ग, ब्राह्मण, का भय दिखाते रहते थे। हिन्दुओं का अथवा तुर्कों की अपेक्षा भारत के पूर्वतर निवासियों का—व्यापारी वर्ग तो पूर्णत: उनका सहयोगी बन ही चुका था—खटका केवल उनके इस असिजीवी और बुद्धिजीवी वर्ग से रह गया था।

हिन्दू राज्यों की स्थिति

तुर्कों ने भारत के राजपुत-तंत्र को पराजित किया था। जो स्वतंत्र हिन्दू राजा थे, उन्हें ये तुर्क सुल्तान अपनी दिल्ली-विजय के कारण वैध रूप में अपना वशवर्ती ही मानते थे। यह स्थिति भारत के प्रबुद्ध-वर्ग तथा स्वातन्त्र्यकामी-वर्ग को सह्य नहीं थी। तैमूर के आक्रमण के पूर्व पूरे दो सौ वर्ष तक उनकी अनेक पीढ़ियाँ तुर्कों से विषम संघर्ष करती रही थीं। उनकी कटुता इस सीमा तक बढ़ गई थी कि विदेशी लुटेरे तैमूर के आक्रमण को भी उन्होंने दैवी वरदान माना क्योंकि उसने तुर्कों का उच्छेदन किया था। पन्द्रहवीं शताब्दी के प्रारंभिक चरण में (डॉ० रघुवीरसिंह के अनुसार सन् १४०८-१४११ ई० के बीच) लिखे गए 'रणमल्ल छन्द' में उस युग के प्रबुद्ध हिन्दू वर्ग के मनोभावों का चित्र प्राप्त होता है। ईडर के श्रीधर ने रणमल्ल छन्द में लिखा है[1] —

दिल्लीपति परिभूतौ, तद् ददृशे दृश्यते च बाहुबलम्।
शकशल्ये रणमल्ले, यमतुल्ये तिमिरिलङ्गे यत्॥

---

१. रणमल्लछंद, भारती विद्यामन्दिर शोध प्रतिष्ठान, बीकानेर, पृ० ३८।

तिमिरलिंग (तैमूर) तुर्कों के लिए यमतुल्य सिद्ध हुआ था, इस कारण वह भी उतना ही वन्दनीय माना गया जितना तुर्कों से युद्ध करने वाला रणमल्ल। प्रश्न धर्म का उतना नहीं था, श्रीधर जानता था कि तैमूर भी मुसलमान था; प्रश्न था राजनीतिक स्वतन्त्रता का और अपनी जीवनपद्धति के अनुसरण की स्वतन्त्रता का, तथा उस अत्याचार से मुक्ति पाने का जो तुर्क हिन्दुओं पर कर रहे थे।

केवल एक राजवंश के इतिहास के क्रम में इस अखिल भारतीय समस्या पर विस्तार से विचार करना असम्बद्ध माना जाएगा; तथापि, यहया, बरनी, फरिश्ता आदि मध्ययुगीन मुस्लिम इतिहास लेखक ही उस युग के राजपूतों के इतिहास के प्रमुख स्रोत माने जाते रहे हैं, इस कारण यह सब लिखना आवश्यक हुआ है। वे जिस भावना से प्रेरित थे, उसे समझना आवश्यक है; घटनाओं के वर्णन में वे सत्य की अवहेलना क्यों करते थे, यह समझना भी आवश्यक है। ग्वालियर के तोमर, उनकी दृष्टि में, वैध रूप में तुर्कों के अधीन माने गए, और इस कारण उनके द्वारा अनेक मिथ्या और भ्रमपूर्ण कथन किए गए हैं। वास्तविकता यह है कि सन् १३९४ से १५२३ ई० तक ग्वालियर के तोमर पूर्णतः स्वतंत्र राजा रहे। एक ओर उनके शिलालेख और समकालीन रचनाएँ उन्हें 'महाराधिराज', 'हिन्दू सुरत्राण,' 'समर विजयी' आदि कहते हैं, दूसरी ओर समकालीन तुर्कों और अफगानों के दरबारी इतिहासकार उनके द्वारा प्रत्येक युद्ध के पश्चात् 'नियमित कर' देने की कथा जोड़ देते हैं। यह आवश्यक है कि इन विपरीतगामी दावों का परीक्षण कुछ गहराई से किया जाए।

यह भी स्पष्ट है कि तुर्क हों या अफगान, राजपूतों को अपनी स्वतन्त्र सत्ता बनाए रखने के लिए दोनों से ही समान रूप में संघर्ष करना पड़ा था। वे कभी सफल होते थे, कभी असफल होते थे, फिर उठते थे, फिर गिरते थे; परन्तु, यह संघर्ष चलता ही रहा। बहुधा होता यह था कि जब एक सुल्तान किसी राजपूत गढ़ पर आक्रमण करता था तब दूसरा सुल्तान, शत्रुता होते हुए भी उस पर इस कारण आक्रमण नहीं करता था कि उससे इस्लाम की हानि होगी।[1] जब दो सुल्तान आपस में युद्ध करते थे, तब इसी हानि को बचाने के लिए वे मिल भी जाते थे।[2] परन्तु, राजपूत राजाओं ने ऐसा कोई नियम नही बनाया था; अतएव, वे पराक्रमी होते हुए भी संकट में ही रहे।

तैमूर के आक्रमण के परिणाम

यदि तुर्क सुल्तानों की सत्ता तैमूर द्वारा विशृंखल न कर दी जाती, तब आगे की शताब्दियों में हिन्दू राजाओं की प्रतिरोध की शक्ति अत्यधिक क्षीण हो जाती। संभव है, किसी प्रकार सामंजस्य भी स्थापित हो जाता। तैमूर के धक्के ने दिल्ली की तुर्क सल्तनत को छिन्न-भिन्न कर जहाँ एक ओर अनेक तुर्क राज्य स्थापित करने का मार्ग प्रशस्त किया,

१. मिरआते-सिकन्दरी, डॉ० रिजवी, हुमायूँ, भाग २, पृ० ४३३।
२. डॉ० रिजवी, उत्तर तै० का० भा०, भाग २, पृ० ३७।

वहाँ अनेक राजपूत राज्यों के जम जाने में भी सहायता पहुँचाई और अफगानों के आक्रमण का मार्ग प्रशस्त कर दिया; तथा अमिट अक्षरों में भारत के नियति-पटल पर अंकित कर दिया कि यह देश पूर्णतः इस्लाम ग्रहण नहीं करेगा और हिन्दू तथा मुसलमान दोनों को ही इसमें साथ-साथ रहना होगा। तैमूर और चंगेज के संयुक्त रक्त से उद्‌भूत चुगताई वंश के कुछ मुगल शासक प्रयास करके भी तैमूर की इच्छा को पूर्ण न कर सके। औरंगजेब ने तैमूर, या उसके प्रवक्ता शरफुद्दीन की नीति पर दृढ़ता से चलने का प्रयास किया। परिणाम यह हुआ कि वह इस्लाम को तो न जोड़ सका, मुगल सल्तनत को तोड़ने के बीज अवश्य बो गया।

'दिल्ली सल्तनत' की सीमा

तैमूर के आक्रमण के पश्चात् दिल्ली के तुगलुक तुर्कों का राज्य दिल्ली से पालम तक ७-८ मील तक सीमित रह गया। देश के विभिन्न भागों में अनेक स्वतन्त्र तुर्क तथा हिन्दू राज्य अस्तित्व में आ गए। ख्वाजाजहाँ ने जौनपुर में, मुजफ्फरशाह ने गुजरात में, गालिबखाँ ने समाना में, शम्शखाँ औहदी ने बयाना में, मुहम्मदखाँ ने कालपी तथा महोबा में और दिलावरखाँ ने मालवा में अपने आपको दिल्ली से स्वतंत्र घोषित कर दिया। कश्मीर में इस समय सिकन्दर बुतशिकन (मूर्तिभंजक) का राज्य था। बंगाल पहले ही स्वतंत्र हो गया था।

अनेक स्वतन्त्र हिन्दू राज्य भी इस समय दिखाई देते हैं। मेवाड़ में राणा लाखा पहले से ही पूर्णतः स्वतंत्र थे। ग्वालियर, इटावा, चन्दवार तथा बुन्देलखण्ड के राजपूत राजाओं ने तुर्क सल्तनत का जुआ उतार फेंका। इन परिस्थितियों में प्रारम्भ हुआ था ग्वालियर के तोमरों के दूसरे राजा उद्धरणदेव का राज्य।

वीरमदेव

(१४०२–१४२३ ई०)

वीरमदेव अथवा वीरमेन्द्र, उद्धरणदेव के पुत्र थे और कभी सन् १४०२ ई० के प्रारंभ में गोपाचल के राजा हुए थे, इसका विवेचन उद्धरणदेव के सन्दर्भ में किया जा चुका है। उनका राज्य कब तक चला था, यह उपलब्ध ऐतिह्य सामग्री से निर्धारित करना होगा।

ऐतिह्य सामग्री

वीरम तोमर के समय की रचनाओं में तथा समकालीन शिलालेखों में उनके विषय में उल्लेख मिलते हैं।

वीरमदेव तोमर के समकालीन कवि पद्मनाभ ने यशोधरचरित (सम्भवतः सन् १४२० ई० में) लिखा था, इसका उल्लेख पहले किया जा चुका है। वीरमदेव के विषय में भी उसने एक श्लोक लिखा है —

तत्पुत्रो वीरमेन्द्रः सकल वसुमतीपाल चूडामणिर्यः
प्रख्यातः सर्वलोके सकलबुधकलानन्दकारी विशेषात्।
तस्मिन् भूपालरत्ने निखिलनिधिगृहे गोपदुर्गे प्रसिद्धि
भुंजाने प्राज्यराज्यं विगतरिपुभयं सुप्रजःसेव्यमानं॥

वीरमेन्द्र उद्धरणदेव के पुत्र थे, राजाओं में श्रेष्ठतम थे और विगतरिपुभय थे, उनके समय में गोपाचल दुर्ग की कीर्ति बहुत फैल गई थी, इन तथ्यों से किसी विशेष ऐतिहासिक घटना का ज्ञान नहीं होता। यशोधरचरित के उपलब्ध पाठ में उसका रचना-काल भी नहीं दिया गया है, अतएव उसके आधार पर वीरमदेव का समय नहीं जाना जा सकता।

नयचन्द्र सूरि ने अपने हम्मीर महाकाव्य में भी 'वीरमक्षितिपति' का उल्लेख किया है, तथापि हम्मीरमहाकाव्य में उसका रचनाकाल नहीं दिया गया है।

मित्रसेन के रोहिताश्व गढ़ के शिलालेख में लिखा है कि वीरमदेव उद्धरणदेव के पुत्र थे, वे अप्रतिमवीर थे, अपने शत्रुओं को पराभूत करने में समर्थ थे तथा उनके पराक्रम से इन्द्र भी कम्पित होकर स्तम्भित हो जाता था —

तत्सूनुर्वैरिवीरक्षितिपतिदमनाद् वीरमो वीर एकः
श्रुत्वा यद्वीरभावं सुरपतिरधिकं कम्पवान् स्तम्भितो भूत्॥

वीरमदेव के राज्यकाल के आठ शिलालेख प्राप्त हुए हैं। इनमें से दो तिथि-रहित हैं। एक तिथि-रहित शिलालेख मितावली के गोलमन्दिर के द्वार पर है जिसमें किसी देऊ के पुत्र बासू का उल्लेख है।[1] दूसरा तिथि-रहित शिलालेख मितावली के उक्त मन्दिर के पास शिला पर उत्कीर्ण है, जिसमें वीरमदेव को "तेजोरत्नम्" कहा गया है।[2]

तिथियुक्त शिलालेखों में एक गोपाचल गढ़ के त्रिकोनियाँताल पर वि० सं० १४६५ (सन् १४०८ ई०) का है।[3]

कुतवार-सुहानियाँ के अम्बिकादेवी के मन्दिर पर दो शिलालेख हैं, एक वि० सं० १४६२ (सन् १४०५ ई०) का है तथा दूसरा वि० सं० १४६७ (सन् १४१० ई०) का।[4]

एक शिलालेख सुहानियाँ की चैत्रनाथ की जैन मूर्ति पर वि० सं० १४६७ (सन् १४१० ई०) का है।[5]

वि० सं० १४७५ (सन् १४१८ ई०) का एक ताम्रलेख नरवर के बड़े जैन मन्दिर में है, जिसमें "महाराजाधिराज वीरमेन्द्र" तथा उनके मंत्री साधु कुशराज का उल्लेख है। यह ताम्रपत्र नरवर कैसे पहुँच गया, यह ज्ञात नहीं होता। परन्तु, उससे यह भी सिद्ध नहीं होता कि नरवर भी वीरम के अधीन था। श्री कुन्दनलाल जैन ने इस ताम्रपत्र के पाठ को जिस रूप में पढ़ा है, उसका सम्बन्धित अंश इस प्रकार है[6] —

> "सं० १४७५ आषाढ़ सुदी ५ गोपाद्रियम(हा)राजाधि—
> राज वीरमेन्द्र राज्ये श्री कर्षतां जनैः संघीद्र वंशे……
> साधु कुशराज भूदभार्ये रल्हो लक्ष्मणश्रियौ तत्पुत्रैः
> कल्याणमलंभुद्भार्ये धर्म की जयतम्हिदे इत्यादि
> परिवारेण समसं सा० कुशराजौ नित्यं यंत्रं
> प्रणमति।"

इस यन्त्रलेख से यह ज्ञात होता है कि वि० सं० १४७५ (सन् १४१८ ई०) में गोपाद्रि पर वीरमदेव तोमर का राज्य था।

वीरमदेव के ये शिलालेख यह प्रकट करते हैं कि उनका राज्य सन् १४०५ और १४१८ के बीच सुनिश्चित रूप में था, उनका राज्य मितावली और सुहानियाँ पर भी था, वह मितावली और सुहानियाँ के मंदिरों के पोषक थे, उनके समय में जैन-धर्म भी

---

१. आर्को० सर्वे० ऑफ इण्डिया, एनुअल रिपोर्ट ऑन इण्डियन एपीग्रेफी, १९६१-६२, क्र०, सी० १५४४।
२. वही, क्र०, सी० १५४९।
३. ग्वा० रा० अभि०. क्र० २४०; आर्को० सर्वे० रि०, भाग २, पृ० ३९६।
४. उक्त, सन् १९६१-६२ की रिपोर्ट, क्र० सी० १५८४।
५. आर्को० सर्वे रि०, भाग २, पृ० ३९६।
६ महावीर-जयन्ती-स्मारिका, खण्ड २, पृ० ४२।

उन्नति पर था, तथा हिन्दी भाषा भी अपना रूप निखार रही थी। हिन्दी भाषा के विकास के अध्ययन के लिए वीरमदेव का वि० सं० १४६२ का अम्बिकादेवी के मन्दिर का शिलालेख बहुत महत्वपूर्ण है।

साहित्य में उल्लेख

नयचन्द्र सूरि ने अपने हम्मीर महाकाव्य में यह उल्लेख किया है कि उसने इस ग्रन्थ की रचना 'तोमरवीरमक्षितिपति' के निर्देश पर की थी। परन्तु नयचन्द्र ने अपनी रचना का समय नहीं दिया है। इसी प्रकार पद्मनाभ कायस्थ ने अपना यशोधरचरित महाकाव्य वीरमदेव तोमर के मन्त्री कुशराज के आश्रय में लिखना कहा है; परन्तु, उसकी रचना की प्राप्त प्रतियों में भी रचनाकाल नहीं है।[1] इन दो ग्रन्थों के रचनाकाल का निर्धारण वीरमदेव के राज्यकाल के आधार पर अवश्य किया जा सकता है, तथापि उनके द्वारा वीरमदेव के राज्यकाल पर कोई प्रत्यक्ष प्रकाश नहीं पड़ता। उनमें उल्लिखित जैन भट्टारकों के समय अवश्य ज्ञात हैं, परन्तु उनके द्वारा वीरमदेव के समय का केवल मोटा अनुमान हो सकता है।

तथापि, ऐसे दो ग्रन्थ उपलब्ध हैं जिससे वीरमदेव के राज्यकाल के निर्धारण में सहायता मिलती है। आचार्य अमृतचन्द्र की 'तत्वदीपिका' की प्रतिलिपि गोपाद्रि में वि० सं० १४६९ (सन् १४१२ ई०) में की गई थी, उसमें तत्कालीन राजा वीरम का उल्लेख है। आमेर भण्डार में सुरक्षित अमरकीर्ति के षट्कर्मोपदेश की प्रतिलिपि वि० सं० १४७९ (सन् १४२२ ई०) में ग्वालियर में वीरम तोमर के राज्यकाल में उतारी गई थी।[2]

राज्यकाल

उद्धरणदेव के प्रसंग में यह उल्लेख किया जा चुका है कि वीरमदेव का राज्य कभी सन् १४०२ ई० में प्रारम्भ हुआ था। श्री कनिंघम ने वीरमदेव के उत्तराधिकारी गणपतिदेव का राज्यकाल सन् १४१९ ई० में प्रारम्भ होना लिखा है।[3] परन्तु, ऊपर के विवेचन से यह स्पष्ट है कि वीरमदेव का राज्यकाल सन् १४२२ ई० तक अवश्य चला था। वह कब तक चला था, यह भी सुनिश्चित रूप से कहा जा सकता है। वीरमदेव की मृत्यु सन् १४२३ ई० होशंगशाह से लड़ते हुए हुई थी। इस प्रकार वीरमदेव का राज्यकाल सन् १४०२ ई० से १४२३ ई० तक सुनिश्चित माना जा सकता है।

मुस्लिम सुल्तानों की स्थिति

तैमूर के आक्रमण के पश्चात् दिल्ली सल्तनत किस प्रकार छिन्न-भिन्न हो गई थी, इसका उल्लेख पहले किया चुका है। दिल्ली में तुगलुकों का राज्य जमा अवश्य था, परन्तु

---

१. पद्नाभ ने 'यशोधर चरित' सन् १४२० ई० के आसपास लिखा था। आगे 'वीरम का मन्त्री कुशराज' देखें।

२. जैन-ग्रन्थ-प्रशस्ति-संग्रह, प्रथम भाग, सम्पादक श्री जुगलकिशोर मुख्तार, (वीर-सेवा-मन्दिर दिल्ली), पृ० ६।

३. आर्कों०स०रि०, भाग २, पृ० ३८२।

वह वहुत संक्षिप्त था तथा उसके अधिकांश प्रान्तीय शासक स्वतन्त्र सुल्तान वन वैठे थे। तवकाते-अकवरी के अनुसार इनमें प्रत्येक स्वतन्त्र शासक वन गया और कोई भी एक दूसरे के अधीन न था।[1] तुर्क-साम्राज्य समाप्त हो गया, अव केवल तुर्क-राज्य शेष रह गए।

ग्वालियर के अतिरिक्त अनेक राजपूत राज्य भी इस समय अपनी स्वतन्त्र सत्ता घोषित कर सके। जब तक दिल्ली के सुल्तानों का भारतव्यापी प्रभाव था, इन राज्यों को एक ही शक्ति से निवटना पड़ता था, यद्यपि वह अत्यन्त शक्तिशाली थी। अव संघर्ष का स्वरूप बदल गया था। विभिन्न प्रान्तों के मुस्लिम सुल्तान आपस में भी लड़ते थे और उनमें जो प्रबल थे वे दिल्लीश्वर वनने के स्वप्न भी देखते थे। वे राजपूत राज्यों को भी आत्मसात् कर लेना चाहते थे। तथापि, उन्हें अपने आपसी विग्रहों में इन राज्यों से सहायता भी लेना पड़ती थी और शक्ति-संतुलन बनाए रखने के लिए कभी-कभी वे इनकी सहायता भी करते थे।

कालपी से संघर्ष

ग्वालियर के पूर्व में एक छोटी-सी सल्तनत कालपी में स्थापित हुई थी। इसके सर्वप्रथम दर्शन सन् १३८९ ई० में होते हैं। कालपी में नसीरुद्दीन संभवतः दिल्ली के तुगलुकों की ओर से शासन कर रहा था। तैमूर के आक्रमण के समय उसने अपने आपको स्वतन्त्र सुल्तान घोषित कर दिया। इस नवीन सल्तनत के वृत्तान्त का एकमात्र आधार मुहम्मद विहामिदखानी की तारीखे-मुहम्मदी है। विहामिदखानी कालपी के सुल्तानों की सेवा में ही था। कालपी के सुल्तानों को मुख्यतः हिन्दू राजाओं से संघर्ष करना पड़ा। वे ही उसकी पश्चिमी तथा उत्तरी सीमाओं को घेरे हुए थे। पूर्व में थी जौनपुर की सल्तनत, जिसकी अधीनता, अन्ततोगत्वा कालपी के सुल्तानों को स्वीकार करनी पड़ी।

सुल्तान नसीरुद्दीन ने कालपी के मन्दिरों को नष्ट कराकर उन्हें मस्जिदों में बदल दिया और उस नगर का नाम मुहम्मद साहव के शुभ नाम पर मुहम्मदावाद रखा और वहीं सिंहासनारूढ़ हुआ। उसने अपने छोटे भाई जुनैदखाँ को मुख्य वजीर के पद पर आसीन किया। नसीरुद्दीन ने सन् १४१० ई० तक राज्य किया।

कालपी के सुल्तान नसीरुद्दीन की दृष्टि सर्वप्रथम हमीरपुर पर पड़ी। वहाँ 'वहराज'[2] नामक हिन्दू राजा राज्य कर रहा था। तारीखे-मुहम्मदी के अनुसार वहराज ने "दीनता स्वीकार करते हुए क्षमायाचना की और आज्ञाकारिता स्वीकार करते हुए सुल्तान के परिजनों में सम्मिलित हो गया।"

अगला अभियान 'खोरा' के विरुद्ध हुआ। खोरा पर महोवा का वीरम वघेला राज्य कर रहा था। 'खोरा' को 'शम्शावाद' माना गया है। परन्तु, वास्तव में वह उससे कुछ मील

१. डा० रिजवी, उत्तर तैमूर कालीन भारत, भाग १, पृ० ५५।
२. वास्तविक नाम क्या है, इसका अनुमान करना कठिन है।

दूर स्थित था। वीरम वघेला की सहायता के लिए अनेक राजपूत राजा पहुँचे । वीरम वघेला पराजित होकर गढ़ के भीतर चला गया, परन्तु उसके साथी कुछ राजा पकड़े गए और नसीरुद्दीन ने "इस्लाम के तअस्सुव की दृष्टि से" उनकी हत्या करदी।[1] इसके पश्चात् वीरम वघेला और 'सिहिन्दाल' के राजा 'भीलम' की संयुक्त सेनाओं से नसीरुद्दीन का सामना हुआ। राजपूतों की सेना वहाँ से सिहिन्दाल चली गई, जहाँ घोर युद्ध हुआ। तारीखे-मुहम्मदी के अनुसार 'अन्त में समस्त काफिर पराजित तथा छिन्न-भिन्न हो गए और उनके लगभग एक हजार पदाती तथा अश्वारोही मार डाले गए । सुल्तान विजय तथा सफलता प्राप्त कर, लूट की धन-संपत्ति लिए हुए महोवा के क्षेत्र में पहुँचा और उस स्थान के निवासियों के दमन हेतु उसने एक भव्य तथा दृढ़ किले का निर्माण कराया'।[2]

तारीखे-मुहम्मदी के अनुसार उस समय सिहिन्दाल तथा समूनी पर हिन्दू राजा राज्य कर रहे थे । सिहिन्दाल का राजा भीलम अत्यन्त धन-सम्पन्न था। समूनी का राजा उस समय कल्याणशाह था । कुंदली, रजनास, मथुरा, कालिंजर तथा जितोरा[3] में भी हिन्दू राजा थे । तारीखे-मुहम्मदी के अनुसार इन सब ने नसीरुद्दीन की विजयी सेनाओं की अधीनता स्वीकार की । इस समय का अत्यधिक प्रवल राजा वघेला वीरम था और तारीखे-मुहम्मदशाही के अनुसार उसकी युद्ध की शक्ति तथा पौरुष की प्रसिद्धि निकट तथा दूर के स्थानों तक पहुँच चुकी थी । वीरम वघेला ने कड़ा पर आक्रमण कर दिया । नसीरुद्दीन ने दुहरा आक्रमण किया । वह स्वयं खोरा की ओर चला और जुनैदखाँ को कड़ा की ओर भेजा । वीरम वघेला का अभियान सफल न हो सका ।

नसीरुद्दीन ने प्रयाग और अरेल पर भी आक्रमण किया । तारीखे-मुहम्मदी से ज्ञात होता है कि प्रयाग में कुम्भ के मेले पर उसने आक्रमण कर दिया और अनेक यात्रियों को वन्दी वना लिया । निश्चित ही वहाँ लूट का माल भी वहुत मिला होगा ।

एरछ का युद्ध

एरछ पर कालपी के सुल्तान की ओर से सुलेमान नामक व्यक्ति शासन कर रहा था । उसने अपनी स्वतन्त्र सत्ता घोषित करदी तथा कुन्दाल में स्थित सुल्तानी सेनाओं को पराजित कर दिया । इस अभियान में सुलेमान ने सुमेरु चौहान तथा अन्य राजपूत राजाओं की सहायता माँगी । कालपी के सुल्तान ने मालवा के सुल्तान दिलावरखाँ गोरी से सहायता की याचना की।

सुलेमान की सहायता की याचना का पत्र पाकर सुमेरु समस्त वड़े-वड़े राज्यों एवं सामन्तों की सेना लेकर उसकी सहायता के लिए एरछ पहुँचा और वेतवा नदी के किनारे

१. डॉ० रिजवी, उत्तर तैमूर कालीन भारत, भाग २, पृ० २८ ।
२. वही, पृ० २९ ।
३. 'जितोरा' को डॉ० रिजवी ने 'चित्तोड़' से अभिन्न होने की संभावना प्रकट की है । यह असंभव है । जितोर वही है जिसे तारीखे-मुहम्मदी में आगे 'जथरा' लिखा है, जो मध्यप्रदेश के टीकमगढ़ जिले में स्थित वर्तमान 'जतारा' है । रिजवी साहव व्यर्थ ही एक और चित्तौड़-विजेता खड़ा कर देना चाहते हैं ।

पड़ाव डाला, जहाँ नसीरुद्दीन तथा दिलावरखाँ गोरी की संयुक्त सेनाओं से उसका सामना हुआ। सुल्तानों ने युद्ध प्रारम्भ न किया और इस बात की बाट देखने लगे कि विलम्ब के कारण शत्रु-पक्ष विचलित हो जाएगा। राजपूत सेना ने आक्रमण कर दिया। सुल्तानों की सेनाओं ने राजपूतों के अनेक सैनिक मार डाले "जिनके सिरों का एक 'भव्य चबूतरा' बनाया गया"।

जिस सुलेमान के कारण सुमेरु, सभी प्रमुख राजाओं के साथ, उस विग्रह में सम्मिलित हुआ था, उसने दूसरा ही मार्ग अपनाया। 'सूफी, आलिम और पवित्र लोगों' को बीच में डालकर उसने नसीरुद्दीन से संधि करली। वह मर गया या मार डाला गया और नसी-रुद्दीन ने सुलेमान के पुत्र को एरछ के इलाके का अधिकारी नियुक्त कर दिया। राजा सुमेरु और अन्य राजपूत राजाओं को अत्यधिक क्षति उठाकर एरछ से लौटना पड़ा। सुलेमान के पुत्र से नसीरुद्दीन ने एरछ का परगना भी छीन लिया।[1]

इटावा का सुमेरु चौहान इस समय राजपूत राजाओं की समरनीति का नेतृत्व कर रहा था। ऐरछ और इटावा के युद्धों ने सुमेरु के समर-कौशल को उभार दिया, परन्तु उसकी कूटनीति की विफलता को भी स्पष्ट कर दिया। राजपूत राजाओं में शौर्य तो था, परन्तु साथ ही उदारता, दया और शरणागत-प्रतिपालन के गुण या दुर्गण का भी अतिरेक था, जो तत्कालीन सुल्तानों की नीति के कारण उनकी पराजय और असफलता के कारण बन जाते थे।

इटावा और ग्वालियर पर आक्रमण

नसीरुद्दीन ने अपने राज्य की पुनर्व्यवस्था की और विभिन्न भागों में प्रशासक नियुक्त किए। इसके पश्चात् उसने इटावा और ग्वालियर की विजय के लिए प्रस्थान किया। पहले वह इटावा की ओर चला गया। सर्वप्रथम उसने 'कनार'[2] का विध्वंस किया। तदुपरान्त फफूँद तथा अन्दावा में नरसंहार किया। करहल और आंधन नामक स्थानों को नष्ट-भ्रष्ट करता हुआ वह इटावा पहुँचा। सुल्तान ने इटावा का किला घेर लिया; परन्तु, तारीखे-मुहम्मदी के अनुसार, "इस्लामी सेनाएँ असफल होकर कामीत और हथि-कांत की ओर लौट गईं और उपर्युक्त दोनों स्थानों को जो शत्रुओं के बहुत बड़े नगर हैं, नष्ट-भ्रष्ट कर दिया और उदयराज के भव्य भवन को नष्ट भ्रष्ट कर डाला।"[3] समर में सेनाओं से पराजित होने की खीझ नागरिकों की हत्या करके उतारी गई।

इसके पश्चात् ग्वालियर पर आक्रमण हुआ। तारीखे मुहम्मदी के अनुसार "वीरम-देव तोमर ने विवश होकर अधीनता स्वीकार करली और बादशाह ने कृपादृष्टि प्रदर्शित करते हुए उस मार्ग-भ्रष्ट समूह को क्षमा कर दिया और विजय तथा सफलता प्राप्त करके

१. डा० रिजवी, उत्तर तैमूर कालीन भारत, भाग २, पृ० ३०।
२. हमें खेद है कि हम इन स्थानों की वास्तविक स्थिति और यथार्थ नामों का पता नहीं लगा सके हैं।
३. डा० रिजवी, उत्तर तैमूर कालीन भारत, भाग २, पृ० ३२।

अपनी राजधानी चला आया।"[1] इटावा से लुटी-पिटी नसीरुद्दीन की सेना यह पराक्रम कर सकी होगी, यह अत्यन्त हास्यास्पद है। वीरम के समक्ष क्या 'विवशता' थी, विहामिदखानी ने स्पष्ट नहीं किया। कालपी के सुल्तानों के आश्रित तारीखे-मुहम्मदी के लेखक के इस कथन मात्र से वीरमदेव तोमर और ग्वालियर के नामे यह पराजय नहीं मढ़ी जा सकती।

इटावा का अगला संग्राम हुआ था एक हसनखाँ की संतानों के कारण। हसनखाँ नसीरुद्दीन का दरवारी था। हसनखाँ की मृत्यु के पश्चात् उसके पुत्र विद्रोही हो गए और उन्होंने शाहपुर के किले पर अधिकार कर लिया। नसीरुद्दीन ने उन्हें शाहपुर में पराजित कर दिया और शरण लेने के लिए वे राजा सुमेरु के पास इटावा चले गए। सुल्तान नसीरुद्दीन ने विशाल सेना लेकर इटावा की ओर प्रस्थान किया और यमुना के किनारे पड़ाव डाला। राजा सुमेरु भी सेना लेकर यमुना की ओर चला। दोनों सेनाओं में घमासान युद्ध हुआ, और अत्यधिक रक्तपात के पश्चात् सुमेरु इटावा की ओर लौट आया और उसने किले में प्रवेश किया। सुल्तान ने किले को घेर लिया। इसी वीच वर्षा ऋतु आ गई और सुल्तान ने घेरा छोड़कर कनार नामक स्थान पर डेरा डाला। यहीं नसीरुद्दीन की सन् १४१० ई० में मृत्यु हो गई। उसकी लाश कालपी ले जाई गई। संघर्ष का एक चरण समाप्त हुआ और नसीरुद्दीन के उत्तराधिकारी कादिरखाँ के साथ कालपी से संघर्ष का दूसरा चरण प्रारम्भ हुआ।

कादिरखाँ से युद्ध

कादिरखाँ ने सन् १४१० में कालपी की सल्तनत सँभाली। उसका एक भाई मुहम्मदखाँ था। उसने प्रारम्भ में विद्रोह किया, परन्तु जुनैदखाँ ने उसे दवा दिया और भांडेर का प्रशासक नियुक्त कर दिया। इसके पश्चात् कादिरखाँ ने अपने पिता की मृत्यु का वदला लेने के लिए इटावा और ग्वालियर पर आक्रमण करने की योजना वनाई।

यद्यपि कादिरखाँ हाल में ही सुल्तान वना था, तथापि उसका मुख्य वजीर जुनैदखाँ उसके पिता के समय से सल्तनत का कार्य देख रहा था। उसी के संकेत पर कादिरखाँ भारी सेना लेकर इटावा की ओर चला। जैसे ही उसने यमुना पार की, इटावा की सेना ने उस पर आक्रमण कर दिया। वहुत समय तक घोर युद्ध होता रहा। तारीखे-मुहम्मदी के अनुसार, "अन्त में इस्लामी सेना काफिरों द्वारा पराजित हुई और कुछ वड़े-वड़े अमीर मार डाले गए।"[2] कादिरखाँ पराजित होकर कालपी लौट गया।

सुमेरु ने वड़े-वड़े राजपूत राज्यों के राजाओं और सामन्तों सहित कालपी पर आक्रमण कर दिया, परन्तु जुनैदखाँ के चातुर्य के कारण वे कालपी-विजय न कर सके। यद्यपि तारीखे-मुहम्मदी के अनुसार सुमेरु पराजित हुआ था, परन्तु वास्तविकता यह ज्ञात

---

१. डा० रिजवी, उत्तर तैमूर कालीन भारत, भाग २, पृ० ३२।

२. वही, पृ० ३५।

होती है कि जुनेद ने कादिरखाँ की सुमेरु के साथ संधि करादी थी, क्योंकि कुछ समय पश्चात् ही कादिरखाँ सुमेरु के आह्वान पर सेना सहित 'भिनुगांव' में सेना लेकर पहुँचा था। इसी बीच जौनपुर के सुल्तान ने कालपी पर आक्रमण कर दिया और सुमेरु भी कादिरखाँ की सहायता करने के लिए कालपी की ओर रवाना हुआ।

सुमेरु के इस कालपी-अभियान में सहायता करने के लिए वीरमदेव तोमर भी गए थे। परन्तु मार्ग में एरछ के प्रबन्धक बिहामद ने उनका सामना किया। वीरम कालपी की ओर न बढ़ सके और ग्वालियर लौट आए।[1]

जौनपुर और कालपी के विग्रह में सुमेरु ने कादिरखाँ का पक्ष कालपी में हुई संधि के कारण ही नहीं दिया होगा। उनकी धारणा यह भी रही होगी कि इस संघर्ष में सुल्तानों की शक्ति का ह्रास हो जाएगा और राजपूतों को कालपी की ओर बढ़ने का अवसर मिलेगा। परन्तु यह उनका भ्रम था। जौनपुर के सुल्तान ने "ईश्वर के भय तथा इस्लाम की आवश्यकताओं पर दृष्टि रखते हुए युद्ध न करने का निश्चय कर लिया और शत्रुता के स्थान पर (कालपी के सुल्तान से) मित्रता करने का संकल्प कर लिया।"[2]

इस संघर्ष में कालपी ने जौनपुर की अधीनता स्वीकार करली, उस इतिहास से हमारा यहाँ संबध नहीं है। वीरमदेव तोमर के इतिहास के प्रसंग में केवल एक घटना शेष रह जाती है।

राय तास और सातन

कादिरखाँ ने समूनी और सहिंदना के हिन्दू राज्यों के विध्वंस के हेतु प्रस्थान किया। वह उन राज्यों के क्षेत्रों को तहस-नहस करने लगा। समूनी और सरहिन्दना के राजाओं की सहायता के लिए राय "तास" पहुँचा। कादिरखाँ के मुख्य वजीर मुबारकखाँ की सेना से राय "तास" का सामना हुआ। घोर युद्ध हुआ और सुल्तान की सेना पराजित होकर भाग गई। वजीर ने पुनः सेना संगठित की। इस बीच कादिरखाँ ने इटावा के राजा सुमेरु और ग्वालियर के वीरमदेव तोमर को सहायता के लिए बुलाया। इस संयुक्त सेना के पहुँचने पर राय "तास" ने विजय की आशा छोड़ दी और अपने पुत्र "सातन" को अत्यधिक उपहार देकर सुल्तान के पास भेजा और संधि करली। राय "तास" की विजय को सुमेरु और वीरम ने व्यर्थ कर दिया। इस राय का राज्य कहाँ था, इसका उल्लेख तारीखे-मुहम्मदी में नहीं है। परन्तु, साधन के मैनासत में 'नगर के धूर्त' के रूप में सातन के दर्शन अवश्य होते हैं, जो ग्वालियर से पूर्व दिशा के किसी प्रदेश का राजा था। सातन का उल्लेख जिस प्रकार मैनासत में हुआ है, उससे उसके ग्वालियर से विरोध का आभास मिलता है।[1]

दिल्ली से संघर्ष

तैमूर से परास्त होकर अन्तिम तुगलुक सुल्तान नसीरुद्दीन मुहम्मद गुजरात की ओर

१. डॉ० रिजवी, उत्तर तैमूर कालीन भारत, भाग २, पृ० ४४।
२. वही, पृ० ३७।

भागा था और उसका प्रधान मंत्री मल्लू इकबाल बुलन्दशहर (प्राचीन वरना) की ओर। तीन मास तक दिल्ली सुल्तान-विहीन रही। सुल्तान फीरोज का पौत्र नुसरतशाह दिल्ली के सिंहासन का दावेदार था और उसे तैमूर के आक्रमण के पूर्व नसीरुद्दीन ने मार भगाया था। तैमूर के दिल्ली छोड़ने के पश्चात् वह पुनः दिल्ली लौट आया और सुल्तान बन बैठा। परन्तु, मल्लू इकवाल ने उसे पुनः परास्त किया और भगा दिया। सन् १४०१ ई० में मल्लू ने फिर नसीरुद्दीन मुहम्मद को बुला लिया और उसे नाममात्र का सुल्तान बना कर स्वयं राज्य करने लगा।

मल्लू इकबाल से टक्करें

मल्लू इकवाल ने ग्वालियर पर पहला आक्रमण नवम्वर-दिसम्वर १४०२ ई० में किया था। वीरम ने उसका दृढ़ता से सामना किया और मल्लू इकवाल पराजित हुआ। तारीखे-मुवारकशाही तथा तवकाते-अकवरी के लेखकों ने इस पराजय का कारण गढ़ की अत्यधिक दृढ़ता लिखा है। पराजित होकर भी मल्लू इकवाल लौटते समय तोमरों के इलाके को नष्ट करता गया। अगली वर्ष मल्लू ने पुनः ग्वालियर की ओर कूच किया। इस वार वीरम ने धौलपुर में उसका सामना किया। धौलपुर का किला अधिक टिक न सका, अतएव, वीरम वहाँ विजयी न हो सके और ग्वालियर लौट आए। ग्वालियर में पुनः युद्ध हुआ और यहाँ मल्लू पराजित होकर लौट गया।

मल्लू इकवाल ने पुनः एक वार इस ओर के राजपूतों को परास्त करने के प्रयास किए। सन् १४०४ ई० में वह ग्वालियर की ओर न आकर इटावा की ओर वढ़ा। मल्लू के प्रतिरोध के लिए राय सुमेरु ने अन्य राजपूत राज्यों से भी सहायता ली। ग्वालियर से वीरम तोमर गए, जालहर के राय तथा अन्य राजा भी पहुँचे। इटावा के गढ़ को मल्लू ने घेर लिया। चार मास तक युद्ध चलता रहा। तारीखे-मुवारकशाही का कथन है कि वीरम तोमर ने चार हाथी देकर मल्लू इकवाल से सन्धि करली। परन्तु, तवकाते-अकवरी में इस सन्धि का विवरण दूसरे ही रूप में दिया गया है—"अन्त में उन्होंने इस शर्त पर संधि कर ली कि वे प्रत्येक वर्ष चार हाथी तथा जो धन ग्वालियर का राय देहली के हाकिम को भेजा करता था, भेजा करेंगे।"[1] ये कथन वड़े विचित्र ज्ञात होते हैं। आक्रमण हुआ था इटावा पर और अन्त में सन्धि हुई ग्वालियर के साथ। तारीखे-मुवारकशाही का लेखक यहया वीरमदेव के समकालीन था, उसने केवल ४ हाथी दिला कर संधि करा दी और परवर्ती इतिहास लेखक निजामुद्दीन ने ग्वालियर पर 'वहुत पुरानी धन देने की विवशता' आरोपित कर दी। कथन कुछ वेतुके हैं, परन्तु फारसी में लिखे मिले हैं; अतएव आधुनिक इतिहास में भी माने गए हैं,[2] विना इस वात पर विचार किए कि मल्लू ने अथवा उसके किसी पूर्ववर्ती सुल्तान ने वीरम, उद्धरण या वीरसिंह, किसको, कव और कहाँ पराजित किया था ?[3]

१. डॉ० रिजवी, उत्तर तैमूर कालीन भारत, भाग १, पृ० ५८।
२. मध्यप्रदेश डिस्ट्रिक्ट गजेटियर, ग्वालियर, पृ० २२।
३. प्राध्यापक मुहम्मद हवीव इस विषय में तारीखे-मुवारकशाही और तवकाते-अकवरी के कथन सत्य नहीं मानते। ए कम्प्रहैन्सिव हिस्ट्री आफ इण्डिया, भाग ५, पृष्ठ ६२७।

खिज्रखाँ के आक्रमण

मल्लू इकबाल को खिज्रखाँ ने मुल्तान में मार डाला। सन् १४१४ ई० में खिज्रखाँ ने दिल्ली की सल्तनत अपने कब्जे में ले ली। अब मुल्तान, पंजाब और सिन्ध भी दिल्ली सल्तनत में मिल गए और वह अत्यन्त शक्तिशाली हो गई। सन् १४१४ ई० में खिज्रखाँ का वजीर या सेनापति ताजुल-मुल्क विशेष रूप से राजपूत राजाओं के दमन के लिए निकला। तबकाते-अकबरी के अनुसार, सबसे पहले उसका मुकाबला कटिहार के राजा हरसिंह से हुआ। राजा हरसिंह ने दिल्ली की अधीनता स्वीकार कर ली और कर देना स्वीकार कर लिया। इसके पश्चात् 'शम्शाबाद (खोरा) के काफिरों को दण्ड दिया गया' तथा ग्वालियर, रापरी तथा चन्दवार[1] के राजाओं ने भी मालगुजारी अदा करना स्वीकार कर लिया। उसने जलेसर के कस्बे को चन्दवार के राजपूतों से लेकर उसे उस कस्बे के प्राचीन मुसलमानों[2] को दे दिया। तारीखे-मुबारकशाही के अनुसार इसके बाद ताजुल-मुल्क काली नदी के किनारे होता हुआ "इटावा के काफिरों को दण्ड देकर दिल्ली की ओर लौट गया।" परन्तु तबकाते-अकबरी के अनुसार जलेसर का कस्बा चन्दवार के राजपूतों से लेकर ताजुल-मुल्क ग्वालियर की विलायत (प्रदेश) में पहुँचा और उसे नष्ट कर दिया।

इन दोनों इतिहास ग्रन्थों में तारीखे-मुबारकशाही समकालीन कृति है, तबकाते-अकबरी सन् १५९२ ई० में लिखी गई। किसका कथन माना जाए? संभव है, दोनों ठीक हों। संभव है, ग्वालियर का इलाका दो बार लूटा गया हो; संभव है, एक बार भी न लूटा गया हो।

सन् १४१६ ई० में स्वयं खिज्रखाँ ने ग्वालियर पर आक्रमण किया। तारीखे-मुबारकशाही के अनुसार सुल्तान ने ग्वालियर गढ़ घेर लिया, परन्तु उसके किले के अत्यधिक दृढ़ होने के कारण वह विजयी न हो सका। फिर भी, तारीखे-मुबारकशाही के लेखक यहया ने लिखा है, "ग्वालियर के राय (वीरम) से निश्चित कर लेकर रायाते-आला खिज्रखाँ लौट गए।" समर में विजयी हुए वीरमदेव और कर मिल गया 'रायाते-आला' को! यह 'कर' निश्चित कब हुआ था? 'निश्चित कर लेने-देने' के यहया के इस कथन पर टिप्पणी व्यर्थ

---

१. चन्दवार का प्राचीन नाम 'चन्द्रपाट' या 'चन्द्रवाड' मिलता है। आमेर भण्डार में प्राप्त कवि धनपाल की रचना बाहुबलि-चरित से यह प्रकट होता है कि वि० सं० १४५४ (सन् १३७९ ई०) में चन्दवाड नगर पर चौहान राजा रामचन्द्र राज्य कर रहा था। इसी प्रकार नागौर के भट्टारकीय शास्त्र-भण्डार में सुरक्षित अमरकीर्ति के षटकर्मोपदेश की वि० सं० १४६८ (सन् १४११ ई०) की प्रतिलिपि से ज्ञात होता है कि उस समय भी चन्द्रपाट-चन्द्रवाड नगर में राजा रामचन्द्र राज्य कर रहा था। सन् १३९२-१३९३ में चन्दवार का राजा अभयचन्द्र चौहान था। रइधू ने पुण्णासव-कहा-कोस में चन्द्रवाड़ के राजा प्रतापरुद्र का उल्लेख किया है। ज्ञात होता है कि सन् १४१४ ई० में इसी प्रतापरुद्र चौहान से ताजुल-मुल्क ने जलेसर छीन लिया था।

२. ये 'प्राचीन मुसलमान' वे हैं जो उत्तर भारत के प्रमुख नगरों में तुर्कों की भारत विजय के पहले से बसे हुए थे।

है। मध्ययुग के इतिहास इसी प्रकार लिखे जाते थे। पद्मनाभ के 'विगतरिपुभयं' को असत्य मान कर यहया को सत्य माना जाए, उसके लिए कुछ ठोस आधार चाहिए। यहया का यह कथन कि 'सुलतान सफल न हो सका', पद्मनाभ का समर्थन करता है।

राय सुमेरु की मृत्यु

सन् १४२० ई० में खिज्रखाँ ने ताजुल-मुल्क को इटावा जीतने के लिए भेजा। राजा सुमेरु ने गढ़ के भीतर रह कर युद्ध किया। कुछ समय पश्चात् दोनों दलों में संधि हो गई।[1] इटावा से लौटते समय ताजुल-मुल्क ने चन्दवार के चौहान राज्य पर आक्रमण किया तथा कटिहार के राजा हरसिंह को भी पराजित किया।[2] इसी वर्ष इटावा के राजा सुमेरु चौहान की मृत्यु हो गई। इस क्षेत्र के राजपूत राजाओं के लिए, और विशेषतः ग्वालियर के लिए, यह बहुत चिन्ताजनक घटना थी। राजा सुमेरु दिल्ली के ग्वालियर-अभियानों के मार्ग में ढाल बने हुए थे और इस क्षेत्र के समस्त राजपूत राजा उनके नेतृत्व में सुल्तानों का सामना करते थे।

खिज्रखाँ की पराजय—ताजुल-मुल्क का वध

राजा सुमेरु की मृत्यु के पश्चात् रायाते-आला खिज्रखाँ और उनके वजीर ताजुल-मुल्क, दोनों ने जनवरी सन्१४२१में इस ओर के राजपूत राज्यों को समाप्त करने के लिए आक्रमण प्रारंभ किया। कोटले में मेवों को पराजित करने के पश्चात् रायाते-आला की सेना ग्वालियर पहुँची। ग्वालियर के साथ हुए युद्ध के विषय में तारीखे-मुबारकशाही तथा तबकाते-अकबरी, दोनों में कुछ अस्पष्ट और भ्रामक कथन किए गए हैं। तारीखे-मुबारकशाही में लिखा है, "रायाते-आला ने कोटला नष्टभ्रष्ट कर दिया। तदुपरान्त उसने ग्वालियर की ओर प्रस्थान किया। इसी युद्ध में मलिक ताज की मृत्यु हो गई। विलायत का पद मलिकुश्शर्क मलिक सिकन्दर को, जो उसका ज्येष्ठ पुत्र था, प्रदान कर दिया गया। जब रायाते-आला ग्वालियर क्षेत्र में पहुँचा तो ग्वालियर के राय ने किले को बन्द कर लिया। रायाते-आला उसकी विलायत को नष्ट-भ्रष्ट करके उससे कर तथा उपहार वसूल करके इटावा की ओर पहुँचा।" तबकाते-अकबरी में इस प्रसंग में लिखा है, "खिज्रखाँ किले का विनाश करके ग्वालियर की ओर चला गया। ८ मुहर्रम ८२४ हि० (१३ जनवरी १४२१ ई०) को ताजुल-मुल्क की मृत्यु हो गई।" शेष विवरण तारीखे-मुबारकशाही के समान है। इन कथनों से घटनाक्रम यह ज्ञात होता है कि खिज्रखाँ तथा ताजुल-मुल्क ग्वालियर मे पूर्णतः पराजित हुए और उस युद्ध में ताजुल-मुल्क मारा गया तथा खिज्रखाँ अपने वजीर को खोकर लौटने के लिए विवश हुआ। "उपहार और कर वसूल" करने की बात तो सुल्तानों के इन इतिहास-लेखकों को गीत के ध्रुवक के समान प्रत्येक युद्ध के परिणाम के साथ जोड़ देने की रूढ़ि थी। वास्तव में, वीरमदेव की यह अत्यन्त गौरवशाली विजय थी। इस महान

१. डा० रिजवी, उत्तर तैमूर कालीन भारत, भाग १, पृ० १७।
२. कटिहार के हरसिंह के विवरण के लिए लेखक की पुस्तक 'महाकवि विष्णुदास कृत महाभारत, की भूमिका पृष्ठ ७०-७१ देखें।

विजय को दृष्टि में रख कर ही मित्रसेन के शिलालेख में लिखा गया है, "श्रुत्वायद्वीरभावं सुरपतिरधिकं कम्पवान् स्तम्भितो भूत् ।"

ग्वालियर में पराजित होकर खिज्रखाँ इटावा की ओर रवाना हुआ। वहाँ सुमेरु के देहावसान के कारण स्थिति दृढ़ नहीं थी। इटावा के नये राजा ने सन्धि करना ही उचित समझा और खिज्रखाँ की अधीनता स्वीकार कर ली। परन्तु, दिल्ली पहुँचने पर २० मई १४२१ ई० को खिज्रखाँ की मृत्यु हो गई।

खिज्रखाँ के पश्चात् उसका पुत्र मुबारकशाह दिल्ली का सुल्तान बना। इटावा के राजा सुमेरु का पुत्र खिज्रखाँ से सन्धि करके उसके साथ ही दिल्ली चला गया था। परन्तु, उसकी अन्तरात्मा उसे कचोटती रही और वह दिल्ली से भाग कर पुनः इटावा आ गया।

नमक की पहाड़ियों के गक्खरों (खोखरों) के राजा जसरथ (यशरथ या दशरथ) ने दिल्ली-विजय का निश्चय किया। जम्मू के राजा भीम ने मुबारकशाह का पक्ष लिया। यशरथ (जसरथ) ने भीम को पराजित कर उसकी हत्या कर दी। अनेक स्थलों पर अनेक युद्धों के पश्चात् मुबारकशाह यशरथ (जसरथ) से निपट कर इटावा की ओर चला। सन् १४२२ ई० में सुमेरु के पुत्र ने मुबारक से पुनः सन्धि करली और उसे कर (खिराज) देना स्वीकार कर लिया।

ग्वालियर, मालवा और दिल्ली

वीरमदेव के राज्यकाल की अत्यन्त महत्वपूर्ण घटना है मालवा के सुल्तान होशंगशाह गोरी का ग्वालियर पर आक्रमण। सन् १४०६ ई० में दिलावरखाँ गोरी ने धार में अपनी राजधानी बनाकर मालवा में गोरीवंश की स्वतन्त्र सल्तनत स्थापित की थी। उसके पुत्र अलपखाँ ने उसे विष देकर मार डाला और वह होशंगशाह के नाम से मालवा का सुल्तान बन गया। इस पितृहन्ता को दण्ड देने के लिए गुजरात के सुल्तान मुजफ्फरशाह ने धार पर आक्रमण किया और उसे बन्दी बना लिया तथा उसके भाई नसीरखाँ को सुल्तान बना दिया। परन्तु, नसीरखाँ के दुर्व्यवहार के कारण मालवा के सुल्तान की सेना ने विद्रोह कर दिया और उसे मालवे से निकाल दिया। सेना ने धार के बजाए माण्डू को राजधानी बनाया और होशंगशाह के चचेरे भाई मूसाखाँ को सुल्तान बनाया। होशंगशाह ने गुजरात के सुल्तान से अनुनय-विनय की और मुजफ्फरशाह ने इस धूर्त पितृहन्ता को मुक्त कर दिया और अपने पुत्र शाहजादा अहमदशाह के साथ उसे मालवे की सल्तनत पर आसीन करने के लिए भेज दिया। गुजरात के सुल्तान के निर्देशों के अनुसार शासन करने का वचन देकर वह पुनः मालवे का सुल्तान बना। इसके पश्चात् ही गुजरात के सुल्तान मुजफ्फरशाह का देहान्त हो गया। होशंगशाह ने सर्व-प्रथम अपने उपकारक गुजरात के सुल्तान के राज्य पर ही अनेक आक्रमण किए। परन्तु, नवीन सुल्तान अहमदशाह ने उसके आक्रमणों को विफल कर दिया। गुजरात की ओर से प्रताड़ित होकर होशंगशाह ने दिल्ली का सुल्तान

बनने का विचार किया। दिल्ली-विजय के लिए ग्वालियर गढ़ हस्तगत करना आवश्यक था, अतएव, सन् १४२३ ई० में होशंगशाह ने ग्वालियर गढ़ घेर लिया। गोपाचल एक मास तक इस आक्रान्ता का प्रतिरोध करता रहा।

दिल्ली के सुल्तान मुवारकशाह को होशंगशाह गोरी की गतिविधियों का समाचार मिला, तव वह इस आततायी की दिल्ली-विजय की महत्वाकांक्षा को समाप्त करने के लिए व्यग्र हो गया। बहुत शक्तिशाली सेना लेकर वह होशंगशाह के प्रतिरोध के लिए बयाना के मार्ग से चल दिया। जव होशंगशाह को यह समाचार मिला, तव वह ग्वालियर का घेरा छोड़कर चम्वल के किनारे दिल्ली की सेना का प्रतिरोध करने के लिए पहुंच गया। उसने चम्बल-तट पर पड़ाव डाल कर घाट रोक लिया। मुवारकशाह ने अचानक दूसरे घाट से नदी पार करली, और दिल्ली की सेना के अग्रिम भाग ने होशंगशाह के शिविर को नष्ट कर दिया और अनेक अश्वारोही तथा पदाती बन्दी वना लिए। मुवारकशाह ने "दोनों पक्षों के मुसलमान होने के कारण" उन्हें क्षमा कर दिया और सबको मुक्त कर दिया। दूसरे दिन होशंगशाह ने मुवारकशाह से सन्धि करने का प्रस्ताव किया और अत्यधिक दीनता एवं व्याकुलता प्रदर्शित की। मुवारकशाह ने "इस्लाम के विरुद्ध कुछ करने को निषिद्ध समझ कर" इस शर्त पर सन्धि कर ली कि होशंगशाह कर प्रस्तुत करे और ग्वालियर क्षेत्र को छोड़ कर चला जाए। दूसरे दिन होशंगशाह ने कर का धन दिया और निरन्तर कूच करता हुआ धार की ओर चला गया।[1]

निजामुद्दीन अहमद ने तवकाते-अकवरी में इस घटना का वर्णन दो प्रकार से किया है। दिल्ली के सुल्तानों के इतिहास लिखने के प्रसंग में उसने इस घटना को उसी प्रकार लिखा है, जैसा तारीखे-मुवारकशाही में यहया ने लिखा है।[2] परन्तु, जव निजमुद्दीन अहमद ने उसी पुस्तक में आगे मालवा के गोरी सुल्तानों का इतिहास लिखा, तव उसने इस घटना को दूसरे रूप में लिखा।[3] यहाँ उसने लिखा है कि जब होशंगशाह को यह समाचार प्राप्त हुआ कि मुवारकशाह की सेना आ रही है, तो वह किले का आक्रमण त्याग कर उसके स्वागतार्थ धौलपुर की नदी के तट पर पहुँचा। कुछ दिन उपरान्त दोनों में सन्धि हो गई। उन्होंने निश्चय किया कि सुल्तान ग्वालियर की विजय का विचार अपने मस्तिष्क से निकाल दे, और दोनों एक दूसरे के पास पेशकश भेजकर अपनी-अपनी राजधानी को लौट गए।

घटनाक्रम का यह परिवर्तन महत्वपूर्ण है और इन इतिहासकारों के 'इतिहास' लिखने के उद्देश्य और प्रणाली पर प्रकाश डालता है। जिस सुलतान का विवरण लिखा जाए उसकी पराजय का उल्लेख नहीं किया जाए, यह इनका प्रथम अटल नियम है। जव निजा-मुद्दीन दिल्ली के सुल्तान का इतिहास लिख रहे थे, तव उसे होशंग को पराजित करते

१. डॉ० रिजवी, उत्तर तैमूर कालीन भारत, भाग १, पृ० २८।
२. वही, पृष्ठ ७२।
३. वही, पृ० ५८।

हुए दिखाया गया और जब होशंगशाह का इतिहास लिखने लगे, तब अपने कथा-नायक की पराजय को मैत्री में बदल दिया। परन्तु, ज्ञात होता है कि यहया का वृत्तान्त ही सत्य के निकट है और निश्चित ही होशंगशाह को चम्बल के घाट पर पराजय ही हाथ लगी थी।[1] विग्रह का कारण भी दिल्ली की ग्वालियर पर कृपा होना नहीं था, उस गैर-इस्लामी राज्य पर कृपा करने का प्रश्न ही उपस्थित नहीं होता; संघर्ष का कारण था-होशंगशाह की दिल्ली-विजय की आकांक्षा। यदि ग्वालियर पर होशंगशाह का अधिकार हो जाता, तब उसका दिल्ली का मार्ग प्रशस्त हो जाता और दिल्ली की अस्त-व्यस्त सल्तनत संकट में पड़ जाती। वीरमदेव को आत्मरक्षा के लिए मुबारकशाह की सहायता की आवश्यकता नहीं थी; उसने एक मास होशंग का प्रतिरोध किया था, और भी कर लेता। आश्चर्य यही है कि 'इस्लाम के विरुद्ध कुछ न करने के नियम के अनुसार' होशंग और मुबारक ने संयुक्त रूप से ग्वालियर पर आक्रमण नहीं किया; यह इस कारण संभव नहीं हो सका कि होशंग जैसे विश्वासघाती व्यक्ति का मुबारकशाह विश्वास नहीं कर सकता था।

लक्ष्मीसेन (१४२३ ?)

खड्गराय ने गोपाचल-आख्यान में वीरमदेव के उपरान्त ग्वालियर का तोमर राजा लक्ष्मीसेन बतलाया है और उसके पश्चात् गणपतिदेव का नाम दिया है —

तिनिके उधरनद्यो नृप आहि। तिनकी उपमा दीजै काहि
तिनिके घी(वी)रमद्यो बलवंड। तिनकी कीरत चलि नौ खंड।
तिनिके लक्ष्मीसेन नरेस। खांडेवर लीने बहु देस॥
तिनिके गनपतिद्यो अतिधीर। जिनि भुजबल जीते बहु वीर॥

परन्तु, मित्रसेन और संग्रामसिंह के शिलालेखों में लक्ष्मीसेन का उल्लेख नहीं है। तोमरों के इतिहास के विषय में, विशेषत: ग्वालियर के तोमरों के विषय में, खड्गराय से भूलें नहीं हुई हैं। ज्ञात यह होता है कि सन् १४२३ ई० के घेरे में, होशंगशाह से गढ़ की रक्षा करते समय, वीरमदेव की मृत्यु हो गई और उसके पश्चात् ही उसके भाई या पुत्र ने युद्ध का संचालन किया। उसका विधिवत् राज्याभिषेक नहीं हो सका और वह भी मारा गया। आक्रमण का संकट टल जाने के पश्चात् गणपतिदेव राज्यसिंहासन पर बैठे। इस अनुमान की पुष्टि केवल स्थापत्य से जुड़ी हुई एक अनुश्रुति से होती है। ज्ञात यह होता है कि लक्ष्मणपौर का नाम लक्ष्मीसेन के शौर्य की स्मृति में रखा गया होगा। श्री कनिंघम का कथन है कि वीरसिंहदेव के २० राजकुमार थे, जिनमें से एक लक्ष्मणसिंह था, जिसे पहाड़गढ़ का सामन्त बना दिया गया था।[2] खड्गराय का 'लक्ष्मीसेन' यही 'लक्ष्मण सिंह' है।

---

१. इसे आधुनिक इतिहासकार प्रो० निजामी ने भी माना है। देखिए, ए कम्प्रहेन्सिव हिस्ट्री ऑफ इण्डिया, भाग ५, पृ० ६४६।
२. आर्की० सर्वे० रि०, भाग २, पृ० ३३६

बनने का विचार किया। दिल्ली-विजय के लिए ग्वालियर गढ़ हस्तगत करना आवश्यक था, अतएव, सन् १४२३ ई० में होशंगशाह ने ग्वालियर गढ़ घेर लिया। गोपाचल एक मास तक इस आक्रान्ता का प्रतिरोध करता रहा।

दिल्ली के सुल्तान मुबारकशाह को होशंगशाह गोरी की गतिविधियों का समाचार मिला, तब वह इस आततायी की दिल्ली-विजय की महत्वाकांक्षा को समाप्त करने के लिए व्यग्र हो गया। बहुत शक्तिशाली सेना लेकर वह होशंगशाह के प्रतिरोध के लिए बयाना के मार्ग से चल दिया। जब होशंगशाह को यह समाचार मिला, तब वह ग्वालियर का घेरा छोड़कर चम्बल के किनारे दिल्ली की सेना का प्रतिरोध करने के लिए पहुंच गया। उसने चम्बल-तट पर पड़ाव डाल कर घाट रोक लिया। मुबारकशाह ने अचानक दूसरे घाट से नदी पार करली, और दिल्ली की सेना के अग्रिम भाग ने होशंगशाह के शिविर को नष्ट कर दिया और अनेक अश्वारोही तथा पदाती बन्दी बना लिए। मुबारकशाह ने "दोनों पक्षों के मुसलमान होने के कारण" उन्हें क्षमा कर दिया और सबको मुक्त कर दिया। दूसरे दिन होशंगशाह ने मुबारकशाह से सन्धि करने का प्रस्ताव किया और अत्यधिक दीनता एवं व्याकुलता प्रदर्शित की। मुबारकशाह ने "इस्लाम के विरुद्ध कुछ करने को निषिद्ध समझ कर" इस शर्त पर सन्धि कर ली कि होशंगशाह कर प्रस्तुत करे और ग्वालियर क्षेत्र को छोड़ कर चला जाए। दूसरे दिन होशंगशाह ने कर का धन दिया और निरन्तर कूच करता हुआ धार की ओर चला गया।[1]

निजामुद्दीन अहमद ने तबकाते-अकबरी में इस घटना का वर्णन दो प्रकार से किया है। दिल्ली के सुल्तानों के इतिहास लिखने के प्रसंग में उसने इस घटना को उसी प्रकार लिखा है, जैसा तारीखे-मुबारकशाही में यहया ने लिखा है।[2] परन्तु, जब निजमुद्दीन अहमद ने उसी पुस्तक में आगे मालवा के गोरी सुल्तानों का इतिहास लिखा, तब उसने इस घटना को दूसरे रूप में लिखा।[3] यहाँ उसने लिखा है कि जब होशंगशाह को यह समाचार प्राप्त हुआ कि मुबारकशाह की सेना आ रही है, तो वह किले का आक्रमण त्याग कर उसके स्वागतार्थ धौलपुर की नदी के तट पर पहुँचा। कुछ दिन उपरान्त दोनों में सन्धि हो गई। उन्होंने निश्चय किया कि सुल्तान ग्वालियर की विजय का विचार अपने मस्तिष्क से निकाल दे, और दोनों एक दूसरे के पास पेशकश भेजकर अपनी-अपनी राजधानी को लौट गए।

घटनाक्रम का यह परिवर्तन महत्वपूर्ण है और इन इतिहासकारों के 'इतिहास' लिखने के उद्देश्य और प्रणाली पर प्रकाश डालता है। जिस सुल्तान का विवरण लिखा जाए उसकी पराजय का उल्लेख नहीं किया जाए, यह इनका प्रथम अटल नियम है। जब निजामुद्दीन दिल्ली के सुल्तान का इतिहास लिख रहे थे, तब उसे होशंग को पराजित करते

१. डॉ० रिजवी, उत्तर तैमूर कालीन भारत, भाग १, पृ० २८।
२. वही, पृष्ठ ७२।
३. वही, पृ० ५८।

हुए दिखाया गया और जब होशंगशाह का इतिहास लिखने लगे, तब अपने कथा-नायक की पराजय को मैत्री में बदल दिया। परन्तु, ज्ञात होता है कि यहया का वृत्तान्त ही सत्य के निकट है और निश्चित ही होशंगशाह को चम्बल के घाट पर पराजय ही हाथ लगी थी।[1] विग्रह का कारण भी दिल्ली की ग्वालियर पर कृपा होना नहीं था, उस गैर-इस्लामी राज्य पर कृपा करने का प्रश्न ही उपस्थित नहीं होता; संघर्ष का कारण था होशंगशाह की दिल्ली-विजय की आकांक्षा। यदि ग्वालियर पर होशंगशाह का अधिकार हो जाता, तब उसका दिल्ली का मार्ग प्रशस्त हो जाता और दिल्ली की अस्त-व्यस्त सल्तनत संकट में पड़ जाती। वीरमदेव को आत्मरक्षा के लिए मुबारकशाह की सहायता की आवश्यकता नहीं थी; उसने एक मास होशंग का प्रतिरोध किया था, और भी कर लेता। आश्चर्य यही है कि 'इस्लाम के विरुद्ध कुछ न करने के नियम के अनुसार' होशंग और मुबारक ने संयुक्त रूप से ग्वालियर पर आक्रमण नहीं किया; यह इस कारण संभव नहीं हो सका कि होशंग जैसे विश्वासघाती व्यक्ति का मुबारकशाह विश्वास नहीं कर सकता था।

लक्ष्मीसेन (१४२३ ?)

खड्गराय ने गोपाचल-आख्यान में वीरमदेव के उपरान्त ग्वालियर का तोमर राजा लक्ष्मीसेन बतलाया है और उसके पश्चात् गणपतिदेव का नाम दिया है —

तिनिके उधरनद्यो नृप आहि। तिनकी उपमा दीजै काहि
तिनिकै घी(वी)रमद्यो बलवंड। तिनकी कीरत चलि नौ खंड।
तिनिके लक्ष्मीसेन नरेस। खांडेवर लीने बहु देस ॥
तिनिके गनपतिद्यो अतिधीर। जिनि भुजबल जीते बहु वीर ॥

परन्तु, मित्रसेन और संग्रामसिंह के शिलालेखों में लक्ष्मीसेन का उल्लेख नहीं है। तोमरों के इतिहास के विषय में, विशेषतः ग्वालियर के तोमरों के विषय में, खड्गराय से भूलें नहीं हुई हैं। ज्ञात यह होता है कि सन् १४२३ ई० के घेरे में, होशंगशाह से गढ़ की रक्षा करते समय, वीरमदेव की मृत्यु हो गई और उसके पश्चात् ही उसके भाई या पुत्र ने युद्ध का संचालन किया। उसका विधिवत् राज्याभिषेक नहीं हो सका और वह भी मारा गया। आक्रमण का संकट टल जाने के पश्चात् गणपतिदेव राज्यसिंहासन पर बैठे। इस अनुमान की पुष्टि केवल स्थापत्य से जुड़ी हुई एक अनुश्रुति से होती है। ज्ञात यह होता है कि लक्ष्मणपौर का नाम लक्ष्मीसेन के शौर्य की स्मृति में रखा गया होगा। श्री कनिंघम का कथन है कि वीरसिंहदेव के २० राजकुमार थे, जिनमें से एक लक्ष्मणसिंह था, जिसे पहाड़गढ़ का सामन्त बना दिया गया था।[2] खड्गराय का 'लक्ष्मीसेन' यही 'लक्ष्मण सिंह' है।

१. इसे आधुनिक इतिहासकार प्रो० निजामी ने भी माना है। देखिए, ए कम्प्रहेन्सिव हिस्ट्री ऑफ इण्डिया, भाग ५, पृ० ६४६।

२. आर्कों० सर्वे० रि०, भाग २, पृ० ३३६

चित्र-फलक ८

अम्बिकादेवी मन्दिर, सुहानिया (पृष्ठ ६५ देखें)

—भूतपूर्व ग्वालियर राज्य के पुरातत्व विभाग के सौजन्य से

मकबरा है। वीरम के समय में सुहानियाँ में बना विशाल और भव्य चैत्रनाथ का मूर्ति-समूह अभी भी विद्यमान है।

ज्ञात होता है कि वीरमदेव के समय में ही गोपाचल के पास वर्तमान मुरार नगर में नदी के किनारे कोई जैन मन्दिर था। वह आगे बहुत उन्नत हुआ। वीरमदेव के राज्यकाल में वि० सं० १४६६ (सन् १४१६ ई०) में हुंवड जाति के करमसिंह और देवीसिंह ने अपने पिता के श्रेय के लिए वहाँ आदिनाथ की मूर्ति प्रस्थापित कराई थी।[1]

नयचन्द्र सूरि

तोमरकालीन ग्वालियर अथवा पन्द्रहवीं शताब्दी के भारत ने सांस्कृतिक क्षेत्र में जो कुछ सर्वश्रेष्ठ छोड़ा है, उसमें एक नयचन्द्र सूरि भी हैं। वीरमदेव इस दृष्टि से परम सौभाग्यशाली थे कि उनके आग्रह पर एक ऐसी कृति का निर्माण हुआ जो उनके पहले के भारत में व्याप्त भारतीयों के ही आपसी साम्प्रदायिक विद्वेष को समाप्त करती दिखाई देती है और भारतीय शक्तियों को तत्कालीन तुर्क-सैनिक-तंत्र के विरुद्ध तेजस्विता के साथ सन्नद्ध हो जाने का ओजस्वी आमन्त्रण देती है। नयचन्द्र के पूर्व का युग अधिकांश ब्राह्मण-जैन विद्वेष का समय था। यहीं तक नहीं, श्वेताम्बर जैन मुनि दिगम्बरों पर भी खड्गहस्त दिखाई देते हैं। नयचन्द्र अपने युग की इस घातक प्रवृत्ति से बहुत ऊपर उठता हुआ दिखाई देता है। उसकी वाणी में शक्ति थी, वह भी पुराना मार्ग अपना कर पार्श्वनाथचरितादि लिख सकता था, अथवा ब्राह्मणों की पौराणिक कथाओं की प्रतिकथाएँ लिख सकता था; परन्तु, उसने उस मार्ग को जानबूझ कर छोड़ दिया।

उस युग का राजन्यवर्ग कुछ सिद्धान्तों एवं आदर्शों और एक विशिष्ट जीवन-पद्धति के लिए, 'उद्धरणो महीम्' के लिए, संघर्ष कर रहा था।[2] तुर्कों के अत्याचार से ब्राह्मण, गौ, अबला तथा बालक पीड़ित थे। इनकी रक्षा में जिसने भी पराक्रम दिखाया, उस युग के कवियों ने उसे राष्ट्रीय वीर स्वीकार कर लिया। अलाउद्दीन खलजी के रूप में उन्हें प्रत्यक्ष रावण दिखाई दिया; उससे जिसने भी संघर्ष किया, उसमें उन्हें राम की छाया दिखाई दी। यद्यपि वह युद्ध में असफल हुआ था, तथापि उसने अद्वितीय शौर्य दिखलाया था; इस कारण, रणथम्भोर के हम्मीर को इन कवियों ने राष्ट्र-रक्षक के रूप में अंकित किया। ईडर के श्रीधर व्यास ने जब रणमल्ल के शौर्य का वर्णन किया तब उसकी तुलना हम्मीरदेव से ही की[3] —

हम्मीरेण त्वरितं
चरितं सुरताण-फौज-संहरणम्
कुरुत इदानीमेको
वरवीरस् त्वेव रणमल्लः

1. जैन-लेख-संग्रह, पूरणचंद नाहर, भाग १, क्र० १४२४।
2. पीछे पृष्ठ ४१ भी देखें।
3. रणमल्ल छंद, भारतीय विद्यामंदिर शोधप्रतिष्ठान, बीकानेर, पृ० ३८।

जो सुरताण की फौज का संहार करने में समर्थ हो सके और उनके अत्याचारों से मंदिर, गौ, ब्राह्मण, अबला और बालकों को बचा सके, इन कवियों की दृष्टि में वही वन्दनीय था। श्रीधर व्यास ने इन्हीं आदर्शों की रक्षा के लिए कमधज (राठौर) रणमल्ल का आह्वान किया था[1]—

अरियण दारण ! दीन अभयकर,
पंडरवेस थया निब्भय धर
बंभण बाल बंदि बहु किज्जइ
धा कमधज्ज धार करि लिज्जइ

अलाउद्दीन खलजी से जालौर का सौनगिरा चौहान कान्हड़दे इन्हीं उद्देश्यों की पूर्ति के लिए लड़ा था, अतएव, श्रीधर ने उसकी भी अभ्यर्थना की थी[2] —

सोनगिरउ कन्हड सिम्भरवइ,
बेढि करि गज्जणवइ असुरइ
दहुदिसि दुज्जण दल दावट्टिय
सोमनाथ वड हत्थइ झट्टिय
आदर करि संकर सिर थप्पिय
अचल राज चहुआण समप्पिय
असपति सरिस साह सिम बक्कइ,
मुरट मान रणमल्ल न मुंक्कइ

गज्जनपति (अलाउद्दीन खलजी) की कल्पना असुर के रूप में की गई है, जिसने सोमनाथ की प्रतिमा को भ्रष्ट करने का प्रयास किया था। जालौर के कान्हड़देव ने उसके सेनापति से उस प्रतिमा को छीन कर पुनः प्रतिष्ठित करा दिया था, अतएव उसे भी राष्ट्रीय वीर माना गया।

हम्मीरमहाकाव्य

नयचन्द्र सूरि ने राष्ट्र की भावना का समादर किया। हिन्दू-जैन के विवाद से बहुत ऊपर उठ कर उसने अपने युग की आकांक्षा और आवश्यकताओं को समझा। ब्राह्मण और जैन सम्प्रदायों के वन्दनीय देवताओं की द्विअर्थक वंदना के मंगलश्लोक लिखकर उसने अपने महाकाव्य के उद्देश्य को स्पष्ट करते हुए लिखा[3]—

"पूर्व काल में, मान्धाता, सीतापति राम, और कंक (युधिष्ठिर) आदि पृथ्वी में कितने राजा नहीं हो गए; पर उन सब में अपने सत्वगुण के कारण, हम्मीरदेव अद्वितीय और

१. रणमल्ल छंद, पृ० ४८।
२. वही, पृ० ५५-५६।
३. हम्मीर-महाकाव्य, १।८,९ तथा १०।

मकबरा है। वीरम के समय में सुहानियाँ में बना विशाल और भव्य चैत्रनाथ का मूर्ति-समूह अभी भी विद्यमान है।

ज्ञात होता है कि वीरमदेव के समय में ही गोपाचल के पास वर्तमान मुरार नगर में नदी के किनारे कोई जैन मन्दिर था। वह आगे बहुत उन्नत हुआ। वीरमदेव के राज्यकाल में वि० सं० १४६६ (सन् १४१६ ई०) में हुंवड जाति के करमसिंह और देवीसिंह ने अपने पिता के श्रेय के लिए वहाँ आदिनाथ की मूर्ति प्रस्थापित कराई थी।[1]

नयचन्द्र सूरि

तोमरकालीन ग्वालियर अथवा पन्द्रहवीं शताब्दी के भारत ने सांस्कृतिक क्षेत्र में जो कुछ सर्वश्रेष्ठ छोड़ा है, उसमें एक नयचन्द्र सूरि भी हैं। वीरमदेव इस दृष्टि से परम सौभाग्यशाली थे कि उनके आग्रह पर एक ऐसी कृति का निर्माण हुआ जो उनके पहले के भारत में व्याप्त भारतीयों के ही आपसी साम्प्रदायिक विद्वेष को समाप्त करती दिखाई देती है और भारतीय शक्तियों को तत्कालीन तुर्क-सैनिक-तंत्र के विरुद्ध तेजस्विता के साथ सन्नद्ध हो जाने का ओजस्वी आमन्त्रण देती है। नयचन्द्र के पूर्व का युग अधिकांश ब्राह्मण-जैन विद्वेष का समय था। यहीं तक नहीं, श्वेताम्बर जैन मुनि दिगम्बरों पर भी खड्गहस्त दिखाई देते हैं। नयचन्द्र अपने युग की इस घातक प्रवृत्ति से बहुत ऊपर उठता हुआ दिखाई देता है। उसकी वाणी में शक्ति थी, वह भी पुराना मार्ग अपना कर पार्श्वनाथचरितादि लिख सकता था, अथवा ब्राह्मणों की पौराणिक कथाओं की प्रतिकथाएँ लिख सकता था; परन्तु, उसने उस मार्ग को जानबूझ कर छोड़ दिया।

उस युग का राजन्यवर्ग कुछ सिद्धान्तों एवं आदर्शों और एक विशिष्ट जीवन-पद्धति के लिए, 'उद्धरणो महीम्' के लिए, संघर्ष कर रहा था।[2] तुर्कों के अत्याचार से ब्राह्मण, गौ, अबला तथा बालक पीड़ित थे। इनकी रक्षा में जिसने भी पराक्रम दिखाया, उस युग के कवियों ने उसे राष्ट्रीय वीर स्वीकार कर लिया। अलाउद्दीन खलजी के रूप में उन्हें प्रत्यक्ष रावण दिखाई दिया; उससे जिसने भी संघर्ष किया, उसमें उन्हें राम की छाया दिखाई दी। यद्यपि वह युद्ध में असफल हुआ था, तथापि उसने अद्वितीय शौर्य दिखलाया था; इस कारण, रणथम्भोर के हम्मीर को इन कवियों ने राष्ट्र-रक्षक के रूप में अंकित किया। ईडर के श्रीधर व्यास ने जब रणमल्ल के शौर्य का वर्णन किया तब उसकी तुलना हम्मीरदेव से ही की[3] —

हम्मीरेण त्वरितं
चरितं सुरताण-फौज-संहरणम्
कुरुत इदानीमेको
वरवीरस् त्वेव रणमल्लः

१. जैन-लेख-संग्रह, पूरणचंद नाहर, भाग १, क्र० १४२४।
२. पीछे पृष्ठ ४१ भी देखें।
३. रणमल्ल छंद, भारतीय विद्यामंदिर शोधप्रतिष्ठान, बीकानेर, पृ० ३८।

जो सुरताण की फौज का संहार करने में समर्थ हो सके और उनके अत्याचारों से मंदिर, गौ, ब्राह्मण, अबला और बालकों को बचा सके, इन कवियों की दृष्टि में वही वन्दनीय था। श्रीधर व्यास ने इन्हीं आदर्शों की रक्षा के लिए कमधज (राठौर) रणमल्ल का आह्वान किया था[1] —

अरियण दारण ! दीन अभयकर,
पंडरवेस थया निब्भय धर
बंभण बाल बंदि बहु किज्जइ
धा कमधज्ज धार करि लिज्जइ

अलाउद्दीन खलजी से जालौर का सोनगिरा चौहान कान्हड़दे इन्हीं उद्देश्यों की पूर्ति के लिए लड़ा था, अतएव, श्रीधर ने उसकी भी अभ्यर्थना की थी[2] —

सोनगिरउ कन्हड सिम्भरवइ,
बेढ़ि करि गज्जणवइ असुरइ
दहुदिसि दुज्जण दल दावट्टिय
सोमनाथ वड हत्थइ झट्टिय
आदर करि संकर सिर थप्पिय
अचल राज चहुआण समप्पिय
असपति सरिस साह सिम बक्कइ,
मुरट मान रणमल्ल न मुक्कइ

गज्जनपति (अलाउद्दीन खलजी) की कल्पना असुर के रूप में की गई है, जिसने सोमनाथ की प्रतिमा को भ्रष्ट करने का प्रयास किया था। जालौर के कान्हड़देव ने उसके सेनापति से उस प्रतिमा को छीन कर पुनः प्रतिष्ठित करा दिया था, अतएव उसे भी राष्ट्रीय वीर माना गया।

हम्मीरमहाकाव्य

नयचंन्द्र सूरि ने राष्ट्र की भावना का समादर किया। हिन्दू-जैन के विवाद से बहुत ऊपर उठ कर उसने अपने युग की आकांक्षा और आवश्यकताओं को समझा। ब्राह्मण और जैन सम्प्रदायों के वन्दनीय देवताओं की द्विअर्थक वंदना के मंगलश्लोक लिखकर उसने अपने महाकाव्य के उद्देश्य को स्पष्ट करते हुए लिखा[3]—

"पूर्व काल में, मान्धाता, सीतापति राम, और कंक (युधिष्ठिर) आदि पृथ्वी में कितने राजा नहीं हो गए; पर उन सब में अपने सत्वगुण के कारण, हम्मीरदेव अद्वितीय और

१. रणमल्ल छंद, पृ० ४८।
२. वही, पृ० ५५-५६।
३. हम्मीर-महाकाव्य, १।८,९ तथा १०।

सुहानिया का माता मन्दिर
(प्रस्तावना देखें)

स्तवन योग्य पुरुष हैं। इस सात्विक वृत्ति वाले पुरुष ने विधर्मी शक (अलाउद्दीन) को अपनी पुत्री तथा अपनी शरण में आए विधर्मी व्यक्तियों (माहिमसाहि-मुहम्मदशाह) तक को न देने के लिए राजलक्ष्मी, सुख-विलास और अपने जीवन तक को तृणवत् समझ कर उनका त्याग कर दिया।

"इसलिए राजन्यजन के मन को पवित्र करने की इच्छा से मैं उस वीर के उक्त गुणों के गौरव से प्रेरित होकर उसका थोड़ा-सा चरित वर्णन करना चाहता हूँ।"

महाकाव्य के नायक के चयन का कारण तथा उसका उद्देश्य नयचन्द्रसूरि को अपने युग का राष्ट्रकवि कहलाने का पूर्ण अधिकारी सिद्ध करते हैं। यद्यपि, नयचन्द्र ने अपने असामर्थ्य का भी उल्लेख किया है और कहा है, "मेरा यह काय मोह के वशीभूत होकर एक हाथ से समुद्र तैरने जैसा है"; तथापि, वह अपने संकल्प में पूर्णतः सफल हुआ, इसमें सन्देह नहीं है। उसके इस महाकाव्य ने गोपाचल और उसके आसपास के "राजन्यजन" में इतनी दृढ़ता उत्पन्न कर दी कि प्रवंचना और पराजय के उस युग में भी एक शताब्दी से अधिक समय तक वे हम्मीरदेव को आदर्श मानकर अपनी स्वाधीनता और सम्मान के लिए विषम संघर्ष करते रहे। यह नयचन्द्र के विस्तृत दृष्टिकोण का ही प्रभाव था कि सदियों से चली आ रही ब्राह्मण-जैन विद्वेष की भावना ग्वालियर के तोमर राजकुल और जन-साधारण के हृदय से निर्मूल हो गई और परम वैष्णव एवं शिव-भक्त ग्वालियर के तोमरों ने गोपाचल गढ़ को ही विशाल जैन-मन्दिर में परिवर्तित करने की अनुमति दे दी। संकट काल में भी, मत्त हाथी से प्राण बचाने के लिए भी, जैन मन्दिर में प्रवेश न करने का प्रतिबन्ध लगाया गया था; वह नयचन्द्र की उदात्त भावना के कारण ही तोमरकालीन ग्वालियर द्वारा उठा लिया गया। ब्राह्मण और जैन, एक ही इकाई "हिन्दू धर्म" के रूप में एक दूसरे के पूरक होकर रहने लगे। वीरम के वंशज डूंगरेन्द्रसिंह और कीर्तिसिंह को भी नयचन्द्र जैसे सूरियों ने ही प्रभावित किया होगा। भारत में बसे और पले इस्लाम के अनुयायी भी इस राष्ट्र के अंग हैं, इसका संकेत नयचन्द्र ने किया अवश्य है, परन्तु वीरम के समय में वह परिणामकारी नहीं हो सकता था, वह केवल शरणागत शक के प्रतिपालन तक ही सीमित था। इस सूत्र को कार्यरूप में परिणत किया जैनुल-आबेदीन और डूंगरेन्द्र तथा कीर्तिसिंह की मैत्री ने तथा मानसिंह के संगीत ने। यह आगे का विषय है, यहाँ केवल यह प्रासंगिक है कि नयचन्द्र ईसवी पन्द्रवीं शताब्दी का महान राष्ट्रकवि है, तोमरकालीन ग्वालियर की महानतम देनों में से एक।

मध्ययुग के इस प्रकार के साहित्य के राष्ट्रवादी स्वर का विवेचन करते हुए प्रसिद्ध क्रान्तिवीर विद्वान डॉ० भगवानदास माहौर ने लिखा है[1]—

"इन रासौ ग्रन्थों के विषय में यह बात विशेष रूप से ध्यान देने योग्य है कि इनमें जिन वीरों की वीरता का बखान हुआ है, वे मुसलमान आततायी सम्राटों के विरुद्ध तो

१. डॉ० भगवानदास माहौर, "मदनेशकृत लक्ष्मीबाई रासौ," पृ० ७१-७२।

लड़े हैं; परन्तु, उनमें मुसलमानों के प्रति केवल इसलिए कि वे मुसलमान हैं, कोई दुर्भावना नहीं है। उनका विरोध यथार्थ में देश के उत्पीड़न और स्वातंत्र्य-हरण के प्रति है, किसी धर्म या सम्प्रदाय के प्रति नहीं है। पृथ्वीराज रासौ में शाहवुद्दीन से पृथ्वीराज के संघर्ष का कारण यह दिखाया गया है कि एक मुस्लिम प्रेमी-युगल हुसैन शाह और उसकी प्रेयसी पर शाहवुद्दीन अत्याचार करता था, तो वे भागकर पृथ्वीराज की शरण में आए थे और पृथ्वीराज ने उनको शरण दी थी। इसी प्रकार 'हम्मीररासौ' में भी हम्मीरदेव के अलाउद्दीन से हुए संघर्ष का कारण उनका महिमा मंगोल और उसकी प्रेयसी को शरण देना और शरणागत की रक्षा करना परिकल्पित किया गया है।"

वास्तव में यह महिमा मंगोल कल्पित व्यक्ति नहीं है। हम्मीर ने शरणागत प्रतिपालन की परम्परा निश्चित ही तथ्य के रूप में स्थापित की थी। नयचन्द्र सूरि ने उसे अपने महाकाव्य का आधार बना कर न केवल आगे के साहित्य का मार्गदर्शन किया था, वरन् आगे के राजन्यवर्ग को उसका अनुकरण करने की प्रेरणा भी दी थी।

नयचन्द्र की प्रतिभा का प्रेरणा-स्रोत—वीरम की सामाजिक-संसद

यह पहले लिखा जा चुका है कि गोपाचल गढ़ से २०-२५ मील उत्तर में मितावली के एकोतर-सौ महादेव मंदिर में रणथंभोर के हम्मीरदेव की ओर से पूजा-अर्चा का प्रबन्ध था, वह प्रदेश उनकी राज्यसीमा में था और उनकी ओर से वहाँ पुजारी-पुरोहित तथा राज्याधिकारी रहते थे। यह भी पहले लिखा जा चुका है कि हम्मीरदेव के एक सभासद राघवदेव के पौत्र शार्ङ्गदेव (सारंग) तथा लक्ष्मीधर वीरसिंहदेव की राजसभा में आगए थे और नयचन्द्र के दादागुरु जयसिंह सूरि और 'षड्भाषाकवि-चक्र' के शक्र तथा 'प्रामाणिकों में अग्र' सारंग के बीच शास्त्रार्थ हुआ था, तथा इस सारंग ने अपनी शार्ङ्गधर-पद्धति में 'हम्मीरदेव' की यशोगाथा भी अंकित की थी। वीरमदेव तोमर के समय में भी उनकी राजसभा में हम्मीरदेव की गाथा अत्यन्त श्रद्धा एवं अनुराग से सुनी जाती होगी। उसी सभा में नयचन्द्र भी थे। हम्मीरमहाकाव्य की रचना के प्रेरणा-स्रोत का उल्लेख करते हुए नयचन्द्र ने लिखा है[1]—

> काव्यं पूर्वकवेर्न काव्यसदृशं कश्चिद् विधाताऽधुने-
> त्युक्ते तोमरवीरमक्षितिपतेः सामाजिकैः संसदि।
> तद्भूचापलकेलिदोलितमनाः शृंगारवीराद्भुतं
> चक्रे काव्यमिदं हमीर नृपतेर्नव्यं नयेन्दुः कविः॥

वीरम के सामाजिकों की संसद बैठी है। नयेन्दु कवि, नयचन्द्र सूरि, भी उसमें बैठे है। संभवतः, हम्मीरदेव के शौर्य की चर्चा चली; सम्भव है, उनके शौर्य के विषय में देश्यभाषा में रचे गए छन्द भी सुनाए गए। उस संसद में वीरमदेव ने कहा कि क्या इस पावन और स्फूर्तिदायक गाथा को पूर्व में हुए कालिदास, श्रीहर्ष आदि महाकवियों के काव्यों की विधा

1. हम्मीरमहाकाव्य, १४-४३।

के अनुसार लिख सकने वाला समर्थ कवि अब कोई नहीं है ? नयचन्द्र ने इस चुनौती को स्वीकार किया तथा यह महाकाव्य लिखना प्रारंभ किया। यद्यपि, नयचन्द्र ने यह भी लिखा है कि स्वप्न में उसे स्वयं हम्मीरदेव ने इस काव्य को लिखने का आग्रह किया था;[1] तथापि, यह सुनिश्चित है कि हम्मीरदेव को चरित-नायक बनाकर महाकाव्य लिखने की प्रेरणा नयचन्द्र को वीरमदेव तोमर और उनकी सामाजिक-संसद ने दी थी।

यह भी स्मरण रखने योग्य बात है कि नयचन्द्र के दादागुरु जयसिंह सूरि इतिहास और काव्यशास्त्र के गंभीर विद्वान थे, यह उसकी कृतियों से ही प्रकट है। हम्मीरदेव का साका उनके केवल कुछ वर्ष पूर्व ही हुआ था। उसके तथ्यों की विस्तृत जानकारी नयचन्द्र सूरि को थी ।

रंभामंजरी

नयचन्द्र नामक एक कवि की एक रचना रम्भामंजरी भी प्राप्त हुई है। डॉ० आदिनाथ नेमिनाथ उपाध्ये ने उसे हम्मीरमहाकाव्य के प्रणेता नयचन्द्र सूरि की ही रचना माना है[2] और लिखा है, "आत्म परिचय संबंधी कुछ श्लोकों में, जो हम्मीरमहाकाव्य (१४,४६,४६-१, ४६-३, ६४-४) तथा रंभामंजरी (१, १५-१८) दोनों ग्रन्थों में एक से पाए जाते हैं, प्रकट होता है कि ये दोनों ग्रन्थ एक ही नयचन्द्र की रचनाएँ हैं।" इसके विपरीत, विद्वद्वर डॉ० दशरथ शर्मा का सुझाव है कि "रम्भामंजरी का रचयिता हम्मीरमहाकाव्य के रचयिता से भिन्न मानना ही संभवतः उचित होगा"।[3] इस सम्भावना का कारण स्पष्ट करते हुए लिखा गया है—"रम्भामंजरी नाटिका के लेखक का नाम भी नयचन्द्र है। ये भी अच्छे कवि होने का दावा करते हैं; किन्तु, न उनकी रचना में इतना गाम्भीर्य है और न ऐतिहासिक तथ्य। संभवतः वे जैन भी न थे; उन्होंने रम्भामंजरी का आरंभ वराहावतार, सरस्वती, कटाक्षादि की स्तुति से किया है। शब्दाडम्बर का भी इन्होंने कुछ अधिक प्रयोग किया है ।"

डॉ० शर्मा के इस कथन के पूर्व इसी विचारधारा के कुछ अन्य लेख भी प्रकाशित हो चुके थे। विवश होकर हमें रम्भामंजरी की प्रति की प्रतिलिपि मँगानी पड़ी, क्योंकि वह मुद्रित रूप में कहीं उपलब्ध नहीं है।[4] उससे दो भ्रम स्पष्टतः दूर हो जाते हैं। डॉ० उपाध्ये ने उसका रचनाकाल ई० सन् १४७८ माना है। यदि उनका यह कथन ठीक होता तब सन् १४०२-१४२३ ई० में राज्य करने वाले वीरमदेव की सभा में उपस्थित होने वाले नयचन्द्र सन् १४७८ में जीवित न माने जाते। सन् १३६५ ई० में भी नयचन्द्र विद्यमान थे, और इतनी वय के थे कि जयसिंह सूरि के कुमारपालचरित की प्रतिलिपि कर सके। अतएव, वे सन् १४७८ ई० तक किसी प्रकार जीवित नहीं माने जा सकते। पूना की प्रति

१. हम्मीर महाकाव्य, १४-२६।
२. नयचन्द्र और उनका ग्रन्थ रंभामंजरी, प्रेमी-अभिनन्दन-ग्रन्थ (सन् १९४६ का प्रकाशन), पृ० ४११।
३. हम्मीरमहाकाव्य (सन् १९६६ का प्रकाशन); ऐतिह्य सामग्री, पृ० ४८।
४. यह प्रतिलिपि हमें भण्डारकर ओरिएण्टल रिसर्च इन्स्टीट्यूट, पूना, से प्राप्त हुई है।

से हमें ज्ञात हुआ कि वि० सं० १५३५ (सन् १४७८ ई०) में रंभामंजरी की उक्त प्रति योगनी-नगर में किसी मुनि नयकीर्ति के पठनार्थ उतारी गई थी; यह प्रतिलिपि का वर्ष है, रचनाकाल नहीं। साथ ही, यह भी ज्ञात हुआ कि रंभामंजरी का लेखक अपने नाम का उल्लेख विविध रूप में करता है; वह अपने आपको 'कवित्व-नलिनी-वन-दिनकर' भी लिखता हैं, नयचन्द्र भी लिखता है, और 'नयचन्द्र सूरि' भी —

नैवं चेन्नयचन्द्रसूरिसुकवेर्वार्णोविधायामृतं
श्रीहर्षं तमथापरं तमपि तत्किंसंस्मरेयुर्बुधाः ॥१६॥

शब्दाडम्बर भी उतना ही है, जितना हम्मीरमहाकाव्य में। रंभामंजरी में उल्लिखित इतिहास भी उतना ही शुद्ध-अशुद्ध है, जितना हम्मीरमहाकाव्य में। परन्तु, सबसे बड़ी बात यह है कि पूर्व कवियों की विधा से टक्कर लेने की हौंस भी उतनी ही है, जितनी हम्मीर-महाकाव्य में। रंभामंजरी राजशेखर की कर्पूरमंजरी को मात देने के लिए लिखी गई थी। रंभामंजरी का रचयिता नयचन्द्र सूरि निश्चय ही जैन था, और वह व्यक्ति था जिसने हम्मीरमहाकाव्य लिखा था। हमारा अनुमान तो यह है कि रंभामंजरी भी वीरमदेव की राजसभा में ही लिखी गई थी। रंभामंजरी के मंगलश्लोक में विष्णु के वराह-रूप की वंदना साभिप्राय की गई थी, और वह अभिप्राय ही नयचन्द्र की महान राष्ट्रीय भावना का द्योतक है। पंक में फँसी विश्वा—पृथ्वी—को दंष्ट्राग्र पर उठाकर उद्धार करने वाली शक्ति की तत्कालीन भारत को परम आवश्यकता थी।[1] शिव और शक्ति में वीरमदेव को आस्था थी, उस आस्था का समादर भी नयचन्द्र ने किया।

मदनदेव और युवतियों के हावभाव के अंकन से न नयचन्द्र को हम्मीरमहाकाव्य में परहेज हैं और न रंभामंजरी में। हम्मीरमहाकाव्य में उसने इसकी सफाई भी दी है।

इस नाटक (सट्टक) में सूत्रधार नट से अपनी इच्छा प्रकट करता है कि ग्रीष्म ऋतु की विश्वनाथ-यात्रा के लिए एकत्रित भद्रजनों का प्रबन्ध नाट्य द्वारा मनोरंजन किया जाए। ये "भद्रजन" वही है जिन्हें, हम्मीरमहाकाव्य में, सामाजिक-संसद कहा गया है।

नयचन्द्र ने इस सट्टक में अपने आपको षड्भाषा में कविता करने में दक्ष कहा है— "(षड्) भासासु कवित्त जुत्ति कुसलो।" यह विशेषण नयचन्द्र ने, हम्मीर महाकाव्य में, सारंग (शार्ङ्गधर) के लिए प्रयुक्त किया है। अब वह स्वयं को उसका अधिकारी मानने लगा है, इससे ज्ञात होता है कि रंभमंजरी हम्मीरमहाकाव्य के पश्चात् लिखी गई थी।

नयचन्द्र ने रंभामंजरी के नायक जयचन्द्र के विषय में लिखा है कि उसने पहले सात विवाह किए थे। अब आठवीं रानी रम्भा से विवाह करता है, जिससे वह "मंडलाखण्डल" चक्रवर्ती सम्राट् हो जाए। यह स्तुति कहीं वीरमदेव की तो नहीं है? आश्चर्य नहीं, यदि ऐसा हो। वीरम महात्वाकांक्षी तो थे, उनकी रानियाँ कितनी थीं, यह हमें ज्ञात नहीं हो सका; इतिहास के लिए यह जानना आवश्यक भी नहीं है।

---

१. विष्णु का यह स्वरूप ग्वालियर के तोमरों का राजचिह्न था।

नयचन्द्र का जीवन-वृत्त

हम्मीरमहाकाव्य और रंभामंजरी के लेखक, हमारी दृष्टि में पन्द्रहवीं शताब्दी के राष्ट्रकवि, नयचन्द्र ने वीरमदेव तोमर की सामाजिक संसद को अलंकृत किया था, इसमें सन्देह नहीं। उनके द्वारा ग्वालियर के साम्प्रदायिक जीवन में समन्वय स्थापित किया गया था, इसमें भी सन्देह नहीं। उनकी वाणी से ग्वालियर और उसके आसपास के राजन्यवर्ग को प्रेरणा मिली थी, इसमें भी सन्देह नहीं। उनके ग्वालियर आने के, उनके पूर्व के इतिहास की खोजबीन हम स्वयं न कर विद्वद्वर मुनिश्री जिनविजयजी के शब्दों को उद्धृत करना ही उपयोगी समझते हैं[1]—

"नयचन्द्र सूरि अपने समय के एक प्रसिद्ध जैनाचार्य थे। इनके पूर्व गुरुओं ने राजस्थान के नागौर आदि अनेक स्थानों की जनता को धार्मिक प्रवृत्ति में प्रवृत्त किया। इनके सदुपदेशों के कारण लोकोपयोगी अनेक देवस्थान निर्मित हुए। नयचन्द्र सूरि के प्रगुरु महेन्द्र सूरि थे, जिनका मुसलमान शासक भी बड़ा सम्मान करते थे। उनके उपदेश से दीन और दुखी जनों की सहायता के लिए प्रति वर्ष एक लाख दीनार (सोना-मुहर) व्यय किए जाते थे। इन महेन्द्र सूरि के पट्टधर आचार्य जयसिंह सूरि हुए, जिनके पट्टधर प्रसन्नचन्द्र सूरि थे। नयचन्द्र सूरि के दीक्षागुरु तो प्रसन्न चन्द्र सूरि थे, परन्तु विद्यागुरु जयसिंह सूरि ही थे।"

श्री मुनि जिनविजय जी ने आगे वह श्लोक भी उद्धृत किया है जिसमें नयचन्द्र ने यह प्रकट किया है कि वि० सं० १४२२ (सन् १३६५ ई०) में उन्होंने अपने विद्यागुरु जयसिंह के कुमारपाल-चरित्र-काव्य का 'प्रथम आदर्श', पहली प्रतिलिपि, लिखी थी। इससे यह ज्ञात होता है कि सन् १३६५ ई० में नयचन्द्र २०-२५ वर्ष की वय के अवश्य होंगे।

पद्मनाभ कायस्थ

वीरमदेव तोमर के मंत्री कुशराज के आश्रय में पद्मनाभ कायस्थ ने संस्कृत में यशोधरचरित अर्थात् 'दयासुन्दर महाकाव्य' नामक महाकाव्य की रचना कभी सन् १४२० ई० में की थी। उसका जितना अंश प्रकाशित हुआ है उससे ज्ञात होता है कि पद्मनाभ उच्च कोटि का कवि था। भाषा और भावाभिव्यक्ति, दोनों ही दृष्टि से पद्मनाभ की रचना उत्कृष्ट है। पद्मनाभ को इसका मान भी था। उसने दम्भ के साथ लिखा है —

> यावत्कूर्मस्य पृष्ठे भुजगपतिरयं तत्र तिष्ठेद्गरिष्ठे
> यावत्तत्रापि चंचद्विकटफणिफणामंडले क्षोणिरेषा।
> यावत्क्षोणौ समस्तत्रिदशपतिवृतश्चारुचामीकराद्रि—
> स्तावद्भव्यं विशुद्धं जगति विजयतां काव्यमेतच्चिराय॥

---

१. हम्मीरमहाकाव्य (राजस्थान प्राच्य विद्या प्रतिष्ठान), एक पर्यालोचन, पृ० २७ से साभार।

कायस्थ पद्मनाभेन बुधपादाब्जरेणुना ।
कृतिरेषा विजयतां स्थेयादाचन्द्रतारकं ।।

पद्मनाभ का यह सर्गबद्ध महाकाव्य कुछ समय तक लोकप्रिय भी रहा । इसके आधार पर साँगानेर के राजा जयसिंह के राज्य में हिन्दी यशोधरचरित की रचना की गई थी ।

पद्मनाभ के महाकाव्य से तत्कालीन राजनीतिक इतिहास पर भी पर्याप्त प्रकाश पड़ता हैं और जैन सम्प्रदाय के इतिहास पर भी । पद्मनाभ ने लिखा है कि उसने यह महाकाव्य वीरम के मंत्री कुशराज जैन के आग्रह पर लिखा हैं ।

पद्मनाभ ने यह भी लिखा है कि उसके महाकाव्य की प्रशंसा संतोष नामक जैसवाल ने की थी और उसकी अनुमोदना विजयसिंह के पुत्र पृथ्वीराज ने की थी ।

हिन्दी की स्थिति

वीरमदेव के राज्यकाल में राजसभा में संस्कृत समादृत थी, इसमें सन्देह नहीं । तथापि, जनसाधारण में उस परिष्कृत मध्यदेशीया हिन्दी की प्रतिष्ठा प्रारम्भ हो गई थी, जिसका स्वरूप अम्बिकादेवी के मन्दिर के शिलालेख में "अम्बिका को मंडपु करवायौ" में प्राप्त होता है । उस समय "फौजदार" जैसे फारसी शब्द भी प्रशासकीय कार्यों में प्रयुक्त होते थे ।

इस शिलालेख का पाठ इस प्रकार है—

ॐ सिधिः संवतु १४६२ वर्षे मार्ग सुदि १०(?) सोम दिनं
महाराजाधिराज स्री वीरंम देवः । श्री अंबिका
कौ मंडपु करवायौः । प्रधानु पं जनार्दनः ।
फुजदारु.............सूत्रधार हरिदासु ।
माठापति गोवीन्द चन्द्रान्वयौ ।

परिच्छेद ५

गणपतिदेव

(१४२३-१४२५)

गणपतिदेव का राज्यकाल सन् १४२३ ई० में प्रारम्भ हुआ था, इसका विवेचन वीरमदेव के सन्दर्भ में किया जा चुका है। उनका राज्यकाल कब तक चला, इसका कुछ अनुमान ही किया जा सकता है।

मित्रसेन के रोहिताश्व गढ़ के शिलालेख में गणपतिदेव के विषय में यह लिखा है कि उनके राज्यकाल में उनके सुदृढ़ गढ़ के ऊपर दिल्लीपति की कल्पना भी नहीं पहुँच सकी थी—

यस्मिन्गोपाचलस्थे कथयति समभून्नेव दिल्लीश्वराणां ।
चेतोऽप्यत्रप्रयातं किमुतबलमहो कोऽपि यस्य प्रभावः ॥

हम इसका यह आशय समझते हैं कि गणपतिदेव के समय में गोपाचल गढ़ पर कोई आक्रमण नहीं हुआ था।

तारीखे-मुबारकशाही तथा तबकाते-अकबरी से यह ज्ञात होता है कि सन् १४२६-२७ ई० में दिल्ली के सुल्तान मुबारकशाह ने ग्वालियर पर आक्रमण किया था। मित्रसेन के शिलालेख के साथ इस घटना को देखने से यह अनुमान किया जा सकता है कि गणपतिदेव का राज्यकाल सन् १४२५ ई० तक चला और मुबारकशाह का आक्रमण डूंगरेन्द्रसिंह के राज्यकाल में हुआ। श्री कनिंघम ने गणपतिदेव का राज्यकाल १४१९ से १४२५ ई० तक माना है।[1] इनमें से पहला सन् तो निश्चय ही अशुद्ध है, दूसरे सन् का समर्थन उक्त घटना के आधार पर किया जा सकता है।

ऐतिह्य सामग्री

गणपतिदेव के छोटे से राज्यकाल का न तो कोई शिलालेख प्राप्त हुआ है और न उनके राज्यकाल के उल्लेखयुक्त कोई रचना ही उपलब्ध हुई है। गोपाचल गढ़ की गणेशपौर का नाम गणपति से सम्बद्ध अवश्य है, परन्तु इसका निर्माण सम्भवतः उनके पुत्र डूंगरेन्द्र-सिंह ने कराया था। कुछ शिलालेखों से एवं रइधू के ग्रन्थों से यह अवश्य ज्ञात होता है कि उनको 'गणेश' भी कहते थे तथा ये डूंगरेन्द्रसिंह के पिता थे।

खड्गराय का कथन

खड्गराय ने गोपाचल-आख्यान में गणपति के विषय में केवल एक अर्धाली लिखी है—

"निज भुजबल जीते बहु वीर"

गणपति निश्चय ही वीर थे, परन्तु उनकी ये समस्त विजयें उनके प्रतापी पिता वीरम के राज्यकाल में हुई होंगी।

१, आर्की० सर्वे० रि०, भाग २, पृष्ठ ३८२।

परिच्छेद ६

डूंगरेन्द्रसिंह

(१४२५-१४५९ ई०)

रोहिताश्व गढ़ (बिहार) में प्राप्त मित्रसेन के शिलालेख के अनुसार गणपतिदेव के पुत्र ने अपने शत्रुओं का नाश कर 'हुंगुरसिंहदेव' की पदवी प्राप्त की थी, युद्ध में वह हिमालय के समान दृढ़ थे तथा अपने आश्रितों के लिए कल्पद्रुम के समान थे[1] —

तत सूनुः समभूदपूर्वमहिमा हेमाद्रिवत् सुस्थिरः
संग्रामेऽर्थिजनस्यदैवततरुः श्रीशौर्य्यधैर्य्याश्रयः
यःसिहोल्पमृगानिवारिनृपतीनुन्मर्दयन् दोर्बलात्
प्राप्तो हुङ्गुरसिंहदेव पदवीं ख्यातां जगन्मण्डले ॥

इस श्लोक से यह स्पष्ट है कि हुङ्गुरसिंहदेव नाम न होकर पदवी है। संग्रामसिंह के नरवर के शिलालेख में डूंगरेन्द्रसिंह का नाम ही 'हुंगारसिंह' दिया है।[2] परन्तु समकालीन शिलालेखों तथा साहित्य में गणपतिदेव के पुत्र का नाम डूंगरेन्द्रसिंह अथवा डूंगरसिंह प्राप्त होता है। समकालीन और परवर्ती फारसी इतिहासों में यह नाम राय दुगनर के रूप में भी लिखा गया है। अनेक स्थलों पर यह नाम डूंगरराय, डूंगरसी, डूंगरसिंह तथा डूंगरशाह के रूप में भी प्राप्त हुआ है। परन्तु, वि० सं० १४९७ (सन् १४४० ई०) के प्रतिमालेख में स्पष्टतः डूगरेन्द्रसिंह नाम दिया गया है, उसे ही शुद्ध नाम माना जाना चाहिए।

राज्यकाल एवं ऐतिह्य सामग्री

मेजर जनरल कनिंघम ने डूंगरेन्द्रसिंह का राज्यकाल सन् १४२५-१४५४ ई० बतलाया है।[3] अन्य स्थानों पर भी इसे दुहराया गया है और एक ग्रन्थ में उसके राज्य की समाप्ति का वर्ष १४५५ ई० दिया गया है।[4] ऐसी दशा में उपलब्ध समकालीन ऐतिह्य सामग्री के आधार पर डूंगरेन्द्रसिंह के राज्यकाल पर पुनर्विचार करना आवश्यक है।

डूंगरेन्द्रसिंह के अनेक शिलालेख प्राप्त हुए हैं, जिनमें से पूर्वतम लेख वि० सं० १४९७ (सन् १४४० ई०) का है और सबसे बाद का वि० १५१६ (सन् १४५९ ई०) का।

१. जर्नल ऑफ द एशियाटिक सोसाइटी ऑफ बंगाल, भाग ८, पृ० ६९५।
२. जर्नल ऑफ द एशियाटिक सोसाइटी ऑफ बंगाल, भाग ३१, पृ० ४२२।
३. आर्कोलोजिकल सर्वे रिपोर्ट, भाग २, पृ० ३८३।
४. मध्यप्रदेश डिस्ट्रिक्ट गजेटियर, ग्वालियर, पृ० २३।

(१) वि० सं० १४९७ (सन् १४४० ई०) का आदिनाथ की बड़ी मूर्ति का लेख,[1] जिसमें सम्बद्ध अंश निम्न रूप में है —

संवत् १४९७ वर्षे वैशाख [....]७ शुक्रे पुनर्वसुनक्षत्र श्री गोपाचलदुर्गे महाराजाधिराज राजा श्री डुंग [....] संवर्त्त मानो श्रो कांची संघ माथूरान्वयो पुष्करगणभट्टारक श्री गुणकीर्तिदेव तत्पचे यत्यः कीर्तिदेवा प्रतिष्ठाचार्य श्री पंडित रधूतेपं आभाये अग्रोतवंशे मोद्गल गोत्रा सा ....

(२) वि० सं० १४९७ (सन् १४४० ई०) का चौरासी मथुरा का श्री जम्मूस्वामी की मूलनाथ प्रतिमा का लेख[2] —

गोपाचल दुर्गे तोमरवंशो राजा श्री गणपतिदेवस्तत्पुत्रो महाराजधिराज श्री डूंगरसिंह राज्ये प्रणमंति।

(३) वि० सं० १५१० (सन् १४५३ ई०) का गोपाचल गढ़ की जैन प्रतिमा का लेख।[3]

(४) वि० सं० १५१० (सन् १४५३ ई०) का अलवर के जैन मन्दिर की मूर्ति का लेख[4] —

सिद्धि संवत् १५१० वर्षे ज्येष्ठ वदि ११ दिने शुक्रवासरे श्री गोपाचल नगरे राजाधिराज श्री डूंगरसिंहदेव राज्ये..............................

(५) वि० सं० १५१० का गोपाचल गढ़ की जैन प्रतिमा का लेख[5] —

सिद्धि संवत् १५१० वर्षे माघसुदि ८ अष्टम्यां श्री गोपगिरौ महाराजाधिराज डूंगरेन्द्रदेव राज्ये....................

(६) वि० सं० १५१४ (सन् १४५७ ई०) का गोपाचल गढ़ की जैन प्रतिमा का लेख।[6]

(७) वि० सं० १५१६ (सन् १४५९ ई०) का गोपाचल गढ़ का त्रिकोनियाताल का दो पंक्ति का लेख।[7]

---

१. ग्वालियर राज्य के अभिलेख, क्र० २५५; पूर्णचंद नाहर, जैन लेख संग्रह, द्वितीय खण्ड, पृ० ९२।

२. यह चल मूर्ति ग्वालियर से चौरासी मथुरा के मन्दिर में चली गई है।

३. ग्वालियर राज्य के अखिलेख, क्र० २६७।

४. पूर्णचन्द नाहर, जैन लेख संग्रह, द्वितीय भाग, पृ० ४४। यह मूर्ति ग्वालियर से अलवर चली गई है।

५. ग्वालियर राज्य के अभिलेख, क्र० २७७; पूर्णचन्द नाहर, जैन लेख संग्रह, द्वितीय भाग, पृ० ९३।

६. ग्वा० रा० के अभिलेख, क्र० २८०।

७. ग्वा० रा० के अभिलेख, क्र० २८१।

इन शिलालेखों के अतिरिक्त डूंगरेन्द्रसिंह के नामयुक्त एक शिलालेख सुहानियाँ के अम्बिकादेवी के मन्दिर में भी प्राप्त हुआ है, जिसका आशय स्पष्ट नहीं है।[1]

शिलालेखों के अतिरिक्त कुछ ग्रन्थों की प्रतिलिपियों की पुष्पिकाओं में तथा समकालीन कवियों की कृतियों में डूंगरेन्द्रसिंह के राज्यकाल का उल्लेख मिलता है।

(१) वि० सं० १४८६ आश्विन वदि १३ (सन् १४२९ ई०) में विबुध श्रीधर के भविष्यदत्त-चरित की प्रतिलिपि गोपाचल के जैनमठ में उतारी गई थी। उसमें 'डूंगरेन्द्रसिंह' के राज्यकाल का उल्लेख है।[2]

(२) वि० सं० १४८६ आषाढ़ वदि ९ (सन् १४२९ ई०) में सुकुमाल-चरित की प्रतिलिपि ग्वालियर में उतारी गई। उसमें 'डूंगरसी' के राज्यकाल का उल्लेख है।

(३) वि० सं० १४९२ (सन् १४३५ ई०), कार्तिक कृष्ण ११ को महाकवि विष्णुदास ने अपना पाण्डवचरितु (महाभारत) 'डोंगरसिधु' को सुनाना प्रारम्भ किया था।

(४) वि० सं० १४९२ (सन् १४३५) में रइधू ने अपने ग्रन्थ 'सम्मत गुण-विधान' की रचना 'डूंगरराय' के राज्य में ग्वालियर में की।

(५) वि० सं० १४९६ (सन् १४३९ ई०) रइधू ने अपभ्रंश भाषा में 'सुकोसल चरित' लिखा जिसमें 'गोव्वागिरि' से 'डूंगरराय' और उसके ग्वालियर का विशद वर्णन है।

(६) वि० सं० १५१२, चैत्र वदि ११ भौमवार (सन् १४५५ ई०) को नरसेन के श्रीपालचरित की प्रतिलिपि 'डूंगरसेन' के राज्यकाल में 'रावरपत्तन' में उतारी गई।[3] यह रावरपत्तन, संभवतः वर्तमान रायरू है जो ग्वालियर-मुरैना मार्ग पर स्थित है।

समकालीन तुर्कों के फारसी के इतिहासों से डूंगरेन्द्रसिंह के राज्यकाल के प्रारम्भ या समाप्त होने की तिथि का विनिश्चयन नहीं हो सकता, तथापि ऊपर दिए गए उल्लेखों से यह सुनिश्चित है कि डूंगरेन्द्रसिंह का राज्यकाल सन् १४२९ ई० से सन् १४५९ ई० के बीच अवश्य रहा। डूंगरेन्द्रसिंह का राज्य सन् १४२५ ई० में प्रारम्भ हुआ था, इसका विवेचन गणपतिदेव के सन्दर्भ में किया जा चुका है। उनका राज्यकाल सन् १४५९ ई० तक अवश्य चला। तथापि उसके उपरान्त भी उनका राज्यकाल रहा या नहीं, यह अभी सुनिश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता। अतएव, वर्तमान स्थिति में उनका राज्यकाल सन् १४२५ ई० से सन् १४५९ ई० तक मानकर चला जा सकता है।

---

१. आर्कोलोजिकल सर्वे ऑफ इण्डिया, एनुअल रिपोर्ट ऑन एपीग्राफी फार १९६१-६२, क्र० सी० १५८८।

२. दिगम्बर जैन अग्रवाल मन्दिर, धर्मपुरा दिल्ली, ग्रंथ संख्या अ/३०/ख।

३. प्रशस्ति संग्रह, सम्पादक श्री कस्तूर चंद कासलीवाल, पृ० १७७।

समकालीन राज्य

डूंगरेन्द्रसिंह के समय का राजनीतिक इतिहास समझने के लिए उसके समकालीन हिन्दू और मुस्लिम राज्यों की स्थिति को ध्यान में रखना आवश्यक है। यहाँ केवल उन राज्यों का उल्लेख करना पर्याप्त है जिनके संधि-विग्रह के संबंध डूंगरेन्द्रसिंह से हुए थे।

मेवाड़

हिन्दू राजाओं में मेदपट्टाधिपति मेवाड़ के राणा पारिवारिक विग्रहों के बीच भी अपनी स्थिति दृढ़ कर रहे थे। यद्यपि डूंगरेन्द्रसिंह के राज्यारोहण के समय मेवाड़ के अधिपति मोकल थे, तथापि सन् १४३३ ई० में राणा कुम्भकर्ण (कुम्भा) के राज्यारोहण के साथ चित्तौड़ के राणाओं ने राजपूतों द्वारा मुस्लिम सुल्तानों के विरुद्ध किए जाने वाले उस प्रबल संघर्ष का सूत्रपात किया, जिसका एक अध्याय राणा सांगा की मृत्यु के साथ सन् १५२८ ई० में समाप्त हुआ था। राणाओं के अभ्युदय के पूर्व ग्वालियर तथा आसपास के राजपूत राज्य इटावा के सुमेरु चौहान से मार्गदर्शन लेकर चलते थे; और अब एकलिंग, चित्तौड़ और राणा की महिमापूर्ण परम्पराओं के साथ कुम्भा का नेतृत्व मानने लगे थे। राणा कुम्भा के 'हिन्दू सुरत्राण'[1] और 'हिन्दूकराज-गज-नायक'[2] के विरुद्ध तत्कालीन संघर्ष के स्वरूप को व्यंजित करते हैं। डूंगरेन्द्रसिंह ने राणा कुम्भा का साथ दिया और उन्हें राणा से सहयोग मिलता रहा। राणा कुम्भा ने हमीरपुर के राणा विक्रम की कन्याओं का अपहरण किया था, ऐसा कुंभलगढ़ की प्रशस्ति में उल्लेख है। यह घटना डूंगरेन्द्रसिंह के राज्यकाल की है। उस समय हमीरपुर तुर्क सुल्तानों के अधीन हो चुका था और वहाँ के राजपूत राजा मालवा के सुल्तानों का साथ दे रहे थे। मालवा के सुल्तानों के साथ हुए राणा और डूंगरेन्द्रसिंह के संघर्ष में ही हमीरपुर के राणा को यह दण्ड मिला होगा। राणा के नेतृत्व में राजपूत राजा अपने खोए हुए हिन्दू साम्राज्य की स्थापना का प्रयास कर रहे थे। उनका स्वप्न साकार न हो सका; तथापि, उसके उपक्रम में शौर्य, पराक्रम और बलिदान के जो दृश्य उपस्थित किए गए थे वे किसी राष्ट्र के स्वातंत्र्य संघर्ष के लिए प्रेरणादायक हैं।

डूंगरेन्द्रसिंह के राज्यकाल में मालवा और गुजरात के तुर्क सुल्तान बहुत प्रबल हुए। कालपी, जौनपुर और मालवा के बीच डगमगा रहा था। दिल्ली में रायाते-आला सैयिदों के वंश के राज्य की जीवनगाथा का अंतिम परिच्छेद लिखा जा रहा था।

दिल्ली से संघर्ष

डूंगरेन्द्रसिंह के प्रारंभिक वर्ष दिल्ली के 'रायाते-आलाओं' के साथ संघर्ष में बीते। वीरमदेव के समय में होशंगशाह द्वारा सन् १४२३ ई० में ग्वालियर पर किए गए आक्रमण का विवरण वीरमदेव के संदर्भ में दिया जा चुका है। चम्बल के युद्ध में होशंगशाह पर

---

1. राणकपुर मंदिर का शिलालेख, पंक्ति २६-२७।
2. कीर्तिस्तम्भ प्रशस्ति।

विजय प्राप्त कर मुबारकशाह मुल्तान, मेवात और बयाना में जूझता रहा और बयाना के अमीर मुहम्मदखाँ पर विजय प्राप्त कर संभवतः सन् १४२७ ई० के प्रारंभ में वह ग्वालियर पहुँचा। मुस्लिम इतिहास-लेखकों ने इस आक्रमण को एक पंक्ति में निपटा दिया है, "जब वह वहाँ पहुँचा तो ग्वालियर, तानकीर[1] तथा चन्दवार के राजाओं ने आज्ञाकारिता प्रदर्शित की और धन, कर तथा उपहार पूर्वप्रथानुसार अदा किए"।[2] इसी समय बयाना का अमीर मुहम्मदखाँ पुनः दिल्ली से विद्रोही हो गया और जौनपुर के इब्राहीम शर्की से जा मिला। शर्की ने कालपी के कादिरखाँ पर आक्रमण कर दिया और मुबारकशाह उसकी सहायता के लिए पहुँचा। दोनों सेनाओं का कहीं इटावा के पास मुकाबला हुआ। ज्ञात होता है, यह युद्ध निर्णायक नहीं हुआ। शर्की सुल्तान और रायाते-आला अपने-अपने प्रदेशों को लौट गए। जो हो, सन् १४२८ ई० में रायाते-आला फिर ग्वालियर होकर निकले और मध्ययुगीन फारसी इतिहास-लेखकों के कथनानुसार ग्वालियर ने उन्हें फिर भेंट-पूजा दी। तथ्य क्या है, यह जानना कठिन है।

रायाते-आला मुबारकशाह का ग्वालियर पर अगला आक्रमण सन् १४२९ ई० में हुआ। इस बार के अभियान का उद्देश्य, मध्ययुगीन फारसी इतिहास-लेखकों के अनुसार, दूसरा था। ग्वालियर ने विद्रोह किया था, और सुल्तान उसे दण्ड देने वहाँ आया था। वह विद्रोह शांत कर दिया गया और विद्रोहियों को दण्ड दिया गया। इस बार कर या उपहार प्राप्त नहीं हुए, ऐसा ज्ञात होता है। फिर सन् १४३२ में, संभवतः दिसम्बर मास में, "रायते-आला ने मलिक कमालुल-मुल्क को ग्वालियर तथा इटावा के काफिरों की विलायत पर अधिकार जमाने के लिए भेजा और स्वयं दिल्ली चला गया।" मलिक ने ग्वालियर में क्या किया, इसके विषय में वे इतिहास मौन हैं। तारीखे-मुबारकशाही में आगे उसके दर्शन सात मास पश्चात् १९ जुलाई १४३३ ई० में होते हैं, अब "मलिकुश्शर्क कमालुलमुल्क भी सुरक्षित विजयी सेना सहित बड़ी लम्बी यात्रा करके राजधानी पहुँचा।" इन सात मास तक मलिक क्या करते रहे, ग्वालियर में उन उन पर क्या बीती, यद्यपि यह तारीखे-मुबारकशाही के लेखक ने लिखा नहीं हैं, तथापि समझदारों के लिए काफी लिख दिया है। 'विजयी सेना' तो मात्र एक रटा-रटाया विशेषण हैं, विशेष बात यह है कि मलिक 'सुरक्षित' लौट आए; पराजित तो हुए, शहीद नहीं हुए।

रायाते-आला मुबारकशाह ने सन् १४३३ ई० में मुबारकबाद नगर की नींव डाली। वहीं १९ फरवरी १४३४ ई० को सिद्धपाल खत्री ने उसकी हत्या कर दी। मुबारकशाह के पश्चात् कुछ समय तक सिद्धपाल खत्री दिल्ली का 'सुल्तान' रहा। कुछ मास पश्चात्

---

१. त्रिभुवनगढ़ (ताहनगढ़)।

२. डॉ० रिजवी, उत्तर तैमूर कालीन भारत, भाग १ पृष्ठ ३०; वही, पृष्ठ ७३।

सिद्धपाल को मारकर मुहम्मदशाह दिल्ली के तख्त पर बैठा।[1] उसके पश्चात् आया अल्लाउद्दीन आलमशाह। ये सुल्तान गृह-कलह में ही व्यस्त रहे और सन् १४५१ में दिल्ली में बहलोल लोदी के नेतृत्व में अफगन कबीलों ने नवीन राजवंश की स्थापना की।

भाण्डेर-युद्ध

डूंगरेन्द्रसिंह के प्रारंभिक कुछ वर्ष कालपी, जौनपुर और मालवा के सुल्तानों के साथ संघर्ष में बीते। सन् १४३३ ई० में मालवा के होशंगशाह ने कालपी को अपने अधिकार में कर लिया। भाण्डेर पर, संभवतः, कालपी के सुल्तान मुबारकखाँ का ही आधिपत्य बना रहा। डूंगरेन्द्रसिंह ने सन् १४३५ के लगभग भाण्डेर पर आक्रमण कर दिया तथा भाण्डेर के गढ़ के आसपास के इलाके को अपने कब्जे में कर लिया। मुबारकखाँ सेना लेकर भाण्डेर की ओर चला। तारीखे-मुहम्मदी के लेखक मुहम्मद बिहामदखानी ने लिखा है, "आजम हुमायूँ (मुबारकशाह) ने अत्यधिक सहनशीलता तथा कृपा के कारण (अर्थात् पराजित होकर) ग्वालियर के किले के मुकद्दम राय दुगनर (डूंगरेन्द्रसिंह) के लिए इस इतिहास के लेखक मलिकुश्शर्क बलगर्ब मलिक बिहामिद के हाथ जड़ाऊ खिलअत तथा टोपी भेजी और भाण्डेर के किले को हानि से सुरक्षित कर लिया"।[2]

इस विवरण से यह स्पष्ट हैं कि भाण्डेर-युद्ध में डूंगरेन्द्रसिंह पूर्णतः विजयी हुए थे और मुबारकखाँ ने महँगी सन्धि करके भाण्डेर के किले को नष्ट होने से बचाया था।[3]

होशंगशाह की पराजय

डूंगरेन्द्रसिंह की नरवर-विजय (सन् १४३७) के पूर्व होशंगशाह ने ग्वालियर पर दो असफल आक्रमण और किए थे, ऐसा उल्लेख ग्वालियर गढ़ के कुछ इतिहास-लेखकों ने किया है, जिसे सन् १९४९ में प्रकाशित सरकारी इतिहास में भी दुहराया गया है।[4] सन् १४२३ ई० के होशंग के ग्वालियर आक्रमण तथा चम्बल के युद्ध के पश्चात् उसके ग्वालियर आक्रमण का उल्लेख हमें नहीं मिल सका। संभव है हमारी दृष्टि में ये युद्ध न आ सके हों, अतः उनका विवरण उस पुस्तक से यहाँ दिया जा रहा है—

"होशंगशाह के विरुद्ध, जिसने उस समय देश में बुरी तरह लूटमार मचा रखी थी, (डूंगरेन्द्रसिंह ने) राजपूतों की एक चुनी हुई सेना भेजी। युद्ध में होशंगशाह हार गया और

१. मध्ययुग के समस्त अ-मुस्लिम स्रोत इस बात पर एकमत हैं कि सिद्धपाल खत्री ने भी मुबारकशाह के पश्चात् दिल्ली पर राज्य किया था। इन स्रोतों के लिए इस पुस्तक के प्रथम भाग "दिल्ली के तोमर" के पृष्ठ ३१३-३२८ देखें। तारीखे-मुबारिकशाही से भी इस घटना की किसी सीमा तक पुष्टि होती है। लगभग ८ मास पश्चात् सिद्धपाल युद्ध करता हुआ मारा गया था और उसके पश्चात् ही मुहम्मदशाह निष्कण्टक राज्य कर सका था।

२. डॉ० रिजवी, उत्तर तैमूर कालीन भारत, भाग २, पृ० ४२।

३. भाण्डेर-विजय के पश्चात् ही डूंगरेन्द्रसिंह ने अपने राजकवि विष्णुदास से महाभारत की कथा सुनाने का आग्रह किया था।

४. ग्वालियर दुर्ग, डायरेक्टर ऑफ इन्फोरमेशन, मध्यभारत, ग्वालियर, (मई १९४९), पृ० ८।

राजपूत लूट का माल, बहुत-सा माल-खजाना लेकर ग्वालियर लौट आए। होशंग ने अगले वर्ष पुनः विजय प्राप्त करने का प्रयत्न किया, पर सफलता न मिल सकी।"

नसीरशाह की तौबा

इस संदर्भ में एक और घटना का उल्लेख उचित होगा। सन् १४४५ ई० में जौनपुर के इब्राहीम शर्की ने मालवा के सुल्तान महमूद को एक पत्र भेजा था जिसमें लिखा था कि कालपी का नसीरशाह "शरीअत के मार्ग से विचलित हो गया है। उसने रोजा-नमाज त्यागकर मुसलमान स्त्रियों को नृत्य की शिक्षा हेतु हिन्दू नायकों को दे दिया है।"[1] डूंगरेन्द्र-सिंह के समकालीन भारतीय संगीत के नायक कालपी में अपना प्रभाव फैला चुके थे, यह स्पष्ट है। परन्तु यह सांस्कृतिक इतिहास का विषय है। यहाँ इतना कथन ही पर्याप्त है कि नसीरशाह ने तौबा की और विग्रह से पीछा छुड़ाया।

नरवर पर आक्रमण

ग्वालियर के दक्षिण-पश्चिम में लगभग ५० मील पर सिन्धु नदी के मोड़ पर अत्यन्त प्राचीन नरवर गढ़ स्थित है। जिस पहाड़ी पर यह स्थित है वह ४०० फीट ऊँची है। यह गढ़ तीन भागों में विभक्त है। मध्य का भाग मध्यमहल (मझमहल) कहलाता है, इसे मुसलमानों ने "वालाहिसार" नाम दे दिया था। यह गढ़ का मुख्य भाग है। इसके उत्तर की ओर के भाग का प्राचीन नाम अज्ञात है, आजकल वह "मदार-हाट" कहलाता है, क्योंकि वहाँ मदार शाह का मजार वना हुआ है। गढ़ का दक्षिण-पूर्वी भाग दूल्हाकोट कहा जाता है जो कछवाहा राजा दुर्लभराय या दूल्हाराय अर्थात् ढोलाराय की प्रेमगाथा का स्मरण दिलाता है। गढ़ के तीनों भागों का परकोटा लगभग पाँच मील के घेरे का है। दृढ़ता और विशालता की दृष्टि से ग्वालियर गढ़ के पश्चात् इस प्रदेश में नरवर गढ़ का दूसरा स्थान है।

अलाउद्दीन खलजी द्वारा नरवर के जज्जपेल्ल वंश का राज्य समाप्त करने के पश्चात् नरवर का इतिहास व्यवस्थित रूप में नहीं मिलता। सन् १३४२ ई० में जव इब्नवत्तूता नरवर आया था तब वहाँ वैरमखाँ नामक तुर्क प्रशासक था। इब्नवत्तूता ने लिखा हैं कि यह एक छोटा-सा नगर है और हिन्दुओं के मध्य में है, किन्तु वह मुसलमानों के अधिकार में है।[2]

सन् १४३७ ई० में नरवर का प्रशासक वहरखाँ था। ज्ञात यह होता है कि लगभग एक शताब्दी तक नरवर दिल्ली के सुल्तानों के ही अधीन रहा, यद्यपि तैमूर के आक्रमण के पश्चात् नरवर का प्रशासक नाममात्र की ही दिल्ली की अधीनता मानता था।[3]

---

१. डॉ० रिजवी, उत्तर तैमूर कालीन भारत, भाग २, पृ० ७६।

२. डॉ० रिजवी, तुगलुक कालीन भारत, भाग १, पृ० २६७।

३. अनेक स्थानों पर यह कथन किया गया है कि नरवर पर वीरसिंहदेव तोमर के समय से ही ग्वालियर के तोमरों का अधिकार हो गया था। परन्तु यह कथन निश्चय ही इतिहास-सम्मत नहीं है।

सन् १४३७ ई० में डूंगरेन्द्रसिंह ने नरवर पर आक्रमण किया था, और इस समय मालवा के महमूद खलजी से उनका युद्ध हुआ था, इसका उल्लेख मध्ययुगीन फारसी इतिहासों में मिलता है। तबकाते-अकबरी में इस आक्रमण का विवरण निम्न रूप में दिया गया है[1]—

"चन्देरी की विजय कर मालवा का महमूद खलजी वापस होने का विचार कर ही रहा था कि गुप्तचरों ने यह समाचार पहुँचाया कि ग्वालियर के क़िले से निकलकर डूंगरसेन (डूंगरेन्द्रसिंह) ने शहरे-नव (नरवर) को घेर लिया है। यद्यपि सेना वर्षाऋतु तथा बहुत समय के अवरोध के कारण व्याकुल हो चुकी थी, तथापि उसने निरन्तर यात्रा करके ग्वालियर की ओर प्रस्थान किया। जब वह सेना उस राज्य में पहुँची तो उसने विनाश तथा विध्वंस प्रारम्भ कर दिया। बहुत से राजपूतों ने किले से निकल कर युद्ध प्रारम्भ कर दिया। महमूदशाह की सेना से मुकाबला करने की शक्ति न होने के कारण वे भाग कर किलें में प्रविष्ट हो गए। डूंगरसेन यह समाचार पाकर भाग खड़ा हुआ और शहर की ओर चल दिया। क्योंकि सुल्तान महमूद का उद्देश्य शहरे-नव (नरवर) को मुक्त कराना था, अतः उसने ग्वालियर के किले की विजय का प्रयत्न नहीं किया और शादियाबाद की ओर लौट गया।"

ख्वाजा निजामुद्दीन के 'इतिहास' का समर्थन फरिश्ता ने भी किया है और आधुनिक इतिहासकारों ने भी।[2]

युद्ध का यह विवरण प्रत्यक्षतः अस्वाभाविक और अप्रामाणिक ज्ञात होता है। घिरा हुआ था नरवर जिसे मुक्त कराने के लिए महमूद चन्देरी से चला था, और वह पहुँच गया ग्वालियर! ग्वालियर गढ़ पर लड़ रहा था राजकुमार कीर्तिसिंह और भाग खड़ा हुआ नरवर से डूंगरेन्द्रसिंह, वह भी ग्वालियर की ओर नहीं, 'शहर की ओर' !!

इस घटना-क्रम में फरिश्ता ने कुछ और भी जोड़ा है। ख्वाजा निजामुद्दीन ने महमूद खलजी को ग्वालियर से माण्डू रवाना कर दिया, परन्तु इसके विरुद्ध फरिश्ता ने लिखा है—

"चूंकि सुल्तान का मूल उद्देश्य डूंगरसेन का ध्यान शहरे-नौ (नरवर) से हटा देना था, वह तुरन्त ही ग्वालियर से चल दिया और ऐसे मार्ग से चल पड़ा जिससे डूंगरसेन का सामना न हो सके तथा किसी प्रकार शहरे-नौ पहुँच गया। मार्ग में उसने प्रत्येक सैनिक को एक-एक गधे भर अनाज लाद लेने का आदेश दिया जिसने उसने शहरे-नौ के निवासियों को बाँट दिया। उसने बहरखाँ को पचास हजार टके इसलिए दिए कि डूंगरसेन द्वारा दी गई क्षति को पूरा कर सके।....शहरे-नौ से महमूद माण्डू लौट आया।"

'डूंगरेन्द्रसिंह द्वारा की गई क्षति' और 'अनेक गधे भर अनाज' तथा 'डूंगरेन्द्रसिंह से बचकर चलने' आदि के उल्लेख अनेक बातें स्पष्ट कर देते हैं। महमद खलजी ग्वालियर

---

१. डॉ० रिजवी, उत्तर तैमूर कालीन भारत, भाग १, पृ० ७२।

२. ए कम्प्रहेन्सिव हिस्ट्री आफ इण्डिया, भाग ५, पृ० ९११।

गया अवश्य, तथापि वह यह सोचकर गया होगा कि डूंगरेन्द्रसिंह की अनुपस्थिति में वह गढ़ प्राप्त करने में सफल हो सकेगा, परन्तु वह वहाँ पराजित हुआ। जब महमूद को यह ज्ञात हो गया कि डूंगरेन्द्रसिंह नरवर के बहरखाँ को लूट कर ग्वालियर लौट रहे हैं, तभी महमूद नरवर की ओर बढ़ा और लुटे-पिटे बहरखाँ को धन और अन्न देकर अपना वशवर्ती बना लिया।

ग्वालियर के तोमरों के पास कोहेनूर हीरा था जो उन्होंने मालवा के खलजियों से छीना था।[1] ज्ञात होता है कि महमूद खलजी को ग्वालियर छोड़ते समय यह हीरा तोमरों को देना पड़ा था।

हिन्दू-मुस्लिम ऐक्य का अरुणोदय—जैनुल-आबेदीन

असहिष्णुता के उस युग में कश्मीर के जैनुल-आबेदीन के रूप में एक अप्रतिम व्यक्तित्व के दर्शन होते हैं। सन् १३८९ से १४१३ ई० तक कश्मीर में नितान्त धर्मान्ध और हिन्दुओं का कट्टर विरोधी सिकन्दर बुतशिकन राज्य कर चुका था। अपना विरुद 'बुतशिकन' सार्थक करने के लिए उसने कश्मीर के मन्दिरों को ध्वस्त किया और हिन्दुओं को बलपूर्वक धर्म-परिवर्तन करने के लिए विवश किया। ब्राह्मण पण्डितों ने या तो इस्लाम ग्रहण कर लिया या राज्य छोड़ दिया। उसके पश्चात् उसका पुत्र अलीशाह कश्मीर का सुल्तान था, परन्तु उसके भाई शाहखाँ ने उसे सन् १४२० ई० में अपदस्थ कर दिया और सुल्तान जैनुल-आबेदीन के नाम से स्वयं राज्य ग्रहण किया। उसका राज्यकाल पूरी आधी शताब्दी, अर्थात् सन् १४७० ई० तक चला। इस प्रकार जैनुल-आबेदीन डूंगरेन्द्रसिंह तथा कीर्तिसिंह, दोनों का ही समकालीन था।

यशरथ (जसरथ) गक्खर (खोखर) के सहयोग से जैनुल-आबेदीन ने समस्त पंजाब को अपने अधिकार में कर लिया तथा तिब्बत और सिन्धुनद का प्रदेश भी अपने राज्य में मिला लिया। इस प्रकार वह उस युग की दृष्टि से बहुत बड़े भू-भाग का स्वामी था। जैनुल-आबेदीन संगीत का मर्मज्ञ तथा प्रश्रयदाता था। उसकी राजसभा में संस्कृत, फारसी और अरबी भाषाओं के साहित्य की अत्यधिक उन्नति हुई। मुस्लिम और हिन्दू सन्तों को उसने समान रूप से आदर दिया। उसकी गोष्ठियों में हिन्दू और मुसलमान विद्वान उपस्थित रहते थे। देश के विभिन्न भागों के संगीतज्ञ, अभिनेता (नट) तथा नर्तक उसकी राजसभा में एकत्रित होने लगे। श्रीभट्ट के परामर्श से उसने उन सब ब्राह्मणों को कश्मीर में वापस बुला लिया जो सिकन्दर बुतशिकन के मंत्री सियह भट्ट के आतंक से देश छोड़ गए थे। जो हिन्दू सिकन्दर के समय में बलपूर्वक मुसलमान हो गए थे, उन्हें पुनः अपने धर्म-परिवर्तन की अनुमति दी गई। इस सुल्तान ने 'महाभारत' तथा 'राजतरंगिणी' के फारसी में अनुवाद कराए। कल्हण ने राजतरंगिणी में अपने समय के राजा जयसिंह तक का

---

१. डा० रिजवी, बाबर पृ०, १६१।

इतिहास लिखा था। आगे राजानक जोनराज ने जैनुल-आवेदीन के समय तक का इतिहास उसमें जोड़ा। जैनुल-आवेदीन के समय में उसके राजपण्डित श्रीवर ने इस राजतरंगिणी को आगे प्रवाहित किया और सुल्तान का इतिहास भी उसमें लिख डाला।[1]

जैनुल-आवेदीन के मैत्री-सम्बन्ध उसके समकालीन हिन्दू तथा मुसलमान, सभी राजाओं से थे। लगभग १४५१-५२ ई० में जैनुल-आवेदीन ने विशाल जैनसर का निर्माण कराया। उस समय किए गए उत्सव में अनेक प्रदेशों के राजाओं ने उसे भेटें भेजीं।

श्रीवर पण्डित ने जैन-राजतरंगिणी के छठवें अध्याय में जौनपुर और मालवे के सुल्तान एवं अन्य मुस्लिम सुल्तानों द्वारा भेजी गई भेटों के साथ-साथ राणा कुम्भा और डूंगरेन्द्रसिंह द्वारा भेजी गई भेटों का भी उल्लेख किया है। श्रीवर का यह विवरण भारत के सांस्कृतिक तथा राजनीतिक इतिहास का स्वर्णिम पृष्ठ है। श्रीवर ने जैनुल-आवेदीन द्वारा पदमपुर (आधुनिक पम्पोर) में जैनसर, राज-महल आदि के निर्माण के पश्चात् किए गए उत्सव (अखण्ड—कला-कलाप) में विभिन्न राजाओं द्वारा भेजी गई भेंटों का वर्णन किया है।

श्रीवर के अनुसार दिगन्तों के भूपालों ने जैनुल-आवेदीन के गुण और गौरव से प्रभावित होकर अनेक प्रकार के उपायन भेजे।

पंचनद (पंजाव) के राजा ने हाजिक जाति के, वेग में वायु को भी जीतने वाले, तुरंग भेजे। इन अश्वों के शरीर पर कल्याणपंचक के चिह्न थे।

माण्डव्यगौड भूमि (माण्डू) के खलुच्य (खलजी) महीपति ने 'दरन्दाम' नामक वस्त्र भेजे। (यह खलजी सुल्तान महमूद प्रथम, १४३६-१४६९, है।) इस खलजी सुल्तान ने अपनी 'स्वभाषा' (संभवत: फारसी) में काव्य लिख कर अत्यधिक धन के साथ भेजा। जैनुल-आवेदीन को खलजी के अन्य उपायनों की अपेक्षा उसका काव्य ही अधिक प्रिय ज्ञात हुआ।

चित्तौड़ के राणा कुम्भा (१४३३-१४६८) ने "नारीकुंजर" नामक वस्त्र भेजे; इन वस्त्रों, में नारियों की आकृतियों को मिलाकर हाथी का आकार वनाया गया था। (नारी कुंजर के चित्र मध्य-युग में वहुत वनाए गए थे। नारियों के शरीरों की आकृति को अत्यन्त लालित्यपूर्ण रीति से संयोजित कर वनाया गया कुंजर का एक अत्यन्त सुन्दर भित्ति चित्र नरवर गढ़ के कचहरी-महल में भी वना हुआ है।)

इसके पश्चात् श्रीवर ने गोपालपुर के राजा 'डूंगरसेह' के उपायन का उल्लेख किया है[2]—

१. डॉ० रिजवी उत्तर तैमूर कालीन भारत, भाग २, पृ० ५१७।

२. वुलेटिन ऑफ दि प्रिंस ऑफ वेल्स म्युजियम, क्र०७, १९५९-६२ में प्रकाशित डॉ० मोतीचंद्र तथा डॉ० वासुदेवशरण अग्रवाल के लेख "ए नोट ऑन सम कल्चरल रिफरेन्सेज इन श्रीवर पण्डित्स राजतरंगिणी" से साभार।

राजा डूंगरसेहाख्यो गोपालपुरवल्लभः।
गीतताल-कला-वाद्य नाट्य-लक्षण-लक्षितम् ॥१४॥
संगीत-चूड़ामण्याख्यं श्रीसंगीतशिरोमणिम्।
राज्ञे गीत विनोदार्थं गीतग्रन्थ व्यसर्जयत् ॥१५॥

'गोपालपुर' के ये 'डूंगरसेह', गोपाचल के तोमर डूगरेन्द्रसिंह ही हैं। इनके द्वारा 'संगीत चूड़ामणि' तथा 'संगीत शिरोमणि' नामक ग्रंथ उपायन में भेजे गए जिनमें गीत, ताल, वाद्य और नाट्य का विवेचन था। इन ग्रन्थों के साथ डूंगरेन्द्रसिंह ने प्रगेय गीतों का भी एक संग्रह भेजा था।

डूंगरेन्द्र द्वारा भेजे गए उपायनों से यह अवश्य प्रकट होता है कि डूगरेन्द्रसिंह के समय ग्वालियर संगीत, नृत्य और गीत-रचना का प्रख्यात केन्द्र बन चुका था।

अगले श्लोक में श्रीवर ने कीर्तिसिंह का उल्लेख किया है। जैनसर के महोत्सव के समय कीर्तिसिंह युवराज थे। श्रीवर ने यह लिखा है कि डूंगरेन्द्रसिंह के पश्चात् उनका पुत्र एवं उत्तराधिकारी भी जैनुल-आबेदीन से प्रीति बनाए रहा—

तस्मिन् राज्ञि दिवं याते कीर्तिसिन्धौ महीपतिः
तत्पुत्रे पितृवत्प्रीतिमरक्षत् प्रहितोपदः ॥१६॥

इसके पश्चात् सौराष्ट्र के राजा द्वारा मुचकुन्द नामक सुन्दर पक्षियों की भेंट भेजने का उल्लेख है। आगे के श्लोक में दिल्ली के सुल्तान का उल्लेख है—

जिघांसया चरन् सोऽपि भूपतेः प्राकृतैर्गुणैः।
बद्धो हिंस्रोऽपि डिल्लेशो बल्लूको रल्लकोपमः ॥

यह 'डिल्लेशो बल्लूक' बहलोल लोदी है। श्रीवर ने उसके द्वारा कोई उपायन भेजने का उल्लेख नहीं किया है, केवल यह लिखा है कि यद्यपि वह प्रकृति से बहुत क्रूर था तथापि जैनुल-आबेदीन के भय से हरिण के समान (रल्लकोपम) हो जाता था।

आगे श्रीवर ने तिब्बत के लामाओं तथा खुरासान के सुल्तानों द्वारा उपायन भेजने का उल्लेख किया है। उत्तर के राजा मिर्जा मौसेद द्वारा उपायन भेजने का उल्लेख है जो बाबर का प्रपिता मिर्जा अबू सईद हैं। गुजरात के महमूद बघर्रा (सन् १४५८-१५११ ई०) के उपायनों का भी उल्लेख किया गया है। श्रीवर ने गिलान (ईरान) के राजा द्वारा भेंट भेजने का भी उल्लेख किया गया है।[1]

---

१. श्रीवर के कथन का पूर्ण समर्थन तबकाते-अकबरी से भी होता है। ख्वाजा निजामुद्दीन ने तबकाते-अकबरी में ग्वालियर के राजा का नाम 'डूंगरसेन' और उसके राजकुमार का नाम 'कोटसन' या 'कोबनन्द' लिखा है। ख्वाजा साहब 'श्रीवर' को 'सुतुम', और 'जैन राज तरंगिणी' को "जैन हरब" लिखते हैं। देखें डॉ० रिजवी, उत्तर तैमूर कालीन भारत, भाग २, पृ० ५१८-५१९।

श्रीवर के इस वर्णन से जैनुल-आवेदीन के प्रभावक्षेत्र का अनुमान किया जा सकता है। ये समस्त राजा उसके अधीन नहीं थे, मित्र अवश्य थे। श्रीवर के वर्णन से यह भी प्रकट होता है कि जैनुल-आवेदीन वहलोल लोदी से प्रसन्न नहीं था, इसके विपरीत ग्वालियर के तोमर राजा डूंगरेन्द्रसिंह और तत्पश्चात् उसके उत्तराधिकारी कीर्तिसिंह से उसके प्रीति-सम्बन्ध गहरे रहे।

यह सुनिश्चित है कि ग्वालियर के तोमरों ने कश्मीर के इस प्रवल सुल्तान को कुछ दिया ही नहीं होगा, उससे कुछ पाया भी होगा। राजनीतिक क्षेत्र में सवसे बड़ी उपलब्धि यह हुई कि सन् १४३७ ई० से सन् १४५५ ई० तक न तो ग्वालियर को "हिंस्र वल्लूक" से उलझना पड़ा और न उस पर किसी अन्य सुल्तान ने आक्रमण किया। इसमें डूंगरेन्द्रसिंह और कीर्तिसिंह का शौर्य ही प्रमुख कारण रहा होगा, क्योंकि दुर्वल की सहायता कोई नहीं कर सकता; तथापि, जैनुल-आवेदीन का प्रभाव भी इस वहुमूल्य शान्ति की उपलब्धि में सहायक अवश्य हुआ होगा।

परन्तु, तोमरों के ग्वालियर को जैनुल-आवेदीन की मैत्री से सांस्कृतिक क्षेत्र में अवश्य ही वहुत उपलब्धि हुई होगी। जैनुल-आवेदीन कला, संगीत और काव्य का वहुत वड़ा प्रश्रयदाता था। ग्वालियर का समृद्ध संगीत और साहित्य उसके सम्पर्क में आकर अवश्य निखरे होंगे। हिन्दू-तुर्क विद्वेष भी निश्चित ही कम हो गया होगा। कश्मीर और ग्वालियर ने उस युग में भारतीय सामासिक संस्कृति का जो बीजारोपण किया, वह आगे की शताब्दियों में विकसित होती रही। राजनीतिक क्षेत्र में तुर्क, अफगान मुगुल, पठान और राजपूत खूव लड़े; परन्तु सांस्कृतिक क्षेत्र में, जनसाधारण में, स्नेह की अन्तःसलिला भी प्रभावित होती रही, जिसके कारण समाज को जीवित रहने का संवल मिला। मानसिंह तोमर के समय सम्प्रदायों और धर्मों की संकुचित सीमाओं को तोड़ता हुआ जो सांस्कृतिक विकास हुआ था उसका तेजस्वी सूत्रपात जैनुल-आवेदीन तथा डूंगरेन्द्रसिंह और कीर्तिसिंह की 'प्रीति' से हुआ था।

डूंगरेन्द्रसिंह और उनका ग्वालियर

डूंगरेन्द्रसिंह इस युग के महानतम राजाओं में हैं। वे पराक्रमी भी थे और साहित्य तथा संगीत के आश्रयदाता भी। मित्रसेन के शिलालेख में जहाँ उन्हें युद्धक्षेत्र में परमशूर कहा गया है, वहाँ अपने आश्रितों के लिए कल्पवृक्ष के समान कहा है। खड्गराय ने उन्हें 'महासूर' लिखा है।

डूंगरेन्द्रसिंह के राजकवि विष्णुदास ने वि० सं० १४९२ (सन् १४३५ ई०) में डूंगरेन्द्रसिंह को सुनाने के लिए महाभारत कथा लिखी थी। ज्ञात होता है कि भांडेर की विजय से लौटने के पश्चात् डूंगरेन्द्रसिंह ने विष्णुदास को महाभारत कथा सुनाने के लिए कहा। विष्णुदास ने डूंगरेन्द्रसिंह के पराक्रम के विषय में लिखा है[1]—

१. 'महाकवि विष्णुदास कृत महाभारत', पृ० ४७।

चौदह सै रु बानवै आना। पंडुचरित में सुन्यौ पुराना।
कातिक क्रस्न भई तिथि ग्यासी। वासरु सुक्र सिंह की रासी।
तिहिं संजोग भाउ भौ तासू। राइ हंकार लियौ कविदासू।
पंडबंस तोमर धुरधीरू। डोंगरसिंघु राउ वरबीरु।
गढ़ गोपाचल बैरिन सालू। हय-गय-नरपति टोडरमालू।[1]
भुजबल भींउ न सकै कासू। असियर अनी दिखावै त्रासू।
ता सिर सेतु छत्र फरहरई। कोऊ समर उभारु न करई॥
ता गुन बहुत न सकौं वखानी। कीरत साइर परभुमि जानी।

डूंगरेन्द्रसिंह के समकालीन जैन कवि रइधू ने अपभ्रंश में लिखे अपने बलहद्द पुराण (पद्मपुराण) में गोपाचल गढ़ की दृढ़ता तथा डूंगरेन्द्र के शौर्य का वर्णन किया है—

गोव्वागिरि णामें गढ़ महाणु
णं विहिणा णिम्मउ रयण ठाणु
अइ उच्च धवलु नं हिम गिरिन्दु
जहिं जम्मि समच्छइ मणि सरिन्दु
तहिं डूंगरेंद णामेण राउ
अरिगण सिरग्गि संदिन्न घाउ।

पार्श्वपुराण में रइधू ने डूंगरेन्द्रसिंह का वर्णन कुछ विस्तार से किया है। तोमरवंश का वह राजा राजनीति में दक्ष, शत्रुओं के मानमर्दन में समर्थ और क्षत्रियोचित तेज से अलंकृत था। उसके पिता का नाम गणेश या गणपति था, जो गुण-समूहों से विभूषित था। अन्याय रूपी नागों के विनाश करने में प्रवीण, पंचांग मंत्र-शास्त्र में कुशल तथा असिरूपी अग्नि में मिथ्यात्व रूपी वंश का दाहक था और उसका यश सब दिशाओं में व्याप्त था। वह राजपद से अलंकृत, विपुल-भाल और बल से सम्पन्न था। इसकी पट्टमहिषी का नाम 'चन्दादे' था, जो अतिशय रूपवती और पतिव्रता थी। इसके पुत्र का नाम कीर्तिपाल था जो अपने पिता के ही समान तेजस्वी, गुणज्ञ, बलवान और राजनीति में चतुर था।

डूंगरेन्द्रसिंह-कालीन साहित्य

डूंगरेन्द्रसिंह के राज्यकाल में साहित्य और संगीत की बहुत अधिक उन्नति हुई थी। इस राज्यकाल में लिखी गई संस्कृत की ऐसी कोई रचना उपलब्ध नहीं हुई है जिसे असंदिग्ध रूप से उस समय के ग्वालियर की कृति कहा जा सके। यह अत्यन्त असंभव ज्ञात होता है कि वीरसिंहदेव के समय से प्रवाहित संस्कृत ग्रन्थों की धारा डूंगरेन्द्रसिंह के राज्यकाल में एकदम सूख गई हो।

---

1. अश्वपति, गजपति और नरपति, इन तीनों विरुदों को धारण करने वाले राजाओं का बल तोड़ने वाला 'तोडरमल्ल'। यह विरुद राणा कुंभा ने भी धारण किया था। तोडरमल्ल का रूढ़ अर्थ 'परमवीर' हो गया था।

डूंगरेन्द्रसिंह ने तीन संगीत ग्रन्थ जैनुल-आबेदीन के पास भेजे थे, इसका उल्लेख पहले किया जा चुका है। ये दोनों ग्रन्थ, संभव है, डूंगरेन्द्रसिंह के समय में लिखे गए हों, अथवा संभव है, उसके पूर्व के लिखे हुए हों। यह विषय अत्यन्त विवादास्पद है।

महाकवि विष्णुदास

डूंगरेन्द्रसिंह के ग्वालियर की साहित्य-सेवा के साक्षी के रूप में जो कुछ सामग्री उपलब्ध है, वह उसे साहित्य के इतिहास में, विशेषतः हिन्दी भाषा और साहित्य के इतिहास में, बहुत ऊँचा एवं सम्माननीय स्थान दिलाने के लिए पर्याप्त हैं। जिसके राज्यकाल में महाकवि विष्णुदास जैसा कवि हुआ हो, उसने अपना ऋषि-ऋण पूर्णतः शोधन कर दिया, यह माना जाएगा।

भारतीय भाषाओं के साहित्यों के इतिहास की यह अभूतपूर्व घटना है कि हिन्दी के प्रथम महाकवि विष्णुदास अन्धकार के गर्त में ही पड़े रहे, न साहित्य के विद्वान उनकी खोज करने की ओर प्रवृत्त हुए और न इतिहास के विद्वान ! जिस महाकवि की एक रचना 'स्वर्गारोहण' का अनुवाद फ्रेंच भाषा में सन् १८५२ ई० में हो चुका था, उसके विषय में विस्तृत खोज करने की जिज्ञासा भारतीय विद्वानों के मस्तिष्क में जागृत न हो सकी।

विष्णुदास ने केवल तीन प्रवन्ध-काव्य लिखे थे—महाभारत (पाण्डव-चरितु), स्वर्गारोहण तथा रामायण। वास्तव में स्वर्गारोहण उनके महाभारत का ही अंश है, परन्तु कवि ने उसे स्वतंत्र कृति के रूप में प्रस्तुत किया है। विष्णुदास के महाभारत की रचना वि० सं० १४९२, कार्तिक कृष्ण ११ के दिन प्रारम्भ की गई थी —

> **चौदह सै रु बानवै आना, पंडु चरित में सुन्यौ पुराना।**
> **कातिक कस्न भई तिथि ग्यासी, बासरु शुक्र (सुभ्म) सिंह की रासी ॥**

मूल पाठ में 'शुक्र' पढ़ा जाता है, तथापि वि० सं० १४९२ कार्तिक कृष्ण ११ के दिन मंगलवार पड़ता है। संभावना यह है कि मूलग्रन्थ में शुभ (मंगलवार) था, जो प्रतिलिपिकार ने 'शुक्र' कर दिया। विष्णुदास ने अपना महाभारत (पांडव-चरितु) अक्टवर १८, सन् १४३५ ई० को सुनाना प्रारम्भ किया था। स्वर्गारोहण पर्व में उसका रचनाकाल नहीं दिया गया है।

विष्णुदास की रामायण में रचनाकाल प्राप्त होता है —

> **चौदह सत निन्यानव लियौ, पून्यौ पवित्तु रसायनु कियौ।**
> **गुरु वासर रेवती नक्षत्र, माघ मास कवि कियौ कवितु ॥**

जिस पाठ में ये पंक्तियाँ मिलती हैं, वह बहुत बाद का है; अतएव, उसमें कुछ अशुद्धियाँ हो गई हैं। जब तक विष्णुदास की रामायण की कोई अन्य प्रति उपलब्ध न हो, रामायण का रचनाकाल वि० सं० १४९९, माघ १५ (जनवरी १६, सन् १४४३ ई०) माना जा सकता है।

विष्णुदास के जीवनवृत्त के विषय में अधिक ज्ञात नहीं हो सका है। उनकी रचनाओं से केवल कुछ तथ्य ही सामने आते हैं। उनके पिता का नाम 'कर्ण लावण्य' या 'लावण्य कर्ण' था और वे व्यास थे। विष्णुदास ने नाथपंथ में दीक्षा ले ली थी, उनके दीक्षा-गुरु सुन्दरनाथ थे। ग्वालियर गढ़ पर नाथपंथियों का प्रतिष्ठित मठ था, जिसकी स्थापना ग्वालिपा ने की थी। नाथपंथ की यह गद्दी मानसिंह तोमर के समय तक अक्षुण्ण रूप में चलती रही। उसका अन्तिम मठाधीश येघनाथ था जिसने मानसिंह के राज्यकाल में गीता का हिन्दी भाष्य लिखा था।

विष्णुदास के महाभारत (स्वर्गारोहण पर्व सहित) के प्रेरणा-स्रोत डूंगरेन्द्रसिंह थे। इनकी इस रचना में तत्कालीन उत्तर भारत के राजपूत राजाओं की मनोदशा तथा विचार-संघर्ष का सटीक चित्र प्राप्त होता है। महाभारत की प्रस्तावना में विष्णुदास ने लिखा है[1] —

तिहि तंमोरु दियौ कवि हाथा, पुनि पूँछै डोंगरु नरनाथा।
कहि कविदास हिए धरि भाऊ, कौरौ-पांडव कौ सतिभाऊ।
पंच पंडु सौ कौरौं भए, कहि क्यों जिरजोधनु खै लए।

डूंगरेन्द्रसिंह ने अपने राजकवि (संभवतः पुरोहित भी) से बहुत सार्थक प्रश्न पूछा था। पांडव केवल पाँच थे और कौरव एक-सौ-एक थे। फिर भी दुर्योधन अपने सौ भाइयों सहित कैसे और क्यों नष्ट हो गया? निश्चय ही उस समय राजपूत संख्या में अधिक थे, फिर भी तुर्क उन्हें पराजित और पराभूत कर देते थे। इसका कोई कारण अवश्य होना चाहिए? इसी जिज्ञासा का उत्तर था विष्णुदास का महाभारत या 'पाण्डव-चरितु'। अपने महाकाव्य के अन्त में विष्णुदास ने अपने आश्रयदाता तथा अपने समाज के प्रति मंगल-कामना व्यक्त की थी[2] —

जिहि नारायन कंसु संघार्यो, मृष्टिक चानूररु केसी मार्यो।
जिहि ससिपाल बध्यौ रन राऊ, पढ़त-सुनत सो करै सहाऊ॥
बाहनु बैलु जटा महं गंगा, डबरू हाथ गवरि अरधंगा।
अंधक रिपु जिन कियौ संहारू, सो सहाय सिव गवरि भतारू।

स्वर्गारोहण में तोमर-राजा की शंका और विष्णुदास द्वारा उसका समाधान और अधिक स्पष्ट हो जाता है[3] —

धरमराज सम तौंवर राऊ, सुनत कथा मन अधिक उछाहू।
कहौ कविदास कलि की करनी, जस तुम सुनी व्यास जिम बरनी
म्लिच्छबस बढ़ि रह्यौ अपारा, कैसें रहै धरमु कौ सारा?
दास उचारै कलि व्यौहारा, राजा गहै चित्तु दै सारा।

---

१. लेखक का "महाकवि विष्णुदास कृत महाभारत", पृष्ठ ५।
२. वही, पृष्ठ १७०।
३. वही, पृष्ठ १७१।

डूंगरेन्द्रसिंह ने जिस 'धर्म' का सार जानना चाहा था, वह कोई संकुचित 'सम्प्रदाय' नहीं था, वह तत्कालीन भारत के बहुजन की जीवन-पद्धति थी। उसकी रक्षा करने के लिए ही डूंगरेन्द्रसिंह चिन्तित थे। विष्णुदास ने उन सब विकृतियों का उल्लेख किया था जो तत्कालीन समाज में प्रविष्ट हो गई थीं, जिनमें सबसे विषम समस्या थी राजाओं में शौर्य का अभाव[1] —

जगमें ओछी चलै कुटेव, मेहरी बैठ करावै सेव।
लुपत होइ पातिव्रत धर्म, चलन चलै म्लिछन के कर्म।।
जग्य धर्म कलि बिरले होई, सगौ न कलि काहू कौ कोई।
कलि में कन्या बेचै बापु, महा जु कलि में चलि है पापु।।
कलि में राजा करै अकाजु, बेटी दै दै भोगिहैं राजु।

राजा और उनके पुरोहित-कवि इसी दुर्दशा का समाधान खोज रहे थे।

उस युग के राजा तथा कवि समाज-रक्षा की जिस उदात्त भावना से प्रेरित थे, उसका विवेचन उद्धरणदेव तथा नयचन्द्र सूरि के सन्दर्भ में किया जा चुका है। सबसे बड़ी समस्या बालक, स्त्री, गाय और ब्राह्मणों की रक्षा की थी। तुर्क इन्हें नष्ट कर रहे थे और राजपूत उनकी रक्षा करना चाहते थे। जिस समाज के स्त्री तथा बालक नष्ट कर दिए जाएँ, वह आगे बढ़ नहीं सकता। गाय में धार्मिक श्रद्धा भी निहित थी तथा आर्थिक संतुलन भी। ब्राह्मण प्रबुद्ध वर्ग अथवा शिक्षक वर्ग था। बाल, स्त्री, गौ और ब्राह्मण की रक्षा के लिए, इसी कारण, उस युग का समाज कृत-संकल्प हुआ था। विष्णुदास ने भी इनकी रक्षा को क्षात्र-धर्म माना है—

बाम्हन गाय तिरी के गहना, तुमहि कुवर चाहिए न रहना।

विष्णुदास ने 'रामायण' की रचना डूंगरेन्द्रसिंह अथवा किसी अन्य राजा की तुष्टि के लिए नहीं की थी। इस ग्रन्थ की रचना उसने क्यों की, इसका स्पष्टीकरण उसने रामायण में ही किया है —

लोभ बीज मानुस कौ बयौ, दुर्बच्च बाढि पाप तरु भयौ।
ताहि कुकर्म भये फलमूल, जिहि विष स्वादु लह्यौ विषभूल।।
प्रथम लोभ दूजो अविवेकु, द्वै तरुवर दीसै फलु एकु।
राम ते द्वै अच्छरन कुठार, सिरी कहत अति तीछन धार।।
जे अवलम्ब जीभ कौ करैं, मूल छेद ते पातगु हरैं।
पूरब जनम करम के भाइ, तीरथ दान न सक्यौ सिराइ।।
भौ सागर कौं जैहों तिरी, विष्णुदास कवि अस्तुति करी।।

---

१. लेखक का 'महाकवि विष्णुदास कृत महाभारत', पृ० १७२।

धन बिनु कर्म होत नहिं भोग, भ्यास बाहिरैं होत न जोग ।।
तीनि माहि जब एक न लह्यौ, विष्णुदास रामायन कह्यौ ।।

"मनुष्य लोभ रूपी बीज बोता है, उससे पाप का वृक्ष उत्पन्न होता है, उसमें कुकर्म रूपी फल-फूल लगते हैं, जिनसे विष जैसा स्वाद मिलता है। लोभ और अविवेक—दोनों एक प्रकार के ही वृक्ष हैं, उनमें एक प्रकार के ही फल लगते हैं। राम नाम के दो अक्षर कुठार के समान हैं, उनकी धार अत्यन्त तीक्ष्ण है। जिह्वा पर उनका सहारा लेकर, अर्थात्, राम नाम का जाप कर इन दोनों पाप-वृक्षों का मूलोच्छेदन किया जा सकता है। पूर्व जन्म के कर्मों के प्रभाव को तीर्थयात्रा नष्ट न कर सकी। भव सागर से तभी पार हो सकूँगा, जब श्री राम की स्तुति करूँगा। मेरे पास धन नहीं है, इस कारण कर्मकाण्ड नहीं कर सकता हूँ और न भोग कर सकता हूँ। योग-साधना निरन्तर अभ्यास की अपेक्षा करती है। मुझ से न कर्म हो सका, न भोग और न योग। एकमात्र रामकथा का अवलम्ब शेष रह गया है, इसलिए मैंने रामायण कही।"

यद्यपि विष्णुदास ने रामायण की रचना मुक्ति प्राप्त करने के उद्देश्य से की थी, तथापि उसमें भी उसने अपने युग की भावनाओं को प्रतिध्वनित किया है। उसने ऐसे 'नर' का आह्वान किया था जो पृथ्वी की रक्षा कर सके—

कहि नारद हियरां धरि भाउ, धर राखन समरथ को राउ।
धर्म--सील-संजम-गुन-सारु, परिजन परजा बहै अनारु।

और साथ ही उस रामराज्य के पुनरावतरण की मंगल कामना भी थी, जिसमें जनता पूर्ण सुख की उपलब्धि कर सके—

रोग सोग आपदा न होई, विधवा नारि न दीसत कोई।
परजा करम सकल बिधि करैं, परधन लोभ न कोऊ करैं।।
मीचु अकाल होइ नहिं काल, नित मांगे धन बरसहिं माल।
कछु अनीति न होइ अकाज, सात दीप महँ फैलत राज।।

अयोध्या के राममन्दिर को बाबरी मस्जिद में बदल दिए जाने पर गोस्वामी तुलसीदास का मानस उमड़ पड़ा था, विष्णुदास भी इससे अधिक भीषण काण्ड देख-सुन रहा था, उसे भी एक धर्म-रक्षक की आवश्यकता थी। उसकी वाणी ने भी उसे अत्यन्त मार्मिक रूप से आहूत किया था। डूंगरेन्द्रसिंह में उसे ऐसे ही राजा के दर्शन हुए थे, इस कारण ही वह उसके आश्रित रहा था।

सन् १४३५ तथा १४४३ के बीच हिन्दी में विपद महाकाव्यों की रचना करने वाला विष्णुदास निस्संदेह उस हिन्दी भाषा का जनक है, जो सोलहवीं शताब्दी के महाकवि तुलसी और केशव की भाषा का आधार बनी थी। गोस्वामी तुलसीदास के रामचरितमानस की तुलना विष्णुदास के ग्रन्थ महाभारत और रामायण तथा उसके साथ उसके पुत्र नारायणदास

के छिताईचरित के साथ करने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि हिन्दी के इस 'मानस' का स्रोत विष्णुदास और नारायणदास की ये रचनाएँ हैं ।[1]

रइधू तथा अन्य अपभ्रंश-कवि

डूंगरेन्द्रसिंह के समय में जैन सम्प्रदाय को अत्यधिक प्रोत्साहन प्राप्त हुआ था । उनके समय में अपभ्रंश का, संभवतः अन्तिम, महाकवि रइधू भी रचनाएँ कर रहा था तथा कुछ जैन भट्टारकों ने भी अपभ्रंश में रचनाएँ की थीं । उनका विवेचन आगे के परिच्छेद में किया गया है ।

---

१. महाकवि विष्णुदास के विस्तृत विवेचन के लिए लेखक की पुस्तक 'महाकवि विष्णुदास कृत महाभारत' देखें ।

परिच्छेद ७

कीर्तिसिंह

(१४५९—१४८० ई०)

राज्यकाल

डूंगरेन्द्रसिंह का राज्यकाल सन् १४५९ तक चला था, इसका उल्लेख हम पहले कर चुके हैं। उसके पश्चात् ही उसके राजकुमार कीर्तिसिंह का राज्य प्रारंभ हुआ होगा। सन् १४५९ ई० तक निश्चय ही डूंगरेन्द्रसिंह जीवित थे, परन्तु उसके एक-दो वर्ष पश्चात् भी जीवित रहे हों, यह संभव है। डूंगरेन्द्रसिंह या कीर्तिसिंह के राज्यकाल के उल्लेखयुक्त कोई शिलालेख या ग्रन्थ सन् १४६० के आसपास का मिलने पर ही इस समस्या का अन्तिम निराकरण हो सकेगा।

कीर्तिसिंह के उल्लेखयुक्त पूर्वतम शिलालेख तिलोरी का वि० सं० १५२१ (सन् १४६४ ई०) का है, जिसमें 'महाराजाधिराज कीर्तिसिंहदेव' का उल्लेख है।[1] जैन ग्रन्थों में कीर्तिसिंह का वि० सं० १५२१ का ही उल्लेख पूर्वतम प्राप्त हो सका है। इस वर्ष ज्ञानार्णव की प्रति उतारी गई थी और उसमें कीर्तिसिंह के राज्यकाल का उल्लेख है। इस प्रकार वि० सं० १५२१ (सन् १४६४ ई०) के पूर्व कीर्तिसिंह के राज्यकाल का कोई उल्लेख शिलालेख या साहित्य में नहीं मिलता।

शिलालेख तथा साहित्यिक उल्लेखों से कीर्तिसिंह के राज्यकाल के समाप्त होने का वर्ष भी सुनिश्चितरूपेण ज्ञात नहीं होता। कीर्तिसिंह के नामोल्लेख सहित अन्तिम शिलालेख वि० सं० १५३२ (सन् १४७५ ई०) का है।[2] परन्तु तबकाते-अकबरी से ज्ञात होता है कि सन् १४७९ ई० में सुल्तान हुसेनशाह शर्की और बहलोल लोदी के बीच विग्रह प्रारंभ हुआ था, और हिजरी ८८५ में, अर्थात सन् १४८० ई० में, जब हुसेनशाह शर्की ग्वालियर आया था, तब कीर्तिसिंह जीवित थे।[3] साथ ही दामोदर कवि के 'बिल्हण चरित' से यह भी सुनिश्चित है कि वैशाख सुदि दशमी, वि० सं० १५३७ (२० अप्रैल सन् १४८० ई०) को गोपाचल गढ़ पर कीर्तिसिंह का पुत्र कल्याणमल्ल राज्य कर रहा था।

अतएव, कीर्तिसिंह का राज्यकाल सन् १४५९-१४८० ई० माना जा सकता है।

१. ग्वा० रा० अभि०, क्र० २८६।
२. ग्वा० रा० अभि०, क्र० ३१५।
३. डॉ रिजवी, उ० तै० भा०, भाग १, पृ० २०८।

हिंदू सुरत्राण कीर्तिसिंह

वि० सं० १५२५ (सन् १४६६ ई०) का गोपाचल गढ़ का मूर्तिलेख विशेष महत्वपूर्ण है। उसका प्रारंभिक अंश है—

"संवतु १५२५ वर्षे चैत्रसुदि १५ गुरौ श्री गोपाचल
दुर्गे महाराजाधिराज श्री हींदू सुरत्राण श्री
कीर्तिसिंहदेव विजयराज्ये........"

कीर्तिसिंह ने सन् १४६६ ई० में कोई ऐसी उपलब्धि प्राप्त की थी जिसके कारण उन्हें 'हिन्दू-सुरत्राण' का विरुद प्रदान किया गया।

कीर्तिसिंह के शौर्य और उसके प्रताप का वर्णन रइधू ने अपनी रचना 'सम्यकत्व कौमुदी' में किया है—

तोमर-कुल कमल-विपास-मित्तु, दुव्वार वैरि संगर अतित्तु
डूंगरणिव रज्ज धरा समत्थु, वंदियण समप्पिय भूरि अत्थु
चउराय विज्ज पालण अतंदु, णिम्मल-जस-वल्ली भवणकंदु
कलि चक्क वट्टि पायड णिहाणु, सिरि कित्तिसिंघु महिवइ पहाणु।

मित्रसेन के वि० सं० १६८८ के रोहिताश्व गढ़ के शिलालेख में कीर्तिसिंह के विषय में लिखा है कि उसके भय से राजा लोग युद्ध करना वन्द कर देते थे, उसकी स्वतंत्र स्थिति त्रैलोक्य में मान्य थी, उसने हरिहर की भक्ति द्वारा इन्द्र के वैभव को भी विचलित कर दिया था तथा उसकी विशाल भुजाओं में अर्जुन जैसा गाण्डीव शोभित रहता था—

तत्पुत्रः कीर्तिसिंहः समजनि न भयाद यस्य संग्रामलीलां
चक्रुर्वैरिक्षितीन्द्रास्त्रिजगति विदितौ यस्य दानप्रतापौ।
यस्मिन्नेकान्तचित्ते भजति हरिहरौ कम्पिता शक्र लक्ष्मी
यद्दोर्दण्डप्रचण्ड धनुरभजदहो चण्डगाण्डीवशोभां ॥६॥

खोरा के पृथ्वीराय और कीर्तिसिंह

तोमर-कुल-कमल के विकास के लिए सूर्य, दुर्वार वैरियों को संग्राम में पछाड़ने वाले, डूंगरेन्द्रसिंह के समान ही राज्य को धारण में समर्थ, त्रैलोक्य में अपनी स्वतन्त्र स्थिति मान्य कराने वाले, गाण्डीवधारी आदि-आदि—हिन्दू सुरत्राण महाराधिराज कीर्तिसिंह के विषय में श्री कनिंघम ने लिखा है, "कीर्तिराय अर्थात् किरनराय वहलोल लोदी के सहायक के रूप में उस समय दिल्ली में मौजूद था, जब वहलोल का हुसैनशाह शर्की के साथ युद्ध हुआ था।" श्री कनिंघम के अनुसार "कीर्तिसिंह के साथ उसका भाई पृथ्वीराय भी था। फतहखाँ हरवी ने पृथ्वीराय को मार डाला। इसका प्रतिशोध लेने के लिए कीर्तिसिंह ने

फतहखाँ को मार डाला।"[1] मान्यवर स्वर्गीय डॉ० गौरीशंकर हीराचन्द ओझा ने भी इस 'इतिहास' की पुष्टि की है।[2]

यह कथन नितान्त भ्रमपूर्ण, निराधार और इतिहास-विरुद्ध हैं। तवकाते-अकवरी में लिखा है, "क्योंकि फतहखाँ ने रायकरन के भाई पिथौरा की हत्या कर दी थी अतः रायकरन ने फतहखाँ का सिर काट कर उसके शरीर से पृथक कर दिया और सुल्तान वहलोल की सेवा में पहुँचा।"[3] तवकाते-अकवरी में यह घटना सन् १४५२ ई० की वतलाई गई है। श्री कनिंघम कीर्तिसिंह का राज्यारोहण सन् १४५४ ई० में होना मानते हैं, अतएव, कीर्तिसिंह सन् १४५२ ई० में "राय" नहीं हो सकते। इस घटना को गोपाचल के कीर्तिसिंह से सम्वंधित मान लेने से ही तारीखे-फरिश्ता में उसके राज्यारोहण का वर्ष १४५२ निश्चित कर दिया गया। वि० स० १५१४ (सन् १४५७ ई०) तथा वि० सं० १५१६ (सन् १४५९ ई०) में शिलालेखों से डूंगरेन्द्रसिंह का "विजय-राज्य" होना सुनिश्चित है। कहीं भयंकर भूल अवश्य है। इस भूल का मूलोच्छेदन तवकाते-अकवरी के आगे के उल्लेख से ही हो जाता है। उसके अनुसार, वहलोल ने जौनपुर की ओर से नियुक्त हाकिम जूनाखां से शम्शावाद छीन लिया और रायकरन को दे दिया।[4] उसमें आगे लिखा है, "मुहम्मदशाह ने भी जौनपुर से प्रस्थान किया और जव वह शम्शावाद पहुँचा तो उसने शम्शावाद को रायकरन से, जो सुल्तान वहलोल की ओर से हाकिम था, लेकर जूनाशाह को दे दिया।"[5] अर्थात् सन् १४५१-५२ में 'राय' कहलाने वाले में 'करन' तथा उनके भाई पिथौरा यानी पृथ्वीराय खोरा के थे जो शम्शावाद से ३ मील पर है। उनका गोपाचल से दूर का भी सम्बन्ध नहीं था। सन् १४५१ में कीर्तिसिंह तोमर केवल राजकुमार थे और ग्वालियर के राजकुमार थे, न कि खोरा (शम्शावाद) के। यह भी सुनिश्चित है कि वहलोल लोदी और हुसैनशाह शर्की के वीच हुए संघर्ष में कीर्तिसिंह तोमर हुसेनशाह शर्की का पक्ष ले रहे थे, न कि वहलोल का। नामसाम्य के कारण खोरा के कीर्तिसिंह की टोपी ग्वालियर के कीर्तिसिंह के सिर पर रखदी गई है; अतएव श्री कनिंघम, ओझाजी एवं मुहम्मद कासिम हिन्दूशाह द्वारा भ्रम या भूल से किए गए इस दुर्भाग्यपूर्ण कथन को केवल एक मनोरंजक क्षेपक मानकर भुला देना चाहिए।

कीर्तिसिंह का परिवार

प्रतिष्ठाचार्य कविवर रइधू ने डूंगरेन्द्रसिंह के परिवार का विस्तृत वर्णन किया है। रइधू के अनुसार कीर्तिसिंह की माता का नाम चन्दादेवी था, और उसके कथन से ऐसा ज्ञात होता है कि वे निश्चय ही एक-वीरा थीं तथा कीर्तिसिंह तोमर का कोई भाई नहीं था—

१. आर्को० सर्वे० रि०, भाग २, पृ० ३८५।
२. ओझाजी द्वारा सम्पादित टाड का राजस्थान, पृ० २५०, पाद-टिप्पणी।
३. रिजवी, उ० तै० भा०, भाग १, पृ० २०३।
४. वही, पृ० २०४।
५. रइधू, पार्श्वपुराण।

तहु पट्टमहाएवी पसिद्ध, चंदादे णामा पणयरिद्ध
सिरि कित्तिसिंघु णामे गरिट्ठु, णं चंदु कलायरु जय मणिट्ठु

कीर्तिसिंह के अनेक राजकुमार अवश्य थे, जिनमें से चार इतिहास-प्रसिद्ध हैं। कल्याणमल्ल युवराज थे, जो आगे राजा बने। दूसरा राजकुमार भानुसिंह था, जो मानसिंह के राज्यकाल तक जीवित रहा, जिसने थेघनाथ से गीता का हिन्दी अनुवाद कराया था। तीसरा बादलसिंह था, जिसके नाम पर बादलगढ़ का निर्माण हुआ। चौथा वह धुरमंगद था जिसने विक्रमादित्य की पराजय के पश्चात् अनेक बार गोपाचल गढ़ पुनः प्राप्त करने का प्रयास किया।

कीर्तिसिंह के प्रारम्भिक पाँच वर्ष का राज्यकाल

कीर्तिसिंह सन् १४६५ ई० में राज्यासीन हुए। तबसे सन् १४६४ ई० तक न तो किसी मध्ययुगीन फारसी इतिहासकार ने उनके या ग्वालियर के सम्बन्ध में किसी घटना का उल्लेख किया हैं और न कोई शिलालेख ही कीर्तिसिंह का नामोल्लेख करता हुआ प्राप्त हुआ है। सबसे पहला शिलालेख तिलोरी का स्तंभलेख है जिसमें वि० स० १५२१ (सन् १४६४ ई०) में सर्व प्रथम 'महाराजाधिराज कीर्तिसिंह' का उल्लेख मिलता है। अतएव सन् १४५९ ई० से १४६४ ई० तक ग्वालियर और उसका प्रतापी 'हिन्दू सुरत्राण' कीर्तिसिंह क्या करता रहा, यह ज्ञात नहीं हो सका है। श्रीवर ने अपनी राज-तरंगिणी में यह उल्लेख अवश्य किया है कि कीर्तिसिंह भी अपने पिता के समान सुल्तान जैनुल-आवेदीन से प्रीति की रक्षा करता रहा। यह संभव हैं कि जैनुल-आवेदीन के साथ की गई सन्धि के कारण दिल्ली, जौनपुर या मालवा के सुल्तानों ने कीर्तिसिंह से झगड़ा मोल लेना उचित न समझा हो।

तत्कालीन शक्ति-केन्द्र और शक्ति-संतुलन

कीर्तिसिंह के राज्य-काल में भारत के मानचित्र पर दिल्ली, जौनपुर, मालवा और गुजरात की सल्तनतें और मेवाड़ के राणा की गतिविधियाँ ग्वालियर को प्रभावित कर रही थीं। कभी दिल्ली, गुजरात और मेवाड़ मालवा के सुल्तान के विरुद्ध संगठित हुए, कभी मालवा और गुजरात मेवाड़ के विरुद्ध सन्धिबद्ध हुए, कभी दिल्ली और मालवा के सुल्तानों ने जौनपुर के विरुद्ध संगठन किया और कभी जौनपुर तथा मालवा ने एक दूसरे के प्रति मैत्री का हाथ बढ़ाया। इस घटना-चक्र में संभवतः ग्वालियर प्रारम्भ में तटस्थ रहा या मेवाड़ के साथ रहा, फिर आगे चल कर दिल्ली से मैत्री की और कीर्तिसिंह का राज्यकाल समाप्त होते-होते ग्वालियर जौनपुर का मित्र हो गया और दिल्ली का शत्रु।

मेवाड़ और मालवा

सारंगपुर में सन् १४५५ ई० में मालवा के सुल्तान महमूदशाह और राणा कुंभा के बीच जो युद्ध हुआ था उसमें तोमर-युवराज के रूप में कीर्तिसिंह ने भाग अवश्य लिया

होगा क्योंकि तब तक डूंगरेन्द्रसिंह वृद्ध हो गए थे। महमूद खलजी का ध्यान गुजरात तथा मेवाड़ की ओर अधिक रहा और बहुत समय तक तोमर-राज्य की ओर उनका ध्यान नहीं गया।

करेहरा तथा अमोला का ध्वंस

करेहरा दुर्ग उस समय दरयावसिंह परमार के अधीन था। उसने मांडू के सुल्तान की अधीनता अस्वीकार कर अपने आपको स्वतंत्र घोषित कर दिया। करेहरा का दुर्ग नरवर के दुर्ग के समान ही अत्यन्त सुदृढ़ है। उसकी विजय सरल नहीं थी। सुल्तान महमूद ने अपने पुत्र गयासुद्दीन को सन् १४६८ ई० में करेहरा-विजय के लिए भेजा। गयासुद्दीन ने करेहरा के पास ही जमालपुर[1] में एक नवीन किले का निर्माण कराया, जहां सेना एकत्रित कर करेहरा पर आक्रमण किया जा सके। सन् १४६८ ई० में स्वयं सुल्तान महमूद चन्देरी पहुँचा और अपने अमीर शेरखाँ तथा फतहखाँ को करेहरा में गयासुद्दीन की सहायता के लिए भेजा। करेहरा[2] का गढ़ किस प्रकार टूट सका इसका वर्णन 'जफरुलवालेह-वे-मुजफ्फर-व-आलेह' के लेखक अब्दुल्लाह मुहम्मद के शब्दों में देना ही उपयुक्त है—

"इसी वर्ष महमूद चन्देरी पहुँचा और उसने दो वीर अमीरों, शेरखाँ तथा फतेहखाँ को करेहरा के किले पर भेजा। यह किला बड़ा भव्य तथा विशाल था। ये दोनों सर्व प्रथम नगर के समीप उतरे और उसे घेर कर नगर निवासियों को युद्ध द्वारा उन्होंने परेशान कर दिया। एक दिन उन लोगों ने नगर के कोट पर बड़ा तेज आक्रमण किया और उसके पूर्णतः निकट पहुँच गए, यहाँ तक कि उन्हें इस बात का अवसर मिल गया कि वे उसके एक भाग में आग लगा दें। नगरवालों को इस बात की सूचना न थी। हवा अग्नि को एक घर से दूसरे घर तक पहुँचाती रही, यहाँ तक कि ३० हजार घरों में अग्नि की लपट पहुँच गई और अन्त में नगर को विजय कर लिया गया। नगर में जो लोग वन्दी वनाए गए उनकी संख्या सात हजार थी। जिस रात्रि में आग लगाई गई उसी रात्रि में खलजी को सूचना मिल गई। वह चन्देरी की ओर से शीघ्रातिशीघ्र रवाना हुआ। चन्देरी करेहरा से ८० फरसंग की दूरी पर है। वहाँ वह प्रातःकाल किले को विजय करने के उद्देश्य से पहुँच गया और शक्ति तथा अपने बल से उसे उसने विजय कर लिया। इससे

---

१. जमालपुर करेहरा और चन्देरी के बीच होना चाहिए। करेहरा-क्षेत्र को तत्कालीन मुस्लिम इतिहासकारों ने "कछवारा" कहा है। मध्ययुग के कच्छपान्वय या कच्छपों ने तलवार रखकर हल और हँसिया ग्रहण कर लिया तथा वे ही आजकल के नरवर तथा करेहरा के 'काछी' हैं। इन काछियों का रहन-सहन रीति-रिवाज इन्हें किसी उच्च वर्ण से छिटके हुए प्रकट करते हैं। जिस असिजीवी समूह ने इन्हें गोपाचल से अपदस्थ किया था, वे 'कच्छपघात' या 'कछवाहा' राजपूत कहे जाने लगे।

२. सन् १३५० ई० करेहरा को कर्ण परमार ने बसाया था, तब वह कर्णहार था। कर्णहार हो गया करेहरा।

पूर्व उसे किसी ने विजय नहीं किया था। उसने इस किले के हाकिम दरिया (दरयावसिंह) को उसके परिवार तथा सम्बन्धियों सहित वन्दी वना लिया और उसी के साथ उसके ७ हजार आदमी भी वन्दी वना लिए गए। जिन लोगों की हत्या कराई गई उनकी संख्या ४ हजार तक पहुँच गई। खलजी ने उसकी तथा उसके पुत्रों की खाल खिचवाने तथा उन्हें सूली देने का आदेश दे दिया। उसके आदमियों के सम्बन्ध में यह आदेश दिया कि उन्हें हाथियों के समक्ष डाल दिया जाए। दण्ड की दृष्टि से यह दिन वड़ा ही कठोर, महत्वपूर्ण तथा प्रसिद्ध था, और काफिरों के लिए वड़े ही कठोर तथा परेशानी का था।[1] इसी वर्ष शेरखाँ ने आमोदा (अमोला)[2] के गढ़ को जीता। अमोला के युद्ध में चार हजार लोग मारे गए और ८ हजार लोग वन्दी वनाए गए।"[1]

मांडू का सुल्तान इसी प्रकार ग्वालियर के तोमर राज्य को दक्षिण की ओर से घेरता आ रहा था। उसका आगामी लक्ष्य ग्वालियर होता, इसमें सन्देह नहीं। परन्तु इसी वीच दो घटनाएँ ऐसी हुईं जिनके कारण यह विपत्ति टल गई। प्रथम तो यह कि सन् १४६८-६९ में ही दिल्ली के सुल्तान वहलोल का एक शिष्ट-मण्डल सुल्तान महमूद से मिलने पहुँचा और दूसरे उसके पश्चात् शीघ्र ही सुल्तान महमूद की ३१ मई, १४६९ ई० को मृत्यु हो गई। सुल्तान महमूद से मिलने वाले शिष्ट मण्डल में महाराजा कीर्तिसिंह के राजकुमार कल्याणमल्ल भी थे। इस घटना का विवेचन अगले प्रसंग में किया गया है।

दिल्ली और जौनपुर—प्रथम चरण

जिस समय कीर्तिसिंह का राज्य प्रारंभ हुआ, जौनपुर में सुल्तान महमूद शर्की राज्य कर रहा था। सन् १४५१ ई० में दिल्ली में वहलोल लोदी रायाते-आलाओं का उच्छेदन कर अफगान राजवंश की नींव डाल चुका था। जौनपुर के सुल्तान महमूद ने दिल्ली पर आक्रमण कर दिया। सन् १४५२ ई० में उसकी मृत्यु हो गई। सुल्तान महमूद की वेगम वीवी राजी के परामर्श से शहजादा भीकन को सुल्तान मुहम्मदशाह के नाम से सुल्तान वनाया गया। वह अत्यन्त अत्याचारी और निष्ठुर था तथा उसने अपनी माता से ही विद्रोह कर दिया और अपने अन्य भाई हसनखाँ की हत्या का षडयंत्र करने लगा। वह रापरी में वहलोल से पराजित हुआ। वीवी राजी तथा अन्य अमीरों ने महमूदशाह शर्की के दूसरे पुत्र हुसेनखाँ को जौनपुर का सुल्तान वना दिया। सुल्तान हुसेनशाह शर्की ने सन् १४५८ ई० में एक सेना लेकर दिल्ली की विजय के लिए प्रस्थान किया। वहलोल लोदी के साथ चन्दवार में सात दिन तक घोर युद्ध हुआ। विजय किसी की न हो सकी। सुल्तान हुसेनशाह ने वहलोल

---

१. रिजवी, उत्तर तैमूर कालीन भारत, भाग २, पृ० १६०-१६१।

२. "अमोला" करेहरा से पश्चिम में १३ मील की दूरी पर झांसी-शिवपुरी मार्ग पर स्थित है। आज यह ग्राम गढ़ से हटकर सड़क के किनारे आ वसा है। पहले यह सिन्धु नदी के वाएँ किनारे पर उस स्थान पर वसा हुआ था जिसे आजकल 'खुटार' कहते हैं। वहाँ अत्यन्त विशाल गढ़ है। उस समय उस गढ़ पर धंधेरों या पंवारों का अधिकार था।

लोदी से चार वर्ष तक के लिए एक दूसरे के राज्य पर आक्रमण न करने की सन्धि कर ली।[1] परन्तु तीन वर्ष पश्चात् पुन: दोनों में युद्ध प्रारंभ हो गए।

ज्ञात यह होता है कि हुसेनशाह शर्की के इस निरन्तर विग्रह में अपनी स्थिति सुदृढ़ करने के लिए वहलोल लोदी ने ग्वालियर के तोमरों से संधि कर ली थी। वहलोल को चारों ओर के तुर्कों के मुकावले में अपने अफगान वंश को सुदृढ़ करना था। कीर्तिसिंह को भी जौनपुर और मालवा, दोनों से ही शंका थी, अतएव उन्होंने दिल्ली से संधि करना उचित समझा।

हुसेनशाह शर्की का ग्वालियर पर आक्रमण

ग्वालियर को इस संधि का फल शीघ्र ही भुगतना पड़ा। सन् १४६६ ई० में सुल्तान हुसेनशाह शर्की ने ग्वालियर पर आक्रमण कर दिया। इस आक्रमण के परिणाम के विषय में तवकाते-अकवरी के लेखक ने लिखा है, "जब किले को घेरे हुए वहुत समय व्यतीत हो गया तो ग्वालियर के राय ने पेशकश प्रस्तुत करके आज्ञाकारिता स्वीकार कर ली"। यही परिणाम फरिश्ता (गुलशने इब्राहीमी) में निकाला गया है।[2] यही परिणाम सन् १९७० ई० में प्रो० के० ए० निजामी ने कुछ विचित्र रूप में प्राप्त किया है, "८७१/१४६६-६७ में सुल्तान ने ग्वालियर के राजा मानसिंह के विरुद्ध सेना भेजी। लम्वे घेरे को सहन न कर सकने के कारण राजा झुक गया और उसने जौनपुर की अधीनता स्वीकार कर ली।"[3] इस भीषण इतिहास पर टिप्पणी व्यर्थ है। सन् १४६६ ई० में ग्वालियर का मान, संभव है जन्म ले चुका हो, संभव है चलने-फिरने भी लगा हो, परन्तु यह सत्य है कि जब वह राजा वना था, तव शर्की-सल्तनत का अस्तित्व नहीं रहा था, वह विगत इतिहास वन चुकी थी।

परन्तु, वाकेआते-मुश्ताकी के लेखक शेख रिज्कुल्लाह मुश्ताकी ने आक्रमण का जो वर्णन किया है[4], उससे कुछ और ही परिणाम दिखाई देता है। उसने लिखा है, "एक वार सुल्तान हुसेन ने ग्वालियर के किले की मुक्ति हेतु प्रस्थान किया। वहाँ वहुत ही घोर युद्ध हुआ, मलिक शम्स के दो योग्य पुत्र किले के द्वार पर मारे गए। वीरों ने यद्यपि अत्यधिक प्रयत्न किया, किन्तु वे मलिक के पुत्रों के समान युद्ध न कर सके। जव वे युद्ध के उपरान्त लौटने लगे तो सुल्तान हुसेन ने व्यंगात्मक ढंग से कहा कि 'जो लोग वीरता तथा पौरुष की डींग मारते हैं वे मलिक शम्स के पुत्रों की धूल तक को नहीं पहुँच सकते।' मलिक शम्स ने उस समय कहा कि 'हे संसार के वादशाह! शम्स के पुत्रों की ऐसे स्थान पर हत्या हुई है कि यदि समस्त संसार के वादशाह एकत्र होकर वहाँ पहुँचने का प्रयत्न

१. डॉ० रिजवी, उत्तर तैमूर कालीन भारत, भाग १, पृ० २०७।
२. डॉ० रिजवी, उत्तर तैमूर कालीन भारत, भाग २, पृ० १० तथा २३।
३. ए कम्प्रहेन्सिव हिस्ट्री आफ इण्डिया भाग ५, पृ० ७२५।
४. डॉ० रिजवी, उत्तर तैमूर कालीन भारत, भाग १, पृ० १००।

करें तो भी वे न पहुँच सकेंगे। यदि ईश्वर ने चाहा तो रणक्षेत्र में मेरी ऐसे स्थान पर हत्या होगी कि आप वहाँ दृष्टिपात भी न कर सकेंगे, आप इस वात को निश्चित ही समझें।' जिस दिन मलिक शम्स की हत्या हुई, सुल्तान हुसेन अत्यधिक प्रयत्न के वावजूद भी मलिक की लाश तक न पहुँच सका। जो कुछ मलिक शम्स ने कहा था, वही हुआ।"

"प्रातःकाल सुल्तान हुसेन ने पूर्व की ओर प्रस्थान कर दिया।"

ग्वालियर पर हुसेनशाह शर्की ने सन् १४६६ ई० में आक्रमण किया था और एक ही आक्रमण किया था। परन्तु, पहले विवरण से यह प्रकट होता है कि हुसेन ने अपने वड़े-वड़े अमीरों और सरदारों को ग्वालियर भेजा। दूसरे विवरण से ज्ञात होता है कि वह वड़े-वड़े सरदारों के साथ स्वयं ग्वालियर आया। संभव है, ये दो आक्रमण हों या एक के दो प्रकार के वर्णन हों, परन्तु, वाकेआते-मुश्ताकी के साक्ष्य के आधार पर यह निश्चित है कि कीर्तिसिंह ने हुसेन शाह को ग्वालियर में पूर्णतः पराजित किया था।[1]

वाकआते-मुश्ताकी का ही कथन ठीक है और हुसेनशाह शर्की को कीर्तिसिंह के हाथों पराजित होना पड़ा था, इसका समर्थन वि० सं० १५२५ (सन् १४६६ ई०) के हेमराज के मूर्तिलेख से भी होता है। इसमें कीर्तिसिंह को 'हिन्दू-सुरत्राण' कहा गया है। जौनपुर के शर्की सुल्तान को पराजित करने की क्षमता रखने वाले राजा को ही 'हिन्दू सुरत्राण' कहा गया था।

हुसेनशाह शर्की के इस आक्रमण से ग्वालियर भी चौकन्ना हुआ और वहलोल लोदी को भी शंका हुई। अतएव, वहलोल ने मांडू के सुल्तान महमूद के साथ जौनपुर के विरुद्ध सन्धि करने का निश्चय किया। ग्वालियर को इससे दोहरा लाभ होने की संभावना थी। मांडू का सुल्तान तोमर राज्य के दक्षिण में करेहरा और अमोला में अपनी स्थिति अत्यंत दृढ़ कर चुका था। यदि महमूद खलजी को यह विश्वास हो जाता कि दिल्ली के लोदी ग्वालियर के साथ हैं, तव वह दिल्ली को जौनपुर के विरुद्ध सहायता करता या न करता, ग्वालियर की ओर वढ़ने का साहस नही करता। कुतुवखाँ लोदी और शेखजादा फरमूली के हाथ वहलोल ने एक पत्र सुल्तान महमूद खलजी के पास भेजा। २१ फरवरी १४६६ ई० को इनके साथ कीर्तिसिंह के राजकुमार कल्याणमल्ल भी गए। वहलोल लोदी ने इस पत्र में महमूद से जौनपुर के सुल्तान हुसेन के विरुद्ध सहायता माँगी थी। पत्र ले जाने वाले 'हाजिवों' ने सुल्तान महमूद से निवेदन किया कि "सुल्तान हुसेन शर्की हमें परेशान करने से वाज़ नहीं आता। यदि आप दिल्ली पधारें और उपद्रव तथा उत्पात का अन्त करादें तो लौटते समय वयाना का किला, उसके अधीनस्थ स्थानों सहित, पेशकश के रूप में भेंट कर दिया जाएगा। जव भी सुल्तान प्रस्थान करें तो छह हजार अश्वारोही सामान सहित सेवा

1. यहाँ यह स्मरणीय है कि मुहम्मद कासिम की गुलशने-इवराहीमी (तारीखे-फरिश्ता) सन् १६०७ ई० में लिखी गई, ख्वाजा निजामुद्दीन की तवकाते-अकवरी सन् १५९४ ई० लिखी गई और शेख रिजकुल्लाह की वाकेआते-मुश्ताकी सन् १५५० ई० की रचना है। निश्चय ही, वाकेआते-मुश्ताकी अधिक प्रामाणिक है।

में भेज दिए जाएँगे। सौदा पट गया और सुल्तान ने कहा कि "जैसे ही सुल्तान हुसेन दिल्ली पर आक्रमण करेगा, मैं शीघ्रातिशीघ्र सहायतार्थ पहुँच जाऊँगा।"

इस सौदे का लाभ केवल ग्वालियर को हुआ। मांडू का सुल्तान ग्वालियर के स्थान पर बयाना के स्वप्न देखने लगा। परन्तु भावी कुछ और थी। कुछ मास पश्चात् ३१ मई १४६९ ई० को मांडू के सुल्तान महमूद की मृत्यु हो गई। उसके बाद मांडू के सिंहासन पर बैठा गयासुद्दीन खलजी, जिसने अपने अमीरों से कह दिया, "मैं अपने पिता के साथ-साथ ३४ वर्ष तक परिश्रम करता रहा। अब मेरे हृदय में यह बात आती है कि जो मेरे पिता की ओर से मुझे प्राप्त हुआ है, उसकी रक्षा का मैं प्रयत्न करूँ और अधिक आकांक्षा न करूँ; अपने लिए तथा अपने सहायकों के लिए शांति एवं भोग-विलास के द्वार खोल दूँ। अपने राज्य में शान्ति रखना अन्य राज्यों की विजय से अच्छा है।" यही हुआ। भोग-विलास के द्वार पूर्णतः खुल गए, अकबर के मीना बाजार का पूर्व-रूप, अन्तःपुर का बाजार सजाया गया, १६ हजार कनीजें इकट्ठी की गईं।[1] मांडू में जो हो रहा था, उससे हमारा सम्बन्ध यहाँ नहीं है, यह स्पष्ट हो गया कि मालवा की ओर से अब ग्वालियर को कोई खटका नहीं रहा।

दिल्ली और जौनपुर—द्वितीय चरण

सन् १४६६ ई० में जौनपुर द्वारा ग्वालियर-आक्रमण के पश्चात् तथा तत्समय ग्वालियर की दिल्ली से संधि के पश्चात् कीर्तिसिंह को लगभग शांतिपूर्वक राज्य करने के लिए १२ वर्ष मिल गए। दिल्ली के अफगान और जौनपुर के शर्की इस बीच आपस में लड़ते अवश्य रहे, परन्तु ग्वालियर के सम्बन्ध दिल्ली की अपेक्षा जौनपुर से अधिक अच्छे हो गए, यह सन् १४७३ ई० की एक घटना से ज्ञात होता है।

इस समय जौनपुर का सुल्तान हुसेनशाह शर्की दिल्ली पर भीषण आक्रमण कर रहा था। बयाना का हाकिम अहमदखाँ दिल्ली से स्वतंत्र होकर जौनपुर के अधीन हो गया। इटावा भी जौनपुर के अधीन हो गया। संभवतः इसी समय कीर्तिसिंह ने जौनपुर की सहानुभूति प्राप्त करना उचित समझा। राजकुमार कल्याणमल्ल के संबन्ध जौनपुर के हाकिम अहमदखाँ के पुत्र लादखाँ लोदी से बहुत अच्छे थे। लादखाँ स्वयं अयोध्या का प्रशासक था। ज्ञात होता है कि इसके पूर्व ही कल्याणमल्ल जौनपुर और अयोध्या भी हो आए थे। जब सुल्तान हुसेन ने बहलोल पर आक्रमण किया और सन्धि हुई तब सन् १४७३ में बहलोल दिल्ली चला गया और सुल्तान हुसेन इटावा की ओर जाकर वहाँ रहने लगा। उसके साथ उसकी माता बीबी राजी भी थी।

कुतुबखाँ लोदी बहलोल लोदी का अत्यन्त विश्वस्त अमीर था। वह रापरी से ग्वालियर पहुँचा। कुतुबखाँ की इस यात्रा का उद्देश्य जौनपुर और दिल्ली के संघर्ष में ग्वालियर को दिल्ली के पक्ष में लाना था। संभवतः कुतुबखाँ सफल न हुआ। इस समय इटावा में बीबी

१, डॉ० रिजवी, उत्तर तैमूर कालीन भारत, भाग २, पृ० ९२।

राजी की मृत्यु हो गई। कुतुबखाँ और कीर्तिसिंह तोमर के युवराज कल्याणमल्ल, दोनों ही ग्वालियर से इटावा मातमपुरसी के लिए पहुँचे। कुतुबखाँ सुल्तान हुसेन की आगे की योजना जानना चाहता था। जब कुतुबख़ाँ को ज्ञात हुआ कि सुल्तान हुसेन सुलह के पश्चात् भी बहलोल से शत्रुता मानता है तथा कल्याणमल्ल भी जौनपुर के विरुद्ध नहीं है, तब उसने दूसरा ही रूप धारण किया। कुतुबखाँ ने चाटुकारी करते हुए कहा, "बहलोल आपके सेवकों के समान है, वह आपके बराबर नहीं है। मैं जब तक दिल्ली को आपके अधीन न करा लूँगा, उस समय तक निश्चिन्त नहीं रह सकता।" इस प्रकार युक्तिपूर्वक वह अपनी जान छुड़ा कर सुल्तान हुसेन के पास से विदा हुआ और सुल्तान बहलोल के पास पहुँच कर उसने कहा, "मैं बड़ी युक्ति तथा बहाने से सुल्तान के हाथ से मुक्त हो सका हूँ। वह आपके प्रति शत्रुता में दृढ़ है। आपको अपनी चिन्ता करना चाहिए"।[1] निश्चय ही कुतुबखाँ ने कल्याणमल्ल के इटावा आगमन तथा ग्वालियर की जौनपुर के प्रति सहानुभूति होने का भी उल्लेख किया होगा।

सुल्तान हुसेनशाह शर्की का भाग्य-नक्षत्र अब निर्बल हो चला था। फरवरी-मार्च १४७९ ई० में उसने बहलोल को पराजित करने का संकल्प किया। उसने पाँच बार दिल्ली जितने का प्रयास किया। परन्तु उसके हाथ असफलता ही रही। अफगान सुल्तान उसे अपनी धूर्तता से छकाता ही रहा। छठवीं बार हुसेनशाह ने सन् १४८० (हि० ८८५) में दिल्ली पर आक्रमण किया।

इस बार हुसेनशाह सोनहार नामक ग्राम में बुरी तरह पराजित हुआ और बहलोल ने उसका खजाना, सामान आदि लूट लिए। सुल्तान हुसेन रापरी चला आया। बहलोल ने उस पर पुनः आक्रमण किया तथा उसे पूर्णतः पराजित कर दिया। हुसेनशाह ने भागते हुए यमुना पार की। यमुना पार करते समय उसके कुछ पुत्र तथा परिवार के लोग नष्ट हो गए।[2]

यमुना पार कर सुल्तान हुसेनशाह भदावर की ओर से ग्वालियर की ओर रवाना हुआ। मार्ग में हतिकान्त के भदोरियों ने उसके शिविर पर छापा मारा और उसे लूट लिया। इस प्रकार लुटा-पिटा सुल्तान हुसेन शाह शर्की ग्वालियर की ओर चला। इसके आगे तबकाते-अकबरी के लेखक ख्वाजा निजामुद्दीन अहमद ने लिखा है'— "जब वह (हुसेन) ग्वालियर पहुँचा तो ग्वालियर के 'राय कीरतसिंह' ने अधीनता स्वीकार कर ली और सेवकों की भाँति व्यवहार किया। उसने कई लाख तन्के (टंक-मुद्रा) नकद, कुछ खेमे, सरपर्दे (शिविर), घोड़े, हाथी, ऊँट पेशकश में भेंट किए और उसके हितैषियों में सम्मिलित हो गया। उसने सुल्तान हुसेन के साथ एक सेना भी कर दी और वह स्वयं कालपी तक उसके साथ गया।"

---

१. डॉ० रिजवी उत्तर तैमूर कालीन भारत, भाग १, पृ० २०७।
२. डॉ० रिजवी, उ० तै० का० भा० भाग १, पृ २०९।

ख्वाजा निजामुद्दीन हिन्दू राजाओं का विवरण लिखने में असत्य का प्रयोग, संभवतः, ईमान के प्रति अपना फर्ज समझते थे। 'अधीनता स्वीकार करने' तथा 'सेवकों की भाँति व्यवहार करने' के कथन इसी फर्ज की अदायगी में किए गए हैं। वह सुल्तान जिसके पास न व्यवस्थित सेना थी, न तम्बू थे, न शिविर थे; जो भदौरियों से सब धन-सम्पत्ति भी लुटवा चुका था; उसने जादू किया और ग्वालियर का गढ़ झुक गया! परन्तु, जब निजामुद्दीन साहब शर्की सुल्तान द्वारा सन् १४६६ ई० में ही कीर्तिसिंह को पराजित करवा चुके थे, तब सन् १४८० ई० की घटना का विवरण इस प्रकार देना आवश्यक था।

तथ्य यह है कि कीर्तिसिंह ने जब हुसेनशाह की दयनीय दशा देखी, तब पूर्व-मैत्री को ध्यान में रखकर सुल्तान को धन, तम्बू, शिविर सेना आदि दिए और उसे सुरक्षित कालपी तक पहुँचवा दिया। तबकाते-अकबरी ने इस उदारता एवं शरणागत-प्रतिपालन का उल्लेख अत्यंत निकृष्ट और भ्रष्ट रूप में किया है। जहाँगीर-कालीन नियामतुल्ला ने मखज़ने-अफगानी (अथवा तारीखे-खानेजहां लोदी) में अधिक उदारता से काम लिया है। वह कीर्तिसिंह के स्वयं कालपी जाने का उल्लेख नहीं करता।[1]

जैसा प्रारम्भ में लिखा जा चुका है, कीर्तिसिंह का राज्यकाल निश्चित ही वैशाख सुदि दशमी, १५३७ (२० अप्रैल सन् १४८०) के पूर्व समाप्त हो गया था। ज्ञात होता है, हुसेनशाह शर्की के ग्वालियर आने के पश्चात् ही कीर्तिसिंह की मृत्यु हो गई।[2]

कीर्तिसागर

ग्वालियर के तोमरों के राज्य में अनेक झीलें, बाँध आदि बनवाए गए थे। कीर्तिसिंह के समय में एक विशाल झील का निर्माण गोपाचल गढ़ के पास ही कराया गया था। यह कीर्तिसागर वर्तमान शंकरपुरा (२६.१४ उत्तर, ७८.११ पूर्व) तथा अकबरपुरा (२६.१५ उत्तर, ७८.१० पूर्व) से अदली बदली और बालाराजा पहाड़ियों तक फैली हुई थी। अब इस झील के अवशेष भी नहीं बचे हैं।[3]

---

१ इलि० एण्ड डाउसन, भाग, पृ० ८९।

२. प्राध्यापक के० ए० निजामी हुसेनशाह शर्की के बहलोल के हाथ रापरी में पराजित होने की घटना सन् १४८२ ई० की लिखते हैं (ए कम्प्रहेन्सिव हिस्ट्री ऑफ इण्डिया, भाग ५, पृ० ७२८)। उसके पश्चात् ही प्राध्यापक निजामी के अनुसार हुसेन ने अपने 'करद' (वेसल) राजा 'कीरतसिंह' से सहायता माँगी। समकालीन ग्रन्थ 'विल्हण चरित' से यह पूर्णतः सिद्ध है कि वैसाख सुदि १० वि०सं० १५३७ (२० अप्रैल सन् १४८०) को कीर्तिसिंह परलोकगामी हो गए थे और उनका युवराज ग्वालियर का राजा हो गया था। हुसेनशाह शर्की कभी फरवरी १४८० में ग्वालियर आया होगा और उसके पूर्व ही बहलोल के हाथ रापरी के पास पराजित हुआ होगा।

३. ग्वालियर गजेटियर (१९६५) पृ० २३।

साहित्य को स्थिति

कीर्तिसिंह के समय का कोई संस्कृत ग्रन्थ अभी प्राप्त नहीं हुआ है। कीर्तिसिंह के समय के कुछ शिलालेखों में अवश्य शुद्ध संस्कृत के छन्दों के दर्शन होते है। जैन-प्रतिमा-लेखों में संस्कृत-अपभ्रंश-हिन्दी मिश्रित भाषा दिखाई देती है।

हिन्दी का भी कोई ऐसा ग्रन्थ प्राप्त नहीं हो सका, जिसे सुनिश्चित रूप में कीर्तिसिंह के समय का निरूपित किया जा सके।

'जैन-गुर्जर-कविओ' में कल्लोल कवि कृत ढोलामारू का उल्लेख मिलता है। नरवर के ढोला—दुर्लभराय और मारवाड़ की मारवणी की यह प्रणय-गाथा वि०सं० १५३० (सन् १४७३ ई०) में लिखी गई थी। यह समय कीर्तिसिंह का है और यह भी निश्चित है कि कीर्तिसिंह को नरवर गढ़ के प्रति बहुत आकर्षण था। ढोलामारू का जितना अंश जैन-गुर्जर-कविओ में दिया गया है उसके आधार पर यह भी कहा जा सकता है कि उसका कवि न तो जैन था और न उसकी भाषा गुर्जर। उसकी भाषा की तुलना यदि सुनिश्चित रचनाकाल के ग्वालियर के कवियों से की जाए तब वह उनके समान ही ज्ञात होती है। परन्तु, ढोलामारू के प्राप्त अंश में समकालीन राजा का उल्लेख नहीं है, अतएव हमारे इस अभिमत को स्थापना के रूप में मान्य किए जाने के मार्ग में बाधा हो सकती है कि यह 'कल्लोल का ढोल' नरवर या ग्वालियर में ही बजा था। यहाँ हम कल्लोल की कुछ पंक्तियाँ भाषाविदों के परीक्षण के लिए देकर ही संतोष करेंगे—

आणद अति उच्छव हुआ नरवर बाजा ढोल
ससनेही सेना तणा कलि में रहसी बोल ।।
दूहा गाहा सोरठा मन बिकसने बखाण
अणजाणा मूरख हंसै, रीझै चतुर सुजाण ।।
पनरह सइ तीसै बरस, कथा कही गुणगाण
बदि बैसाखै बार गुरु, तीज जाय क्षुणु वाण ।।

प्रतिलिपिकार के 'ण' को 'न' करने के पश्चात् इन छन्दों को पढने से इनकी भाषा का स्वरूप स्पष्ट हो जाता है। वि०सं० १५३० के आसपास लिखे जैसलमेर, जालोर, सौराष्ट्र आदि पश्चिमी प्रदेशों के सुनिश्चित तिथि और स्थान युक्त अनेक ग्रन्थ प्रकाशित हैं, उनकी भाषा से कल्लोल की भाषा का साम्य स्थापित नहीं किया जा सकता। ग्वालियर में ही सुनिश्चित रूप में लिखे गए महाभारत, बिल्हण चरित, वैतालपच्चीसी आदि की भाषा वही है जो कल्लोल की हैं।

परन्तु, संस्कृत और हिन्दी के क्षेत्र के बाहर जब अपभ्रंश के साहित्य पर दृष्टिपात किया जाता है, तब ज्ञात होता है कि कीर्तिसिंह और उसके पिता डूंगरेन्द्रसिंह का राज्यकाल अपभ्रंश के साहित्य का स्वर्णयुग था। कविवर रइध तथा ग्वालियर के

पट्टाधीश भट्टारकों ने जैन साहित्य की रचना और पुनरुद्धार का यशस्वी प्रयास किया था।

अपभ्रंश

डूंगरेन्द्रसिंह तथा कीर्तिसिंह के राज्यकाल में लिखा गया अपभ्रंश साहित्य प्रचुर परिमाण में प्राप्त हुआ है। यह समस्त साहित्य मूलतः जैन सम्प्रदाय विषयक है। ज्ञात यह होता है कि जैन सम्प्रदाय के कर्णधारों ने संस्कृत में जिन-चरित और कथाएँ लिखना बन्द करदीं और साम्प्रदायिक विषयों के अतिरिक्त किसी अन्य विषय पर लिखने वाला जैन-कवि वे उत्पन्न न कर सके। नयचन्द्र सूरि के पश्चात् जैन सम्प्रदाय के वर्ण्य-विषयों के अतिरिक्त अन्य किसी विषय पर लिखने वाला कवि तोमरकालीन ग्वालियर में फिर दिखाई नहीं देता। पद्मनाभ कायस्थ के पश्चात् किसी जैन कवि ने इस काल में, फिर संस्कृत में जैन-चरित काव्य भी नहीं लिखे, यद्यपि अपभ्रंश काव्यों में बीच-बीच में प्रशस्ति या मंगल श्लोक संस्कृत में लिखे जाते रहे। इस काल के जितने मूर्ति-लेख मिलते हैं, वे संस्कृत (या अपभ्रंश मिश्रित संस्कृत) में हैं और काव्य अपभ्रंश में हैं। ज्ञात यह होता है कि इस समय के जैन कवियों ने अपभ्रंश को अपनी सम्प्रदाय-भाषा मान लिया था।

तथापि, डूंगरेन्द्रसिंह और कीर्तिसिंह के राज्यकाल में अपभ्रंश में लिखी गई कृतियाँ अनेक कारणों से महत्वपूर्ण हैं। उनमें तोमरकालीन ग्वालियर का लगभग ५० वर्ष का इतिहास अत्यन्त उत्फुल्लकारी रूप में अंकित मिलता है। इस समय के जैन सम्प्रदाय का इतिहास, व्यापारिक और सामाजिक स्थिति उनमें सजीव होकर प्रत्यक्ष हो जाती है।

भट्टारक यशःकीर्ति

डूंगरेन्द्रसिंह और कीर्तिसिंह के राज्यकाल में गुणकीर्ति (१४११–१४२९), यशः-कीर्ति (१४२९-१४५३) तथा मलयकीर्ति (१४५३-१४६५) ग्वालियर की काष्ठासंघ माथुरगच्छीय पुष्कर गण की गद्दी पर पट्टासीन रहे। गुणकीर्ति और यशःकीर्ति भाई-भाई थे, गुणकीर्ति के पट्टासीन रहने के समय से ही समस्त व्यवस्था यशःकीर्ति ही देखते थे।

यशःकीर्ति ने जैन सन्प्रदाय और जैन साहित्य के पुनरुद्धार और प्रचार--प्रसार के लिए जो कार्य किया है वह अत्यन्त महत्वपूर्ण है।

उस समय गोपाचल के पास कोई कुमरनगरी थी जो मणिसरिन्दु के तीर पर बसी हुई थी। आज यह स्थल कुम्हरपुरा कहा जाता है, जो मुरार नदी के दाहिनी ओर बसा हुआ है। उस समय वहाँ विशाल जैन मंदिर था, जहाँ भट्टारक यशःकीर्ति का पट्ट था। यहाँ भट्टारक यशःकीर्ति ने प्राचीन जैन ग्रन्थों का वृहद् ज्ञान भण्डार स्थापित किया था, अनेक ग्रन्थों की प्रतिलिपियाँ भी यहाँ कराई गईं और अनेक का जीर्णोद्धार किया गया। इनमें से अभी तीन की ही सूचना प्राप्त हो सकी है।

संवत् १४८६, आषाढ़ वदि ९, गुरुवार को (सन् १४२९ ई०) गोपाचल के राजा डूंगरसिंह देव के राज्यकाल में विबुध श्रीधर के संस्कृत ग्रन्थ 'भविष्यदत्त पंचमी कथा'

की प्रतिलिपि कराई गई। कुछ मास पश्चात् आश्वन वदि १३, सोम दिन को यशःकीर्ति के आदेश पर याजन के पुत्र थलू कायस्थ ने विवुध श्रीधर के अपभ्रंश ग्रन्थ 'सुकुमाल चरित' की प्रतिलिपि पूरी की।

ग्रन्थों के पुनरुद्धार में यशःकीर्ति ने वहुत वड़ा कार्य स्वयंभू के हरिवंशपुराण के सन्दर्भ में किया था। यह ग्रन्थ अत्यन्त जीर्णशीर्ण अवस्था में प्राप्त हुआ था। वि० सं० १५२१, ज्येष्ठ सुदी १० (सन् १४६४ ई०) में इस ग्रन्थ का पुनरुद्धार पूरा हुआ। इस ग्रंथ में वारह हजार छन्द (८३ सन्धियाँ) स्वयंभू ने लिखी थीं और उसकी मृत्यु के पश्चात् उसके पुत्र त्रिभुवन ने कई हजार छन्द (७ सन्धियाँ) और जोड़े थे। जो अंश त्रुटित हो गया था, उसे यशःकीर्ति ने पूरा किया। स्वयंभू के हरिवंशपुराण की यह प्राचीनतम उपलब्ध प्रति है।[1]

यशःकीर्ति ने स्वयं भी चार ग्रंथ अपभ्रंश भाषा में लिखे थे—पाण्डवपुराण, हरिवंशपुराण, जिनरात्रि कथा तथा रविव्रत कथा। अन्तिम दो ग्रंथों में रचनाकाल नहीं दिया गया है। वे हैं भी केवल व्रतों के माहात्म्य की कथाएँ।

पाण्डवपुराण वि०सं० १४९७ (सन् १४४० ई०) में दिल्ली के पास ही नवगाँव में साहु हेमराज के आग्रह पर लिखा गया था। साहु हेमराज को यशःकीर्ति ने किसी सुरतान 'मुमारख' का मंत्री लिखा है—

सुरतान मुमारख तणइं रज्ज, मंतितणे थिउ पिय भार कज्ज

खिज्रखाँ के पुत्र मुईद्दीन मुवारकशाह की हत्या १९ फरवरी १४३४ ई० में सिद्धपाल ने करदी थी। जिस संवत् १४९७ का उल्लेख यशःकीर्ति ने किया है, उस समय दिल्ली पर मुहम्मदशाह राज्य कर रहा था।[2] पाण्डवपुराण में उल्लिखित नवगाँव वह मुवारकावाद ज्ञात होता है, जिसकी नीव सन् १४३३ ई० में मुवारकशाह ने डाली थी।

भट्टारक यशःकीर्ति की दूसरी तिथियुक्त रचना हरिवंशपुराण है। यह रचना हिसार-निवासी साहु दिउढ़ा के अनुरोध पर वि०सं० १५०० (सन् १४४३ ई०) में 'इंदउर' नगर में की गई थी, उस समय वहाँ जलालखाँ मेवाती का राज्य था—

इंदउरहिएउ हुउ संपुण्णउ, रज्जे जलालखान कय उण्णउ।

जलालखाँ मेवाती सरदार था और 'इंदउर'–इन्दौर उसका वह गढ़ है, जिसे

---

१. यह प्रति भण्डारकर ओरिएण्टल रिसर्च इन्स्टीट्यूट, पूना में, सुरक्षित है।

२. भट्टारक यशःकीर्ति ने तत्कालीन सुल्तान मुहम्मदशाह का उल्लेख न कर छह वर्ष पूर्व मार डाले गए मुवारकशाह का उल्लेख क्यों किया, इसका कारण मनोरंजक है। मुवारकशाह के समय में जैन श्रेष्ठियों को वहुत अधिक प्रश्रय मिला था और साहु हेमराज को भी प्रतिष्ठा मिली थी। मुहम्मदशाह के समय में जैन श्रेष्ठि और जैन सम्प्रदाय को प्रश्रय नहीं मिला, अतएव, उसका नाम यशःकीर्ति ने वर्ज्य समझा। इसी प्रकार, श्रीधर ने पार्श्वनाथ चरित में समकालीन राजा का नाम न देकर जैनों के पोषक अनंगपाल द्वितीय का नाम दे दिया था।

तारीखे-मुबारकशाही में 'अन्दवर' लिखा गया है ।[1] इसका नाम एक अन्य स्थल पर 'अरुन्दन' भी पढ़ा गया है ।[2]

यशःकीर्ति का महत्व अपभ्रंश के काव्य लिखने के कारण नहीं है; उनका वास्तविक महत्व रइधू को प्रोत्साहित कर उससे अनेक अपभ्रंश काव्य लिखवाने में तथा दिल्ली, हिसार आदि प्रदेशों के जैन श्रेष्ठियों को गोपाचल गढ़ में विशाल मूर्तियों के निर्माण के लिए प्रोत्साहित करने में है ।

यह ऊपर लिखा जा चुका है कि पद्मनाभ कायस्थ को यशोधरचरित महाकाव्य लिखने की प्रेरणा भट्टारक गुणकीर्ति ने दी थी । रइधू को उनके भाई और शिष्य यशःकीर्ति का वरदहस्त प्राप्त था ।

मलयकीर्ति और गुणभद्र

यशःकीर्ति (१४२९-१४५३ ई०) के पश्चात् ग्वालियर के पट्ट पर भट्टारक मलयकीर्ति (१४५३-१४६८ ई०) आसीन हुए थे । मलयकीर्ति ने स्वयं कोई पुस्तक लिखी हो, ऐसा ज्ञात नहीं हुआ हैं । उनके पट्टधर गुणभद्र (१४६८-१४८३ ई०) की कुछ कृतियों की सूचनाएँ अवश्य मिलती हैं । इनकी लिखी हुई १५ कथाएँ दिल्ली के पंचायती मन्दिर में हैं ।[3] इन कथाओं में (१) अनन्तव्रत-कथा, (२) पुप्फंजलिवय-कहा तथा (३) दहलक्खनवय-कहा ग्वालियर निवासी लक्ष्मणसिंह के पुत्र भीमसेन के अनुरोध पर लिखी गई थीं । सवणवारसिविहान-कहा तथा लद्धिवय–विहाण–कहा ग्वालियरवासी संघपति साहु उद्धरण के जिन-मन्दिर में निवास करते हुए साहु सारंगदेव के पुत्र देवदास के आग्रह पर लिखी गई थी ।

रइधू

रइधू ने अपने आपको 'पद्मावती पुरवाल' कहा है—'पोम वइ-कुल-कमल-दिवायरु' । यह पद्मावती पुरवाल, जैनियों की चौरासी उप-जातियों में से एक जाति है । पद्मावती पुरवाल अपना उद्गम ब्राह्मणों से बतलाते हैं और अपने आपको पूज्यपाद देवनन्दी की सन्तान कहते हैं । जैन जातियों के आधुनिक विवेचकों को पद्मावती पुरवाल उप-जाति को ब्राह्मणों से प्रसूत होने के तथ्य पर आपत्ति है । परन्तु, इतिहास पद्मावती पुरवालों की अनुश्रुति का समर्थन करता है। यह देवनन्दी पद्मावती का सम्राट् था और ब्राह्मण भी । उसकी मुद्राएँ भी अत्यधिक संख्या में पद्मावती में प्राप्त होती हैं, जिन पर 'चक्र' का लांछन मिलता है तथा "श्री देवनागस्य" या "महाराज श्री देवेन्द्र" नाम प्राप्त होता है ।[4] रइधू की वृत्ति भी इसी प्रकार की थी । नगर सेठों

१. डॉ० रिजवी, उत्तर तै० भा०, भाग १, पृ० ४४।
२. वही, पृ० ७५ ।
३. महाकवि रइधू, वर्णी अभिनन्दन ग्रन्थ, पं० परमानन्द शास्त्री का लेख, पृ० ४११ ।
४. मध्यभारत का इतिहास, भाग १, पृ० ४७१ ।

और साहुओं के सम्पर्क में आकर भी वह जिन-मूर्तियों की प्रतिष्ठा कराकर और कथाएँ लिख-सुना कर ही जीवन-यापन करता रहा, उसे व्यापार कर 'कोटाधीश' बनने की न सूझी। फिर भी, आज के परिप्रेक्ष्य में जातियों के उद्गम पर विचार करना व्यर्थ है।

पद्मावती से उद्भूत रइधू ग्वालियर का ही निवासी था। अपनी वृत्ति के लिए वह दिल्ली, हिसार, चन्दवार जाता रहा; परन्तु उसने जिस ममता से अपने युग के ग्वालियर, उसकी सरिताएँ, पर्वत, गढ़ आदि का वर्णन किया है, वह उसके ग्वालियरी होने का प्रमाण है।

रइधू ने अपनी रचनाओं में अपने विषय में भी पर्याप्त लिखा है। 'सम्मइजिनचरिउ' से ज्ञात होता है कि रइधू संघाप देवराय के पौत्र थे और विद्वत्समूह को आनन्द देने वाले हरिसिंह के पुत्र थे। उनकी माता का नाम विजयश्री था, जो रूप-लावण्य में अलंकृत होते हुए भी शील-संयम आदि सद्गुणों से विभूपित थी। 'बलहद्दचरिउ' से ज्ञात होता है कि रइधू के दो भाई और थे, बाहोल और माहणसिंह।

रइधू के दीक्षागुरु भट्टारक यशःकीर्ति थे। मेघेश्वरचरित से ज्ञात होता है कि उनके आशीर्वाद से ही उसे विचक्षण प्रतिभा उपलब्ध हुई थी। भट्टारक यशःकीर्ति ने कहा, 'मेरे प्रसाद से तू विचक्षण हो जाएगा' और यह कह कर मंत्राक्षर प्रदान किया।[1]

रइधू के सम्मइजिनचरिउ के अनुसार, भट्टारक यशःकीर्ति के तीन शिष्य और थे, खेमशाह, हरिषेण और ब्रह्मपाल। ज्ञात यह होता है कि ब्रह्मपाल रइधू का काव्यगुरु था। सुकोशल चरित में रइधू ने साहु हरिसिंह द्वारा अपने आप से कहलवाया है कि 'हे आचार्य ब्रह्मपाल के शिष्य रइधू, तू मेरे लिए रामचरित लिख तथा साहु सोढ़ल के लिए नेमिनाथ चरित लिख'।

रइधू द्वारा रचित समस्त ग्रन्थों की सूची देना कठिन है। तथापि, उसकी उपलब्ध रचनाओं, और उनमें उल्लेख की गई उसकी कृतियों के आधार पर यह कहा जा सकता है कि रइधू ने निम्नलिखित २३ ग्रन्थ अवश्य लिखे थे:—

(१) सम्मत-गुण-निहान (वि० सं० १४९२=सन् १४३५ ई०), (२) पार्श्वपुराण, (३) त्रिषष्ठि-शलाका-पुरुष-चरित-रत्नाकर, (४) मेघेश्वरचरित, (५) यशोधरचरित, (६) वृत्तसार, (७) जीवंधर चरित, (८) रिट्ठिनेमचरिउ (हरिवंशपुराण), (९) बलहद्द पुराण (पद्मचरित्र), (१०) सिद्धिचक्रविधि, (११) सुदर्शनचरित, (१२) धन्यकुमार चरित, (१३) सम्मइजिनचरिउ, (१४) सुकोसलचरित (वि० १४९६=१४३९ ई०), (१५) अणथमी कथा, (१६) अप्पसंबोह कव्व (आत्म संबोध काव्य), (१७) सिद्धान्तार्थ सार, (१८) पुण्णासव-कहा-कोश (पुण्यास्रव कथाकोश), (१९) सिरिपालचरिउ, (२०) सम्यकत्व कौमुदी, (२१) करकण्डचरित्र, (२२) दशलक्षण जयमाला, (२३) षोडष जयमाला।

---

१. होउ वियक्खणु मम्म पसाए।
इय भणेवि मंतक्खर दिण्णउ।

रइधू कब जन्मे और वे कब तक जीवित रहे, यह नहीं कहा जा सकता। उनका अस्तित्व सन् १४३५ ई० से १४६८ ई० तक सुनिश्चित रूप से ज्ञात होता है। वि० सं० १४९२ (सन् १४३५ ई०) में उनका प्रथम तिथियुक्त ग्रन्थ सम्मतगुणनिहान लिखा गया था। वि० सं० १५२५ (सन् १४६८ ई०) में रइधू ने गोपाचल गढ़ की दो मूर्तियों की प्रतिष्ठा के समय प्रतिष्ठाचार्य का कार्य किया था।

पण्डित रइधू का जीवन-यापन जैन श्रेष्ठियों के आग्रह पर ग्रन्थ लिखने, पूजा-अर्चा में आचार्य का कार्य करने तथा मूर्तियों की प्रतिष्ठा के समय प्रतिष्ठाचार्य के रूप कार्य करने से होता था। इस हेतु उन्होंने अनेक नगरों का भ्रमण भी किया था। दिल्ली और हिसार वे इसी प्रयोजन से जाते रहे। वि० सं० १५०६ में वे चन्द्रपाट नगर (चन्दवार) भी गए थे। वहाँ शान्तिनाथ की मूर्ति की प्रतिष्ठा के समय उन्होंने प्रतिष्ठाचार्य का कार्य किया था। परन्तु रइधू का प्रधान कार्यक्षेत्र ग्वालियर ही था।

ग्वालियर में रइधू नेमिनाथ और वर्धमान के मन्दिरों के पास बने हुए विहार में रहते थे। उन्हें अपने कवित्व पर भी गर्व था। सन् १४३५ ई० में लिखे गए सम्मतगुण-निहान में रइधू ने लिखा है —

एरिस सावयहि विहियमाणु
णेमीसर जिणहर वड्ढमाणु
णिवसई जा रइधू कवि गुणालु
सुकवित्त रसायण णिहि रसालु

पार्श्वपुराण और सम्यकत्व-गुण-निधान नामक ग्रन्थों में रइधू ने ग्वालियर नगर का भी वर्णन किया है। पार्श्वपुराण में उसने लिखा है कि ग्वालियर गढ़ के पास स्वर्णरेखा नामक नदी बहती थी। गोपाचल नगर समृद्ध था। वहाँ के निवासियों में सुख-शान्ति थी; वे परोपकारी, धर्मात्मा और सज्जन थे। उस समय ग्वालियर का राजा डूंगरेन्द्रसिंह था, जो प्रसिद्ध तोमर क्षत्रिय कुल में उत्पन्न हुआ था। डूंगरेन्द्रसिंह और उसके पुत्र कीर्तिसिंह या कीर्तिचन्द्र के राज्य में प्रजा में किसी प्रकार की अशान्ति न थी। पिता पुत्र दोनों ही राजा जैन धर्म पर पूरी आस्था रखते थे। यही कारण है कि उस समय ग्वालियर में चोर, डाकू, दुर्जन, खल, पिशुन तथा नीच मनुष्य दिखाई नहीं देते थे और न कोई दीन-दुखी ही दिखाई देता था। वहाँ चौहट्टों पर बाजार बने हुए थे, जिन पर वणिक् जन विविध वस्तुओं का क्रय-विक्रय करते थे। वहाँ व्यसनी, चरित्रहीन मानव नहीं थे। नगर जिन-मंदिरों से विभूषित था और श्रावक दान-पूजा में निरत रहते थे।

जन सम्प्रदाय

डूंगरेन्द्रसिंह और कीर्तिसिंह के राजकाल में गोपाचल गढ़ के चारों ओर अनेक जैन प्रतिमाएँ शिलाओं में उत्कीर्ण की गई हैं। इन प्रतिमाओं के मूर्तिलेखों के साथ रइधू के ग्रन्थों के विवरणों को पढ़ने से तत्कालीन ग्वालियर में हुए जैन सम्प्रदाय के विकास का

इतिहास अत्यन्त विस्तृत रूप से प्रत्यक्ष हो उठता है। रइधू यद्यपि अपभ्रंश भाषा का श्रेष्ठ कवि है, तथापि उसकी रचनाओं को ग्वालियर के तत्कालीन जैन व्यापारियों के विवेचन से पृथक् नहीं किया जा सकता।

ईसवी पन्द्रहवीं शताब्दी में ग्वालियर, नरवर और सोनागिरि में जो भट्टारक पट्टासीन थे, वे किसी अन्य सम्प्रदाय या धर्म के विरोध की नीति लेकर नहीं चले थे। उनके प्रदेश का राजवंश ब्राह्मण धर्म का अनुयायी था, वह शिव और शक्ति का उपासक था। नयचन्द्र सूरि ने जिस समन्वय की परम्परा को वीरमदेव के समय में प्रारंभ किया था, उसे इन जैन-पीठों के भट्टारक चलाते रहे। नयचन्द्र सूरि के समान रइधू ने श्री शंकर की ऋषभदेव के रूप में स्तुति की है—

> तीर्थेशो वृषभेश्वरो गणनुतो गौरीश्वरो शंकरो
> आदीशो हरिणंचितो गणपतिः श्रीमान्युगादिप्रभुः।
> नाभेयो शिववार्द्धिवर्धन शशिः कैवल्य भाभासुरः
> क्षेमाख्यस्य गुणान्वितस्य सुमतेः कुर्याच्छिवं सो जिनः॥

इसी मेघेश्वरचरित में रइधू ने लिखा है कि उसे भट्टारक यशःकीर्ति ने आशीर्वाद दिया था कि 'मेरे प्रसाद से तू विचक्षण हो जाएगा'। समन्वय का यह मंत्र रइधू को भट्टारक यशःकीर्ति ने ही दिया होगा।

अपनी इस समन्वय की नीति के कारण ही इन भट्टारकों ने डूंगरेन्द्रसिंह और कीर्तिसिंह को जैन सम्प्रदाय के प्रति उदार बना दिया था।

एक कारण और भी था। दिल्ली-हरियाणा क्षेत्र में तुर्कों के समय में भी जैन व्यापारी बहुत अधिक समृद्ध हुए थे। जैन सम्प्रदाय को प्रश्रय देने के कारण डूंगरेन्द्रसिंह और कीर्तिसिंह के राज्यकाल में इनमें से अनेक गोपाचल नगर में आ बसे। उनके कारण यहाँ का व्यापार भी बहुत बढ़ा होगा।

रइधू ने हिसार निवासी एक अग्रवाल जैन व्यापारी का बहुत विस्तृत विवरण दिया है। साहु नरपति का पुत्र साहु वील्हा फीरोजशाह तुगलुक द्वारा सम्मानित व्यापारी था। उसी के वंश में संघाधिप सहजपाल हुआ, जिसने गिरनार की यात्रा का संघ चलाया था और उसका सब व्यय-भार वहन किया था। सहजपाल के पुत्र साहु सहदेव भी संघाधिप था। उसका छोटा भाई साहु तोसउ था। तोसउ का पुत्र खेल्हा था। भट्टारक यशःकीर्ति का आशीर्वाद प्राप्त करने के लिए उसने गोपाचल पर चन्द्रप्रभु की विशाल मूर्ति का निर्माण कराया। उसने ही रइधू से 'सम्मइजिनचरिउ' ग्रन्थ की रचना कराई।

रइधू के मेघेश्वरचरित तथा पार्श्वनाथचरित में एक और व्यापारी-परिवार का उल्लेख किया है जो, संभवतः, दिल्ली से ग्वालियर आया था। साहु खेऊँ या खेमशाह

दिल्ली से ग्वालियर आकर यहाँ के नगरसेठ बन गए। साहु खेमशाह द्वीपान्तरों से वस्त्र और रत्नादि मँगाकर व्यापार करते थे। खेमशाह ने भी गोपाचल गढ़ पर विशाल जिनमूर्ति बनवाई थी। उसके शिलालेख से ज्ञात होता है कि उसके प्रतिष्ठाचार्य पं० रइधू ही थे।[1] खेमशाह के पुत्र कमलसिंह ग्वालियर में ही रह कर व्यापार करने लगे। उनके द्वारा आदिनाथ की ग्यारह हाथ ऊँची प्रतिमा बनवाई गई। रइधू के इस कथन की पुष्टि मूर्तिलेख से भी होती है।[2]

रइधू ने जसहरचरिउ की रचना कमलसिंह के पुत्र हेमराज के आश्रय में की थी। साहु कमलसिंह का व्यापार दिल्ली और ग्वालियर, दोनों स्थानों पर चलता था। हेमराज दिल्ली का कारोबार देखता था। रइधू ने वहीं पहुँच कर यह ग्रंथ लिखा था। हेमराज भी संघाधिपति बना था और उसने भी गोपाचल गढ़ पर युगादिनाथ की मूर्ति बनवाई थी।[3] हेमराज के पुत्र कुन्थदास का भी उल्लेख रइधू ने 'श्रमण भूषण' के रूप में किया है।

रइधू ने धणकुमार-चरिउ में ग्वालियर के पास ही स्थित ग्राम आरोन के साहु भुल्लण का भी उल्लेख किया है। उसके आग्रह पर ही यह ग्रन्थ लिखा गया था। रइधू को ग्वालियरवासी साहु बाटू तथा 'गोलालारीय जाति के भूषण' सेउ साहु ने भी सिरिपाल चरिउ तथा सम्यकत्व कौमुदी नामक रचनाओं को लिखने के लिए प्रश्रय दिया था।

दिल्ली के एक समृद्ध जैन व्यापारी संघाधिप साहु लोणा से रइधू का परिचय स्वर्णगिरि (सोनागिर) के पट्टाधीश भट्टारक कमलकीर्ति के उत्तराधिकारी भट्टारक शुभचन्द्र के माध्यम से हुआ था। साहु लोणा के आग्रह पर रइधू ने रिट्ठनेमिचरिउ (हरिवंश पुराण) लिखा था।

केवल श्रेष्ठि ही नहीं, जैन महिलाएँ भी मूर्ति और मन्दिर निर्माण में पीछे न रहीं। किसी कुशलराज की पत्नी ने वि०सं० १५२५ (सन् १४६८ ई०) में विशाल जिन-प्रतिमा बनवाई थी और वि०सं० १५३१ (सन् १४७४ ई०) में एक चम्पादेवी द्वारा पार्श्वनाथ की मूर्ति बनवाई गई थी।

गोपाचल पर्वत के चारों ओर पर्वत को उकेर कर अगणित गुहा-मन्दिरों का निर्माण केवल ३० वर्ष में हो गया था; गोपाचल एक नवीन जैन-तीर्थ बन गया। उसे जैन-तीर्थमालाओं में गूँथा भी गया।[4]

---

१. ग्वा० रा० अभि, क्र० २५५; पूर्णचन्द्र नाहर, जैन लेख संग्रह क्र० १४२७।

२. ग्वा० रा० अभि०, क्र० २७७।

३. वही, क्र० २९३।

४. बावन गज प्रतियाँ गढ़ गुवालेरि सदा सोभती ॥ ३३ ॥ तीर्थमाला, पृ० १११।
गढ़ गवालेर बावन गज प्रतिमा वन्दु ऋषभ रंगरोली जी ॥ १४-२ ॥
सौभाग्य विजय तीर्थमाला, पृ० ९८।

परिच्छेद ८

कल्याणमल्ल

(१४८०-१४८८ ई०)

कल्याणमल्ल का नाम कल्याणशाह तथा कल्याणसिंह भी प्राप्त होता है। मध्ययुग के फारसी इतिहासों में उसका नाम 'कपूरचन्द' भी लिखा मिलता है, परन्तु तबकाते-अकबरी में उसे कल्याणमल्ल ही कहा गया है। कल्याणमल्ल की लिखी हुई दो रचनाएँ अनंगरंग तथा सुलैमच्चरित भी प्राप्त हुई हैं, जिनमें उसने अपना नाम 'कल्याणमल्ल' दिया है।

ऐतिह्य सामग्री

कल्याणमल्ल के राज्यकाल का न तो कोई शिलालेख मिलता है और न किसी समकालीन या परवर्ती इतिहासकार ने उसके राज्यकाल की किसी राजनीतिक घटना का उल्लेख किया है। दामोदर के विल्हणचरित से यह ज्ञात होता है कि २० अप्रैल सन् १४८० को कल्याणमल्ल का राज्य प्रारंभ हो गया था। स्वयं कल्याणमल्ल के ग्रन्थों से केवल यह ज्ञात होता है कि अयोध्या के प्रशासक, अहमद के पुत्र लादखाँ के मनोरंजनार्थ कल्याणमल्ल ने 'सुलैमच्चरित' तथा 'अनंगरंग' नामक संस्कृत भाषा के ग्रन्थ लिखे थे।

कल्याणमल्ल का जो उल्लेख मित्रसेन के रोहताश्व गढ़ के शिलालेख में मिलता है, उससे उसके राज्यकाल की घटनाओं का कुछ आभास मात्र प्राप्त होता है —

श्रीमान् कल्याणसाहिः समजनि तनयस्तस्य यस्य प्रसादात्
संग्रामे प्राप्य कान्तात् सुरपुरवनितानन्दनान्तः स्फुरन्ति।
सौख्य दिल्लीशमाजौ करितुगघटाटोपसंघट्टमध्ये
द्राग् जित्वा शत्रुसेनां यवनपुरपतिं स्थापयामास राज्ये॥

सुरवनिताएँ नन्दनवन में आनन्दित होती थीं या नहीं, इससे इतिहास का सम्बन्ध नहीं है; ऐतिहासिक घटना केवल यह ज्ञात होती है कि किसी घोर युद्ध में दिल्लीपति को पराजित कर कल्याणमल्ल ने यवनपुर (जौनपुर) के अधिपति को अपने राज्य में बसा लिया था।

यह जौनपुर का अधिपति कौन था, इसका परिचय मित्रसेन के शिलालेख से नहीं मिलता। इसका परिचय सुलैमच्चरित तथा अनंगरंग की पुष्पिकाओं में प्राप्त होता है। सुलैमच्चरित में लिखा है[1]—

१. सुलैमच्चरितम् की एकमात्र प्रति गवर्नमेण्ट ओरिएण्टल मैनुस्क्रिप्ट्स लायब्रेरी, मद्रास, में सुरक्षित है। वह मलयालम लिपि में है। उसका देवनागरी पाठ हमें उक्त संस्थान के क्यूरेटर द्वारा प्राप्त हुआ है। यहाँ साभार उसी का उपयोग किया गया है।

आसीदयोध्यापतिर्बलवान् बलभित्समः
वैभवे विक्रमे तस्य नास्ति तुल्योपरः प्रभुः ।
विद्वान् विशेष विच्छूरः प्रजापालनतत्परः ।।
लोदीवंशावतंसश्च दयादाक्षिण्य तत्परः ।
अहमन्नृप इत्येवं विख्यातो धरणीतले ।।
तस्यपुत्रस्सुधर्मात्मा नीतिमान् प्रीतिमान्वशी ।
.....
लाडखान इति ख्यातो लालित्यगुणमण्डितः ।।

अनंगरंग कल्याणमल्ल की ही कृति है, इसमें सन्देह नहीं। उसकी अनेक प्रतियाँ उपलब्ध होती हैं। उसका एक संस्करण मराठी अनुवाद सहित बहुत पहले प्रकाशित हो चुका था। एक संस्करण सन् १९७३ में चौखम्मा संस्कृत सीरीज, वाराणसी, से भी श्री रामचन्द्र झा द्वारा सम्पादित हो कर प्रकाशित हुआ है। अन्य प्रतियों की अपेक्षा इस संस्करण में निम्नलिखित श्लोक अधिक हैं :—

अम्भोजिनीबन्धुकुलप्रसूतः
कर्पूरराजन्य उदारकीर्तिः
तीव्रप्रतापानलदग्धशत्रु—
स्त्रैलोक्यचन्द्रः क्षितिपाल आसीत् ।।४।।
तस्यात्मजोऽस्ति गजमल्ल इति प्रसिद्धः
संग्रामसन्ततपराजितवैरिवृन्दः ।
क्षान्त्याद्यशेषशुभलक्षणसन्निवास-
श्चन्द्रांशुनिर्मलयशोरुचिरंकृताशः ।।५।।
पुत्रोऽस्यं तस्य कुतुकार्थमनङ्गरङ्ग
ग्रन्थं विलासिजनवल्लभमातनोति ।
श्रीमन्महाकविरशेषकलाविदग्धः
कल्याणमल्ल इति भूपमुनिर्यशस्वी ।।६।।

इन श्लोकों में कल्याणमल्ल के पिता का नाम गजमल्ल तथा उसके पिता का नाम त्रिलोकचन्द्र दिया गया है। कीर्तिसिंहदेव तथा डूगरेन्द्रसिंहदेव कहीं गजमल्ल तथा त्रिलोकचन्द्र कहे गए हों, ऐसा ज्ञात नहीं हुआ है। अनंगरंग की अनेक प्राचीन हस्तलिखित प्रतियाँ प्राप्त होती हैं, उनमें से किसी भी प्रति में ये पंक्तियाँ नहीं हैं। निश्चय ही ये पंक्तियाँ क्षेपक हैं।

अनंगरंग की प्रशस्ति में लिखा है[1] —

---

१. अनंगरंग के उद्धरण हमें भण्डारकर ओरिएण्टल रिसर्च इन्स्टीट्यूट, पूना की प्रति से प्राप्त हुए हैं। उक्त संस्थान के हम बहुत आभारी हैं।

लोदीवंशावतंसो हतरिपुवनितानेत्रवारिप्रपूरः
प्रादर्भूतोंवुराशिः शमितवरयशा लीलया प्लावितश्च ।
तत्पुत्रख्यातकीर्त्ते रहमदनृपतेः कामसिद्धान्त विद्वान्
जीयाच्छ्रीलाडखानः क्षितिपति मुकुटैर्धृष्टपादारविन्दः ॥
अस्यैव कौतुकनिमित्तमनंगरंगं
ग्रंथं विलासिजनवल्लभमातनोति ।
श्रीमन्महाकविरशेषकलाविदग्धः
कल्याणमल्ल इति भूपमुनिर्यशस्वी ॥

ग्रन्थ के प्रथम परिच्छेद (स्थल) के अन्त में लिखा है —

इतिश्रीमल्लाडनवल्लविनोदाय महाकवि कल्याणमल्ल
विरचितेऽनंगरंगे पद्मिनी प्रभृतीनां जातिवर्णनं नाम प्रथमः स्थलः

अन्त के परिच्छेद (स्थल) में लिखा है —

श्रीमल्लोदीवंशावतंश श्रीमल्लाडखान
विनोदाय श्रीमद्राजर्षि महाकवि कल्याणमल्ल
विरचितेऽनंगरंग संभोगनाम दशम स्थलः ।

कल्याणमल्ल राजर्षि हैं, महाकवि है, यह आगे के विवेचन का विषय है; अभी देखना यह है कि अहमद नृपति के सुपुत्र, कामसिद्धांत के विद्वान, लादखाँ लोदी कौन है ।

लादखाँ

खिज्रखाँ (रायाते-आला) का सरहिन्द का प्रशासक अफगान अमीर इस्लामखाँ लोदी था । उसका भतीजा था वहलोल लोदी । वहलोलखाँ अपने दो साथी, फीरोजखाँ लोदी और कुतुवखाँ लोदी के साथ दिल्ली में घोड़ों का व्यापार करने आया था । उसने सुल्तान मुहम्मद को घोड़े वेचे और उसके वदले में पाई जागीर और यही जागीरदार फिर वन वैठा दिल्ली का लोदी सुल्तान । उसने अफगान कवीलों के राज्य का प्रारम्भ किया । वहलोल के नौ पुत्र थे जिनमें से एक था जमालखाँ लोदी । जमालखाँ लोदी का पुत्र था अहमदखाँ । जव वहलोल ने अपने पुत्र वारवाकशाह को जौनपुर के शर्की राज्य का राजा वनाया तव अहमदखाँ को जौनपुर के हाकिम का पद दिया गया । इस अहमद के साहवजादे थे आजम लादखाँ ।[1]

अफगान सुल्तानों में अमीरों को वादशाह से कम नहीं समझा जाता था । सुल्तान वहलोल गोष्ठियों में सिंहासन पर नहीं वैठता था, सव अमीरों के साथ रंगीन फर्श पर वैठता था । अमीरों को पत्र लिखते समय वह उन्हें 'मसनदे-आली' शव्द से सम्वोधित करता

१. वाकआते--मुश्ताकी, डॉ० रिजवी, उ० तै० भा० भाग १, पृ० १५०-१५१; तवकाते-अकवरी, डॉ० रिजवी, उ० तै० भा०, भाग १, पृ० २०१।

था। वे अमीर अफगान सल्तनत की शक्ति भी थे और वे ही लोदी सल्तनत की समाप्ति के कारण बने थे। वैसे तो सभी अमीर नृपति थे, फिर बहलोल लोदी के पुत्र को अनंगरंग में 'अहमद नृपति' लिखा जाना स्वाभाविक है।

बहलोल लोदी के जीवनकाल में उसके पौत्र लादखाँ का भी बहुत राजनीतिक महत्व रहा होगा। वाकआते-मुश्ताकी का लेखक रिज्कुल्लाह मुश्ताकी लादखाँ का इमाम (नमाज पढ़ाने वाला) था। उसने लादखाँ का जो इतिहास दिया है वह किसी कारण से अधूरा रह गया ज्ञात होता है। उसने यह उल्लेख नहीं किया है कि लादखाँ अवध का अमीर था। यह जानकारी कल्याणमल्ल के सुलैमच्चरित से ही मिलती है। मुश्ताकी ने यह भी नहीं लिखा कि लादखाँ कभी ग्वालियर आया था और वहाँ रहा था। मित्रसेन के रोहिताश्व गढ़ के शिलालेख से यह प्रकट होता है कि कल्याणमल्ल ने यवनपुर के अधिपति को अपने राज्य में स्थापित किया था। परन्तु जब मित्रसेन का शिलालेख यह कहता है कि कल्याणमल्ल दिल्लीश्वर को युद्ध में पराजित करने के उपरान्त लादखाँ को ग्वालियर लाया था, तब यह स्पष्ट नहीं होता कि वह किस युद्ध का उल्लेख है।

ग्वालियर में लादखाँ की स्मृति के दो अवशेष प्राप्त होते हैं। ग्वालियर गढ़ के पास ही एक मस्जिद है जो लद्नखाँ की मस्जिद कही जाती है तथा अत्यन्त भग्न अवस्था में है। ग्वालियर के पास ही एक जौनापुर नामक ग्राम है, जो 'यवनपुर' का विकृत रूप ज्ञात होता है।

कल्याणमल्ल का राजनीतिक इतिहास

अपने युवराजकाल में कल्याणमल्ल राज-प्रतिनिधि के रूप में जौनपुर, दिल्ली, माण्डू और अयोध्या गए थे। उनकी कुछ यात्राओं का उल्लेख इतिहास-ग्रन्थों में मिलता है। उनके राज्यकाल के प्रारम्भ के पूर्व ही जौनपुर का शर्की सुल्तान हुसेनशाह पराजित हो गया था। तत्पश्चात् सन् १४८० से १४८८ के बीच ग्वालियर और दिल्ली के सम्बन्ध किस प्रकार के रहे, इसका कोई स्पष्ट प्रमाण नहीं मिलता। मित्रसेन के शिलालेख से केवल यह ज्ञात होता है कि दिल्ली और ग्वालियर के बीच कोई युद्ध हुआ था। यह युद्ध लादखाँ लोदी के कारण हुआ था। मित्रसेन के शिलालेख के अनुसार, इस युद्ध में कल्याण-मल्ल विजयी हुए थे। परन्तु फिर लादखाँ को अवध क्यों छोड़ना पड़ा और वह ग्वालियर क्यों आ बसा? इस प्रश्न का उत्तर मित्रसेन के शिलालेख से नहीं मिलता। वास्तविकता यह है कि कल्याणमल्ल के राज्यकाल का राजनीतिक इतिहास अस्पष्ट है। केवल यह कहा जा सकता है कि बहलोल लोदी से झगड़ कर लादखाँ ग्वालियर आ गया। वह कब लौटा, लौटा भी या नहीं, यह इतिहास अभी अज्ञात है।

कल्याणमल्ल का व्यक्तित्व

अपने आठ वर्ष के राज्य-काल में कल्याणमल्ल ने आनन्द और सुख-चैन के दिन विताए। सुलैमच्चरित, अनंगरंग और दामोदर के विल्हणचरित से कल्याणमल्ल के व्यक्तित्व की

कुछ झलक मिलती है। सुलैमच्चरित से यह भी ज्ञात होता है कि कल्याणमल्ल ने 'अनंग-रंग' पहले लिखा और बाद में सुलैमच्चरित की रचना की —

पप्रच्छ कवि राजेन्द्रं काव्यनिर्माण कौशलम्
कल्याणमल्लनामानं कविसंस्तुत्यवाङ्मयं।
त्वमस्मदास्थानकविस्सर्वशास्त्रार्थपारगः
पुराह्यनङ्गरङ्गाख्यं कलाशास्त्रंकलास्पदम्।
गीर्वाणभाषया विद्वन्मानसान्ददायकम्
कृतवानसि मत्प्रीत्यै बन्धुरं लोकसुन्दरम्।
इदानीमपि सद्विद्वच्छ्लाघ्यं सर्वार्थगोचरम्
सुलैमच्चरितं ब्रूहि चित्रं गीर्वाणभाषया।

अनंगरंग में कल्याणमल्ल को 'भूपमुनि' कहा गया है और सुलैमच्चरित में उसे 'कवि राजेन्द्र' कहा गया है। इसी प्रकार का विवरण दामोदर के विल्हणचरित में है —

नीति निरंजन राजा राम, गोरख जिउ नवखण्डह नाम

ज्ञात होता है कि जब कल्याणमल्ल ने राज्य सँभाला तब, वे पर्याप्त वय प्राप्त कर चुके थे और गोरखपंथ के अनुयायी हो गए थे। ग्वालियर में नाथपंथी साधुओं की सिद्धपीठ भी थी। कल्याणमल्ल के समय में नाथपंथियों की ग्वालियर में पर्याप्त प्रतिष्ठा हुई होगी। कल्याणमल्ल योग-भोग के समन्वय युक्त राज-योग के अनुयायी ज्ञात होते हैं। 'भूपमुनि' द्वारा कामशास्त्र के ग्रन्थ अनंगरंग की रचना यही प्रकट करती है। योगतन्त्र के इतिहास की विशेषता यह है कि इन शताब्दियों में वह सूफी सन्तों को भी ग्राह्य हुआ और जैन मुनियों को भी। 'ज्ञानार्णव' मे योग साधना को भी स्थान दिया गया है। इस ज्ञानार्णव की प्रतिलिपि भट्टारक यशः-कीर्ति ने ग्वालियर में उतरवाई थी। शेख मुहम्मद गौस ने योगतन्त्र की पुस्तक का अनुवाद फारसी में किया था। यह अनुवाद उन्होंने कैसे किया होगा, यह समझना कठिन है, क्योंकि शेख तो नितान्त निरक्षर थे!

कल्याणमल्ल और लादखाँ के ग्वालियर में साथ-साथ रहने का प्रभाव सांस्कृतिक क्षेत्र पर बहुत पड़ा। लादखाँ और उसके अफगान साथियों के रंजनार्थ ग्वालियर में प्रचुर संस्कृत तथा हिन्दी साहित्य लिखा गया। राजनीतिक घटनाओं के इतिहास की सामग्री के अभाव की पूर्ति कल्याणमल्ल के समय के ज्ञात साहित्य से पर्याप्त रूप में हो जाती है। वह साहित्य भी इस प्रकार का है, जो भारतीय इतिहास में विशेष महत्व रखता है। ऐसे उदाहरण कम ही मिलेंगे, जब इस्लाम के नबी हजरत सुलैमान को चरित-नायक बनाकर संस्कृत में काव्य लिखे गए हों। इस दृष्टि से कल्याणमल्ल का 'सुलैमच्चरित' अत्यन्त महत्वपूर्ण माना जाएगा।

कल्याणमल्ल के राजकवि नारायणदास ने हिन्दू और अफगानों के संयुक्त रसिक-समूह के विनोदार्थ ही अपना 'छिताईचरित' नामक महाकाव्य लिखा था। हिन्दी का यह प्रथम महाकाव्य है जिसमें अलाउद्दीन खलजी को कथा-नायक बनाया गया है और उसका चरित्र-चित्रण पर्याप्त सहानुभूति के साथ किया गया है। इस प्रकार का कुछ और भी साहित्य लिखा गया होगा, जो अब उपलब्ध नहीं है।

शेख हाजी हमीद ग्वालियरी

पाँडुआ (बंगाल) में शेख नूर कुत्बे-आलम चिश्तिया सम्प्रदाय के बहुत बड़े सूफी सन्त थे। जौनपुर के इबराहीम शर्की ने सन् १४१४ ई० में दीनाजपुर के राजा गणेश पर आक्रमण किया। राजा गणेश भयभीत हुए और शेख साहब की मध्यस्थता से संधि करना चाही। शेख ने इस शर्त पर सन्धि कराई कि राजा का छोटा राजकुमार इस्लाम ग्रहण करले। राजा को यह शर्त माननी पड़ी और उसके छोटे राजकुमार यदु ने इस्लाम ग्रहण कर लिया और जलालुद्दीन के नाम से राजसिंहासन पर बैठा; वह 'राजा' से 'सुल्तान' बन गया।[1]

इन्हीं शेख नूर की परम्परा में शेख अब्दुल्ला शत्तारी थे। इनके शिष्य थे शेख काजन बंगाली—उनके शिष्य शेख हाजी हमीद, संभवतः, लादखाँ की अफगान-मण्डली के साथ ही ग्वालियर आगए। यहाँ वे शेख हाजी हमीद ग्वालियरी के नाम से प्रतिष्ठित हुए। चिश्तिया और शत्तारी सम्प्रदाय भारत में इस्लाम के प्रचार के लिए बहुत प्रसिद्ध हैं। परन्तु उनका तरीका भिन्न था। वे 'तुर्क तरीका' अर्थात् केवल तलवार के बल पर इस्लाम प्रचार के उतने पक्षपाती नहीं थे, जितने 'सूफी तरीका' अर्थात् सैनिकों की तलवार की छाया में समझा-बुझा कर या प्रलोभन देकर इस्लाम ग्रहण कराने के मार्ग के पक्षपाती थे। शेख अब्दुल हमीद कल्याणमल्ल के राज्य में इस्लाम का प्रचार अधिक न कर पाए होंगे, तथापि, उनके माध्यम से हिन्दू धर्म और इस्लाम के अनुयायियों में सौहार्द और सम्पर्क अवश्य बढ़ा होगा और ग्वालियर को बंगाल तथा असम में प्रचलित योग-तंत्र आदि की विचारधाराएँ भी प्राप्त हुई होंगी। भारतीय सामासिक संस्कृति का विकास, इस प्रकार, अत्यन्त सुदृढ़ आधार पर कल्याणमल्ल के राज्यकाल में हुआ; जहाँ हिन्दू और मुसलमान समान स्तर पर एक-दूसरे के सम्पर्क में आए।

अपभ्रंश साहित्य और जैन सम्प्रदाय

डूंगरेन्द्रसिंह और कीर्तिसिंह के समय में अपभ्रंश साहित्य केवल धार्मिक या साम्प्रदायिक आग्रह के आधार पर लिखा गया था। उस समय, संभवतः, अपभ्रंश को जैनों की धर्मभाषा माना गया। जिन परिस्थितियों के कारण, अपभ्रंश साहित्य ने अपनी अन्तिम आभा ग्वालियर में दिखाई थी, उनके समाप्त होते ही अपभ्रंश साहित्य की सृष्टि भी

---

१. प्रो० के० ए० निजामी, ए कम्प्रहेन्सिव हिस्ट्री आफ इण्डिया, भाग ५, पृ० ७१७।

अवरुद्ध हो गई। ग्वालियर में उस धारा के लुप्त होने के पश्चात् वह अन्यत्र प्रवाहित भी न हो सकी।

ज्ञात यह होता है कि कल्याणमल्ल के समय में जैन सम्प्रदाय का विकास ग्वालियर में अवरुद्ध हो गया था। भट्टारक गुणभद्र कीर्तिसिंह के निकट सम्पर्क में रहे, परन्तु उनके उत्तराधिकारियों को, संम्भवतः, कल्याणमल्ल के राज्यकाल में ही अपना प्रधान पट्ट कहीं अन्यत्र ले जाना पड़ा। कल्याणमल्ल के राज्यकाल में रइधू जैसे जैन पण्डितों को कोई स्थान नहीं रह गया और न गुणभद्र जैसे भट्टारकों का ही सम्मान रहा। बड़े-बड़े संघपति या सिंघई भी अपने व्यवसायों की ओर ध्यान केन्द्रित करने लगे, न उन्होंने कोई मूर्तियाँ प्रतिष्ठित कीं, न मन्दिर बनवाए।[1] चम्पा तथा कुशलराज की पत्नी जैसी दानी जैन महिलाएँ अपनी धर्म-व्यवस्था घरों के भीतर समेट कर बैठ गईं। जो जैन सूरि, मुनि, तथा भट्टारक वीरम, गणपति, डूंगरेन्द्रसिंह तथा कीर्तिसिंह के सहायक थे, वे ग्वालियर की ओर से विरक्त हो गए। 'मंत्र विचक्षग' कुशराज जैसे मंत्रियों की भी अब कल्याणमल्ल को आवश्यकता न रही।

भारतीय सामासिक संस्कृति के विकास की दृष्टि से कल्याणमल्ल का ग्वालियर हिन्दू-मुस्लिम विचार धाराओं और जीवन-पद्धतियों के समन्वय की ओर बढ़ा; परन्तु, उस युग में किसी राजपूत राज्य के अस्तित्व के लिए जो कुछ अवांछित था, उसकी सृष्टि भी उसने कर दी।

हिन्दी साहित्य

कल्याणमल्ल के राज्यकाल में युद्धों और संघर्षों के विवरण नहीं मिलते, मूर्ति-लेख भी नहीं मिलते तथा विशुद्ध इतिहास में वर्णनीय विषयों की सामग्री भी नहीं मिलती; तथापि, उसके राज्यकाल में ग्वालियर की साहित्य-साधना चरम उत्कर्ष पर पहुँची दिखाई देती है। अभी तक जितनी उपलब्ध हो सकी है, वह सामग्री ही उसकी महत्ता को स्थापित करने के लिए पर्याप्त है। जिस काल में नारायणदास, दामोदर, साधन तथा चतुर्भुजदास निगम जैसे कवि हुए हों, उसके लिए यही कहा जा सकता है कि वह काल हिन्दी साहित्य की समृद्धि का युग है। डूंगरेन्द्रसिंह तथा कीर्तिसिंह के समय में जैन सम्प्रदाय के विकास के तारतम्य में हरियाणा, मारू और गुजरात से हुए सम्पर्क के कारण तथा जैनुल-आबेदीन के कश्मीर एवं शर्कियों के जौनपुर के साथ हुए सम्पर्क के कारण ग्वालियर की साहित्यिक चेतना पर भी प्रभाव पड़ा था। विष्णुदास ने, पौराणिक आख्यानों को आधार बना कर, जो विशद धरातल प्रस्तुत किया था, उस पर कल्याणमल्ल के समय में अनेक श्रेष्ठ काव्य लिखे गए। विष्णुदास का भावक-समाज सीमित था, आगे ऐसी रचनाओं की आवश्यकता थी जो हिन्दु, तुर्क, जैन, सभी को ग्राह्य हो सकें। अब केवल राजा को कथाएँ सुनाने तक

१. डा० सन्तलाल कटारे ने सूचना दी है कि कल्याणमल्ल के राज्यकाल के उल्लेखयुक्त एक जिन-मूर्ति इटावा पहुँच गई है। हमें उसका कोई विवरण उपलब्ध नहीं हो सका।

हिन्दी काव्य सीमित नहीं रह गया था। जैन श्रेष्ठि और अफगान एवं तुर्क प्रवासी भी उसके श्रोता वने। इस मिश्रित भावक वर्ग के लिए सम्प्रदायपरक रचनाएँ व्यर्थ थी।

नारायणदास

इन विशिष्ट परिस्थितियों की श्रेष्ठतम देन नारायणदास का 'छिताई-चरित' है। छिताई-चरित के आख्यान के चयन में नारायणदास को निश्चय ही नयचन्द्र के हम्मीर महाकाव्य तथा पद्मनाभ व्यास के कान्हड़दे-प्रबन्ध से प्रेरणा मिली है। परन्तु अपने युग की परिस्थितियों के अनुसार नारायणदास ने कथानक के चयन में परिवर्तन भी किया है। नयचन्द्र ने हम्मीरदेव को राजन्यवर्ग के आदर्श के रूप में प्रस्तुत किया है, पद्मनाभ ने कान्हड़देव की पराजय को भी गौरवशाली बनाया है। इन दोनों कवियों का अलाउद्दीन का चित्र अफगानों या तुर्कों को ग्राह्य नहीं हो सकता था। नारायणदास का अलाउद्दीन यद्यपि रावण का प्रतीक है, तथापि, उसका चित्र कुछ इस प्रकार का है कि घृणा के स्थान पर उसके प्रति कभी-कभी आदरभाव उत्पन्न होता हैं। नारायणदास एक ऐसे महाकाव्य की रचना करना चाहता था जो हिन्दुओं की श्रेष्ठतम परम्पराओं पर आधारित होते हुए भी अफ़गान महमानों के लिए ग्लानिकारक न हो। यह स्मरणीय है कि छिताई-चरित का जो पाठ उपलब्ध हुआ है उसमें देवचन्द्र तथा रतनरंग नामक कवियों का अंश भी जुड़ा हुआ है। तुर्कों के अत्याचार के प्रति भीषण आक्रोश देवचन्द्र के अंश में प्राप्त होता है। नारायणदास केवल अपने पक्ष का नैतिक आधार सुपुष्ट रूप से प्रस्तुत करना चाहता है। उसकी छिताई सीता जैसी पति-परायणा है और उसका समरसिंह राम जैसा एक-पत्नीव्रती।

काव्य के रूप में नारायणदास का छिताई-चरित हिन्दी के महाकाव्यों की अग्रतम पंक्ति में स्थान पाने योग्य है, इसमें सन्देह नहीं। इसका विवेचन हम अन्यत्र अत्यन्त विस्तार के साथ कर चुके है।[1] यहाँ नारायणदास के कृतित्व के काल पर ही कुछ विचार या पुनर्विचार करना आवश्यक है।

'छिताई-चरित' की जो प्रति उपलब्ध हुई है, उसमें उसके सुनाने का समय १७ जून १५२६ ई० (आषाढ़ सुदी सप्तमी, सं० १५८३) दिया गया है। उसके होते हुए भी हमने यह मान्यता प्रकट की है कि छिताई-चरित की रचना सन् १४७५-१४८० के बीच कभी हुई है। उन सब तर्कों को यहाँ दुहराने की आवश्यकता नहीं है, जिनके आधार पर यह परिणाम प्राप्त किया गया है। उसके विषय में अब तक जो आपत्ति हमें देखने को मिल सकी है, उसका निराकरण ही पर्याप्त है। डॉ० ओमप्रकाश ने इस विषय में लिखा है[2]—
"नारायणदास के छिताई-चरित की रचना १५२६ ई० में हुई। श्री हरिहरनिवास द्विवेदी इसे सन् १४७५ और १४८० की रचना मानते हैं और रचना में उल्लिखित संवत् १५८३

१. छिताई-चरित की प्रस्तावना देखें।
२. मध्यकालीन हिन्दी और पंजाबी प्रेमाख्यान (हिन्दी साहित्य संसार, दिल्ली), पृ० ३३।

को उसके सुनाने की तिथि बताते हैं। परन्तु, कथा सुनाने की भी तिथियाँ निर्दिष्ट करने की परम्परा के अन्य उदाहरण जब तक न मिल जाँए तब तक उनकी यह स्थापना विवादास्पद ही रहेगी।"

विवादास्पद रहने में कोई हानि नहीं है, तथापि, ऐसे उदाहरण अनेक हैं। जायसी के पदमावत की प्रतियों में उसका रचनाकाल ९२७ हि०, ९३३ हि०, ९४५ हि०, ९४७ हि० तथा ९४८ हि० प्राप्त होते हैं। इनका समाधान और इनकी विभिन्नता के कारण का निर्देश डॉ० वासुदेवशरण अग्रवाल ने सन् १९५५ में ही कर दिया है[1],—"हि० ९२७ (१५२१ ई०) में आरंभ करके अपना काव्य कवि ने कुछ वर्षों में समाप्त कर लिया होगा। उसके बाद उसकी हस्तलिखित प्रतियाँ समय-समय पर बनती रहीं। भिन्न तिथियों वाले सब संस्करण समय की आवश्यकता के अनुकूल चालू किए गए। ······ मूल ग्रन्थ जैसे का तैसा रहा, केवल शाहेवक्त वाला अंश उस समय जोड़ा गया।"

इस अतिविख्यात उदाहरण के पश्चात् अन्य उदाहरण यहाँ देना आवश्यक नहीं है। देवचन्द्र ने जिस साहु खेमशाह के कहने से अपना अंश छिताईचरित में जोड़ा था उसका अस्तित्व शिलालेखों के आधार पर वि०सं० १५५१ (सन् १४९४ ई०) सुनिश्चित है और देवचन्द्र का १५०५ ई० या १५२२ ई० के आसपास युद्ध में मारा जाना भी सुनिश्चित है। जिस रचना में सन् १४९६ ई० के पूर्व क्षेपक जोड़े गए हों, वह सन् १५२६ की नहीं हो सकती, इसके लिए अधिक प्रमाण देने की आवश्यकता नहीं है।

दामोदर या दल्ह

कल्याणमल्ल तोमर के राज्यकाल के उल्लेख-युक्त एक रचना ऐसी अवश्य उपलब्ध होती है जिसमें उसके रचनाकार एवं रचना-तिथि दोनों का स्पष्ट उल्लेख है। वह है दामोदर या दल्ह रचित "विल्हणचरित"।

विल्हणचरित जिस स्थान पर है और जिस रूप में मिला है इससे यह भी प्रकट होता है कि ईसवी पन्द्रहवीं शताब्दी का हिन्दी साहित्य-भण्डार कहाँ चला गया।

गुजरात के जैन भण्डारों में जूनी गुजराती के ग्रन्थों की खोज करते समय उनमें कुछ जैनेतर कवियों के काव्य भी प्राप्त हुए थे। उनमें एक दल्ह या दामोदर कवि कृत विल्हण चरित भी प्राप्त हुआ था।[2] उसका आदि और अन्त का कुछ अंश 'जैन गुर्जर कविओ' में प्रकाशित हुआ है —

आदि

गढ़ गोपाचल अगम अथाह ,तेज तरणि तुंवर नरनाह।
सेष पयाल अमरपुर इंदु, महिमण्डल कल्याण नरिन्दु ॥१॥

---

१. पदमावत (साहित्य सदन, चिरगाँव, झांसी), प्राक्कथन, पृ० ३३।
२. जैन गुर्जर कविओ, भाग ३, पृ० २११३।

रयणायर जिम गुणह गंभीर, पंथ पटंतर सागरधीर
नीति निरंजन राजा राम, गोरख जिउँ नवखंडह नाम ॥२॥
विधिसिउं महादान दस दीउ, याचक द्रुज कोटीध्वज कीउ
बहु कंचन सूं मान करेइ, गौ सहस्त्र हरिवासर देइ ॥३॥
याचक दीजइ दारिद तोडि, रिण सुरताणय लहिं धड़ मोडि
निबल राइ बहु कंचन भरई, सरणाइत साहिन भय हरई ॥४॥
परजा सयल धर्म कउ भाउ, सुपने ही परसींउं न पाउ
घरि घरि सुणइहि वेद पुराण, घरि घरि विप्रने दीजइ दान ॥५॥
घरि घरि हरवासर व्रत होई, निसि जागरण करहिं सब कोई
अनुदिन कपिला कंचन घणौं, देवी प्रति कीजै पारणों ॥६॥
घरि घरि सुणीइहि तल्ल चरित्र, हरि कउ नाम गाईइ नित्त
हरि मूरति घरि घरि देहुरी, जंबूद्वीप विदुर्सापुरी ॥७॥
गवडवंस गोपाचल वास, विप्र दमोदर गुणह निवास
अनुदिन हींइ बसइ जगु माइ, सुमरित बुद्धि देइ बहु भाई ॥८॥
संवत पनरह सैं सइंतीस, सुदि वैसाख दसई गुरु सीस
आदि कथा संकट मइं रही, तालगि दल्ह सुमति करि कही ॥९॥
अति सिंगार वीर रस घणौ, करुणा रौद्र भयानक भणौ
बिल्हणचरित वरनि करि कहिउ, दुख सहि पाछैं सुख लहिउ ॥१०॥
गुज्जर देस धरम को मूल, सोहइ इन्द्रपुरी समतूल
बारह जोयण बसइ सुहाई, वीरसिंह तहं नरपति राई ॥११॥

अन्त—

बिल्हणचरित दल्ह कवि कहई, ते अनंत कीरति सुभ लहई
ता विधिना ताकी मति जुड़ई, गयो राजधन हाथहिं चढ़ई ॥९०॥
हरियाणिया विप्र कविलास, दामोदर सुंजन कविदास
सा तिन्ह विरचिउ बिल्हणचरित्त, सुनत होइ अति निर्मल चित्त ॥९९॥
सो (जो) फल अठसठि तीरथ कीइं, सो (जो) फल दान महादस दीइं।
जो फल पर उपगार करंत, सो फल बिल्हणचरित सुणंत ॥३००॥

संवत् १६७४ वर्ष कार्तिक सुदि पूर्णिमा दिवसे लिखित जोसी नाराइण मु० सांकर तत्पुत्र उदयकरन तत्पुत्र सरमन वाचनार्थे लिखापितं। शुभं भूयात्। वीस पानाना चोपड़ा मां नव पानां नं० ४५२७ वि० ने०।

बिल्हणचरित का उपलब्ध पूरा उद्धरण 'जैन गुर्जर कविओ' से देने में हमारा उद्देश्य उससे प्राप्त निष्कर्षों पर विचार करना है। प्रथम छन्द से यह स्पष्ट है कि यह रचना गोपाचल गढ़ पर उस समय लिखी गई जब वहां 'तुंवर नरनाह कल्याण नरिंद' का राज्य

था। अनंगरंग में जिसे 'भूपिमुनि' और 'राजर्षि' कहा गया है, वही विल्हणचरित का 'गोरख जिउं नवखण्डह नाम' वाला राजा है। वि० सं० १५३७ (सन् १४८० ई) भी कल्याणमल्ल का राज्यकाल है। अतएव विल्हणचरित का 'कल्याण नरिन्द' निश्चय ही गोपाचल का तोमर राजा कल्याणमल्ल है।

फिर ग्यारहवें छन्द में वर्णित "वीरसिंह राउ" कौन है, जो गुर्जर देश में इन्द्रपुरी के समान शोभित बारह योजन के क्षेत्र की नगरी में रहता है? ज्ञात होता है कि गोपाचल का यह कवि दामोदर कभी द्वारकापुरी की यात्रा के लिए गया और उसने अपना यह काव्य मार्ग में किसी "वीरसिंह राउ" को सुनाया तथा उस समय अपने काव्य में 'गुज्जर देस धरम को मूल' की दो पंक्तियाँ जोड़ दीं। निश्चय ही ग्वालियर के द्वारका के यात्रियों को गुर्जर देश में होकर ही जाना पड़ता था। उस समय ग्वालियरी भाषा गुजरात में खूब प्रचलित थी। वास्तव में, 'जूनी गुजराती' और उस युग के ग्वालियर की हिन्दी में कोई अन्तर नहीं था। ग्वालियर के कवियों का साहित्य गुजरात और सोरठ में बहुत प्रचलित हुआ था और वहाँ हिन्दी को 'ग्वालियरी भाषा' ही कहा जाता था। यह अवान्तर है, और अन्यत्र इस विषय पर विस्तार से लिखा भी गया है।[1]

हरियानिया विप्र

दामोदर ने अपने आपको 'हरियानिया विप्र' लिखा है। आज भी अनेक 'हरियानिया' तँवरघार में अम्बाह के पास बसे हुए हैं। ये 'हरियानिया विप्र' कौन हैं, इनका परिचय एक हरियानिया विप्र ने दिया है। मिश्र हृदयराम ने वि० सं० १७३१ में "रस रत्नाकर"[2] की रचना की थी; उसमें कविवंश वर्णन करते हुए उसने लिखा है—

> ब्रह्मा कीनी सृष्टि सब, पहिलैं करि सप्तर्षि।
> तिनि सातन के वंश सों, उपजे बहु ब्रह्मर्षि ॥१॥
> पंच गौड़ द्विज जगत में, पंच द्राविड जानि।
> जहं जहं देस बसे तहाँ, नाम विशेष बखानि ॥२॥
> जनमेजय के यज्ञ में हरि आने जे विप्र।
> इन्द्रप्रस्थ के निकट तिन, ग्राम दिए नृप छिप्र ॥३॥
> गौड़ देस तें आनि कैं, बसे सबै कुरुखेत।
> विप्र गौड़ हरियानियाँ, कहैं जगत इहि हेत ॥४॥

यह तो निश्चित है कि हरियानिया विप्र 'गवड़' वंश का दामोदर भी कुरुक्षेत्र से ग्वालियर आया था।

परन्तु हृदयराम ने आगे कुछ विचित्र बातें लिखी हैं। उन पंक्तियों से सन्देह होता है कि कहीं हृदयराम विल्हणचरित के लेखक दामोदर को अपना पूर्वज तो नहीं बतला रहा है?

---

१. देखें 'मध्यदेशीय भाषा (ग्वालियरी)' तथा 'महाकवि विष्णुदास कृत महाभारत' की प्रस्तावना।

२. राजस्थान में हिन्दी के हस्तलिखित ग्रन्थों की खोज, प्रथम भाग (प्राचीन शोधसंस्थान, उदयपुर विद्यापीठ, उदयपुर), पृ० २८।

कहीं वह यह तो नहीं कह रहा कि छिताईचरित का रचयिता नारायणदास कवि दामोदर का पिता था ? आगे की ये पंक्तियाँ नीचे लिखे अनुसार है —

तिनमें एक भटानियाँ, जोशी जग इहि ख्याति ।
यजुर्वेद माध्यंदिनी, शाखा सहित सुजाति ॥५॥
गोतकलित कोशल्ये, गनो घरोंडा ग्राम ।
उपजे निजकुल कमल रवि, विष्णुदत्त इहि नाम ॥६॥
विष्णुदत्त को सुत भयो, नारायण विख्यात ।
ताको दामोदर भयौ, जग में जस अवदात ॥७॥

आगे हृदयराम ने दामोदर के पांडित्य का वर्णन किया है —

भाष्य सहित कैयट सकल, पढ्यौ पढायौ धीर ।
षटदर्शन साहित्य में, जाको ज्ञान गंभीर ॥८॥
स्वारथ परमारथ प्रदा, विद्या आयुर्वेद ।
श्री दामोदर मिश्र सब ताकौ जानै भेद ॥९॥
हरिवंदन के नाम जिन, ग्रन्थ कर्यो विस्तार ।
कर्म विपाक निदान युत और चिकित्सा सार ॥१०॥
करी चाकरी बहुत दिन बैरमसुत के पास ।
बहुरि वृद्ध ताके भयें, कीनो कासी वास ॥११॥
रामकृष्ण ताको तनय, विद्या विविध विलास ।
विप्र नगर के शिष्य सब, कियौ जौनपुर बास ॥१२॥

विष्णुदास, नारायणदास, दामोदर

बैरमसुत रहीम की चाकरी करने के समय दामोदर अत्यधिक वृद्ध हो गए थे। बिल्हणचरित की सन् १४८० ई० में रचना करने वाला दामोदर अब्दुर्रहीम खानखाना के समय तक जीवित रह तो सकता है, भले ही ७५-८० वर्ष के वृद्ध के रूप में हो। सन् १४८० के पूर्व छिताई-चरित की रचना करने वाला नारायणदास उसका पिता भी हो सकता है और वह भी सन् १५२५ ई० तक ७५-८० वर्ष की अवस्था में सारंगपुर में सलहदी तोमर के समय तक जीवित रह सकता है। सन् १४३५ ई० में महाभारत तथा सन् १४३९ ई० में रामायण की रचना करने वाला विष्णुदास (जिसे हृदयराम ने विष्णुदत्त कहा है) नारायणदास का पिता है, इसमें हमें कोई सन्देह नहीं है।[1] विष्णुदास ने अपने पिता का नाम 'श्री लावण्यकर्ण' लिखा है। विषय गवेषणीय है।[2]

---

१. छिताई-चरित, प्रस्तावना।

२. संभव है कोई विद्वान इस कविवंश के प्रति आकर्षित हो, इस कारण इसका उल्लेख कुछ विस्तार से कर दिया गया है।

दामोदर का विल्हणचरित चौरपंचाशिका पर आधारित है। कल्याणमल्ल तोमर की राजसभा के वातावरण के अनुकूल ही उसका कथानक हैं। सुनिश्चित रूप में वि० सं० १५३७ (सन् १४८० ई०) में लिखी गई यह रचना हिन्दी लौकिक-आख्यान-काव्य-धारा की अत्यन्त महत्वपूर्ण कृति है। इस धारा की अन्य प्राचीन रचनाओं में इसका विशिष्ट स्थान उसके रचनाकार, रचना-स्थल और रचना-समय के सुनिश्चित होने के कारण है। अन्य लौकिक-आख्यान-काव्यों में साधन के मैनासत की रचना-तिथि और रचना-स्थल उपलब्ध नहीं है। लखनसेन पदमावती रास का रचनाकाल (वि०सं० १५१६ सन् १४५९ ई०) ज्ञात है, तथापि उसका रचना-स्थल अज्ञात है; चतुर्भुजदास निगम की मधुमालती में न रचना-स्थल दिया गया है और न रचना-काल। वीसलदेव रास संभवतः विल्हणचरित के पूर्व की रचना है, परन्तु उसका रचना-स्थल अज्ञात हैं और रचना-काल नितान्त संदिग्ध है। विल्हणचरित हिन्दी भाषा और साहित्य के विकास-क्रम में इतना महत्वपूर्ण होते हुए भी, उसे उपलब्ध कर प्रकाशित तथा विवेचित करने का प्रयास अब तक तो किया नहीं गया है; राष्ट्रभाषा के नायकों की आज जैसी मनोदशा है, उसे देखते हुए आगे भी नहीं ही होगा।

चतुर्भुजदास निगम

चतुर्भुजदास निगम ने मधुमालती नामक अत्यन्त सुन्दर आख्यान-काव्य लिखा है। उसमें निगम ने रचना-काल और रचना-स्थल नहीं दिया है। उसके आधार पर वि० सं० १६०० (सन् १५४३ ई०) में माधव नामक विप्र ने निगम की इस रचना की एक कृष्ण-भक्तिपरक वाचना प्रस्तुत की थी —

संवत सोलह सै वरसि जैसलमेर मझारि
फागुन मास सुहावनो कही वात बिस्तारि

माधव की यह रचना निगम की रचना के आधार पर तैयार की गई थी, यह स्वयं माधव ने स्वीकार किया है —

पहले कायथ हीज बखानी, पाछे माधव उचरी वानी

निश्चय ही, माधव को चतुर्भुजदास निगम की रचना को आत्मसात् करने की प्रेरणा उस समय मिली होगी, जब वह मूल रचना अत्यधिक लोकप्रिय हो गई होगी। इसके लिए ५०-६० वर्ष का समय भी मान लिया जाए, तब संभावना यह हो सकती है कि चतुर्भुजदास निगम की मधुमालती कल्याणमल्ल तोमर के राज्यकाल में लिखी गई थी।

निगम के रचना-स्थल का निरूपण सरल कार्य नहीं है। माधव ने उसका परिचय देते हुए केवल यह कहा है —

कायथ नाम चत्रभुज ताको, भारूदेस भयौ ग्रह ताको।

'भयौ ग्रह' मूलगृह का द्योतक नहीं है। चतुर्भुजदास निगम की भाषा अवश्य यह प्रकट करती है कि वह साधन, विष्णुदास, दामोदर और नारायणदास के प्रदेश की भाषा है।

निगम कहीं का निवासी हो, उसकी रचना हिन्दी लौकिक-आख्यान-काव्य-धारा की मुकुटमणि है। विषय-वस्तु, कथानक, काव्य सौन्दर्य और सामाजिक पृष्ठभूमि, सभी दृष्टि से वह अद्वितीय है। उन्नीसवीं शताब्दी तक, संभव है, गोस्वामी तुलसीदास का रामचरित मानस भी इतना लोकप्रिय नहीं था, जितनी निगम की यह रचना थी। मध्यप्रदेश, उत्तर-पश्चिम भारत, हिमालय की तराई में जितनी प्रतियाँ निगम की मधुमालती की प्राप्त होती हैं, अन्य किसी हिन्दी रचना की प्राप्त नहीं होती। इन प्रदेशों में प्रचलित सभी लिपियों में उसकी प्रतिलिपियाँ की गई थीं। अत्यन्त उत्कृष्ट शैली के चित्रों से लेकर साधारण चित्रों से विभूषित इसकी प्रतियाँ प्राप्त होती हैं। वि० सं० १८७६ की मधुमालती की एक प्रति में उस समय तक प्रचलित हिन्दी के सभी लौकिक-आख्यान-काव्यों का समावेश कर दिया गया है, मानो उसे हिन्दी लौकिक-आख्यान-काव्य-कोश बनाया गया हो।[1]

मधुमालती साम्प्रदायिक रचना नहीं है। उसकी इतनी प्रतियाँ धर्मलाभ के लिए नहीं उतारी गई थीं, वे उसकी लोकप्रियता की प्रतीक हैं। पंचतंत्र के आख्यानों में एक प्रेमकथा को गूँथ कर निगम ने अपने इस संकल्प को पूरा किया था —

चातुर चित हित सहित रिझाऊं, मधुमालती मनोहर गाऊं

निगम चतुरों का चित्त, हित सहित रिझाना चाहता था। उसकी 'कामकथा' का काम, नीति की रज्जु से बँधा हुआ है, वासना नहीं था। जिस प्रकार कल्याणमल्ल का अनंगरंग भारतीय कामशास्त्र पर आधारित था; उसी प्रकार निगम की मधुमालती भारतीय धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष की जीवन-पद्धति पर आधारित थी। निगम उस 'काम' का पोषक था जो धर्म की रज्जु से बँधा हुआ था। मौलाना दाऊद द्वारा अपनाए गए 'परपत्नी प्रेम' के आख्यान से वह बहुत दूर था।

मधुमालती का भावक-समाज भी विशिष्ट था। वह वास्तव में उस समय के समृद्ध और मध्यवर्ग के युवा व्यापारियों के मन-रंजन के लिए लिखी गई थी।

वैश्य मंत्री के पुत्र का क्षत्रिय राजकुमारी तथा ब्राह्मण कुमारी के साथ प्रेम और विवाह का आख्यान उस युग के लिए क्रान्तिकारी कल्पना ही थी।

साधन

साधन के मैनासत का रचनाकाल हमने सन् १४८० ई० के आसपास माना है और यह स्थापना की है कि साधन के मैनासत पर नारायणदास के छिताईचरित की छाप

---

१. यह प्रति लेखक के संग्रह में है।

स्पष्ट दिखाई देती है।[1] कल्याणमल्ल का राज्यकाल ऐसा समय है जब गोरखनाथ का योगतंत्र हिन्दू, जैन और मुसलमान सूफी, सबके लिए अत्यन्त प्रिय विषय बन गया था। साधन के मैनासत के विषय में हम बहुत विस्तार से लिख चुके हैं, यहाँ हम केवल उसका एक अंश उद्धृत करना पर्याप्त समझते हैं —

"हिन्दी के अभ्युत्थानकाल (सन् १३०१ ई० से १५२८ ई०) की रचनाओं में मैनासत सर्वाधिक मर्मस्पर्शी एवं सुगठित काव्य है। रस-कथाओं की हिन्दी की रचना-धारा का विकास उसमें चरम उत्कर्ष पर दिखाई देता है। योग और भोग के संतुलित समन्वय से प्राप्त अमृत का यह मंगल-कलश है। उलगाना साहित्य का यह मुकुटमणि है। नारी के मनोभावों की तथा उसके अन्तर्द्वन्द्व की अभिव्यंजना की इसमें इयत्ता है। इसके प्रसाद गुण ने इसके हृदयग्राही प्रभाव को अमोघ बना दिया है। भारतीय साहित्य में इसके जोड़ की दूसरी रचना नहीं है।"[2]

---

१. साधन कृत मैनासत, प्रस्तावना पृ० ८७।
२. वही, पृष्ठ २२।

परिच्छेद ९

मानसिंह

(१४८६–१५१६ ई०)

मानसिंह तोमर का नाम इतना प्रख्यात है कि फारसी के समकालीन ग्रन्थों में भी उसे शुद्ध रूप में लिखा और पढ़ा गया है। विक्रम संवत् १५५२ के एक मूर्तिलेख में उसका नाम 'मल्लसिंह' के रूप में दिया गया है।

मानसिंह का राज्यकाल कब प्रारम्भ हुआ, यह सुनिश्चित रूप में नहीं कहा जा सकता। उसके समय के प्राप्त शिलालेख वि० सं० १५५१ तथा वि० सं० १५५२ के हैं, जिनसे यह प्रकट होता है कि वह सन् १४९४–९५ ई० में राज्य कर रहा था।

मानसिंह तोमर के उल्लेखयुक्त समकालीन केवल दो साहित्यिक कृतियाँ अब तक उपलब्ध हो सकी हैं। मानिक कवि ने वि० सं० १५४६ (सन् १४८९ ई०) में बैताल-पच्चीसी लिखी थी, उसमें मानसिंह का उल्लेख है। वि० सं० १५५७ (सन् १५०० ई०) में थेघनाथ ने गीता का हिन्दी अनुवाद किया था, उसमें भी मानसिंह का उल्लेख है।

शिलालेख और साहित्य के उल्लेख मानसिंह के १४८९ ई० से १५०० ई० तक के अस्तित्व के साक्षी हैं।

अफगान सुल्तानों के समकालीन एवं परवर्ती फारसी इतिहासों में मानसिंह का पूर्वतम उल्लेख सन् १४८८ ई० का प्राप्त होता है।[1] मानसिंह की मृत्यु के सम्बन्ध में इन इतिहासों से बहुत सहायता नहीं मिलती, क्योंकि उनके कथन पर्याप्त भ्रामक हैं;[2] तथापि, उनसे यह ज्ञात होता है कि सन् १५१८ ई० के पूर्व मानसिंह की मृत्यु हो चुकी थी।

श्री कनिंघम ने मानसिंह का राज्यकाल सन् १४८६ ई० से १५१६ ई० तक माना है।[3] परन्तु ग्वालियर के गजेटियर में यह राज्यकाल १४८६ से १५१७ ई० तक माना गया है।[4] आजम हुमायूं के आक्रमण के सन्दर्भ में मध्ययुगीन फारसी इतिहास लेखकों के अस्पष्ट कथन के आधार पर गजेटियर में एक वर्ष राज्यकाल बढ़ाया गया है। ऐसी दशा में हम अनुश्रुतियों में प्राप्त राज्यकाल १४८६-१५१६ ई० ही मान कर चलेंगे।

मानसिंहकालीन शिलालेख

मानसिंह ने लगभग ३० वर्ष राज्य किया। उन्होंने बहुत अधिक निर्माण भी कराए, जिनमें कुछ मन्दिर भी थे। यह कम आश्चर्य की बात नहीं है कि उनके समय के केवल

---

१. इलियट एण्ड डाउसन, भाग ५, पृ० ९१; डॉ० रिजवी, उत्तर तैमूर कालीन भारत, भाग १, पृ० २१०।

२. अहमद यादगार के अनुसार मानसिंह बहलोल लोदी के राज्यकाल में (अर्थात् १४८९ई०के पूर्व) ही मर गया था और उसके राजकुमार ने बहलोल को १२ हाथी तथा दो लाख टंके पेशकश देना स्वीकार किया था। इ० एण्ड डा०, भाग ५, पृ० ९१, पादटिप्पणी।

३. कनिंघम, आर्कोलोजिकल सर्वे आफ इण्डिया रिपोर्ट, भाग २, पृ० ३८२।

४. मध्यप्रदेश डिस्ट्रिक्ट गजेटियर (सन् १९६५ का संस्करण), पृ० २३।

चित्र-फलक १०

तीन शिलालेख प्राप्त हुए हैं। इनमें से दो की खोज तो अभी कुछ वर्षों के भीतर ही हो सकी है। मानसिंह की मृत्यु के पश्चात् ही ग्वालियर गढ़ पर जो ध्वंस-लीला हुई थी, उसमें कुछ शिलालेख तो निश्चय ही नष्ट हो गए होंगे। बादल गढ़ का उसका शिवमन्दिर पत्थरों के विशाल ढेर के रूप में पड़ा हुआ है। संभव है, उसमें भी कुछ शिलालेख दबे हों।

मानसिंहकालीन एक शिलालेख ग्वालियर गढ़ की एक जैन प्रतिमा की चरण-चौकी पर मिला था।[1] इस अभिलेख द्वारा इस प्रदेश की जैन धर्म की तत्कालीन स्थिति पर प्रकाश पड़ता है। उसकी प्रथम तीन पंक्तियाँ महत्वपूर्ण है—

श्रीमद्गोपाचलगढ़ दुर्गे ।। महाराजाधिराज श्री मल्लसिंहदेव विजयराज्ये प्रवर्तमाने। संवत् १५५२ वर्षे ज्येष्ठ सुदि ९ सोमवासरे श्री मूलसंघे बलत्कारगणे सरस्वतीगच्छे। कुंदकुंदाचार्यान्वये। भ० श्री पद्मनन्दिदेव तत् पट्टालंकार श्री शुभचन्द्रदेव। तत्पट्टे भ० मणिचंद्रदेव। तत्पट्टे पं० मुनि… गणि कचरदेव तदन्वये बारह श्रेणी वंशे सालम भार्या व....

ग्वालियर के पट्ट पर सन् १४६५ ई० तक काष्ठासंघ के माथुरान्वय पुष्करगण के भट्टारक मलयकीर्ति पट्टासीन रहे थे। उनके पश्चात् उनके शिष्य गुणभद्र हुए थे। वि० सं० १५१७ (सन् १४६० ई०) के एक स्तम्भ-लेख से यह ज्ञात होता है कि उस समय नरवर में भी मूलगंघ, पुष्करगण माथुरान्वय गच्छ का प्रभाव था।

ग्वालियर गढ़ के उक्त वि० सं० १५५२ (सन् १४९५ ई०) के शिलालेख से यह प्रकट होता है कि इस मूर्ति की स्थापना सरस्वती गच्छ के भट्टारकों ने कराई थी।

ज्ञात यह होता है कि कल्याणमल्ल के राज्यकाल में मलयकीर्ति के पश्चात् ही ग्वालियर से काष्ठासंघ का पट्ट हट गया या प्रभावहीन हो गया। परन्तु जैसा अगले शिलालेख से ज्ञात होगा, मानसिंह तोमर का 'प्रधान' मूलवार जाति का साहु क्षेमशाह, खेमल या खेमचन्द्र था। मानसिंह ने जैन सम्प्रदाय को प्रश्रय अवश्य दिया, तथापि, उसके पूर्व ग्वालियर में जैन सम्प्रदाय के प्रभाव में शिथिलता आने का कारण कुछ स्पष्ट नहीं है।

मानसिंह के समय के दो शिलालेख गंगोलाताल में प्राप्त हुए हैं।[2] इन शिलालेखों में यद्यपि मानसिंह के समय की किसी राजनीतिक घटना का उल्लेख नहीं है, तथापि वे अन्य अनेक दृष्टियों से बहुत महत्वपूर्ण हैं।

गंगोलाताल का पहला शिलालेख वि० सं० १५५१, वैशाख सुदि ३ (अप्रैल ८, सन् १४९४ ई०) मंगलवार का है। यह शिलालेख गंगोलाताल को निर्मल कराने के पश्चात् उत्कीर्ण कराया गया था।

यह शिलालेख मानसिंह के चरित्र, प्रकृति और स्वभाव को समझने में बहुत सहायक है। कल्याणमल्ल ने अपने आपको राजर्षि लिखा था, मानसिंह के प्रशस्तिकार ने उसे कृष्ण

---

१. ग्वालियर राज्य के अभिलेख, क्र० ३४१; पूर्णचन्द्र नाहर, जैन अभिलेख, भाग २, क्र० १४२९।

२. हम डॉ० सन्तलाल कटारे के आभारी हैं। उन्होंने इन दोनों शिलालेखों को हमें दिखाने की कृपा की और अपना प्रारम्भिक पाठ भी उतरवा दिया।

के समान या अपर-कृष्ण लिखा है तथा उसकी प्रशस्ति के बीचो-बीच, 'चिरंपालय' और 'मेदिनी' के बीच, वराह की मूर्ति उत्कीर्ण करा दी है; अर्थात्, जिस प्रकार वराह भगवान ने पृथ्वी का उद्धार किया था, उसी प्रकार मानसिंह ने भी अपने राज्य का परिपालन किया था ।

सूत्रधार पजू ने इस शिलालेख को उत्कीर्ण करते समय अनेक अशुद्धियाँ कर दी हैं, तथापि उसका पाठ निम्न रूप में पढ़ा जा सका है—

ॐसिधि । श्रीगणेसायनमः । गोवर्धन गिरिवरं
करसाष एव । वित्रतूगवांमुपरिवारिधरादितानां ॥
बाल्येपि विस्मयन विधाबल सच्चरित्रं । कृस्नश्रिस्तु
तत्र तोमर मानसिंघः ॥१॥ चिरंजीव चिरंनन्दा
चिरं पालयं [१] मेदनी । श्री मानसिंह राजेन्द्र जावच्चंद्र
दिवाकरौ ॥२॥

अथ संवतसरेस्मिन् श्री विक्रमादीत्य राज्ये संवत् १५५१ वर्षे वैसाष सुदि ३ मंगलवासरे । रोहिणी नक्षत्रे सौभाग्य नाम जोगे ॥ श्री गोपाचल दुर्गे तोमरवंसे महाराजाधिराज श्री मानसिंहदेव विजैराज्ये ॥ तस्य प्रधान सरषं मुलवार ज्ञातीय साह षेमसाह श्री टोकर तसलीम साराण तेन गगोला तड़ागं निर्म्मली कृता ॥ आचंद्रार्क चिरंनद्यातु । शुभं कल्पान्तं श्रियोस्तववु । लिखितं श्रीमाल ज्ञाती साजस ॥ सूत्रधारि पजू ॥ श्री इष्ट देवताप्रसादास्तु ॥ श्री ॥ श्री ॥ श्री ॥

विख्यात क्रान्तिकारी डॉ० भगवानदास माहौर ने इस पाठ के प्रारम्भ के वसंततिलका तथा अनुष्टुप छन्दों का ठीक पाठ और अर्थ निकालने में बहुत श्रम किया है । हम यहाँ उनके द्वारा प्राप्त किए गए पाठ तथा अर्थ देना ही उचित समझते हैं —

गोवर्धनंगिरिवरं करशाष एव
धृत्वा गवामुपरि वारिधरार्दितानां ।
बाल्येऽपि विस्मयनविधाबलसच्चरित्रं
कृष्णश्रितस्तु ननु तोमर मानसिंहः ।
चिरंजीव चिरानन्दां चिरं पालय मेदिनीं
श्री मानसिंह राजेन्द्र यावच्चद्रदिवाकरौ ॥

इसका अन्वय और अर्थ, डॉ० माहौर के अनुसार, निम्नलिखित होगा—

तोमर मानसिंहः (तोमर मानसिंह) वारिधरार्दितानां (वारिधर अर्थात् बादलों या भिश्तियों से अर्दित यानी हिंसित या पीड़ित) गवाम् (गौओं के अथवा पृथिवी के) उपरि (ऊपर) गिरिवरं गोवर्धनं (गिरिवर गोवर्धन, अर्थात्, गोपगिरि को) करशाखे एव (अंगुली पर ही) विस्मय विधाबलसच्चरित्रं (विस्मय अर्थात् आश्चर्यजनक प्रतिभा या स्वाभिमान, विधा अर्थात् सम्पत्ति या ऐश्वर्य, बल, सच्चरित्र इन चारों की एकन्विति को) अपि धृत्वा (भी धारण

१. मूल शिलालेख में यहाँ वराह की मूर्ति बनी हुई है ।

मानसिंह का गंगोलाताल का शिलालेख
(पृष्ठ १३० देखें)
—डा० श्री सन्तलाल कटारे की छाप से साभार

करके) वाल्येऽपि कृष्णश्रितः (बचपन में ही कृष्ण जैसे अथवा कृष्ण के समान पूजित या आदृत हुए) ननु (निश्चय ही)।

आगे का अनुष्टुप छन्द परम्परागत मंगलाशा के रूप में है।

यह वसंततिलका छन्द निश्चय ही इस शिलालेख की विषयवस्तु से सम्बन्धित नही है। इसके आगे की पंक्तियाँ अपने आप में पूर्ण हैं। मानसिंह के प्रधान खेमशाह ने राजा के आदेश पर गंगोलाताल की सफाई कराई और वह अंश 'सांजस' नामक श्रीमाली ने लिखा। परन्तु ऊपर के वसंततिलका और अनुष्टुप वे श्लोक हैं जो प्रशस्ति के रूप में राजकीय समारोहों पर सुनाए जाते थे। ये वे भाव हैं जिनके द्वारा मानसिंह अपना वर्णन कराना पसन्द करता था। ग्वालियर के नागरिकों पर जो संकट के वादल आते थे उन्हें मानसिंह दूसरे कृष्ण के समान गोवर्धन अर्थात् गोपाचल गढ़ के सहारे अपनी प्रतिभा, सम्पत्ति, वल और सच्चरित्रता के कारण मिटा देने में समर्थ थे।

अप्रैल ८, सन् १४९४ ई० तक, जव यह शिलालेख उत्कीर्ण किया गया, वास्तव में मानसिंह के राज्य पर किसी वारिधर (वादल या भिश्ती)[1] ने संकट उपस्थित किया भी नहीं था।

गंगोलाताल का दूसरा शिलालेख ज्येष्ठ वदि २, गुरुवार वि०सं०१५५१ (मई २२, सन् १४९४ ई०) का है। प्रधान खेमशाह के शिलालेख के पश्चात् इस शिलालेख को उन कारीगरों ने उत्कीर्ण कराया था जिन्होंने वास्तव में गंगोलाताल को साफ किया था। इसकी भाषा भी साधारण मजदूरों की भाषा है, यद्यपि इसका उत्कीर्ण करने वाला वही 'पजू' है—

सिधे संवतु १५५१ वर्षे जेस्टवदे २ गूरजैर
(गुरवैर) श्री राजमानसीघदेवा वचनतु
पूथाना सटोजरामलगगेर लारयौ ॥ राजा
की तसलिमा कामु जायै ॥
सुत्रधरे पजू महंलनं १ खीरसु १
मनूव १ सानेग १ रमा वढ़ई रमू
सिलहरी गने धनूत महं। चाढु १३। ठूवल
सूवाकद्यो वोहरीत्र।

'गूरजैर' संभवतः गुरुवार के लिए है। मास, पक्ष और तिथि के पश्चात् वार आना स्वाभाविक है। परन्तु अक्षरों से वह गूरजैर पढ़ा जाता है, जिससे "गूरजैर श्री राजा मानसीघ" वाक्यांश वनता है जो 'राधाकृष्ण' जैसी ध्वनि देता है। कल्पना वड़ी सरस है,

1. यह दुर्भाग्यपूर्ण स्थिति थी कि चौदहवीं और पन्द्रहवीं शताब्दियों में तुर्कों और अफगानों के लिए कट्टर हिन्दुओं ने 'भिश्ती' शब्द का प्रयोग भी किया है। अलाउद्दीन खलजी के राज्यकाल में लिखे गए 'वीसलदेव रास' में तुर्कों के लिए 'पखाल रखने वाले भिश्ती' कहा है। हिन्दुओं को चमड़े की मशक (पखाल) से पानी पीना निकृष्ट कार्य ज्ञात होता था, और मुसलमान सुल्तानों की सेना उसी का उपयोग करती थी।

जो यह प्रकट करती है कि उस समय के ये नागरिक 'गूजरी-मानसिंह' को 'राधा-कृष्ण' के समान स्मरण करते थे। परन्तु 'वार' का उल्लेख न होने से 'गूरजैर' गुरुवार के लिए ही होना चाहिए। ज्येष्ठ वदि २, वि० सं० १५५१ (मई २३, सन् १४९४ ई०) को 'गुरुवार' ही था।

मानसिंह का वैभव

मानसिंह को ग्वालियर के तोमरों द्वारा वीरसिंहदेव से कल्याणमल्ल के समय तक एकत्रित की गई सम्पदा दाय में मिली थी। डूंगरेन्द्रसिंह और कीर्तिसिंह की विजयों ने ग्वालियर के तोमर राज्य की प्रतिष्ठा भी बहुत अधिक बढ़ा दी थी। उनका शौर्य और पराक्रम भी उसे दाय के रूप में मिला था। वीरसिंहदेव के समय से ही प्रारंभ की गई और प्रत्येक पीढ़ी में पल्लवित की गई साहित्यिक और सांस्कृतिक परम्पराएँ भी उसे मिली थीं। डूंगरेन्द्रसिंह के समय में पोषित भारतीय संगीत की साधना का फल भी उसे प्राप्त था, जिसमें कल्याणमल्ल के समय में शर्कियों और अफगानों द्वारा पोषित संगीत की धारा भी आ मिली थी। कल्याणमल्ल द्वारा प्रारम्भ की गई मदन-पूजा और साहित्य-साधना का भी उसे दाय मिला था। इस सबके साथ उसे अत्यन्त उदार हृदय, प्रशस्त कल्पना, कलाप्रेमी मन तथा अदम्य शौर्य युक्त व्यक्तित्व भी प्राप्त हुआ था। उसने अपने राज्य और राजसभा का अत्यधिक विकास किया। सौभाग्य से इसके लिए उसे लगभग १८ वर्ष का शान्ति का लम्बा समय भी मिल गया। सन् १४८६ ई० से सन् १५०४ ई० के बीच उसे किसी विनाशकारी युद्ध का सामना नहीं करना पड़ा। इस बीच मानसिंह ने अपनी राजसभा को अनेक संगीताचार्यों से अलंकृत किया, उसके दरबार में अनेक कवियों ने प्रश्रय पाया और साहित्य, संगीत तथा नृत्य अपने चरम उत्कर्ष पर पहुँचा। इसी बीच उसने मानमन्दिर, गूजरीमहल और बादल गढ़ जैसे अनुपम प्रासादों का निर्माण कराया और उन्हें चित्रों से अलंकृत कराया। उसने समस्त राज्य में बाँध बँधवाए। वास्तव में मानसिंह का कृतित्व और व्यक्तित्व इतना बहुमुखी है कि उसके राज्यकाल की समस्त प्रवृत्तियों का वर्णन एक स्वतन्त्र पुस्तक का विषय है। उसके राज्यकाल का राजनीतिक इतिहास उसके समग्र इतिहास का बहुत छोटा-सा अंश है।

मानसिंहकालीन साहित्य और संगीत के इतिहास के निर्माण के लिए पर्याप्त सामग्री उपलब्ध है। उसके समय में हुए चित्रकला के विकास पर भी प्रकाश डाला जा सकता है। उसका स्थापत्य भी काल के क्रूर प्रहारों को झेलता हुआ आज मानमन्दिर और गूजरी-महल के रूप में प्रत्यक्ष खड़ा हुआ है। यद्यपि उसका बादल गढ़ नष्ट हो चुका है, तथापि अभी भी पर्याप्त अवशिष्ट है। इतने बहुमुखी व्यक्तित्व के ३० वर्ष के राज्यकाल का इतिहास यहाँ संक्षेप और सूत्ररूप में ही दिया जा सकता है।

मानमन्दिर के निर्माण का समय

गंगोलाताल के मानसिंहकालीन दो शिलालेखों का पाठ ऊपर दिया जा चुका है। गंगोलाताल में प्रशस्तियाँ किसी विशेष समारोह के अवसर पर ही उत्कीर्ण कराई जाती

थीं। ये दोनों शिलालेख क्रमशः अप्रैल ८, १४६४ ई० तथा मई २२, सन् १४६४ ई० के हैं। ज्ञात यह होता है कि मानसिंह ने राज्यारूढ़ होने के उपरान्त ही मानमन्दिर (चित्र महल), वादल गढ़ (उस महल सहित जो वाद में गूजरीमहल कहा जाने लगा), आदि का निर्माण प्रारम्भ कर दिया था और सन् १४६४ ई० के प्रारम्भ में ही ये निर्माण पूर्ण हो चुके थे। उस समय कोई समारोह किया गया तथा गंगोलाताल को स्वच्छ कराकर उसमें ये शिलालेख अंकित करा दिए गए ।[1]

मानसिंह का रनिवास

मानसिंह की पटरानी, विक्रमादित्य की माता, के नाम या पितृवंश का उल्लेख किसी इतिहास या ख्यात में नहीं मिलता। तँवरघार में मान्य अनुश्रुति के अनुसार वे चौहानों की कन्या थीं। संभव है, पटियाली के राजा गणेश चौहान इसी कारण सिकन्दर से झगड़ने के पश्चात् मानसिंह के आश्रय में आए हों। एक अन्य आधार नारायणदास के छिताई-चरित में परोक्ष रूप से मिलता है। चन्दवार की रमणियों का वर्णन कवि ने विस्तार से एकाधिक वार किया है। वे प्रसंग अनावश्यक होते हुए भी सकारण जोड़े गए हैं, ऐसा ज्ञात होता है। जटाशंकर की 'जात' (यात्रा) के पश्चात् कवि ने सोंरसी (समरसिंह) को एकदम यमुना किनारे चन्दवार पर लाकर खड़ा कर दिया—

दीरघ मंजल चलइ कइ पारा, पहुतौ आदि नगर चंदवारा।
कंठ (कांठे) कलिन्द्री नदी बहाई, खिनकु बिलंबु रह्यौ जहँ जाई।
पनघट पास नगरु पयसारा, तिहठां आवागमन उतारा।

और इसके पश्चात् ही चंदवार की तरुणियों का वर्णन प्रारम्भ हो जाता है।

परन्तु यह केवल अनुमान है। मानसिंह का उसकी पटरानी से विवाह कल्याणमल्ल के समय में ही हुआ होगा, यह अवश्य कहा जा सकता है।

राजा मान के रनिवास में अनेक रानियाँ और रखेलें थीं, ऐसा ज्ञात होता है। खड्गराय ने लिखा है—

जिती जाति छत्रिनि की रहीं, ते अन्तेउर राखी सही।
चारौ जाति तियन की कहीं, ते सब मान अखारें रहीं।
द्वै सै नारि पद्मिनी इसी, तिनि समान नाहीं उरबसी ॥

दो सौ नारियों का जमघट उस युग में कुछ अजीव बात नहीं थी। मालवा में पहुँचकर सलहदी तोमर ने अपने रनिवास में अनेक रानियाँ तथा सात-आठ सौ उपपत्नियाँ, खवासिनें आदि भरली थीं, जिनमें से कई सौ मुसलमान थीं। मेदिनीराय के विरुद्ध तो मालवे के सुल्तान से शिकायत ही यह की गई थी कि "उसने शादियाबाद के किले को जो इल्म का केन्द्र था और जहाँ आलिम और सूफी एकत्र रहते थे, गँवारों का स्थल

---

१. नियति की यह विडम्बना है कि जिस मानमन्दिर के निर्माण में १०-१२ वर्ष लगे, उसमें मानसिंह और उनके युवराज केवल २५-२६ वर्ष ही रह सके।

बना दिया है तथा मुसलमानों की स्त्रियों और सैयिदों की स्त्रियों को अपने अधिकार में करके नृत्य सिखा कर उन्हें अखाड़े में प्रविष्ट कर दिया है ।"[1] स्पष्टतः, खड्गराय का संकेत ऐसे ही 'अखाड़े' की गायिकाओं और नर्तकियों से है, न कि रानियों से।

मृगनयनी

जनश्रुति में मानसिंह के साथ गूजरी ने भी अपना स्थान बना लिया है । उस गूजरी का नाम क्या था, यह किसी ऐतिहासिक स्रोत से ज्ञात नहीं होता । स्वर्गीय डॉ० वृन्दावन लाल वर्मा ने अपने प्रसिद्ध उपन्यास में उसे 'मृगनयनी' नाम दिया है, जो अत्यन्त आकर्षक है; तथापि, वर्माजी की कृति उपन्यास है, इतिहास नहीं । कुछ समकालीन गेय पदों में 'मृगनयनी' नाम आता है, परन्तु यह कहना संभव नहीं कि यह व्यक्ति-वाचक है या विशेषण ।

ग्वालियर गढ़ के नीचे के भाग में मानमन्दिर के बहुत नीचे एक महल है जिसे आजकल 'गूजरीमहल' कहते हैं । जनश्रुति उसे मानसिंह और गूजरी के प्रणय के साक्षी के रूप में मानती है । मानसिंह ने गूजरी के नाम से अनेक रागों की सृष्टि कर उनके लक्षणों और स्वरूपों का निरूपण कराकर उन्हें अपने संगीत-ग्रन्थ मानकुतूहल में स्थान दिया था। जनश्रुति यह है कि गूजरी ग्वालियर के दक्षिण-पश्चिम के जंगल में स्थित राई नामक ग्राम की एक गूजर कन्या थी । राजा मानसिंह उस ओर शिकार करने जाया करते थे । राजा ने देखा कि मार्ग में दो भैंसें लड़ रही हैं । मार्ग रुका हुआ है । एक ओर कुछ गूजर बालाएँ पानी के घड़े लिए इस बाट में खड़ी हैं कि कब भैंसें लड़ना बन्द करें और कब मार्ग खाली हो । गाँव के लोग केवल तमाशा देख रहे हैं, भैंसों को कोई नहीं छुड़ाता । आखिर उन गूजरियों में से एक ने अपने घड़े एक ओर रखे और उन भैंसों के सींग पकड़कर उन्हें अलग-अलग कर दिया । राजा ने उस गूजर कन्या के नैसर्गिक सौन्दर्य को देखा और मुग्ध हो गया । उस दिशा में शिकार कुछ अधिक होने लगी और खड्गराय ने लिखा—

राइ अहेरैं ऊपर प्रीति, खेलैं भूप नई रसरीति ।

जनश्रुति के 'गूजरीमहल' नाम के अतिरिक्त किसी समकालीन कवि ने यह नहीं लिखा है कि राजा मान की 'मृगनयनी' नामक रानी थी । गढ़ के ऊपर एक रानीताल है । उसके विषय में यह अनुमान किया गया है कि वह गूजरी रानी के नाम से है और उसके बगल में चेरीताल है जो किसी चेरी के नाम से है । परन्तु यह निरी कल्पना है, राजा मान की पटरानी अन्य थी, जिसका पुत्र, युवराज विक्रमादित्य था ।

जब अहेर में उत्पन्न हुई 'नई रसरीति' आगे बढ़ी, तब संभवतः, मान उस गूजरी-सुन्दरी को ग्वालियर ले आए । चित्र-महल में पटरानी के साथ उसका स्थान नहीं हो

---

१. तबकाते-अकबरी, डा० रिजवी, उ० तै० भा०, भाग २, पृ० १२१ ।

सकता था, अतएव, वादल गढ़ के महल में उसे रख दिया गया।[1] इस मृगनयनी गूजरी का अवेड़ राजा पर प्रभाव अधिक रहा होगा।

मानसिंह की राजसभा के कुछ संगीताचार्यों ने भी किसी 'मृगनयनी' की रूपछटा की प्रसंशा की है। यह स्वाभाविक ज्ञात नहीं होता कि युवराज की माता अथवा राजा की रानी या पटरानी की रूपछटा का वर्णन ध्रुपद के गीतों में इस प्रकार अनावृत रूप में किया जाए। वैजू संत था और गूजरी का संगीत-गुरु। उसी के नाम से उसने 'गूजरी टोडी' और 'मंगल गूजरी' रागों के स्वर वैठाए थे। उसने अपने स्वामी मान की इस रूपसी का वर्णन करते हुए लिखा है—

सुन्दर अति नवीन प्रवीन महाचतुर
मृगनैनी मनहरनी चंपकवरनी नार।
केहरि कटि, कदली जंघ, नाभि सरोज, श्रीफल उरोज,
चंद्रबदनी, सुक नासिका, भौंह धनुष, काम डोर॥
अंग अंग सुगंध पद्मिनी, भंवर गुंजत सुवास
आवत क्रोध नहीं सांत स्वरूप,
कृसता ही दबी जात बारन के भार।
धन धन ताको भाग, तो सी तिया जा घर,
'वैजू' प्रभु रसबस कर लीने काम-जाल डार॥

अद्भुत और परम आकर्षक था इस महाचतुर गूजरी का रूप और उस ज्वाला के काम-जाल में 'प्रभु' पूर्णतः वशवर्ती भी होंगे, परन्तु क्या यह वर्णन 'रानी' की प्रतिष्ठा के अनुरूप है? एक और पद में वैजू ने लिखा है—

सुन्दर मृगनैनी कामिनी, रति आनत पति संग।
भुज पर सीस, कपोल दशन मधि, कुच पर कंचुकि तंग।
जांघन पर जांघ, मुख तंबोल, अधरन पर टपकत रंग।
यहि भांतिन के सुख दै सुख लै, रंग वाल "वैजू" केलि रंग॥

कालिदास ने कुमारसंभव में शिव और पार्वती के उद्दाम शृंगार का अत्यन्त काव्यमय और निरावृत वर्णन किया है। परन्तु वह कैलाशपति के समक्ष सुनाए जाने के लिए नहीं लिखा गया था, कालिदास के श्रोताओं के लिए लिखा गया था। वैजू के ये पद तो

---

१. गूजरी के विषय में मानव कल्पना के एक और कहानी जोड़ दी है। गूजरी के लिए राई ग्राम से पानी लाने की व्यवस्था मानसिंह ने की थी, ऐसा कहा जाता है और उसके प्रमाण में वह जलवहन प्रणाली दिखाई जाती है जो गूजरी महल में वनी हुई है। ये नालियाँ वाहर से कुए का पानी महल के भीतर ले जाने के लिए वनी हैं। गूजरी महल अधिकांश भूमि के नीचे है और उसकी प्रत्येक मंजिल में इन नालियों से कुएँ का पानी भेजा जाता था। यही पानी वादल गढ़ के नीचे के महल में भी जाता था।

सशरीर मान, गूजरी और उसके अन्तरंग सामन्तों और पार्षदों के समक्ष सुनाए गए होंगे। यदि वह पटरानी या रानी को सम्बोधित होते तब मानसिंह भले ही चुप रहते, उनका कोई तोमर-सामन्त बैजू की कपाल-क्रिया ही कर देता!

बैजू के शिष्य, अर्थात् मृगनयनी के गुरु-भाई, तानसेन ने लगभग बैजू के शब्दों में ही मृगनयनी के सौन्दर्य एवं स्वभाव का वर्णन किया है–

ए री तू अंग अंग रंग राती अति ही सयानी री तू
पियमनमानी।
सोलह कला समानी, बोलत अमृतबानी
तेरो मुख देखें चंद-जोत हू लजानी॥
कटि केहरि कदली जंघ नासिका पर
कीर वारौं श्रीफल उरोजन की छवि आनी
तानसेन कहै प्रभु दोऊ चिरंजीव रहौ,
तेरो नेह रहै जौलो गंग-जमुन पानी॥

तानसेन ने इस 'अति ही सयानी' और 'पिय-मन-मानी' द्वारा महादेव पूजन का अत्यन्त सुन्दर वर्णन किया है–

चंद्रबदनी मृगनयनी हंसगमनी चली है पूजन महादेव
कर लिए अग्रथार पुहपन के गुथे हार,
सुख दियरा जराए देवन में देव महादेव।
सोलह सिंगार बत्तीसो आभरन नखसिख
सुन्दरलाई छवि बरनी न जाई ह्वै निरमल मंजन कर सेव।
तानसेन कहै धूप-दीप-पुष्प-पत्र नैवेद्य लै
ध्यान लगाय हर हर हर महादेव॥

गूजरी महल की नीचे की मंजिल में से उत्तर की ओर एक मार्ग धरती के तल के नीचे से जाता है।[1] उसके आगे भूमि के नीचे बड़ी-बड़ी दालानें तथा प्रशस्त प्रकोष्ठ बने हुए हैं। उनमें से कुछ अब खंडहर हैं। इसके ऊपर जो मार्ग आता है उसके सामने ही वह विशाल शिवमन्दिर था जो आजम हुमायूं ने नष्ट कर दिया था। यह सब रचना गढ़ के नीचे हिण्डोलापौर के पास थी। इसी को घेर कर बादल गढ़ का प्राचीर था। इसी शिवमन्दिर के पूजन का यह रससिक्त वर्णन ज्ञात होता है।

संगीत-सभाओं में अथवा गीत-नृत्य के अखाड़ों की संगिनी गूजरी का नाम मृगनयनी भले ही हो, वह 'रानी' नहीं थी। उस मधुर कवि-कल्पना को जो 'रानी मृगनयनी' के व्यक्तित्व के चारों ओर एकत्रित हो गई है, आघात भले ही लगे, परन्तु थोड़ा सा गम्भीर

१. इस मार्ग में अब पुरातत्व विभाग ने शौचालय बनवा दिया है और उसके कारण यह मार्ग एक ओर बन्द हो गया है।

विचार करने पर ही यह ज्ञात होता है कि यह गूजरी खड्गराय द्वारा वर्णित मान के अन्तः-पुर के अखाड़े में रखी गई पद्मिनियों में सर्वश्रेष्ठ भले ही हो, वह न रानी थी न पटरानी।[1]

मानसिंहकालीन ग्वालियर का समाज

मानसिंह तोमर के समय के बहुत अधिक और विविध श्रेणियों के व्यक्तियों के नाम और विवरण प्राप्त होते हैं। यद्यपि डूंगरेन्द्रसिंह और कीर्तिसिंह के समय के भी अनेक व्यक्तियों का परिचय प्राप्त हुआ है, तथापि उसका स्रोत मूलतः रइधू के जैन-आख्यान हैं, अतएव वे जैन भट्टारक, श्रावक, श्रेष्ठि आदि तक ही सीमित हैं। परन्तु मानसिंह के समय में स्थिति भिन्न है। उसके समय के व्यक्तियों का परिचय अनेक स्रोतों से प्राप्त होता है और उनकी राजनीतिक, सामाजिक तथा साम्प्रदायिक श्रेणियाँ भी विविध रूप की हैं।

राज परिवार

राज परिवार में कीर्तिसिंह के पुत्र भानुसिंह विशेष उल्लेखनीय हैं। उनका परिचय थेघनाथ ने अपने गीता के हिंदी अनुवाद में दिया है। ज्ञात होता है कि कीर्तिसिंह के अनेक राजकुमार थे। बड़े राजकुमार कल्याणमल्ल राजा बने और अन्य छोटे राजकुमार सामन्त तथा सभासद रहे। मानसिंह के समय में, सन् १५०० ई० में भानुसिंह पर्याप्त वृद्ध होगए थे। थेघनाथ के अनुसार भानुसिंह मान की सभा में उसी प्रकार समादृत थे जिस प्रकार हस्तिनापुर में भीष्म पितामह का सम्मान था। वे पाप से दूर रहते थे और सदा पुण्य का पालन रखते थे। उनके प्रति मानसिंह बहुत ममता रखते थे। ज्ञानी पुरुषों में वे प्रधान थे। वे बड़े दयावान थे, सभी जीवों के प्रति दया करते थे। वे सदा अपने राजा मानसिंह के प्रति निष्ठावान रहते थे। कीर्तिसिंह के इस पुत्र में सभी विद्याएँ प्रचुरता से थीं और वे षट्दर्शन के ज्ञाता थे। उनका हृदय समुद्र के समान गम्भीर था।

थेघनाथ के कथन में थोड़ी-बहुत अतिशयोक्ति हो सकती है, तथापि उसका वर्णन नितान्त कवि-कल्पना नहीं है।

मानसिंह के तीन भतीजों का भी उल्लेख मिलता है—निहालसिंह, अजीतसिंह और नरसिंहदेव। निहालसिंह राजदूत के रूप में कार्य करते दिखाई देते हैं। अजीतसिंह के दर्शन केवल आगरा में सन १५२६ ई० में होते हैं, जब पानीपत के युद्ध के पश्चात् हुमायूं ने आगरा घेर लिया था और अजीतसिंह किसी प्रकार तोमर-परिवार को लेकर आगरा से भाग सके थे। नरसिंहदेव गुजरात के सुल्तान बहादुरशाह के दरबार में रहते थे, और सुल्तान के अत्यन्त विश्वासपात्र थे। सोजना का सलहदी और अदन्तगढ़ का सामन्त डूंगर भी तोमर परिवार के ही सदस्य थे, यद्यपि उनके विषय में निश्चित रूप से नहीं कहा जा

१. मानसिंह की अवरुद्धा इस गूजरी से अनेक संतानें हुई थीं। उनके वंशज गूजर आज भी अपना गोत्र 'तोमर' बतलाते हैं।

सकता कि वे कीर्तिसिंहदेव के पुत्रों में से किसी की सन्तान थे। सलहदी मेवाड़ में राणा संग्रामसिंह के पास चले गए थे। डूंगर आगे चलकर मुसलमान होगया था और उसका नया नाम हुसेन हो गया था।

डूंगर को तत्कालीन फारसी इतिहासों में अवन्तगढ़ का राय कहा गया है। इस सन्दर्भ में यह स्मरणीय हैं कि राजकुल के समस्त सामन्त भी नृप, भूपति या राजा ही कहे जाते थे।

धौलपुर के विनायकपालदेव भी तोमर राजकुल के ही थे। उन्हें भी मध्ययुगीन फारसी इतिहास लेखकों ने 'धौलपुर का राय' लिखा है। वे केवल सामन्त थे।

प्रधान (मन्त्री)

मानसिंह तोमर के प्रधान अथवा महामन्त्री का नाम भी प्राप्त होता है। मूलवार जाति का साहु खेमशाह वि० सं० १५५१ (सन १४९४ ई०) में मंत्री था, ऐसा उस वर्ष के गंगोलाताल के शिलालेख से ज्ञात होता है। इस खेमशाह को आख्यान-काव्य बहुत प्रिय थे। उसके आग्रह पर वि० सं० १५४६ (सन् १४८९ ई०) में मानिक कवि ने वैताल-पच्चीसी लिखी थी—

गढ़ ग्वालियर थानु अति भलौ, मानसिंघु तौवरु जा बलौ।
सिघई खेमल बीरा दीयौ, मानिक कवि कर जौरे लीयौ
मोहि सुनावहु कथा अनूप, ज्यों बेताल किए बहु रूप॥

ये 'सिघई खेमल' मानसिंह के प्रधान साहु खेमशाह ही हैं।

खेमशाह को नारायणदास ने अपना छिताई-चरित भी सुनाया था। जिस समय नारायणदास अपना काव्य खेमशाह या खेमचन्द्र को सुना रहा था, उसी समय उसका परिचय देवीसुत, अर्थात्, ब्रह्मभट्ट देवचन्द्र के साथ हुआ था।[1]

राज पुरोहित—शिरोमणि तथा हरिनाथ

केशवदास ने कविप्रिया में अपने पूर्वजों का उल्लेख किया है। उनके पूर्वजों का ग्वालियर के तोमरों से जो सम्बन्ध था उसका विवेचन पहले किया जा चुका है।[2]

उस विवेचन से यह सुनिश्चित है कि ग्वालियर के मान के राज पुरोहित पहले 'षट्दर्शन अवतार' शिरोमणि मिश्र थे और उनके मेवाड़ चले जाने के पश्चात् इस पद पर आसीन हुए उनके पुत्र हरिनाथ मिश्र। हरिनाथ मिश्र और उनके पुत्र कृष्णदत्त विक्रमादित्य की पराजय के समय तक ग्वालियर में अवश्य रहे। हरिनाथ मिश्र या तो उसी युद्ध में मारे गए या फिर विक्रम के साथ चले गए। कृष्णदत्त मिश्र मेवाड में राणा संग्रामसिंह के पास चले गए।

---

१. छिताई-चरित, पाठ भाग, पृ० ३४ (पंक्ति ५६६)।
२. पीछे पृ० ३९-४० देखें।

परशुराम मिश्र

मानसिंह के समय में एक और मिश्र परिवार ग्वालियर में प्रसिद्ध था। वीरमित्रोदय और आनन्द-घन चम्पू के रचयिता मित्र मिश्र के पूर्वज मान की राजसभा के पण्डित थे। उनके पूर्वज परशुराम मिश्र (अथवा उनके पिता) ग्वालियर में थे। इनका कार्य धर्मशास्त्र की व्यवस्था देना तथा यज्ञ-पूजा आदि कराना था।

कल्याणकर चतुर्वेदी

श्री श्रीनारायण चतुर्वेदी 'श्रीवर' से हिन्दी-संसार वहुत अच्छी तरह परिचित है। उनके एक पूर्वज गोविन्ददास चतुर्वेदी ने 'प्रपत्ति-वैभव' नामक ग्रन्थ लिखा है। उसकी हस्तलिखित प्रति श्री श्रीनारायणजी के पास है, उसमें अपना वंश परिचय देते हुए गोविन्ददास ने लिखा है—

अनाचार आचारयुत, साधु असाधुहि होइ।
अज्ञानी ज्ञानी सुभुवि, मम तनु माथुर जोइ॥
यह लखि लाए मान नृप, मथुरा तें करि प्रीति।
दियो वासु गिरिउपरि लखि, वेद सुमृत ऋषि नीति॥
वर्षा ऋतु झरना विविध नृत्यत मत्त मयूर।
विगत पंक रह भूमि जहँ, स्वच्छ शिला बहु पूर॥
राजत वापी कूप बहु, उपवन शुभ आराम।
मन्दिर सुन्दर नृप सदृश, षटऋतु के विश्राम॥
श्री कल्याणकर, पुत्र पुनि, श्रीमन् कंठ सुवेश।
तिन सुत गोवर्धन विदित, पुनि कुलमनि विप्रेश।
विजयराम सुत खड्गमनि, उत्तम नाम प्रकाश।
विरच्यौ आत्म स्वधर्म लखि, वेद सुमृत इतिहास॥
प्रकृति पुरुष दोउ पर–अपर, कहो विष्णु की देह।
जाते वैष्णव धर्म विनु, नहीं अन्य नर एह॥
रंध्र मिथुन वसु चन्द्र बुध, शुक्ल सप्तमी लेष।
श्रावण रवि पूरण भई, गत नक्षत्र विशेष॥
तुर्य तुर्य वसु चन्द्र कवि, कुम्भकर्ण तम पक्ष।
अनुराधा तिथि सप्तमी, जन्म नाथ मुनि स्वक्ष॥

गोविन्ददास ने यह ग्रन्थ सन् १७६३ ई० में पूरा किया था और उनके तथा कल्याणकर के बीच में सात पीढ़ियाँ हैं। मथुरा के पण्डितों की पीढ़ियाँ बहुधा लम्बी ही होती हैं। अनुमान यह है कि लगभग १५०० ई० के आसपास कल्याणकर ग्वालियर आए।[1] सन् १५२३ ई० के भीषण युद्ध में उनका एक पुत्र मारा गया। उसकी पत्नी

१. मानकुतूहल के प्रथम संस्करण में हमने ग्वालियर में 'विजयराम' के आने का उल्लेख किया था। वह भ्रम पर आधारित था, विजयराम के पूर्वज कल्याणकर चतुर्वेदी ग्वालियर आए थे।

ग्वालियर के पास ही एक ग्राम शंकरपुरा में सती हुई जिसकी मढ़ी आज तक वनी है। कल्याणकर इटावा चले गए।

वेद और स्मृति में ऋषियों को आदरपूर्वक रखने की जो रीति है, उसके अनुसार मानसिंह ने कल्याणकर को गढ़ के ऊपर ही आवास दिया था।

जैन साधु और श्रावक

मानसिंह के राज्यकाल की जैन सम्प्रदाय की किसी रचना का उल्लेख हमें प्राप्त नहीं हो सका है। इस समय तक अपभ्रंश की रचनाओं की परम्परा ग्वालियर में समाप्त हो चुकी थी। तथापि, मानसिंह के राज्यकाल में जैन सम्प्रदाय को पर्याप्त प्रोत्साहन मिला था, यह सुनिश्चित है। वि० सं० १५५२ (सन् १४९५ ई०) के जैन मूर्तिलेख का उल्लेख ऊपर किया जा चुका है, जिससे प्रकट होता है कि गोपाचल गढ़ पर मानसिंह के समय में भी कुछ जैन प्रतिमाएँ उत्कीर्ण की गई थीं। भट्टारक मणिचन्द्रदेव के पश्चात् जो मुनिजी हुए थे उनका नाम उक्त शिलालेख में नहीं पढ़ा जा सका, तथापि उन्हें भट्टारक न कहा जाकर केवल 'मुनि' कहा गया है, इससे प्रकट होता है कि मूलसंघ की इस शाखा का मूल-पट्ट ग्वालियर के बाहर कहीं स्थापित हो गया था।

शिल्पी

मानसिंह के समय में मानमंदिर, गूजरीमहल और बादल गढ़ जैसे विशाल निर्माण हुए थे। ये निर्माण केवल उपयोगिता की दृष्टि से ही नहीं किए गए थे, वरन् उन्हें कला की अनुपम कृतियाँ बनाया गया था। उनके निर्माण के लिए अनेक कमठान (इंजीनियर), प्रस्तर उत्कीर्णक, विविध रंगों के प्रस्तर-खण्डों के निर्माता, चितेरे, बढ़ई, लुहार आदि की आवश्यकता हुई होगी। इनके नाम या विवरण उपलब्ध नहीं हैं, केवल संयोग से वि० सं० १५५१ का एक शिलालेख इस दिशा में कुछ प्रकाश डालता है।[1] मानसिंह ने इसे उत्कीर्ण करने वाले शिल्पियों को पर्याप्त समादर दिया था। जहाँ राजा का शिलालेख अंकित किया गया था, वहीं इन कारीगरों का शिलालेख उनके द्वारा बोली जाने वाली भाषा में, उत्कीर्ण करा दिया गया।

सूत्रधार "पजू" केवल शिलालेखों को उत्कीर्ण करने वाला सूत्रधार ज्ञात नहीं होता, संभव है वह मानसिंह के निर्माणों का सूत्रधार भी हो। उक्त शिलालेख से अभी हम यह समझने में असमर्थ हैं कि 'मंहलन', 'खीरसु', 'मनूव', 'सानेग' सभी व्यक्तिनाम हैं। संभव है, "सूत्रधार पजू मंहलन" एक ही व्यक्ति के लिए हो और उसका आशय यह हो कि पजू महलों का भी सूत्रधार था। खीरसु, मनूव तथा सानेग व्यक्तिनाम ज्ञात होते हैं। रमा बढ़ई का नाम भी स्पष्ट है और धंधा भी। वह मानसिंह के लकड़ी के कारीगरों का मुखिया है। रमू सिलहरी भी कोई कठिनाई प्रस्तुत नहीं करता। रमू तलवारों पर सान रखने वालों का मुखिया है। 'गने धनूत महं' कुछ अस्पष्ट है, तथा ज्ञात होता है कि धनुप

---

१. पाठ के लिए पीछे पृ० १३१ देखें।

बनाने वालों के महता, मुखिया, का नाम गने (गणेश) था। ठूवल (स्थूल-मोटे) सुवाकदेव वोहरे इन कारीगरों की पंक्ति में कैसे बैठ गए ?

ज्ञात यह होता है कि समस्त निर्माण होने के पश्चात् राजा मानसिंह ने अपने शिल्पियों को समादर दिया। इन निर्माणों के लिए पत्थर निकालने के कारण गंगोलाताल और भी गहरा हो गया होगा। अतएव राजा ने इच्छा प्रकट की कि अब गंगोलाताल को भी व्यवस्थित और सुन्दर रूप दे दिया जाए। "राजा की तसलीमा" राजा के आदेश के पालन में, उनके वचन को पूर्ण करने के लिए (पूथाना) 'गगेर' सागर को स्वच्छ किया गया।

परन्तु गंगोलाताल के शिल्पियों में किसी चितेरे का नाम नहीं है। दुर्भाग्य से इस युग में चित्रकारों को पृथक् शिल्पी-वर्ग के रूप में प्रतिष्ठा नहीं मिली थी। यह कार्य या तो पत्थर के ही कारीगर करते थे या ऐसे व्यक्ति करते थे जिन्हें समाज ने समादर नहीं दिया था।

साहित्य और साहित्यकार

मानसिंह तोमर के समय में लिखा गया कोई संस्कृत या अपभ्रंश ग्रन्थ अभी तक उपलब्ध नहीं हो सका है। हमारा अनुमान है कि अपभ्रंश की कोई रचना उसके ३० वर्ष के राज्यकाल में नहीं हुई होगी, क्योंकि जैन पण्डितों ने भी अब अपभ्रंश में अपने धर्मग्रंथ लिखने की व्यर्थता का अनुभव कर लिया होगा। मानसिंह का मंत्री खेमशाह भी हिन्दी का ही प्रेमी ज्ञात होता है। परन्तु, संस्कृत का कोई न कोई ग्रन्थ अवश्य ही मानसिंह के समय में लिखा गया होगा। जिसकी वाणी से विक्रम सं० १५५१ के शिलालेख का मंगल-श्लोक प्रस्तुत हुआ था, वह अत्यन्त समर्थ कवि था। दुर्भाग्य से हमें उसका नाम भी प्राप्त नहीं है।

मानसिंह के समय में हिन्दी-ग्रन्थ बहुत अधिक संख्या में लिखे गए थे। परन्तु यह परम दुर्भाग्य का विषय है कि उसमें से केवल थेघनाथ का गीता का भाष्य ही उपलब्ध हो सका है, शेष की केवल सूचनाएँ उपलब्ध हैं। मानिक की वैताल-पच्चीसी का विवरण खोज रिपोर्टों में सीमित है। दामोदर ने छिताईचरित में ही अपना अंश जोड़ा है, उसकी कोई स्वतंत्र रचना उपलब्ध नहीं है। रतनरंग ने भी यही कार्य किया है। मानसिंह का मानकुतूहल मूल रूप में दतिया के राजकीय पुस्तकालय में था, नवीन विशाल मध्यप्रदेश बनने के पश्चात् वह भी किसी महत्वपूर्ण व्यक्ति द्वारा विगलित कर दिया गया। श्री अगरचन्द नाहटा को उसका केवल एक परिच्छेद प्राप्त हुआ है। उसका फारसी अनुवाद अवश्य प्राप्त हुआ है जिसका हिन्दी अनुवाद प्रकाशित हो चुका है। मानसिंह ने तीन विशाल गीत-ग्रन्थ भी प्रस्तुत कराए थे। बैजू, बक्सू, पांडवीय, महमूद लोहंग आदि ने भी अत्यधिक पदों की रचना की थी। बैजू के पद बिखरे हुए यत्र-तत्र मिलते हैं। बक्सू के

पदों का विशाल संग्रह लन्दन में पड़ा हुआ है।[1] अन्य नायकों (संगीताचार्यों) के पदों का कुछ पता नहीं है।

सबसे अधिक भयंकर बात यह हुई है कि मानसिंह और विक्रमादित्य के समय के अनेक कवियों तथा गायकों का सम्बन्ध ग्वालियर से अमान्य किया जाता रहा है। इसके पीछे कुछ प्रादेशिक भावना कार्य कर रही है और कुछ मात्र विचार-जड़ता। यह पूर्णतः प्रमाणित है कि सूरदास के अधिकांश पद ग्वालियर में लिखे गए थे।[2] हिन्दी के विद्वान भले ही यह न मानें, परन्तु मराठी के विद्वानों के यह निर्दिवाद रूप में सिद्ध कर दिया है कि नाभादास का जन्म ग्वालियर में हुआ था और यहीं उन्होंने अपनी भक्तमाल लिखी थी।[3] स्वामी हरिदास का जन्म और संगीत-शिक्षा भी ग्वालियर में हुई थी, इसमें हमें कोई सन्देह नहीं है। तानसेन मानसिंह के समय में ही पद रचना करने लगे थे, परन्तु उनके पदों के सम्पादक उनमें से 'मान' हटाकर 'राम' कर देते हैं।

इस दुर्दशा के होते हुए, जो कुछ ज्ञात या उपलब्ध है, उसी के आधार पर मानसिंह-कालीन साहित्य और साहित्यकारों का विवरण देना उचित है।

देवचन्द्र

देवचन्द्र की कोई स्वतन्त्र रचना प्राप्त नहीं हुई है, केवल छिताईचरित में उसके द्वारा जोड़ा गया अंश प्राप्त हो सका है। उसमें ही उसने अपना आत्म-परिचय भी दिया है[4]—

आधी कथा सुनत सुख भईयो, हँसि दिउचन्द कवि बूझन लईयो
कहि कविदास होए धरि भाऊ, जिसउ छिताइ करिउ उपाऊ
सरस कथा मेरे जीय रहई, कीरत चलइ दमोदर कहई
काइथ बंस तमोरी जाता, गोवरगिरी तिनको उतपाता
तिनकौ बन्ध्यौ दिउचंद आही, कही कथा सुख उपन्यौ ताही
धर्म नीति मारग विउपरही, बहुत भगति विप्रन की करही
देवीसुत कवि दिउचंद नाऊं, जनम भूमि गोपाचल गाऊं
जइसी सुनी खेमचन्द पासा, तइसी कवियन कही प्रगासा
आधी कथा नरायन करी, संपूरन दिउचंद ऊचरी।

---

१. ज्ञात हुआ है कि उसकी माइक्रोफिल्में भारत में आगई हैं। सन् १९५५ के आसपास एक बम्बई में मंगाई गई थी, और अब एक प्रति शान्तिनिकेतन में भी आगई है, जिस पर कोई शोधकर्ता कार्य कर रहे हैं।

२. मध्यदेशीय भाषा (ग्वालियरी), पृ० ९९-१०२।

३. प्रो० निरन्तर, मराठी वाङ्मयाचा परामर्श, पृ० २६९-७०। नागरी प्रचारिणी पत्रिका, वर्ष ७६, सं० २०२८ में गोवर्धननाथ शुक्ल का लेख 'महीपतिबुवाकृत भक्तलीलामृत में नाभादास' भी देखें।

४. छिताईचरित, पाठ भाग पृ० ३४।

कायस्थवंश का दामोदर तमोली का व्यवसाय करता था। उसके पूर्वज गोपाचल गढ़ के ऊपर रहते थे (संभव है, दामोदर कायस्थ पद्मनाम का वंशज हो)। इस दामोदर का आश्रित कवि था देवीसुत, अर्थात्, ब्रह्मभट्ट, देवचन्द्र। देवचन्द्र का जन्म ग्वालियर नगर (गोपाचल ग्राम) में हुआ था। दामोदर कायस्थ के आग्रह पर देवचन्द्र ने नारायण-दास के छिताई-चरित में अपना अंश जोड़ा था।

दुर्भाग्य से कुछ विद्वान 'गोवरगिरि' के प्रयोग के कारण देवचन्द्र के आश्रयदाता दामोदर को 'गोवागिरि' से बहुत दूर हटा ले गए। डा० श्री माताप्रसाद गुप्त का अभिमत है कि दामोदर की उत्पत्ति 'गोलकुण्डा' में हुई थी[1]—"गोवर, गोवल्ल और गोवाल अभिन्न प्रतीत होते हैं। एक गोवलकुंड या गोपालकुंड का उल्लेख दक्षिण के देशों के साथ पृथ्वीराज रासो में हुआ है।.... यह स्थान वर्तमान गोलकुण्डा है। कहा नहीं जा सकता कि देवचन्द्र द्वारा उल्लिखित गोवर भी यही है, किन्तु गोपाचल से भिन्न अवश्य है, क्योंकि गोपाचल का उल्लेख देवचन्द्र ने स्वयं अपने जन्म-स्थान के रूप में ठीक उसके बाद किया है।"

इसके पश्चात् डा० श्री परमेश्वरीलाल गुप्त ने भी 'गोवर–भाष्य' किया है[2]—

"गोवर–दौलतकाजी ने अपने 'सति मयना उ लोर चन्द्रानी' में इसका नाम गोहारि दिया है। उसकी विवेचना करते हुए हरिहरनिवास द्विवेदी ने उसे ग्वालियर बताने का प्रयास किया है (साधनकृत मैनासत, पृ० ११३-११४)। परन्तु गोवर नगर ग्वालियर से सर्वथा भिन्न था यह छिताई वार्त्ता के साक्ष्य से सिद्ध है। अगरचन्द नाहटा को इसकी जो प्रति मिली है,[1] उसमें देवचन्द ने दामोदर का परिचय देते हुए इसका जन्म स्थान गोवर बताया है (काइथवंस तमोरी जाता, गोवरगिरि तिनकी उतपाता) और अपने जन्म स्थान के रूप में ग्वालियर का नाम लिया है (देवीसुत कवि दिउचंद नाऊं, जनम भूमि गोपाचल गाऊं)। लोककथाओं में इसका नाम गौर या गौरा के रूप में आया है। सतीश-चन्द्र दास का कहना है कि यह मालदा जिले (बंगाल) में है।"

डा० श्री माताप्रसाद गुप्त ने दामोदर कायस्थ का मूल गोलकुण्डा बतलाया है, और उन्हीं तर्कों के आधार पर डा० श्री परमेश्वरीलाल गुप्त ने उसे बंगाल में फेक दिया !

'गोवागिरि' (या गोवरगिरि) तथा गोपाचलग्राम के अलग-अलग उल्लेख से किसी भ्रम को जन्म देना व्यर्थ है। इब्नबत्तूता ने ग्वालियर गढ़ और ग्वालियर नगर, दोनों का अलग-अलग परिचय दिया है। जो जैन मूर्तियाँ गढ़ के ऊपर बनी हुई हैं उनके मूर्तिलेख

---

१. छिताईवार्ता, प्रस्तावना, पृ० ३ तथा ८।

२. मौलाना दाऊद कृत चन्दायन, पृ० ८६।

३. श्री अगरचन्द जी नाहटा ने यह प्रति हमारे पास भेज दी थी। उसका पाठ तैयार कर उसे प्रस्तावना सहित 'छिताईचरित" के रूप में हम प्रकाशित भी करवा चुके हैं। दुर्भाग्य से हम उस समय उसके प्रतिलिपिकार की भूल न पकड़ सके, जहाँ उसने 'गोवागिरि' को 'गोवरगिरि' कर दिया था। उस छोटी-सी भूल के कारण ही यह विवाद खड़ा हो गया।

में 'गोपाचल गढ़' लिखा गया है और जो नीचे नगर में मिली हैं उनमें 'गोपाचल नगर' लिखा गया है। रइधू ने भी 'गोव्वागिरि' और 'गोव्वानगर', दो भिन्न स्थल बतलाए हैं। गढ़ पर राजा, सामन्त, मन्त्री, पुरोहित और सैनिक रहते थे। नगर में व्यापारी, कारीगर तथा दूसरे वर्ग रहते थे। दामोदर के पूर्वज जब तोमरों के राज-दरबारी थे तब गढ़ के ऊपर रहते थे। दामोदर ने व्यवसाय प्रारम्भ कर दिया, अतएव वह नगर में रहने लगा। ग्वालियर गढ़ एवं ग्वालियर नगर के नाम भी अनेक रूप में मिलते हैं; गोपाचल, गोपगिरि, गोपाद्रि, गोव्वागिरि और गोवागिरि के अतिरिक्त इसे गोपालपुर भी कहा गया है।

पन्द्रहवीं शताब्दी में तमोली का व्यवसाय करने वाले कायस्थ गोलकुण्डा या मालदा से ग्वालियर नहीं आए थे, वे तमोली विशुद्ध स्थानीय थे। उसी समय से उनके पास बड़ी-बड़ी जमींदारियाँ थीं जो मुगलों के समय तक चलीं। प्रतिलिपिकार द्वारा भूल से लिखे गए 'गोवर' को ही शुद्ध मान लेने पर भी कोई भ्रम नहीं रहेगा यदि ग्वालियरी संगीत की 'गुबरहारबानी' और उसके संगीतज्ञों की एक शाखा के 'गुबरहार गोत्र' को ध्यान में रखा जाए। ग्वालियरी ध्रुपद की एक शाखा 'गुबरहारबानी' है। यह 'बानी' न तो गोलकुण्डा से प्राप्त हुई है न मालदा से। गोपाचल गढ़ के मानसिंह के गंगोलाताल के शिलालेख में 'गोवर्धनं गिरिवर' में श्लेष रूप में गोपाचल का ही उल्लेख है, वही मानसिंह तोमर और उसके गायकों का 'गोवर्धन' था।

छिताईचरित की ऊपर उद्धृत पंक्तियों में जिस 'खेमचन्द' का उल्लेख है, वह भी वही 'मूलबार ज्ञातीय साहु खेमशाह' है जो मानसिंह तोमर का प्रधान था, तथा जिसे मानिक कवि ने बैताल-पच्चीसी सुनाई थी। देवचन्द्र को कथा सुनने वाले दामोदर कायस्थ खेमशाह के समकालीन थे और ग्वालियर निवासी थे।

परन्तु, दामोदर कायस्थ के संदर्भ में उत्पन्न 'गोवर-विवाद' में देवचन्द्र के परिचय को उलझाने की आवश्यकता नहीं है। अपना परिचय वह स्वयं दे रहा है, "देवीसुत कवि दिउचंद नाऊं, जनमभूमि गोपाचल गाऊं।" वह देवीसुत, अर्थात्, ब्रह्मभट्ट है और उसका जन्म गोपाचल नगर में हुआ था। देवचन्द्र, सूरदास या सूरजदास के भाई थे, इसका विवेचन हमने अन्यत्र किया है। सूरदास की साहित्य-लहरी के अनुसार देवचन्द्र अपने अन्य भाइयों के साथ किसी शाह से युद्ध करते हुए मारे गए थे। ये युद्ध सन् १५०५ ई० से प्रारम्भ होगए थे। सूरदास ने साहित्य-लहरी में अपने इन भाइयों को 'महाभट गंभीर' कहा है। देवचन्द्र ने छिताईचरित में जो अंश जोड़ा है उससे वह वीरकाव्य का सिद्धहस्त कवि अवश्य ज्ञात होता है और उस समय के 'तुर्कों' से उसे घृणा भी थी, वह उन्हें राक्षस रूप ही मानता था। युद्ध का जैसा सजीव वर्णन देवचन्द्र ने किया है वैसा उस युग में अन्यत्र प्राप्त नहीं होता।

रतनरंग

नारायणदास के छिताईचरित में किसी रतनरंग नामक या कविनाम-धारी व्यक्ति ने भी अपना कुछ अंश जोड़ा है[1]—

रतनरंग-कवियन बुधि ठई, समौ विचारि नाथ निरमई ।
गुनियन गुनी नरायनदासा, तामहि रतन कियौ परगासा
रतनरंगु अनमिली मिलाई, जेइ रे सुनी तेहि अति सुखपाई

रतनरंग ने अपना आत्म-परिचय नहीं दिया है । वह अपने आपको प्रसिद्ध कवि अवश्य मानता है और नारायणदास के महाकवित्व का भी कायल है[2]—

रतनरंगु कवि कहइ विचारा, कही कथा सो अमिय रिसारा ।

रतनरंग के विषय में अभी इससे अधिक कुछ ज्ञात नहीं है ।

मानिक

सन् १४८९ (संवत् १५४६ वि०) में सिंघई खेमल (खेमशाह) ने मानिक कवि को वैताल-पच्चीसी की कथा सुनाने के लिए 'बीड़ा' दिया था । मानिक कवि ने उसे हाथ जोड़कर स्वीकार किया और कथा सुनाई । कवि को सम्मानपूर्वक बुलाकर उसे आश्रयदाता द्वारा काव्य रचना के लिए बीड़ा देने की प्रथा का ग्वालियर के तोमरों में पूर्ण प्रचार था । इस मानिक के पूर्वज अयोध्या में रहते थे । उसके किसी पूर्वज ने वैताल-पच्चीसी की कथाएँ लिखी थीं । उस पूर्वज का नाम "अमऊ" था, संभवत:, 'अमरु' । उसकी पाँचवी पीढ़ी में था मानिक कायस्थ । सौ-सवासौ वर्ष पूर्व अमऊ की लिखी वैताल-पच्चीसी उसके पास थी । उसने उस समय की प्रतिनिष्ठित काव्यभाषा में हिमऋतु के अगहन मास में जब चन्द्र कुंभ का था, शुक्ल पक्ष था, रविवार अष्टमी, विक्रम संवत् १५४६ में अपनी वैताल-पच्चीसी प्रारम्भ की—

संवत पन्द्रह सै तिहिकाल, ओरु बरस आगरी छियाल ।
निर्मल पाखु आगुहन मास, हिमरितु कुंभ चन्द्र को वास ।।
आठें द्योसु वार तिहि भानु, कवि भाषै वैताल पुरानु ।
गढ़ ग्वालियर थानु अति भलौ, मानसिंह तोवरु जा वलौ ।।
सिंघई खेमल बीरा दीयौ, मानिक कवि कर जोरे लीयौ ।
मोहि सुनावहु कथा अनूप, ज्यों वैताल किये वहु रूप ।।

अन्त में अपना परिचय देते हुए मानिक ने लिखा[3]—

काइथ जाति अजुध्या वासु, अमऊ नाउ कविन को दासु ।

---

१. छिताईचरित, प्रस्तावना, पृष्ठ २३ ।
२. छिताईचरित, पाठ भाग, पृ० ७६ ।
३. वही, पृ० १२४ ।

कथा पचीस कहीं बैताल, पौहोचे जाइ भीव के पताल।
ताके बंस पांचई साख, आदि कथन सो मानिक भाखु ॥

जैसा ऊपर लिखा जा चुका है, यह खेमल, खेमशाह मानसिंह तोमर का 'प्रधान' था और उसका उल्लेख तत्कालीन शिलालेखों में भी मिलता है। वह साहित्य प्रेमी भी था और कवियों को प्रश्रय भी देता था। अयोध्यावासी मानिक को उसने प्रोत्साहित किया। मानिक को अयोध्या क्यों छोड़ना पड़ी, यह उसके कथन से स्पष्ट नहीं है। अनुमान यह है कि जब कल्याणमल्ल के राज्यकाल में अयोध्या का सूबेदार लादखाँ ग्वालियर आया, तब मानिक भी उसके साथ ग्वालियर आगया।

थेघनाथ

सन् १५०० ई० में थेघनाथ ने 'श्रीमद्भगवत्गीता भाषा' लिखी थी। इसमें उसने अपने आश्रयदाता भानुसिंह का परिचय दिया है। भानुसिंह कीर्तिसिंह का पुत्र था, अर्थात् मानसिंह के पिता का भाई।

थेघनाथ 'थेघू' कवि नहीं था, वह रामदास का शिष्य नाथ-पंथी साधु था। उसके गीता भाष्य से ही स्पष्ट है कि वह गीता का भी नाथ-पंथ के सिद्धांतों के अनुसार स्वतंत्र अनुवाद करके सुना रहा है। उसने अपने प्रधान श्रोता की स्तुति की तो है अतिशयोक्ति पूर्ण, क्योंकि ईश के गुण-वर्णन मे कल्पतरु की शाखा की लेखनी, पृथ्वी रूपी कागद और समुद्र रूपी दवात अपर्याप्त कही गई है, उन्हें ही वह कुँअर भानुसिंह के गुणों के वर्णन के लिए अपर्याप्त बतलाता है, परन्तु उसके वर्णन से कुछ तथ्य सामने आते हैं। भानुसिंह के लिए उसने 'कुँवर' शब्द का प्रयोग किया है। राजपूतों में जो गद्दीधारी होता था, वह राजा या राय होता था। छोटी शाखा के समस्त वंशज राजकुमार कहलाते थे, कुँवर। आगे उन्हें दीवान (दिमान) भी कहने लगे थे। ये कुँवर या दिमान बड़ी शाखा के गद्दीधारी के अधीन रहते थे, भले ही वह वय में छोटा हो। कीर्तिसिंह के बड़े पुत्र थे कल्याणमल्ल; भानुसिंह उससे छोटे थे। अपने भतीजे के राजा होने पर वृद्धावस्था में भी वे कुँवर ही कहे जाते रहे। तुर्कों और अफगानों की तरह ग्वालियर के तोमरों में गद्दी के लिए गृहयुद्ध नहीं हुए। यह होता तो वे १२६ वर्ष राज्य न कर पाते।

थेघनाथ ने अपने विषय में केवल यह लिखा है कि वह रामदास का शिष्य है। ये रामदास कौन हैं, इसका भी कोई विवरण थेघनाथ ने नहीं दिया है। थेघनाथ स्पष्टतः नाथपंथी है। रामदास थेघनाथ के पंथ के गुरु नहीं ज्ञात होते, वे उसके काव्यगुरु हैं।

एक बाबा रामदास "गवैया ग्वालियरवाला" अपने पुत्र सूरदास सहित अकबरी दरबार में भी चला गया था। वह रामदास थेघनाथ के गुरु से भिन्न था। गीता सन् १५०० ई० में लिखी गई। उस समय थेघनाथ के गुरु ४०–५० वर्ष के तो होंगे ही। अकबरी दरबार की शोभा बढ़ाने के लिए वे जीवित रहे होंगे, यह संभव नहीं दिखता।

मानकुतूहल

दोहा-चौपाईयों में लिखा गया संगीत-ग्रन्थ मानकुतूहल मानसिंह तोमर द्वारा रचित माना जाता है। मूल मानकुतूहल कभी दतिया के राजकीय पुस्तकालय में था, अब कालगति से वह अप्राप्य हो गया है। केवल उसका कुछ अंश श्री अगरचन्द्र नाहटा ने मध्यप्रदेश सन्देश में प्रकाशित किया है। परन्तु, वह बीच के एक सर्ग का अंश है और उससे उसके रचनाकाल आदि का पता नहीं चलता। मानकुतूहल का फारसी अनुवाद फकीरुल्ला सैफखाँ ने किया है।[1] उस अनुवाद से यह ज्ञात होता है कि अनेक प्रसिद्ध संगीतज्ञों के परामर्श से मानसिंह ने संगीत शास्त्र का यह ग्रन्थ हिन्दी में लिखा था। संभव है, उसे पद्य का रूप देने में किसी कवि का भी सहयोग लिया गया हो। परन्तु मानसिंह तोमर स्वयं भी कवि था और उसने अनेक पद लिखे थे, अतएव यह भी संभव है कि यह रचना भी उसी की हो।

मानकुतूहल काव्य नहीं है, विस्तृत अर्थों में वह साहित्य अवश्य है, हिन्दी वाङ्मय की वहुमूल्य निधि है। मानसिंह के समय तक हिन्दी में इतनी शक्ति आगई थी कि शास्त्रीय विषयों पर भी उसमें ग्रन्थ लिखे जा सकते थे।

मानसिंहकालीन गेय पद और दोहे

जिस साहित्य के कारण पन्द्रहवीं शताब्दी में और उसके पश्चात् भी ग्वालियर की साहित्य-साधना को भारतव्यापी सम्मान मिला था, वह मानसिंह तोमर के समय के गायनाचार्यों द्वारा लिखे गए गेय पद हैं। यह स्मरणीय है कि पदों के समान दोहा भी उस समय संगीत के स्वरों का प्रभावशाली माध्यम था। ध्रुपद के गायनाचार्यों के लिए यह आवश्यक था कि वे पद-रचना में भी दक्ष हों। इसके कारण मानसिंह के समय के सभी संगीताचार्यों ने पदों की रचना की थी। स्वयं मानसिंह ने भी अनेक पद लिखे थे और विविध संगीताचार्यों के गेय पदों और दोहों के तीन सग्रह भी प्रस्तुत कराए थे। वे अब अप्राप्य हैं। परन्तु उनकी कुछ झाँकी 'हकायके हिन्दी' में मिलती है।

सन् १५६६ ई० में अब्दुल वाहिद विलग्रामी ने 'हकायके हिन्दी' की रचना की थी।[2] विलग्रामी ने अपनी पुस्तक को जिन तीन भागों में विभक्त किया है वे मानसिंह तोमर द्वारा प्रस्तुत कराए गए तीन गीत संग्रहों के आधार पर हैं। विलग्रामी द्वारा उद्धृत कछ छन्द और वाक्य निम्न रूप में हैं—

साजन आवत देख के (हे) सखि तोरौं हार।
लोग जानि मुतिया चुनूं, हौं नय करौं जुहार ॥

एक ध्रुपद का एक चरण भी विलग्रामी ने उद्धृत किया है—

---

१. इसका हिन्दी अनुवाद 'मानसिंह और मानकुतूहल' के नाम से लेखक ने प्रकाशित किया है।
२. नागरी प्रचारिणी सभा, काशी, द्वारा प्रकाशित।

काहू की बाँह मरोरी, काहू के कर चूरी फोरी
काहू की मटकिया ढारी, काहु की कंचुकी फारी

एक अन्य दोहा इस प्रकार है—

नन्हे नन्हे पात जो आंवली सरहर पेढ़ खजूर
तिन चढ़ देखौं बालमा नियरे बसें कि दूर

कुछ वाक्य भी परखने योग्य हैं—

'थाल भरी गज मोतिन्ह गोद भरी कलियाँहि'
'प्रियतम लग तन होरी कीन्हा।"

'हकायके हिन्दी' में बिलग्रामी ने इन छन्दों, वाक्यांशों और शब्दों की इस्लाम परक व्याख्या की है ताकि सूफी समाओं (संगीत गोष्ठियों) में उनका गाना अनुचित न माना जाए। यह अलग बात है। यहाँ अभी पूरे प्राप्त अढ़ाई दोहों के साथ मुल्ला वजही के सबरस से उद्धृत एक दोहे को और जोड़कर केवल यही लिख कर संतोष कर लेना पड़ेगा कि मान के ग्वालियर में इस प्रकार के दोहे भी लिखे गए थे।

परन्तु अज्ञात या अल्पज्ञात सामग्री को छोड़ जो ज्ञात है, वह भी कम भव्य नहीं है। मानसिंह तोमर के समय के अनेक संगीताचार्य और पदकार पूर्णतः प्रख्यात हैं और उनका पद-साहित्य भी उपलब्ध है।

नायक बैजू

नायक बैजू का मूल नाम क्या था, जिसका संक्षिप्त रूप 'बैजू' बन गया यह सुनिश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता। परन्तु निश्चय ही बैजू मानसिंह की राजसभा का सर्वश्रेष्ठ गायनाचार्य था। कुछ मध्यकालीन फारसी ग्रन्थों में यह उल्लेख मिलता है कि बैजू ने मानसिंह से संगीत की शिक्षा प्राप्त की थी।[1] गूजरी तथा तन्नू (तानसेन) ने नायक बख्शू से संगीत की शिक्षा प्राप्त की थी, यह उल्लेख भी प्राप्त होते हैं। बैजू ईरानी संगीत में भी पारंगत था। बैजू के पद यत्रतत्र बहुत प्राप्त होते हैं, तथापि उनका अभी तक कोई प्रामाणिक संग्रह प्रस्तुत नहीं किया है। इन पदों में उत्कृष्ट भक्ति-भावना भी है और पद-लालित्य भी। बैजू के नाम के साथ इतनी किंवदन्तियाँ जोड़ दी गई हैं कि साधारणतः उसके समय और कृतित्व के सम्बन्ध में सन्देह बना ही रहता है। हिन्दी ने बैजू के पद साहित्य का समुचित सम्मान नहीं किया।

नायक बैजू मानसिंह की राजसभा में भी रहे और विक्रमादित्य के समय में भी वह उसकी राजसभा को सुशोभित करते रहे। विक्रमादित्य की पराजय के पश्चात बैजू

---

१. उर्दू 'आजकल', अगस्त १९५६ के अंक में रामपुर के भूतपूर्व नवाब के राजकीय पुस्तकालय के प्रबन्धक मौलाना अर्शी ने बादशाह नामा, खुलास-तुल-ऐश आलम शाही तथा गुंचए-राग का हवाला देते हुए यह स्थापना की है।

गुजरात के सुल्तान वहादुरशाह के पास चले गए। कुछ समय के लिए वैजू को हुमायूं की राजसभा में भी जाना पड़ा था, परन्तु उसका मन मुगल दरवार में रम न सका और वे पुनः गुजरात चले गए।[1]

नायक बक्शू

बक्शू का वास्तविक नाम बक्षव था। यह कहना कठिन है कि वह हिन्दू था या मुसलमान। मानसिंह की संगीत सभा में एक अन्य मुसलमान नायक (संगीताचार्य) महमूद लोहंग था। सम्भावना यह है कि बक्शू भी मुसलमान ही था। बक्शू ने अनेक पदों की रचना की थी। ये पद निश्चित ही ध्रुपद और विष्णुपद होंगे। मुगल सम्राट् शाहजहाँ को बक्शू के पद बहुत प्रिय थे। उसके समय तक के समस्त कवियों की तुलना में बक्शू के पद श्रेष्ठ माने जाते थे, इस कारण शाहजहाँ ने यह आदेश दिया कि उसके समस्त पद एकत्रित कर उनमें से सर्वश्रेष्ठ एक हजार पद संग्रहीत किए जाएँ। चार राग और छियालीस रागिनियों का यह संग्रह प्रस्तुत किया गया और उसके साथ तत्कालीन भारतीय संगीत के विषय में प्रस्तावना भी लिखी गई। इस पुस्तक को 'राग-ए-हिन्दी' या 'सहस्त्ररस' नाम दिया गया था।[2]

नायक बक्शू का जन्म ग्वालियर में हुआ था। वह मानसिंह की संगीत-सभा का नायक (संगीताचार्य) था। मानसिंह की मृत्यु के पश्चात् बक्शू विक्रमादित्य की राजसभा में भी रहा। विक्रमादित्य की पराजय के पश्चात् वह कालिंजर से राजा कीर्तिसिंह के पास चला गया। वहाँ से उसे गुजरात के सुल्तान बहादुरशाह (सन् १५२६-१५३७ ई०) ने बुला लिया।

नायक पांडे

नायक पांडे या पाण्डवीय पूर्व की ओर से (संभवतः अयोध्या या काशी से) मानसिंह की संगीत-सभा में आया था। उसके द्वारा रचित कोई पद अब तक प्राप्त नहीं हुआ है। कुछ विद्वानों का मत है कि यह पांडे ही तानसेन के पिता त्रिलोचन पांडे हैं, परन्तु यह अभिमत निराधार है।

सूरदास

सूरदास ने अपने सूरसागर से हिन्दी साहित्य को रसाप्लावित किया है। वे गोपाचल में जन्मे, पढ़े, और बढ़े। यहीं उन्हें ध्रुपद संगीत में दक्षता प्राप्त हुई। वल्लभ सम्प्रदाय में दीक्षित होने के पूर्व ही उनके द्वारा बहुत अधिक पद-रचना की जा चुकी थी। उनके ये प्रारम्भिक पद सम्प्रदाय के आग्रह से पूर्णतः मुक्त हैं। सूरदास या सूरजदास का जन्म सन् १४७८ ई० माना जाता है। मानसिंह तोमर की मृत्यु के समय वे लगभग ३८ वर्ष की

---

१. मिरआते-सिकन्दरी, डा० रिजवी, हुमायूं, भाग २, पृ० ४३९।

२. इस संग्रह की एक प्रति बॉडलियन लायब्रेरी में संग्रहीत है। देखें, केटेलॉग ऑफ परशियन मैनुस्क्रिप्ट्स इन दि बॉडलियन लायब्रेरी, ई० सचाऊ तथा एच० इथे, भाग १, पृ० १०६४-६४, प्रविष्टि १८४६।

वय के थे। ग्वालियर में सुल्तान के साथ हुए किसी युद्ध में उनके छह भाई मारे गए, जिनमें एक देवचन्द्र भी थे जिन्होंने छिताईचरित पूरा किया था। उस भीषण घटना के पश्चात् सूरदास ब्रज की ओर चले गए तथा वहाँ वल्लभ सम्प्रदाय में दीक्षित हुए।[1]

गोविन्ददास, हरिदास और तानसेन

आँतरी के गोविन्ददास का जन्म सन् १५०५ ई० माना जाता है। यह आँतरी ग्वालियर से १० मील दूर है। ग्वालियर में ही ध्रुपद गायन में पारंगत होकर ये व्रज की ओर गए थे। हरिदास ग्वालियर के ध्रुपद की डागुरवाणी में पारंगत थे।

तानसेन ग्वालियर के पास बेहट नामक ग्राम में जन्मे थे और ग्वालियर में राजा मान के दरबार में उनका प्रवेश था, इसमें सन्देह नहीं। उनकी जन्म-तिथि विवाद का विषय बनी हुई है, उसका विवेचन यहाँ अभीष्ट नहीं है। मानसिंह के समय में वे इतने बड़े अवश्य होगए थे कि उसकी संगीत सभा में गा सके। उनके पदों में मानसिंह का स्पष्ट उल्लेख मिलता है।

नाभादास

नाभादास का जन्म ग्वालियर में सन् १५०० ई० के लगभग हुआ था। उनके द्वारा भक्तमाल भी ग्वालियर में लिखी गई थी, इसका विवेचन हम पहले कर चुके हैं।[2]

तोमरकालीन ग्वालियर के साहित्य की मुल्ला वजही द्वारा नीराजना

गोलकुण्डा के कुतुबशाही वंश के सुल्तान अब्दुल्ला कुतुबशाह के राज्यकाल के दसवें वर्ष, हिजरी सन् १०४५ (सन् १६२६ ई०) में मुल्ला वजही ने अपना 'सबरस' नामक गद्य-आख्यान समाप्त किया था। इस पुस्तक की रचना वजही ने अब्दुल्ला कुतुबशाह के आग्रह पर की थी; उसी ने वजही को इस कृति को पूरा करने के लिए 'बीड़ा' दिया था। मुल्ला सूफी था, और इस्लाम पर उसे पूर्ण आस्था थी। 'सबरस' सूफी साधना के सिद्धान्तों के अनुरूप लिखा गया प्रेमाख्यान है।

सबरस का प्रारम्भ 'बिस्मिल्लाहिर्रहमानिर्रहीम' से करके वजही ने प्रेम के महत्व की प्रस्थापना प्रारम्भ की। उसके समर्थन में कुरआन, हदीस तथा फारसी के दानिशमन्दों का प्रमाण देने के पश्चात उसने लिखा[3]—

> **होर ग्वालियर के चातराँ गुन के गुराँ उनो बी**
> **बात कूं खोले है के—एकै अच्छर पेम का पढ़ै तो पंडित होय।**

पुस्तक के मंगलाचरण में ही कुरआन शरीफ, हदीस और फारसी के दानिशमन्दों के समकक्ष मुल्ला ने 'ग्वालियर के चातराँ गुन के गुराँ' को बैठा दिया।

---

१. विशेष विवरण के लिये देखें, मध्यदेशीय भाषा (ग्वालियरी), पृ० ९८-१०६; तथा छिताईचरित, प्रस्तावना, पृ० २१-२४।

२. मध्यदेशीय भाषा (ग्वालियरी), पृ० ३४ भी देखें।

३. सबरस, श्री श्रीराम शर्मा द्वारा सम्पादित, पृ० १।

आगे धर्म के महत्व को समझाते हुए मुल्ला ने पहले कुरआन शरीफ की आयत का उद्धरण दिया, और फिर हदीस के वाक्य को प्रमाण रूप प्रस्तुत किया; तदनन्तर लिखा[1]—

होर ग्वालियर के सुजान, यू बोले हैं जान—

दोहरा

धरती म्याने बीज धर बीज बिखर कर बोय।
माली सींचै सौ घड़ा रित आए फल होय॥

आगे एक स्थल पर बड़े दर्प से मुल्ला ने अपने कथन के समर्थन में लिखा है—

यू बात इधर उधर की बात नहीं, जहाँ लगन ग्वालियर के हैं गुनी,
उनीं ते बी यू बात गई है सुनी—

दोहरा

जिन कूं दरसन इत्त हैं तिन कूं दरसन उत्त
जिन कूं इत दरसन नहीं तिन कूं इत्त न उत्त

सबरस के रचनाकाल (सन् १६३६ ई०) तक ग्वालियर में ऐसी कौन-सी रचनाएँ हो चुकीं थीं, ऐसे कौन-से विचारक उत्पन्न हो चुके थे, जिनके कारण गोलकुण्डा के इस मुल्ला ने ग्वालियर के चतुरों की वाणी को कुरआन शरीफ, हदीस और फारसी के दानिशमन्दों की श्रेणी में बैठा दिया? एक शताब्दी पूर्व, सन् १५२३ ई० में, ग्वालियर से तोमरों का अखाड़ा उखड़ चुका था। कुछ समय वहाँ पठान सूरियों का आधिपत्य रहा, उसके पश्चात् ग्वालियर गढ़ का उपयोग वन्दीगृह के रूप में अधिक हुआ। मुल्ला वजही ने जिन चतुरों की नीराजना की है, सम्भव है वे वही हों, जिनका वर्णन ऊपर किया गया है।

सम्भवतः इस कथन को परिपुष्ट ही माना जाए कि तोमरकालीन ग्वालियर की हिन्दी-साहित्य की एकनिष्ठ साधना को अनेक शताब्दियों तक भारत के हिन्दू और मुसलमान, दोनों ने श्रद्धा, आदर और कृतज्ञता की भावना से समादृत किया; उनकी दृष्टि में हिन्दी-साहित्य 'ग्वालियरी साहित्य' का पर्यायवाची बन गया; हिन्दी भाषा 'ग्वालियरी भाषा' कही जाने लगी। मुल्ला वजही ने विजितों की वाणी को भी समादर योग्य माना; जो सामरिक-रूप में पराजित हुए थे, वे सांस्कृतिक क्षेत्र में विजयी हुए। उन्नीसवीं शताब्दी का अन्त होते-होते यह गौरव-गाथा भुला दी गई।

संगीत-साधना

मानसिंह तोमर का परिचय आज के संसार को ध्रुपद संगीत शैली के प्रवर्तक के रूप में अधिक है। इस संदर्भ में मानसिंह की संगीत-सेवा के विषय में लिखने से न तो मानसिंह के इतिहास के साथ ही न्याय हो सकेगा, न उसकी संगीत-साधना के साथ। इस कारण इस विषय पर हमने अन्यत्र स्वतन्त्र परिच्छेद में विचार किया है।

1. सबरस, श्री श्रीराम शर्मा द्वारा संपादित, पृ० १३१।

चित्रकला, मूर्तिकला तथा स्थापत्य

मानसिंह के पूर्व और उसके समय की चित्रकला, मूर्तिकला तथा स्थापत्य पर भी स्वतंत्र परिच्छेदों में विचार करना उचित है। उन पर आगे विस्तार से विचार किया गया है।

राजनीति और युद्ध

मानसिंह को सन् १४८७ ई० से सन् १५०४ ई० तक विना किसी आक्रमण के भय के राज्य करने का अवसर मिल गया था। मालवा में सुल्तान गयासुद्दीन राज्य कर रहा था। यह पहले लिखा जा चुका है कि उसकी नीति अपनी राज्य-सीमाओं की रक्षा तथा आनन्द-विलास में मग्न रहने की थी। सन् १५१० ई० में वह मदिरा के नशे में कालिया-देह झील में डूब कर मर गया। उसके पश्चात्, गद्दी पर उसका पुत्र महमूद द्वितीय के नाम से मालवे का सुल्तान हुआ। वह अपने अमीरों के झगड़ों में ही व्यस्त रहा और मेदिनीराय को उसने अपना प्रधान मन्त्री वना लिया।

सुल्तान हुसेनशाह शर्की पराजित होकर बंगाल भाग गया था और जौनपुर पर लोदियों का अधिकार हो गया था। मेवाड़ में राणा कुंभा की सन् १४७३ ई० में हत्या करदी गई थी। सन् १४७३ में रायमल चित्तौड़ की गद्दी पर वैठे। वे आपसी झगड़ों में और राज-दरवार के षड्यन्त्रों में फँसे रहे। सन् १५०८ ई० में मेवाड़ की गद्दी पर आसीन हुए राणा संग्रामसिंह, और उन्होंने एक बार पुनः हिन्दू राजाओं के प्रवल संगठन का सूत्रपात किया। उनको मालवा, दिल्ली एवं गुजरात, सभी से संघर्ष करना पड़ रहा था।

मानसिंह के राज्य के प्रारंभिक वर्षों में दिल्ली में वहलोल लोदी राज्य कर रहा था, और जौनपुर के शर्कियों के साथ उसके विषम में संघर्ष चल रहे थे।

वहलोल से संघर्ष

कल्याणमल्ल के संवंध वहलोल लोदी से अच्छे नहीं थे। ज्ञात होता है कि मानसिंह ने इसी नीति को अपनाया। उन्होंने यह स्पष्ट कर दिया था कि ग्वालियर दिल्ली के सुल्तानों के प्रभाव से पूर्णतः स्वतंत्र है।[1] इस क्षेत्र के राजपूत राज्यों को भी मानसिंह ने प्रोत्साहन दिया। गढ़कुंडार के बुन्देले राजा मलखानसिंह से इनसे मैत्री-संवंध थे। इटावा में राय धनद का देहांत हो चुका था। उसका पुत्र शक्तिसिंह वहलोल लोदी से विद्रोही हो गया था। धौलपुर के गढ़ पर ग्वालियर के सामन्त राजा विनायकपालदेव शासन कर रहे थे। चन्दवार के चौहान अपनी स्वतंत्र सत्ता स्थापित करने के लिए प्रयत्नशील थे।

वहलोल लोदी ने इस संगठन को तोड़ने का प्रयास प्रारम्भ किया। सवसे पहले उसने धौलपुर पर आक्रमण किया और, तारीखे-खानेजहां लोदी के अनुसार, विनायकपाल ने उसे वीस मन सोना देकर उससे पीछा छुड़ाया। धौलपुर से वहलोल अल्हनपुर गया जो उस समय मालवा के सुल्तान के अधीन था। उसने अल्हनपुर उजाड़ दिया। मालवे के

---

१. डा० रिजवी, उ० तै० का० भा०, भाग १, पृ० ३२१।

सुल्तान ने चन्देरी के हाकिम शेरखाँ को वहलोल के विरुद्ध भेजा। वहलोल दिल्ली की ओर भागा, परन्तु शेरखाँ ने उसका पीछा किया। वहुत युक्ति से तथा धन सम्पत्ति देकर वहलोल ने शेरखाँ से पीछा छुड़ाया और दिल्ली पहुँचा।

अगले वर्ष, सन् १४८८ ई० में, वहलोल लोदी ने ग्वालियर की ओर प्रस्थान किया। वहलोल लोदी पहले इटावा गया और वहाँ चौहान राजा शक्तिसिंह[1] से इटावा छीन लिया। वह फिर तँवरघार की ओर मुड़ा। उसकी योजना क्या थी, यह ज्ञात न हो सका; क्योंकि मार्ग में साकेत परगने के मितावली ग्राम[2] में १२ जुलाई सन् १४८९ ई० में उसकी मृत्यु होगई।[3]

सिकन्दर लोदी से मैत्री-संबंध

वहलोल लोदी का पुत्र निजामखाँ, १६ जुलाई १४८९ ई० को, सिकन्दर शाह के नाम से लोदी सल्तनत के सिंहासन पर आरूढ़ हुआ। एक-दो वर्ष वह अपने भाईयों से उलझता रहा। सन् १४९१ ई० के आसपास वह अपने भाई वारवक से निपट कर

---

१. मखजन में इसका नाम 'संगीतसिंह' लिखा है (इलि० एण्ड डाउ०, खण्ड ५, पृ० ९०)। तारीखे-शाही में उसका नाम 'राय सारंग' लिखा है (डा० रिजवी, उ० तै० का०भा०, भाग १, पृ० ३२१)।

२. वहलोल की मृत्यु हि० सं० ८९४ ई० में हुई। इलियट एण्ड डाउसन में इसे सन् १४८८ ई० लिखा है (खण्ड पाँच, पृ० ९१)। डा० रिजवी इसे सन् १४८९ ई० लिखते हैं (उ०तै० का० भा०, भाग १, पृ० २१०)। मखजन में मृत्यु का स्थान साकीत इलाके का मलानी ग्राम लिखा है (ई० एण्ड डा०, खण्ड ५, पृ० ७६)। श्री खलीक अहमद निजामी इस स्थान का नाम "मिलावली" लिखते हैं और उसे वे इटावा और दिल्ली के मार्ग में वतलाते हैं (क० हि० भाग ५ पृ० ६८५)। तवकाते-अकवरी (रिजवी, पृष्ठ २१०) इसे सकेत परगने का तिलावली ग्राम वतलाती है। यह ग्राम मितावली ज्ञात होता है। ग्राम तिलावली भी परगना जौरा में है (देखिए मध्यप्रदेश शासन द्वारा प्रकाशित तहसील जौरा के ग्रामों की सूची, पृष्ठ ६)। ज्ञात होता है कि मितावली का इलाका उस समय 'साकेत' कहलाता था। फरिश्ता को उत्तर भारत के भूगोल का ज्ञान नहीं था।

३. नियामतुल्ला ने तारीख-ए-खानजहां लोदी में तथा निजामुद्दीन ने तवकाते-अकवरी में लिखा है कि मानसिंह ने वहलोल को ८० लाख टंके भेंट में दिए। परन्तु मखजन में लिखा है कि सुल्तान ने ग्वालियर-विजय स्थगित कर दी (इलियट एण्ड डाउसन, खण्ड ५, पृ० ९१, टिप्पणी)। जब ग्वालियर वह पहुँचा ही नहीं, तब ८० लाख टंके की भेंट की कहानी भी असत्य है। सुल्तान दिल्ली से इटावा आया और इटावा की ओर से तँवरघार में मितावली या तिलावली पहुँचा। अहमद यादगार ने तारीखे-शाही में ८० लाख टंकों के वजाए दो हाथी और १२ घोड़े देना लिखा है (डा० रिजवी, उ० तै० का०भा०, भाग १, पृ० ३२१)। इन कथनों की संगति मिलाना वहुत कठिन नहीं है। वहलोल ग्वालियर की ओर जाते समय मार्ग में मर गया। इन विभिन्न कथनों का परीक्षण किए विना श्री निजामी ने ८० लाख टंके भेंट की कहानी को ऐतिहासिक सत्य के रूप में ग्रहण किया है (ए कम्प्रहेन्सिव हिस्ट्री आफ इण्डिया, भाग ५, पृ० ६८४)।

कालपी आया। कालपी से वह ग्वालियर की ओर अग्रसर हुआ। उसने ख्वाजा मुहम्मद फरमूली को विशेष खिलअत देकर राजा मान के पास ग्वालियर भेजा। प्रस्ताव सुलह का था, वह स्वीकार किया गया। मानसिंह ने अपने भतीजे निहालसिंह को सुल्तान के पास भेजा ताकि वह सुल्तान को बयाना तक पहुँचा आए।[1]

इस घटना के पश्चात् दस-पन्द्रह वर्ष तक मानसिंह को सिकन्दर लोदी की ओर से किसी उत्पात का सामना नहीं करना पड़ा। उस युग में शान्ति से निर्माण के लिए इतने वर्ष मिल जाना ग्वालियर के लिए बहुत बड़ी बात थी।

सिकंदर लोदी की गतिविधियाँ

सन् १४९१ से सन् १५०४ ई० तक की सिकन्दर की गतिविधियों से ग्वालियर के इतिहास का प्रत्यक्ष सम्बन्ध नहीं है। संक्षेप में, घटनाक्रम यह है कि सन् १४९१-९२ में सिकन्दर दलमऊ पहुँचा और बारबक शाह ने उसकी अधीनता स्वीकार कर ली। बारबक ने पुनः विद्रोह किया और उसे पुनः सिकंदर से पराजित होना पड़ा। सिकंदर ने उसे पुनः जौनपुर में प्रतिष्ठित कर दिया। जौनपुर इलाके की जागीर से असंतुष्ट होकर सुल्तान हुसेनशाह शर्की ने पुनः अपना भाग्य आजमाया, परन्तु वह सुल्तान सिकन्दरशाह से पराजित होकर बंगाल भाग गया और उसने गौड़-बंगाले के सुल्तान अलाउद्दीन के पास शरण ली। सन् १४९६ ई० में सिकन्दर लोदी ने बंगाल के सुल्तान पर आक्रमण किया, परन्तु सन्धि हो गई। संधि की प्रमुख शर्त यह थी कि बंगाल का सुल्तान सिकन्दर लोदी के शत्रुओं को प्रश्रय न दे। भट्टा (रीवा) और बान्धवगढ़ उस समय बघेला राजा शालिवाहन के अधीन थे। शालिवाहन ने सिकन्दर को हुसेनशाह शर्की को पराजित करने में सहायता दी थी।[2] सिकन्दर ने उसी शालिवाहन से उसकी बेटी की माँग की। इस माँग के ठुकराए जाने पर सुल्तान ने बांधवगढ़ पर आक्रमण कर दिया। सन् १४९८ ई० में सिकन्दर पराजित हुआ और जौनपुर चला गया।[3] सन् १४९९–१५०० ई० में सुल्तान सिकन्दर संभल चला गया और वहाँ चार वर्ष ठहरा। संभल से ही वह अपनी सल्तनत की व्यवस्था करता रहा।

कटुता का प्रारम्भ

जब सुल्तान सिकन्दर लोदी संभल में था, दिल्ली के हाकिम असगर ने विद्रोह कर दिया। खवासखाँ को उसके विरुद्ध भेजा गया। असगरखाँ भाग कर सफाई देने के लिए

१. नियामतुल्ला, इ० एण्ड डा०, भाग ५, पृ० ९३ तथा निजामुद्दीन, डा० रिजवी, उ० तै० का० भा०, भाग १, पृ० २१२—दोनों ने ही लिखा है कि मानसिंह ने सुल्तान की अधीनता स्वीकार कर ली। परन्तु उनमें से किसी ने यह नहीं लिखा कि मानसिंह ने खिराज या भेंट दी।

२. नियामतुल्ला, इलियट एण्ड डाउसन, खण्ड पाँच, पृष्ठ ९५।

३. तारीखे-दाऊदी, डा० रिजवी, उ० तै० का० भा०, भाग १, पृष्ठ २७३।

संभल पहुँचा, परन्तु उसे कैद कर लिया गया। लाहौर के सईदखाँ सिरवानी ने भी विद्रोह किया। तातारखाँ, मुहम्मदखाँ तथा कुछ अन्य अमीरों की निष्ठा भी सन्देहास्पद हो गई। वे सुल्तान के कोप से बचने के लिए अपनी सफाई देने संभल पहुँचे। सिकन्दर ने उन्हें अपनी सल्तनत से निकल जाने का आदेश दिया। वे संभल से भागे और उन्होंने ग्वालियर में आ कर राजा मान की शरण ली।[1] इनमें से सईदखाँ, बाबूखाँ और पटियाली के चौहान राजा गणेश, मानसिंह की शरण में ही रहे और शेष गुजरात चले गए। सुल्तान सिकन्दर को ग्वालियर से झगड़ने के लिए यह आधार मिल गया। मानसिंह ने संघर्ष टालना चाहा, और सफाई कर लेना भी ठीक समझा।

असफ़ल दौत्य

परन्तु सफाई का अर्थ, मान के लिए, सुल्तान की अधीनता स्वीकार करना न था। मानसिंह ने निहालसिंह[2] को दूत के रूप में संभल भेजा और उसके साथ, प्रथा के अनुसार, भेंटें भी भेजीं। जब सुल्तान ने निहालसिंह से कुछ बातें पूछीं तो उसने कठोर उत्तर दिए। सुल्तान ने दूत को वापस कर दिया और उस ओर चढ़ाई करने तथा किले पर अधिकार करने की धमकी दी।[3]

वे क्या प्रश्न होंगे जिनके उत्तर निहालसिंह को कठोर देने पड़े? निहालसिंह सन्धि और सफाई करने गया था, झगड़ा बढ़ाने के लिए नहीं गया था। परन्तु, साथ ही वह ग्वालियर का सम्मान वेचने के लिए भी नहीं गया था। संभावना यह है कि सिकन्दर ने शरणागत राजा गणेश और अन्य अमीरों को भगा देने का आग्रह किया हो; संभव है, बान्धवगढ़ के शालिवाहन बघेले के समान ही "वेटी" की माँग की हो। कठोर उत्तर पाना स्वाभाविक था। सुल्तान द्वारा धमकी भी वही दी गई थी जो बान्धवगढ़ को दी गई थी।

---

१. तबकाते-अकबरी, डा० रिजवी, उ० तै० का० भा०, भाग १, पृ० २१८।

२. सन् १९२८ में प्रकाशित केम्ब्रिज हिस्ट्री ऑफ इण्डिया में सर हेग ने निहालसिंह का वर्णन eunuch named Raihan के रूप में किया है (भाग ३, पृ० २४१)। डॉ० रिजवी ने तबकाते-अकबरी के इस स्थल का अनुवाद "निहाल नामक ख्वाजासरा" किया है। इलियट एण्ड डाउसन में लिखा है, "sent one of attendents, Nihal" (भाग ५, पृ० ९६)। सन् १९६० में हमीदुद्दीन साहब ने उसे केवल envoy लिखा (भारतीय विद्याभवन की दिल्ली सल्तनत, पृ० १४४)। सन् १९७० में प्रो० खलीक अहमद निजामी ने उसे फिर eunuch (हिजड़ा) बना दिया, नाम अवश्य रायहन से बदलकर निहाल रख दिया (ए कम्प्रहेन्सिव हिस्ट्री ऑफ इण्डिया, भाग ५, पृ० ६९५)। यह सब निजामुद्दीन द्वारा प्रयुक्त शब्द 'ख्वाजासरा' के प्रयोग के कारण हुआ है। परन्तु राजपूतों में हिजड़ों को राजदूत बनाने की या उन्हें अन्तःपुर के रक्षक नियुक्त करने की प्रथा नहीं थी। संभव है, तुर्कों में हिजड़े ही 'ख्वाजासरा' होते हों; परन्तु नियामतुल्ला को शर्की सल्तनत के संस्थापक 'मलिक सरवर' का ध्यान होगा, उसे राजपूतों की रीति से परिचय नहीं था।

३. तबकाते-अकबरी, पृ० २१८; नियामतुल्ला, इ० एण्ड डा०, खण्ड ५, पृ० ९७।

धौलपुर का ध्वंस

ग्वालियर-विजय की धमकी को कार्यान्वित करने के लिए पहले धौलपुर को हस्तगत करना आवश्यक था। सन् १५२४ ई०[1] के अन्त में सिकन्दर ने मेवात के हाकिम आलमखाँ तथा रापरी के हाकिम खानखाना लोहानी को आदेश भेजा कि वे बयाना के नवनियुक्त हाकिम खवासखाँ को साथ लेकर धौलपुर पर आक्रमण करें और उसे विनायकपालदेव[2] से छीन लें। धौलपुर पर भीषण युद्ध हुआ और विनायकपालदेव अत्यन्त वीरता से लड़े। उन्होंने अफगानी सेना का संहार प्रारंभ कर दिया। अफगानों के एक प्रसिद्ध और माने हुए शूरवीर अमीर शेख बब्बन को उन्होंने मार डाला। अफगानी मोर्चा शिथिल हो गया।

जब सिकन्दरशाह को यह समाचार मिला, तब वह व्याकुल होकर स्वयं बहुत बड़ी सेना लेकर धौलपुर आया। अफगानी सेना को संगठित कर धौलपुर पर पुनः आक्रमण किया गया। विनायकपाल अपने सम्बन्धियों सहित किला छोड़ कर ग्वालियर आ गए। उनकी जो सेना धौलपुर में बची थी, वह अफगानों से पराजित हो गई। सुल्तान की सेना ने भयंकर लूटमार और ध्वंसलीला प्रारम्भ कर दी। धौलपुर के घरों को नष्ट कर दिया और सात कोस तक के उपवनों तथा वृक्षों का भी मूलोच्छेदन कर दिया गया।[3] बहुत से मन्दिरों को भ्रष्ट कर दिया गया और उन्हें मस्जिदों का रूप दे दिया गया।[4]

ग्वालियर की ओर प्रस्थान और पराजय

सुल्तान सिकन्दरशाह ने धौलपुर के प्रबन्ध के लिए आदम लोदी को नियुक्त किया और स्वयं बहुत बड़ी सेना लेकर चम्बल पार कर ग्वालियर की ओर बढ़ा। वह आसन नदी के किनारे पहुँच गया और दो मास तक पड़ाव डाले रहा। उसकी सेना में रोग व्याप्त हो गया और महामारी फैल गई।

ग्वालियर सचेत था। राजकुमार विक्रमादित्य के नेतृत्व में सेना भेजी गई। विक्रमादित्य के साथ विनायकपालदेव भी थे। सुल्तान इस स्थिति में नहीं था कि युद्ध कर सकता, अतएव, उसने सन्धि करली। सन्धि की प्रधान शर्त, संभवतः, यह थी कि सुल्तान धौलपुर

---

१. नियामतुल्ला यह तिथि ६ रमजान ९०६ हिजरी (मार्च १५०१ ई०) लिखता है (इ० एण्ड डा०, खण्ड पांच, पृ० ९७)। तबकाते-अकबरी (डा० रिजवी, पृ० २१७) में लिखा है कि हिजरी ९०६ में सुल्तान संभल गया और वहाँ चार वर्ष ठहरा रहा। नियामतुल्ला की तारीख अशुद्ध ज्ञात होती है।

२. नियामतुल्ला ने यह नाम मानिकदेव दिया है (इ० एण्ड डा०, खंड ५, पृ० ९७); तबकाते-अकबरी में विनायकदेव नाम है (रि०, पृ० २१९)—नियामतुल्ला ने आगे यह नाम राय विनायकदेव लिखा है (इ० एण्ड डा०, भाग ५, पृ० ९८)। शुद्ध नाम विनायकपालदेव ही है। प्रो० निजामी भी इसे 'मानिकदेव' लिखते हैं, जो ठीक नहीं है (क० हि०, भाग ५, पृ० ६९५)।

३. तबकाते-अकबरी, डॉ० रिजवी, उ० तै० का० भा०, भाग १, पृ० २१९; नियामतुल्ला, इ० एण्ड डा०, भाग ५, पृ० ९७।

४. तारीखे-दाऊदी, डा० रिजवी, पृ० २७७।

वापस कर दे। विक्रमादित्य धौलपुर तक गया। सिकन्दर ने धौलपुर वापस कर दिया और विक्रमादित्य को अनेक घोड़े तथा अन्य भेंटें दीं।

[इस सम्बन्ध में निजामुद्दीन तथा नियामतुल्ला में जो विवरण दिए गए हैं, वे अत्यन्त अविश्वसनीय और अप्राकृतिक हैं। उसके अनुसार जब सुल्तान की सेना में महामारी फैली हुई थी, तभी मानसिंह सुल्तान की सेवा में उपस्थित हुआ और उसने संधि की याचना की; तथा सईदखाँ, बाबूखाँ तथा राय गणेश को, जिन्होंने सुल्तान के पास से भाग कर उसके पास शरण ली थी, उसने अपने किले से निकाल दिया; फिर अपने ज्येष्ठ पुत्र विक्रमादित्य को सुल्तान की सेवा में भेजा। सुल्तान ने उसे घोड़े और खिलअतें देकर वापस जाने की अनुमति दी और आगरा चला गया। जब वह धौलपुर पहुँचा तो उसने किला विनायकपालदेव को दे दिया।

स्वभाव से ही क्रूर सिकन्दर ने भयभीत (?) मानसिंह पर इतनी कृपा क्यों की? जब मानसिंह को राय गणेश आदि को भगा देने पर बाध्य किया जा सकता था, तब धौलपुर क्यों लौटा दिया गया? सुल्तान की महामारी से पीड़ित सेना से ही जब मान इतना भयभीत हो गया, तब वह आगे ग्वालियर गढ़ कैसे हाथ में रख सका और जौरा पर कैसे सुल्तान को पराजित कर सका? ये प्रश्न उत्तर माँगते हैं। इनका उत्तर यही है कि सिकन्दर ने विक्रमादित्य और विनायकपालदेव के आक्रमण से भयभीत होकर कठिनाई से जीता हुआ धौलपुर का गढ़ उन्हें लौटा दिया। सर हेग ने इन मध्ययुगीन मुस्लिम इतिहास लेखकों के इस कथन को सन्देहास्पद माना है (कैं० हि०, भाग ३, पृष्ठ २४२)। श्री हमीदुद्दीन ने उसका परीक्षण करना उचित नहीं समझा (विद्याभवन की दिल्ली सल्तनत, पृ० १४८); तथापि प्रो० निजामी ने निजामुद्दीन और नियामतुल्ला का समर्थन किया है (ए कम्प्रेहन्सिव हिस्ट्री आफ इण्डिया भाग ५, पृ० ६९५)।]

आगरा में राजधानी

इन पराजयों से सिकन्दर त्रस्त हो गया। उसकी सल्तनत के दक्षिणी भाग के अमीर तथा ग्वालियर के तोमर उसे विशेष चिन्ता के कारण बन गए थे। वह कुछ समय बयाना रहा। परन्तु, वहाँ से वह अपनी सल्तनत के उत्तरी और पूर्वी भाग से दूर पड़ जाता था। निहालसिंह के माध्यम से ग्वालियर को दी गई धमकी थोथी सिद्ध हो रही थी, और गोपाचल का उन्नत ललाट उसे कचोट रहा था। भीषण रक्तपात के पश्चात् जीता गया धौलपुर भी खोना पड़ा था। अतएव, ग्वालियर-विजय की आकांक्षा से उसने नयी राजधानी के निर्माण का विचार किया। सन् १५०४ ई० में उसने आगरा में नवीन राजधानी स्थापित की। वहाँ उसने अपना सैन्य केन्द्र तथा खजाना रखा।[1]

---

१. समकालीन और पूर्ववर्ती जैन ग्रन्थों से यह ज्ञात होता है कि सिकन्दर लोदी ने जहाँ राजधानी बनाई थी वहाँ 'आगरा' नामक नगर पहले ही बसा हुआ था। जहाँ आजकल लोदी टीला है, वहाँ कोई प्राचीन गढ़ था जिसका एक अंश 'बादल गढ़' कहा जाता था।

पुनः धौलपुर अभियान

वर्षा ऋतु आगरा में बिताकर सिकन्दर ने फरवरी १५०५ (रमजान ९१० हि०) में पुनः ग्वालियर-विजय की आकांक्षा से सैनिक अभियान प्रारम्भ किया। उसने धौलपुर के पास छावनी डालदी और वहाँ वह एक मास तक ठहरा रहा। उसने अपनी कुछ सेना ग्वालियर तथा मुंदरायल (मंदिरालय) के ग्रामों में लूट-मार के लिए भेजी और स्वयं मुंदरायल के किले को घेर लिया। मुंदरायल चम्बल के पश्चिमी तट पर दो मील पर गोल पहाड़ी पर स्थित था। (कारौली मुंदरायल से १२ मील दूर है।) किलेवालों ने आत्मसमर्पण कर दिया। सुल्तान ने मन्दिरालय के मन्दिरों को भ्रष्ट कर उन्हें मस्जिदों में बदल दिया, जनता को बन्दी बना लिया एवं उद्यान तथा भवन नष्ट-भ्रष्ट कर दिए। इस प्राचीन तीर्थ स्थान को नष्ट-भ्रष्ट कर सुल्तान ने धौलपुर के गढ़ पर आक्रमण कर दिया। विनायकपालदेव के हाथ से गढ़ निकल गया। सुल्तान ने धौलपुर से आगरा तक किले-बन्दी कराई और फिर आगरा लौट गया।

ग्वालियर पर आक्रमण—जौरा-अलापुर युद्ध

वर्षा के प्रारम्भ में ही ६ जुलाई १५०५ ई० को आगरा में बहुत भयंकर भूकम्प आया। नवनिर्मित राजधानी के अनेक भवन ध्वस्त हो गए। परन्तु सिकन्दर के हृदय में ग्वालियर-विजय की आकांक्षा उससे भी अधिक भयंकर रूप में उथल-पुथल मचा रही थी। वर्षा समाप्त होते ही उसने ग्वालियर-विजय के लिए प्रस्थान किया। डेढ़ मास तक वह चम्बल नदी के किनारे धौलपुर में पड़ाव किए रहा। कुछ अमीरों को पडाव पर छोड़कर वह जेहाद (इस्लाम के विस्तार हेतु धर्मयुद्ध) के लिए चल पड़ा।[1] उसकी सेना मार्ग में निरीह जनता की या तो हत्या कर देती थी या बन्दी बना लेती थी। अधिकांश लोग जंगलों में भाग गए। इस प्रकार विनाश-लीला करती हुई सुल्तान की सेना अलापुर पहुँच गई। राजा मान ने भी तैयारी की। उसकी सेना पास ही जौरा में जम गई। सिकन्दर की सेना की रसद काट दी गई। सुल्तान के सेनापति आजम हुमायूं ने तोमर सेना पर आक्रमण किया। उसे बुरी तरह पराजित होना पड़ा। बची-खुची अस्त-व्यस्त सेना के साथ आजम हुमायूं सुल्तान के पास पहुँच गया। सुल्तान की सेना को इस प्रकार व्यथित कर मानसिंह की सेना ने उस पर आक्रमण कर दिया। सुल्तान पराजित होकर धौलपुर की ओर भागा। औधखाँ और खानेजहां सिकन्दर के प्राण बचाने में सफल हुए। सिकन्दर धौलपुर पहुँचा। भविष्य के आक्रमण की तैयारी के लिए उसने अपने अनेक अमीर धौलपुर में ही छोड़ दिए और स्वयं आगरा लौट गया।

तबकाते-अकबरी का इस युद्ध का वर्णन अत्यन्त मनोरंजक है। "सुल्तान सैर करता हुआ ग्वालियर के अधीन इशावर (अलापुर) ग्राम में पहुँचा तो वहाँ सेना की

1. तबकाते-अकबरी, डा० रिजवी, उ० तै० का० भा०, भाग 1, पृ० २१९। निजामुद्दीन, इ० एण्ड डा० खंड पाँच, पृ० ८१।

रक्षा हेतु सेना का अग्रभाग १० कोस आगे भेजा । प्रत्येक दिन पहरा दिया जाता था और शत्रु की सेना से सतर्क रहा जाता था ।" "ग्वालियर के राय की सेना सुल्तान की वापसी के समय छिपने के स्थान से वाहर निकली और घोर युद्ध हुआ"—"राजपूत पराजित हुए ।"[1] घटनाक्रम स्पष्ट है ।

सुल्तान की परिवर्तित रणनीति

सिकन्दर को अव विश्वास होगया कि ग्वालियर से सीधी टक्कर में उस पर विजय करने की उसमें सामर्थ्य नहीं है । अतएव उसने तोमरों के राज्य को चारों ओर से घेरना प्रारम्भ किया ।

पवाया पर किले का निर्माण

हिजरी सन् ९११ (सन् १५०६ ई०) के पवाया के शिलालेख से यह स्पष्ट है कि सिकन्दर के वजीर सफदरखाँ ने यह किला बनवाया और उसका नाम अस्कन्दराबाद रखा ।[2] इस घटना का विवरण मुस्लिम इतिहास लेखकों ने नहीं दिया है । तवकाते-अकवरी आदि में हि० सन् ९१४ में सिकन्दर के नरवर-विजय के पश्चात पारा (सिपरा) के किनारे पहुँचने का उल्लेख है । वहाँ उसने इस किले को और सुदृढ़ किया था ।

पवाया, पार्वती (पारा) और सिन्धु के संगम पर स्थित, अत्यन्त प्राचीन नगरी है । इसका नाम पद्मावती था और वह कभी प्रतापी नागवंश की राजधानी थी । मथुरा, कान्तिपुरी (कुतवार) और पद्मावती (पवाया) के नवनाग इतिहास-प्रसिद्ध हैं ।[3] पद्मावती नष्ट होगई है और उसके स्थान पर रह गया है पवाया, जहाँ पंवार राजपूतों का अधिकार था । वे तोमरों के सम्वन्धी भी थे और उनके समर्थक भी । सिकन्दर की सेना ने पवाया को सन् १५०६ ई० में ले लिया और पारा तथा सिन्धु के संगम पर स्थित प्राचीन गढ़ पर कब्जा कर लिया ।

पवाया में इस किले के वनाए जाने का इतिहास अज्ञात है, इस तथ्य की साक्षी केवल उक्त शिलालेख है । ज्ञात यह होता है कि नरवर गढ़ पर अधिकार करने के प्रयोजन से सिकन्दर को कच्छपों (काछियों) ने प्रेरित किया कि वह पवाया को अपने अधीन कर ले । उनके माध्यम से ही सिकन्दर को इस सामरिक महत्व के स्थान को प्राप्त करने में सुगमता हुई होगी । परन्तु सफदरखाँ ने कोई नया गढ़ वनवाया हो, यह सम्भव नहीं है । यह भी सम्भव नही है कि पवाया का प्राचीन गढ़ युद्ध करके जीता गया था । वह

---

१. तवकाते-अकवरी. डा० रिजवी, उ० तै० का० भा०, भाग १, पृ० २२० । नियामतुल्ला ने आजम हुमायूं का चटापुर (अलापुर) पर पराजित होना लिखा है और फिर लिखा है कि बाद में जव सुल्तान की सेना वहाँ पहुँची, राजपूत भाग गए । प्रो० निजामी अलापुर को 'चरावर' मानते हैं, तथा उसके समर्थन के लिए अबुल फजल उद्धृत करते हैं (ए कम्प्रहेन्सिव हिस्ट्री आफ इण्डिया, भाग ५, पृ० ६९४) । यह स्थान अलापुर है, आज भी विद्यमान है, इब्नवत्तूता के समय में भी था ।

२. ग्वालियर राज्य के अभिलेख, क्र० ५६६ ।

३. लेखक का 'मध्यभारत का इतिहास', भाग १, और 'त्रिपुरी' देखें ।

निश्चय ही किसी षड्यंत्र द्वारा हस्तगत किया गया था। प्राचीन गढ़ पर अपना शिलालेख जमाकर सफदरखाँ ने नवीन गढ़ के निर्माण का श्रेय लिया है। यदि वहाँ युद्ध हुआ होता और 'सुल्तान की फतह' हुई होती तब अवश्य ही उसका उल्लेख मध्ययुगीन मुस्लिम इतिहास लेखक करते।

अवंतगढ़ का साका

फारसी इतिहास लेखकों ने 'उदन्तगिर', 'अवन्तगढ़' या 'हनवन्तगढ़' के युद्ध का वर्णन किया है। श्री कनिंघम ने उसे पनिहार की घाटी पर स्थित हिम्मतगढ़ से अभिन्न माना है और उसका विशद वर्णन किया है।[1] परन्तु केप्टन लुआर्ड ने उसे उस उन्तगिर से अभिन्न बतलाया है जो आज के मानचित्रों में (पुराने) श्योपुर जिले की सीमा पर २६.७ उत्तर तथा ७६.५६ पूर्व में स्थित है।[2] ग्वालियर के तोमरों का राज्य वर्तमान श्योपुर जिले में चम्बल के दक्षिणी किनारे तक कीर्तिसिंह तोमर के समय तक अवश्य ही फैल गया था, ऐसा उसके समय के शिलालेखों से ज्ञात होता है। विक्रम संवत् १५३२ के बघेर-भित्ति-लेख से यह प्रकट है कि वहाँ महाराजाधिराज कीर्तिसिंहदेव का सामन्त हरिश्चन्द्र शासन कर रहा था।[3] यह बघेर भी उन्तगिर के निकट ही है। बघेर के सामन्त का गढ़ यही अवन्तगढ़ होगा। इसी हरिश्चंद्र का वंशज था मानसिंहकालीन राय डूंगर।

वर्षा ऋतु के उपरान्त दिसम्बर १५०६-७ (हिजरी ९१२) में सिकन्दर लोदी ने अवन्तगढ़ को हस्तगत करने की योजना बनाई। वह उस ओर चला। सुल्तान स्वयं चम्बल के घाट पर रुक गया। गढ़ के निरीक्षण के लिए उसने कई हजार सवार और सौ हाथियों के साथ ईमादखाँ फरमूली और मुजाहिदखाँ को रवाना किया और स्वयं पीछे रह गया।[4]

अवन्तगढ़ पर मानसिंह का सामन्त डूंगर प्रशासक था। मानसिंह और राय डूंगर को इस आक्रमण की सूचना मिली। ज्ञात यह होता है कि अवन्तगढ़ की प्रतिरक्षा सुदृढ़ करने के साथ-साथ मानसिंह ने मुजाहिदखाँ से चर्चा की कि वह सुल्तान को इस बात के लिए समझाए कि वह अवन्तगढ़-आक्रमण की योजना का परित्याग कर दे।[5] यह चर्चा अन्त में घातक ही सिद्ध हुई। राय डूंगर पर उसका अच्छा प्रभाव नहीं पड़ा। उसे यह सन्देह होना स्वाभाविक था कि अवन्तगढ़ में उसके नष्ट होजाने की मानसिंह को चिन्ता नहीं है। राय डूंगर अपने कुछ साथियों के साथ सुल्तान से जा मिला और मुसलमान हो गया। उसका नया नाम 'हुसेन' हुआ। सिकन्दर ने उसे आश्वस्त किया कि अवन्तगढ़ जीतने के पश्चात् उसे उसका प्रशासक बना दिया जाएगा।

---

१. आ० सर्वे रिपोर्ट, भाग २, पृ० ३२८।
२. ग्वालियर स्टेट का गजेटियर (हिन्दी अनुवाद); पृ० ३४५।
३. ग्वा० रा० अभि०, क्र० ३१५।
४. नियामतुल्ला, इ० एण्ड डा०, खण्ड ५, पृ० १००।
५. वही, पृ० १०१।

सिकन्दर वहुत वड़ी सेना लेकर स्वयं अवन्तगढ़ की ओर चला । गढ़ के पास शाही सेना ने डेरा डाला । शाही ज्योतिषियों ने शुभ मुहूर्त निकाला और सिकन्दर ने गढ़ पर आक्रमण प्रारम्भ किया । उसने आदेश दिया, "समस्त सेना युद्ध के लिए तैयार हो जाए और सब लोग सशस्त्र होकर किले की विजय का प्रयत्न प्रारम्भ कर दें तथा किले को छीन लेने में अपनी समस्त शक्ति लगा दें ।"

राय डूंगर के स्थान पर मानसिंह ने क्या प्रवन्ध किया, यह ज्ञात नहीं । परन्तु गढ़ की रक्षा की समुचित व्यवस्था की गई थी, इसमें सन्देह नहीं; क्योंकि प्रतिरोध अत्यन्त कठोर हुआ था ।

सुल्तान के "रक्त-पिपासु सैनिक चीटियों और टिड्डियों की भांति दुर्ग की प्राचीर पर छागए और उन्होंने वड़ा साहस दिखाया ।"[1] दोनों ओर से भयंकर युद्ध हुआ । प्रारम्भ में ज्ञात हुआ कि सुल्तान की सेना सफल न हो सकेगी । गढ़ के भीतर से उसके रक्षक सैनिकों ने इन 'चींटियों और टिड्डियों की संख्यावाले' सुल्तानी सैनिकों का विनाश प्रारम्भ कर दिया । सम्भवत: वाणों, गरम तेल, पानी और पत्थरों से उनका सफाया होने लगा । "फिर सहसा ईश्वर की कृपा से विजय वायु सुल्तान के झण्डों की ओर चलने लगी ।" सुल्तान की ओर से मलिक अलाउद्दीन गढ़ के मुख्य द्वार पर जूझ रहा था ।[2] निजामुद्दीन लिखते हैं कि जिस ओर अलाउद्दीन युद्ध कर रहा था उस ओर किले की दीवारों में दरारें पड़ गईं; और नियामतुल्ला साहव लिखते हैं कि दुर्ग का फाटक वलपूर्वक खोल दिया गया । सम्भव यह है कि राय डूंगर (अव हुसेन) द्वारा वतलाई गई युक्ति से गढ़ का द्वार खोला गया हो ।

मलिक अलाउद्दीन ने सेना सहित गढ़ में प्रवेश करना चाहा । गढ़ के रक्षकों ने अव जवरदस्त सामना किया । अलाउद्दीन से उन्होंने रक्तपात वन्द करने का भी आग्रह किया । परन्तु वह इसके लिए सहमत न हुआ । अव युद्ध तलवारों और तीरों का था । एक तीर मलिक अलाउद्दीन की आँख में लगा और वह अंधा होगया । सुल्तान की 'टिड्डियों और चीटियों की संख्या' वाले सैनिक गढ़ की सीमित संख्या के सैनिकों पर टूट पड़े । राजपूतों ने अव गढ़ के प्रत्येक घर को गढ़ वना लिया और जीवित रहते अफगानों को गढ़ न लेने देने का निश्चय किया ।

राजपूतों की स्त्रियाँ या तो आग जलाकर अपने आपको भस्म करने लगीं या राजपूतों ने ही उनका वध कर दिया और फिर स्वयं तलवार लेकर अफगानों से जूझ पड़े । जीवित रहते उन्होंने अफगानों को अपने घरों में घुसने न दिया और जव वे मारे गए तव उनको घरों में शवों और राख के ढेर के अतिरिक्त सुल्तान के सैनिकों को कुछ न मिल सका ।

गढ़ के रक्षक राजपूतों की जीवनलीला की समाप्ति के साथ उनके शौर्य का धूम्र

---

१. नियामतुल्ला, इ० एण्ड डा०, खण्ड ५, पृ० १०० ।
२. वही, पृ० १०१ ।

शेष रह गया था, जो कुछ शताब्दियों में तिरोहित होगया। सुल्तान की फतह हुई। गढ़ जीत लिया गया। सुल्तान ने नमाज पढ़ी और अब्दुल कादिर वदायूंनी के अनुसार, बचे-खुचे सेवकों, सभी बच्चों और नागरिकों को, "तलवार के घाट उतार दिया गया और कुछ को परिवार सहित भून डाला गया।" असिधारी युद्ध में समाप्त हुए, शेष का निराकरण इस प्रकार किया गया।

सुल्तान ने गढ़ के समस्त मन्दिरों को भ्रष्ट कर दिया और उनके स्थान पर मस्जिदों का निर्माण करया।

गढ़ मियां मकन और मुजाहिद के प्रबन्ध में सौंप दिया गया। राजा मान से रिश्वत लेने के अपराध में बाद में मुजाहिद को बन्दी बनाने का आदेश दिया गया। मकन को भी वापस बुला लिया गया और हुसैन (राय डूंगर) को गढ़ का प्रबन्ध सौंपा गया।

यह प्रबन्ध कर सिकन्दर आगरा लौटने लगा। परन्तु, वह मानसिंह के आक्रमण के भय से भयभीत हुआ और आगरा के लिए सीधे मार्ग से न जाकर किसी औघट-घाट से चला।[1] उसने मुहर्रम ९१३ ई० (मई-जून १५०७ ई०) में आगरा की ओर प्रस्थान किया। मार्ग संकीर्ण तथा असमतल होने के कारण लोगों ने उसे पार करने की प्रतीक्षा में पड़ाव किया। बहुत से लोग जल के अभाव, भीड़ और पशुओं की अधिकता के कारण नष्ट होगए। उस दिन एक गिलास पानी का मूल्य १५ टंके तक पहुँच गया। बहुत से लोग तृष्णा के कारण इतना जल पी लेते थे कि उनकी मृत्यु हो जाती थी। जब सुल्तान के आदेशानुसार लाशों की गणना की गई तो ८०० लाशें मिलीं।[2]

परन्तु, अवंतगढ़ बहुत समय तक सुल्तान के अधीन नहीं रह सका। हुसैन (डूंगर) मानसिंह से भयभीत हुआ। उसने सिकन्दर से सहायता की याचना की। सिकन्दर ने खान-खाना फरमूली के पुत्र सुलेमान को आदेश दिया कि वह बहुत बड़ी सेना लेकर हुसैन की सहायता के लिए अवन्तगढ़ जाए। सुलेमान विपत्ति में नहीं पड़ना चाहता था। उसने यह कहकर टाल दिया कि वह सुल्तान से दूर नहीं जाना चाहता।

नरवर गढ़ का युद्ध

डूंगरेन्द्रसिंह के सन् १४३७ ई० के नरवर गढ़ के आक्रमण के पश्चात् नरवर का इतिहास हमें अज्ञात ही है। मध्ययुग के फ़ारसी के इतिहासों से यह विवरण मिलता है कि डूंगरेन्द्र

---

१. कैम्ब्रिज हिस्ट्री आफ इण्डिया, भाग ३, पृ० २४३; सर हेग का कहना है कि अवन्तगढ़ से आगरा के सामान्य मार्ग में जल का अभाव नहीं है। इस जलहीन मार्ग का अनुसरण मान के भय के कारण ही किया गया था।

२. डा० रिजवी, उत्तर तैमूर कालीन भारत, भाग १, पृ० २२१; इलियट एण्ड डाउसन, भाग ५, पृ० १७२। यह परम आश्चर्य की बात है कि तारीखे-दाऊदी में यह दुर्दशा १५०६ ई० में, अर्थात् अवन्तगढ़ की विजय के पूर्व होना लिखा है, (रिजवी, उ० तैं० का० भारत, भाग १, पृ० २७८; इलियट एण्ड डाउसन, भाग ४ पृ० ४६६)।

सिंह ने नरवर गढ़ पर आक्रमण अवश्य किया था, तथापि मालवा के खलजियों ने उस पर अधिकार कर लिया था। हिजरी सन् ९१३ (१५०७-८ ई०) में सिकन्दर लोदी के आक्रमण का विवरण देते समय मध्ययुग के इन इतिहासकारों ने 'मालवा के अधीन' नरवर का उल्लेख किया है।[1] १४३७ ई० से १५०७ ई० तक नरवर में कोई ऐसा शिलालेख भी नहीं मिला है जिसमें किसी के राज्य का उल्लेख हो। जैन मन्दिर का एक लेख मिला भी है; परन्तु उसमें किसी राजा का उल्लेख नहीं है। इब्नबत्तूता ने नरवर का जो विवरण दिया है उससे ज्ञात होता है कि सुल्तानों की सेना केवल गढ़ पर रहती थी, शेष सब नगर में हिन्दू बसे हुए थे। डूंगरेन्द्रसिंह और कीर्तिसिंह के राज्यकाल के ऐसे उल्लेख अवश्य प्राप्त हुए हैं जिनसे ग्वालियर, नरवर और सोनागिर के जैन साधुओं के निकट सम्पर्क के प्रमाण मिलते हैं। नरवर के पास करेहरा को मध्ययुगीन मुस्लिम इतिहास लेखकों ने कछवारा कहा है।

नरवर के आसपास इस समय कछवाह राजपूत रहते थे या नहीं, इस प्रश्न पर बहुत विवाद हुआ है। तबकाते-अकबरी में चन्देरी के सन्दर्भ में 'जगदसेन' कछवाहा का स्पष्ट उल्लेख है।[2] यह जगदसेन 'जगतसिंह' हो सकता है, परन्तु 'कछवाहा' शब्द स्पष्ट है। फरिश्ता उसे राय डगरसिन कछवाहा लिखता है।[3] श्री बृजरत्नदास ने इस जगदसेन या उगदसिन को 'राजसिंह' कछवाहा माना है।[4] मध्यकालीन इतिहास के प्रसिद्ध विद्वान डा० रघुवीरसिंह ने डा० बृजरत्नदास की इस टिप्पणी को भ्रामक बतलाया है। ज्ञात होता है कि जगतसिंह 'कछवाहा' न होकर 'कच्छप' या 'काछी' था। सिकन्दर के नरवर आक्रमण का जो विवरण प्राप्त होता है उससे ज्ञात होता है कि उसने वहाँ अवन्तगढ़ के समान नरमेध नहीं किया था; इससे यह अनुमान होता है कि वहाँ जो कच्छप या काछी बसे हुए थे उनसे सिकन्दर अप्रसन्न नहीं था।

निर्णायक साक्ष्य के अभाव में हम अभी किसी परिणाम पर नहीं पहुँच सके हैं। परन्तु इतना स्पष्ट है कि सिकन्दर लोदी द्वारा नरवर पर आक्रमण ग्वालियर के तोमरों के राज्य को घेरने के उद्देश्य से किया गया था।[5] सम्भावना यह भी है कि नरवर गढ़ का स्वामी या हाकिम मानसिंह की अधीनता मानने लगा हो, और इसी कारण सिकन्दर लोदी ने यह आक्रमण किया हो।

---

१. डा० रिजवी, उ० तै० का० भारत, भाग १, पृ० २२२।

२. वही, पृष्ठ २२५।

३. इलि० एण्ड डा०, भाग ४, पृ० ४६७ (पाद टिप्पणी)।

४. मआसिर-उल-उमरा, भाग १, पृ० ३३९ (पाद टिप्पणी)।

५. सर हेग ने लिखा है कि यद्यपि साधारणतः नरवर मालवा के राज्य में था, परन्तु व्यवहार में वह ग्वालियर की अधीनता मानता था (केम्ब्रिज हिस्ट्री आफ इण्डिया भाग ३, पृ० २४३)।

सुल्तान ने अपने भाई, कालपी के हाकिम, जलालखाँ को सेना लेकर नरवर भेजा। कुछ दिनों उपरान्त सुल्तान स्वयं वहाँ पहुँच गया। सुल्तान की अगवानी के उपलक्ष्य में जलालखाँ ने अपनी सेना का प्रदर्शन किया। सुल्तान को भय हुआ कि इतनी विशाल और सुदृढ़ सेना से तो जलालखाँ उसको ही पराजित कर देगा। जलालखाँ को बन्दी बनाकर उसने अवन्तगढ़ में बन्द कर दिया। अब सुल्तान ने स्वयं नरवर गढ़ पर आक्रमण किया। उसके सैनिक नित्यप्रति युद्ध के लिए जाते और मारे जाते थे। बहुत अधिक सैनिक नष्ट कराकर भी सुल्तान नरवर गढ़ पर अधिकार न कर सका। वह गढ़ को घेरकर जम गया। एक वर्ष तक घेरा चलता रहा। किले में पानी और अन्न, दोनों का अभाव होगया; अतः किले के लोगों ने आत्म-समर्पण कर दिया। सुल्तान की सेना ने गढ़ में प्रवेश किया, मन्दिरों को ध्वस्त किया और उनके स्थान पर मस्जिदों का निर्माण कराया। आलिमों और इस्लाम के विद्यार्थियों को वहाँ बसा दिया तथा उन्हें वजीफे एवं भूमि प्रदान की गई। सुल्तान छह मास और नरवर गढ़ पर ठहरा। परन्तु ज्ञात होता है, उसने नरवर का गढ़ पूर्णतः ध्वस्त कर दिया।[1]

नरवर गढ़ की विजय की तारीख नियामतुल्ला ने हि० सन् ९१३ दी है। तबकाते-अकबरी के अनुसार सिकंदर ने नरवर गढ़ की ओर प्रस्थान ही हि० सं० ९१३ में किया था। एक वर्ष नरवर गढ़ की विजय में लगा। नरवर की मस्जिद के शिलालेख में यह स्पष्ट उल्लेख है कि हिजरी सन् ९१२ में सिकंदर ने किले को जीत कर वह मस्जिद बनवाई।[2] मस्जिद के शिलालेख की तिथि अशुद्ध है।

पवाया में पड़ाव और वापसी

२० दिसम्बर १५०८ ई० (हिजरी ९१४) को सिकंदर नरवर से चला और पारा (पार्वती) के किनारे पड़ाव डाला। यहाँ उसने सोचा कि नरवर गढ़ बहुत सुदृढ़ है, यदि वह हाथ से निकल गया तब ग्वालियर-विजय की योजना में बाधा उत्पन्न होगी। अतएव, उसने अस्कन्दराबाद के किले को और अधिक सुदृढ़ किया तथा उसके चारों ओर एक और घेरा बनवा दिया।[3]

लौटते समय सुल्तान लहार के मार्ग से गया। लहार (लहायर) में वह एक मास पड़ाव किए रहा। वहाँ उससे कुतुबखाँ की बेगम नेमत खातून मिली और उसके कहने

१. डा० रिजवी, उ० तै० का० भा०, भाग १, पृ० २७९।

२. ग्वालियर राज्य के अभिलेख, क्र० ५६७।

३. मध्यकालीन इतिहास लेखकों के इस घटना के विवरण पर्याप्त भ्रान्तिपूर्ण हैं। उनसे यह ज्ञात होता है कि सिपरा (पारा, पार्वती) के पड़ाव में सुल्तान ने यह सोचा कि नरवर के किले को सुदृढ़ बनाया जाए और उसने उसके चारों ओर एक और गढ़ बना दिया। पार्वती (पारा) नरवर से दूर है। नरवर गढ़ के चारों ओर कोई दूसरा किला नहीं है। इस प्रकार की रचना पवाया के किले में है। साथ ही तारीखे-दाऊदी में यह लिखा है कि "उसने नरवर के गढ़ को नष्ट कर दिया ताकि वह शत्रु को प्राप्त न होसके।"

से उसने जलालखाँ को अवंतगढ़ से छुड़ाकर पुनः कालपी का हाकिम बना दिया। ३० अप्रैल १५०९ ई० को सुल्तान हथिकांत पहुँचा। वहाँ हिंदुओं की हत्या और लूटमार करता हुआ वह आगरा पहुँच गया।

इसके पश्चात् सिकंदर ने ग्वालियर की ओर मानसिंह के जीवित रहते आक्रमण नहीं किया।

मानसिंह के युद्धों के विवरण से यह प्रकट होता है कि उसे केवल आत्मरक्षा के लिए तथा अपने सिद्धान्तों की रक्षा के लिए युद्ध करना पड़ा था। सिकन्दर लोदी से उसका विग्रह केवल कुछ तुर्क और अफगान अमीरों को शरण देने के कारण हुआ था। गणेश चौहान को प्रश्रय देने के कारण भी सिकन्दर मान से रुष्ट होगया था। परन्तु संघर्ष का वास्तविक कारण सिकन्दर की महत्वाकांक्षा थी। उसका साम्राज्य लाहौर से बंगाल तक फैल चुका था। दक्षिण की ओर बढ़ने के लिए, तोमरों का गोपाचल उसके मार्ग में सबसे बड़ी बाधा था। परन्तु, अपने विशाल साम्राज्य की असीम सैनिक शक्ति के होते हुए भी वह मानसिंह के शौर्य से भयभीत ही रहा, और जब भी उसने सीधी टक्कर ली, वह मानसिंह से पराजित हुआ। यद्यपि उसने तोमर राज्य को पश्चिम और उत्तर में घेर लिया था तथा पवाया और नरवर पर भी अधिकार कर लिया था, तथापि इतना शक्तिशाली होते हुए भी वह मानसिंह का केवल धौलपुर का ही गढ़ ले सका। अवन्तगढ़ जीतकर भी उसे छोड़ देना पड़ा। संगीत, साहित्य, स्थापत्य और चित्रकला की साधना में निरत रहने वाला मान अपनी तलवार की दृढ़ता का भी अद्‌भुत परिचय दे सका।

मानसिंह का व्यक्तित्व और चरित्र

ग्वालियर के तोमर राजाओं में महाराज मानसिंह ही ऐसे हैं जिनकी प्रशस्तियाँ उनके समकालीन लेखकों ने एवं पश्चात्‌वर्ती इतिहास लेखकों ने अपनी परिस्थितियों की सीमा में अत्यन्त सटीक रूप से लिखी हैं।

ख्वाजा निजामुद्दीन ने तबकाते-अकबरी में राजा मान के विषय में लिखा है कि वह "वीरता एवं दान-पुण्य में अद्वितीय था।" "वह सदा सुल्तान से लोहा लेता रहा।" ख्वाजा निजामुद्दीन अकबर का बख्शी था।

जहाँगीर के वाकियानवीस नियामतुल्ला ने राजा मान को 'केवल बाह्य रूप से हिन्दू, परन्तु हृदय से मुसलमान' लिखा है क्योंकि उसने कभी किसी व्यक्ति (मुसलमान) के प्रति हिंसा का प्रयोग नहीं किया।

जहाँगीर के राज्यकाल के ही एक अन्य इतिहास लेखक अब्दुल्ला ने तारीखे-दाऊदी में लिखा है, 'उन्हीं दिनों ग्वालियर का राजा मान, जो वर्षों से दिल्ली के सुल्तानों से टक्कर ले रहा था, नरक को पहुँच चुका था।'

अहमद यादगार की तारीखे-शाही की रचना भी जहाँगीर के राज्यकाल में हुई थी। उसमें मानसिंह के विषय में लिखा है, "संयोग से राजा मान, ग्वालियर का वली, जो वर्षों से सुल्तान से युद्ध कर रहा था, नरक को प्राप्त हो गया था।"

औरंगजेब के सूबेदार फकीरुल्ला सैफखाँ ने मानसिंह के विषय में लिखा है, "राजा मान ग्वालियर का शासक था और उसका संगीत शास्त्र का ज्ञान तथा कीर्ति अनुपम थी।" फकीरुल्ला ने यह भी लिखा है कि "सावंती, लीलावती षाढ़व, मानशाही, कल्याण इन रागों के गीत स्वयं राजा मानसिंह ने लिखे थे।" आईने-अकबरी में यह भी उल्लेख है कि मानसिंह ने मानकुतूहल की रचना कराने के अतिरिक्त ऐसे तीन गीत संग्रहों का संकलन कराया था जो समाज के विभिन्न रुचियों के वर्गों के लिए उपयोगी हों।

अब्दुल्ला और यादगार की नरक-स्वर्ग की व्याख्या पर दृष्टिपात न करके यह निःसंकोच रूप से कहा जा सकता है कि पराए घर की आँखों को भी मान की कीर्ति के प्रकाश ने चकाचौंध कर दिया था।

सबसे विचित्र बात नियामतुल्ला ने कही है। मानसिंह ने युद्ध-भूमि के अतिरिक्त कभी किसी मुसलमान की, केवल मुसलमान होने के कारण, हत्या नहीं की। वह हृदय से मुसलमान था, इसका प्रमाण तो नहीं मिला; परन्तु उसने अनेक मुस्लिम अमीरों, शाहजादों और शेखों को संकट मोल लेकर भी शरण दी, ये तथ्य इन्हीं इतिहास लेखकों ने अवश्य लिखे हैं।

मित्रसेन ने रोहिताश्व गढ़ के शिलालेख में अपने इस महान् पूर्वज की महानता पर संक्षेप में, तथापि सारगर्भित रूप में प्रकाश डाला है। मानसिंह का सुयश चारों ओर फैला हुआ था और वह अपनी दानशीलता के लिए प्रसिद्ध था। विद्वान यह सन्देह करने लगे थे कि मान की तुलना में इन्द्र, कुवेर और बलि भी ठहर सकेंगे या नहीं ? गोपाचल के इस स्वामी द्वारा पराभूत होकर स्वयं भारती विविध रागों में ध्रुपद के मंजुल स्वरों से उसकी यशोगाथा का गान करती थी —

> तत्सूनुर्मानसाहिर्दिशि दिशिविदितोद्दामदानप्रतिष्ठः
> शक्रोऽयं किं कुबेरोबलिरिति विदुषां संशयो यत्र वृत्तः।
> यस्मिन् गोपाचलेन्द्रे विजयिनि विविधां कीर्तिमुद्गातुकामा
> प्रोद्यत्संगीतधारा ध्रुपदशतपदा भारती संबभूव ॥८॥

शाहजहाँ कालीन खड्गराय द्वारा प्रस्तुत मानसिंह के व्यक्तित्व तथा वैभव का वर्णन उसी के शब्दों में देना उपयोगी होगा —

> तिनके मानसिंघ भये भानि। ता सम भयौ न राजा आनि ॥
> तेज तपौ जनु ग्यारह ईस। छत्र धरन कौं नयौ न सीस ॥
> मंदिर एक करायौ मान। नाम मान मन्दिर तिहि जान ॥

मानौं इन्द्र भूप कौ धाम । कहूँ न मंदिर ताहि समान ।।
राय अहेरे ऊपर प्रीति । खेलैं भूप नई रस रीति ।।
गज हजार मैमंत अपारा । अति मदमंत महा बरजोरा ।।
आधु लाख पाखरी तुखार । जनमेजय कैसौ अवतार ।।
चारि हजार पाइगा तुरंग । कसलौं बरनौं जाति उतंग ।।
जिती जाति घोरन की आहि । देस देस के लीने चाहि ।।
ये घोरे जु मान नृप तनै । देखत बनै कहत नहीं बनै ।।
चतुरंगी सेना बहुसार । असी हजार चढै असवार ।।
पर्वत घाटी बांधी जहाँ । खेलैं भूप अहेरैं तहाँ ।।
डांग बधाइ महल जु भये । तहाँ तहाँ भूप अखारैं ठए ।।
कोस कोस कौं बागुर भई । रेसम पाट फदा अरुठई ।।
सूवर सिंह अहेरौ चाऊ । करै न और जीव पर घाऊ ।।
कबहुकि झुकि करि देसनि जाई । मारि मिलान करै घर आई ।।
छह दरसन कौं दीनो दान । सौनो रूपौ बहुत प्रमान ।।
बाज कुही सिकरा नहि गहै । अठ पंछिन कौं कोउ न बहै ।।
जलचर पंछिनि हतै न कोई । सरिता सरवर पुरइन होई ।।
राजा को सत धर्म सुभाऊ । चारि मास वरसै सुरराऊ ।।

।। दोहा ।।

सदा मैड मड साहि सौ, मैड न नाखै साहि ।
आसपास नृप मेडिया, सेवा करैं बनाइ ।।

।। चौपाई ।।

जिती जात छत्रिनि की कही । ते अन्तेउर राखी सही ।।
चारौ जाति त्रियन की कही । ते सब मान अखारैं रही ।।
द्वै सै नारि पद्मोनी इसी । तिहि समान नहीं उरवसी ।।
सूर सिरोमनि अरि उर साल । पर दुख कातर साहसमाल ।।
कंचनवकस जांन महि दानि । छह दरसन को राखै मानि ।।
रिन और रोग न कोऊ दुखी । नहनौ बड़ौ लोग सब सुखी ।।
परचक्रन को करै निकंद । अरि प्रबलन कौ करै विखंड ।।
सबही तरह सुखारी दुनी । घर घर दीसहि पण्डित गुनी ।।
जहाँ न फिरही जम कौ अंकु । जिहि पुर सरवस राजा रंक ।।
जहँ दुरभिछ काल नहि परै । सत्त सवाय मान नृप धरै ।।
सुने और गरुए गढ़ कान । नहि ग्वालियर गढ़हि समान ।।
राज करै जो राजा मान । जैसे मधि लोक पर भान ।।

मानसिंह तोमर के विषय में जो कुछ ज्ञात है, उसके आधार पर यह कहा जा सकता है कि भारतीय मध्ययुगीन इतिहास का वह परमपूर्ण व्यक्तित्व है। कटुता के उस युग में, ६० मील लम्बे और ६० मील चौड़े छोटे-से क्षेत्र का यह अधिपति भारत के सांस्कृतिक वैभव को जिस सीमा तक समृद्ध कर सका, वह उसे भारत की महानतम संतानों में स्थान प्राप्त कराने के लिए पर्याप्त है। मध्ययुगीन प्रशस्तिकार से पूर्णतः सहमत होना आधुनिक इतिहासकार के लिए उचित नहीं है, तथापि हम विवश होकर वि० सं० १५५१ के प्रशस्ति-कार के इस कथन से असहमत होने में अपने आपको असमर्थ अनुभव कर रहे हैं—

गोवर्धनगिरिवरं करशाष एव
धृत्वा गवामुपरि वारिधरार्दितानां।
बाल्येऽपि विस्मयनविधाबलसच्चरित्रं
कृष्णश्रितस्तु ननु तोमर मानसिंहः॥

चित्र-फलक १३
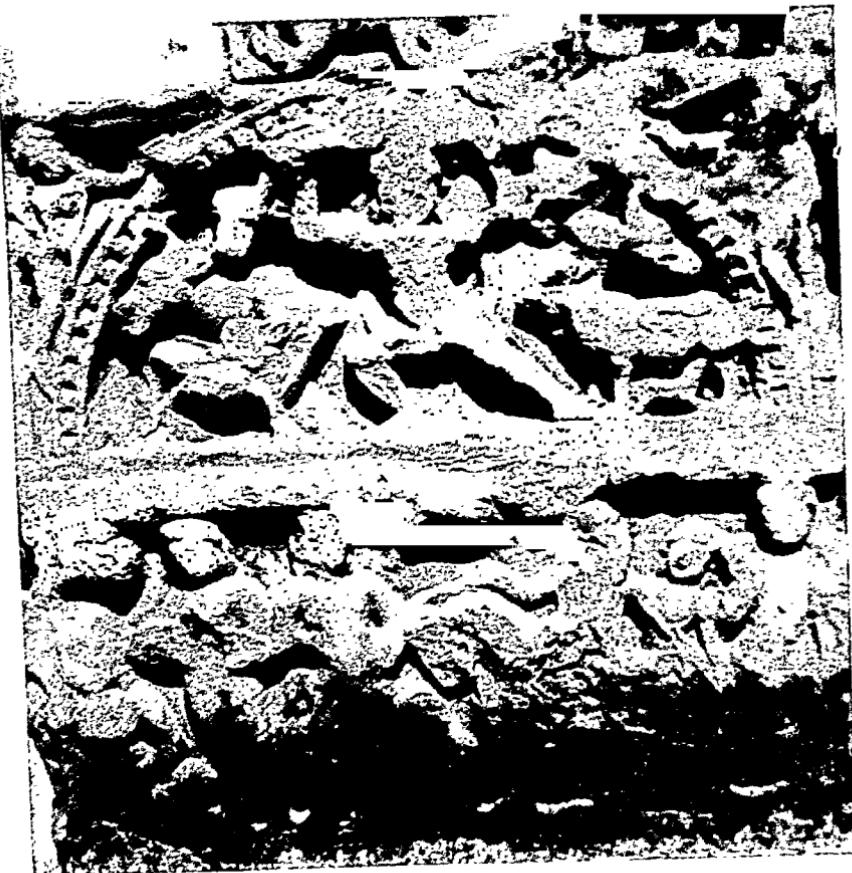
गोवर्धनंगिरिवरंकरशाष एव
धृत्वागवामुपरिवारिधरार्दितानाम्
—गंगोलाताल शिलालेख
ग्वालियर का कृष्णलीला-स्तम्भ
(पृष्ठ ३३२ देखें)
—मध्यप्रदेश पुरातत्त्व विभाग के सौजन्य से

परिच्छेद १०

विक्रमादित्य

(१५१६-१५२३)

ग्वालियर के तोमर राजा मानसिंह की मृत्यु सन् १५१६ ई० में हुई। उनके पश्चात् उनके राजकुमार विक्रमादित्य तोमर सिंहासनारूढ़ हुए। उन्हें मानसिंह की अत्यन्त समृद्ध-विद्वत्सभा और वैभव दाय में प्राप्त हुआ था। चम्बल और सिन्ध के बीच का समस्त भू-भाग उनके आधिपत्य में था, जिसकी वार्षिक राजस्व-आय बाबर ने दो करोड़ तेईस लाख सत्तावन हजार चार सौ पचास टंके (रुपये) कूती थी।[1] यह स्वाभाविक भी था क्योंकि डूंगरेन्द्रसिंह के समय में समस्त तोमर राज्य में सिंचाई की बहुत अच्छी व्यवस्था करदी गई थी तथा व्यापार में भी बहुत समृद्धि हुई थी।

विक्रमादित्य ने मानसिंह की संगठित सेना भी दाय में प्राप्त की थी। ग्वालियर गढ़ को प्रतिरक्षा की दृष्टि से, मानसिंह के समय में ही अत्यन्त सुदृढ़ बना दिया गया था। ग्वालियर गढ़ के उरवाही द्वार और ढोंढा द्वार पूरी तरह बन्द कर दिए गए थे। उत्तर-पूर्व की ओर गढ़ के नीचे अत्यन्त सुदृढ़ बादल गढ़ का निर्माण भी मानसिंह करा चुके थे।

सिकन्दर लोदी का आक्रमण

विक्रमादित्य ने राज्यारोहण के साथ ही ग्वालियर गढ़ पर उत्तर की ओर से विनाश की घनघोर घटाएँ घहराने लगी। मानसिंह के समय में आगरे का अफगान सुल्तान सिकन्दर लोदी अनेक बार ग्वालियर-विजय के असफल प्रयास कर चुका था। मानसिंह की मृत्यु का समाचार सुनते ही सिकन्दर ने अपनी उस आकांक्षा की पूर्ति का प्रयास प्रारम्भ किया। सन् १५१७ ई० के प्रारम्भ में ही वह धौलपुर पहुँचा और ग्वालियर-विजय के अभियान की योजनाएँ बनाई। आगरा लौटकर उसने अपनी सीमान्त के अमीरों को सेनाओं सहित बुलाया। तैयारियाँ चल ही रहीं थीं कि सुल्तान अत्यधिक बीमार हो गया और ग्वालियर-विजय की अतृप्त वासना हृदय में सँजोए वह इस संसार से ही कूच कर गया। विक्रमादित्य के ऊपर घिरी हुई युद्ध की घटाएँ कुछ समय के लिए टल गईं।

गढ़ की दृढ़ता के लिए निर्माण

विक्रमादित्य इस घटना से सशंकित हुआ। ग्वालियर गढ़ के सूक्ष्म निरीक्षण से उसे ज्ञात हुआ कि यद्यपि बादल गढ़ अजेय है, तथापि यदि उसे तोड़ दिया जाए तब शत्रु सीधा

1. बाबरनामा, बेवरिज, पृष्ठ ५२१।

मानमन्दिर तक पहुँच जाएगा और मार्ग में उसे रोकना कठिन होगा। यह स्मरणीय है कि मानसिंह के समय में मान-मन्दिर से गूजरी-मन्दिर नाम से प्रख्यात भवन तक आने का सीधा मार्ग था, यद्यपि उसका प्रयोग राज परिवार के व्यक्ति और उनके सेवक ही करते थ। गूजरीमहल स्वयं बादल गढ़ का ही एक अंश था।[1] विक्रमादित्य ने इस मार्ग को बहुत सुदृढ़ रूप से बन्द कराया। जहाँ आज शाहजहांनी और जहांगीरी महल हैं वहाँ से मान-मन्दिर तक बहुत ऊँचे-ऊँचे सुदृढ़ निर्माण किए गए।[2]

परन्तु ज्ञात यह होता है कि विक्रमादित्य सैन्य संगठन उतना सुदृढ़ न बना सके जितना बदली हुई परिस्थितियों में आवश्यक था। उन्हें इस बात का अनुमान, सम्भवतः, नहीं था कि समस्त भारत के अफगान अमीर ललचाई दृष्टि से ग्वालियर गढ़ की अपार सम्पत्ति और विशाल वैभव की ओर टकटकी लगाए हैं, न उन्हें यह अनुमान था कि इबराहीम कितनी बड़ी सैन्य-शक्ति के साथ आक्रमण करेगा।

इबराहीम और जलालखाँ

प्रत्येक अफगान सुल्तान की मृत्यु के पश्चात् तख्त के लिए गृह-कलह होना अनिवार्य था। सिकन्दर के पश्चात् उसके दोनों बेटे इबराहीम और जलालखाँ तख्त के दावेदार बने। इबराहीम ने आगरा में अपना राज्यारोहण समारोह कराया और जलालखाँ ने जौनपुर के इलाके पर कब्जा कर लिया। अफगान अमीरों के दो दल हो गए। एक दल का मत था कि सल्तनत का बटवारा कर दिया जाए; आगरा का भाग इबराहीम को मिले, और जौनपुर का जलालखाँ को। दूसरे दल का मत था कि सल्तनत में एक ही सुल्तान होना चाहिए। इबराहीम ने अपनी कूटनीति से जलालखाँ के पक्षपाती अनेक अमीरों को

---

१. बादल गढ़ की स्थिति की जांच आज कठिन हो गई है। इबराहीम के आक्रमण के समय इसे पूर्णतः ध्वस्त कर दिया गया था। उसके बाद बादल गढ़ के क्षेत्र में ही औरंगजेब के समय में, सन् १६६० ई० में, आलमगीरी दरवाजा तथा मोती मस्जिद बनी थी। बादल गढ़ के अंशों में से अब हिण्डोला पौर तथा गूजरीमहल पूर्णतः सुरक्षित हैं। गूजरी महल के उत्तर में लगभग सवा सौ फीट चौड़ा तथा ढाई सौ फीट लम्बा भूमि के नीचे निर्माण है, जो अब खंडहर हो चला है। गूजरी महल से इसमें जाने का मार्ग अब भी सुरक्षित है, परन्तु पुरातत्व विभाग ने उसका सदुपयोग कर उसमें शौचालय बना दिया है और यह मार्ग बन्द कर दिया है। गत तीस वर्षों में बादल गढ़ के ये अवशेष पर्याप्त नष्ट-भ्रष्ट हुए हैं तथा होते ही जा रहे हैं। गूजरी-महल के उत्तरी पार्श्व के इस निर्माण के आगे शिव-मन्दिर था, जिसमें इतिहास-प्रसिद्ध नन्दी स्थित था। शिव-मन्दिर के आगे ऊँचा परकोटा था जो युद्ध में बारूद की सुरंग लगाकर तोड़ा गया था।

२. बाबर ने लिखा है कि विक्रमादित्य के भवन उसके पिता के भवन का मुकाबला नहीं कर सकते। यह स्मरणीय है कि पुत्र को मानमन्दिर जैसा अनुपम 'चित्र महल' दाय में प्राप्त हुआ था। इसी से मिला विक्रम मन्दिर था जो मानसिंह ने ही अपने युवराज विक्रमादित्य के निवास के लिए बनवा दिया था। विक्रम ने कोई नवीन महल न बनवाकर केवल सामरिक रूप से गढ़ को सुरक्षित करने के लिए निर्माण कराए थे।

अपनी ओर मिला लिया। जलालखाँ जौनपुर से भागकर कालपी आया और वहाँ पर जलालुद्दीन शाह का नाम धारण कर उसने अपने राज्यारोहण का समारोह कराया और चँवर-छत्र धारण किए। आजम हुमायूं शिरवानी सिकन्दर शाह के समय से ही वहुत प्रवल, शक्तिशाली, अनुभवी तथा वीर अमीर था। उन दिनों वह कालिंजर गढ़ को घेरे हुए था। जलालखाँ ने उसे अपनी ओर मिला लिया। इवराहीम ने ७ जनवरी १५१८ ई० को सेना सहित कालपी की ओर प्रस्थान किया। जव वह भुइगाँव पहुँचा तव उसे समाचार मिला कि आजम हुमायूं जलालखाँ का साथ छोड़कर उससे मिलने आ रहा है। परम कुटिल इवराहीम ने कूटनीति का प्रयोग किया। उसने आजम हुमायूं का स्वागत किया और उसे अपने साथ मिला लिया। जलालखाँ की शक्ति का मेरुदण्ड ही टूट गया। इवराहीम ने कालपी पर आक्रमण किया। जलालखाँ ने कालपी में उसका सामना करने के वजाए आगरा पर आक्रमण कर दिया। इवराहीम ने मलिक आदम को आगरा की रक्षा के लिए भेजा। मलिक आदम ने जलालखाँ को समझा-बुझाकर राजचिह्न—चँवर-छत्र, छोड़ देने पर राजी कर लिया और यह वचन दिया कि वह उसे इवराहीम से जागीर दिलवा देगा। इस वीच इवराहीम कालपी से इटावा आ चुका था। आदम ने जलालखाँ द्वारा छोड़े चँवर-छत्र तथा सन्धि की शर्तें इवराहीम के पास भेजीं। इवराहीम ने सन्धि अस्वीकार की और जलालखाँ के विरुद्ध प्रस्थान किया। यह समाचार सुनते ही जलालखाँ ग्वालियर की ओर भागा और विक्रमादित्य की शरण में पहुँच गया। अपने पिता सिकन्दर की ग्वालियर-विजय की अपूर्ण आकांक्षा को पूरा करने का इवराहीम को वहाना मिल गया।

अशरण-शरण

चितौड़ के हम्मीरदेव ने इसी प्रकार मुग़लों को शरण दी थी। प्राण दिया, राज्य गँवाया, सर्वस्व न्यौछावर किया पर अपने शरणागत को न लौटाया। हम्मीरदेव का यह आदर्श नयचन्द्र सूरि अपने 'हम्मीरमहाकाव्य' द्वारा विक्रमादित्य के पूर्वज वीरमदेव के समक्ष प्रस्तुत कर चुके थे। मानसिंह ने उसका अनुसरण किया और विक्रमादित्य ने भी उसका पालन किया। जलालखाँ ग्वालियर गढ़ पर सम्मान पूर्वक रखा गया।

सूर्य-ग्रहण का प्रारम्भ

अव तक लोदियों ने ग्वालियर पर जितने आक्रमण किए थे उनमें उनके हाथ विपत्ति और पराजय ही रही थी। इवराहीम ने अत्यन्त चतुराई से कार्य किया। जलालखाँ को वन्दी वनाने और ग्वालियर गढ़ पर अधिकार करने का भार उसने आजम हुमायूं को सौंपा। उसे निश्चय था कि आजम हुमायूं की अधिकांश सेना ग्वालियर में कट मरेगी, और यदि वह जीत भी गया तो लोदियों की तीन पीढ़ियों की आकांक्षा पूर्ण होगी तथा ग्वालियर गढ़ उसके आधिपत्य में आजाएगा। भारत-विजय की महत्वाकांक्षा में ग्वालियर गढ दिल्ली के सुल्तानों के मार्ग में भीपण रोड़ा था, वह इस प्रकार हट जाएगा।

इस आदेश के पालन में पचास हजार घुड़सवारों की सेना का स्वामी[1] आजम हुमायूं ग्वालियर की ओर अग्रसर हुआ। आजम हुमायूं सिकन्दर के साथ मानसिंह से जौरा-अलापुर के युद्ध में बुरी तरह पिट चुका था। उसे पुराना वैर भँजाना था। सुल्तान ने उसके साथ तीस हजार शाही सेना के अश्वारोही तथा तीन सौ रण में आजमाए हुए हाथी भी भेजे। चौदह प्रतिष्ठित अमीर[2] तथा सात राजा भी[3], ग्वालियर-विजय के लिए भेजे गए।

धावनों ने इस विशाल-वाहिनी के चम्बल घाट उतरने का समाचार ग्वालियर गढ़ पर विक्रमादित्य के पास पहुँचाया। जिस जलालखाँ के कारण यह विग्रह खड़ा हुआ था वह इस समाचार को सुनते ही ग्वालियर गढ़ छोड़कर मालवे के सुल्तान के पास भाग गया। जलालखाँ हम्मीरदेव के शरणार्थी मुहम्मद शाह मुगुल के समान नहीं था जो अपने शरणदाता के साथ प्राण दे देता। विद्रोह की ज्वाला भड़काकर वह भाग खड़ा हुआ।

दोनों ओर का विक्रमवाद

सुल्तान की सेना का नेतृत्व कर रहा था उस युग का सर्वश्रेष्ठ सेनापति आजम हुमायूं, जिसने अपनी तलवार के बल पर ही 'अमीरुल-उमरा' का पद प्राप्त किया था। उसके साथ ही शाही सेना के तीस हजार अश्वारोही और तीन सौ हाथी होने का अर्थ होता है कम से कम एक लाख व्यक्ति और पचास हजार पशु। अफगानों के प्रत्येक योद्धा के साथ शिविर-रक्षक और नौकर-चाकर भी चला करते थे। जो अमीर और राजा आए थे उनकी सेनाएँ अलग थीं। लोदियों के पास उत्तर भारत की अनेक अक्ताओं से अपार धनराशि आती थी और उन्हें मन्दिरों में श्रद्धालु हिन्दुओं की पीढ़ियों से संचित धनराशि लूट में मिलती थी। उस युग में धन के बल पर इच्छानुसार सेना भर्ती कर ली जाती थी।[4] उस समय तक इबराहीम ने अपने अफगान अमीरों को रुष्ट नहीं किया था। इन्हें ग्वालियर गढ़ पर सवा-सौ वर्षों से संचित अपार स्वर्ण राशि और अगणित रत्नराशि का भी प्रलोभन था। आजम हुमायूं को अपने सम्मान का ध्यान था और उसे अपनी जौरा-अलापुर की पराजय का बदला भी लेना था। जो राजपूत राजा उनके साथ थे वे मानसिंह और उसके पूर्वजों के शौर्य और वैभव से डाह करते थे। इस प्रकार यह समस्त महासेना अत्यन्त निष्ठापूर्वक आगे बढ़ रही थी।

दूसरी ओर नेतृत्व था अपेक्षाकृत कम अनुभवी विक्रमादित्य के हाथ में जो अपने पिता के संरक्षण में तोमर राजसभा के विलास में पला था। चम्बल किनारे के तोमरों के गढ़ कल्याणमल्ल के समय से ही शिथिल होगए थे और मानसिंह के समय में उनके

---

१. तारीखे-दाऊदी, डा० रिजवी, बाबर, पृ० ४४३।

२. तारीखे-दाऊदी, डा० रिजवी, उ० तै० का० भा०, भाग १, पृष्ठ २९७।

३. ओझा, मुहणोत नेणसी की ख्यात, पृ० ४७६, टिप्पणी।

४. बाबर, डा० रिजवी, पृष्ठ १५४।

ग्वालियर में सिमटने लगे थे। इतनी विशाल सेना इसके पहले कभी ग्वालियर क्षेत्र में भी न थी। विक्रमादित्य के पास कितनी सेना थी इसका कोई उल्लेख नहीं मिलता। खड्गराय ने मानसिंह के पास अस्सी हजार सवार और असंख्य हाथी होना लिखा है। यह अतिशयोक्ति ज्ञात होती है। आजम हुमायूं के पहले हल्ले में ही चम्बल और ग्वालियर के बीच की समस्त गढ़ियाँ पराजित हो गईं। समस्त योद्धा ग्वालियर गढ़ में बन्द हो गए। यद्यपि बादल गढ़ बहुत प्रशस्त था तथा उसके ऊपर का गढ़ पौने दो मील लम्बा और अट्ठाइस सौ फीट तक चौड़ा था; तथापि रनिवास, अन्न-भण्डार, हाथी, घोड़े आदि के साथ उस पर पच्चीस हजार से अधिक व्यक्ति नहीं समा सकते थे। इस विषम विक्रमवाद के साथ ग्वालियर गढ़ का घेरा प्रारम्भ हुआ।

"पंछी पवन न गढ़ पर जाई"

आसपास के समस्त इलाके को पूर्णतः अपने कब्जे में कर आजम हुमायूं ने गढ़ को घेर लिया। इस घेरे की समग्रता का वर्णन खड्गराय ने एक अर्धाली में किया है—"पंछी पवन न गढ़ पर जाई"।

घेरे के पश्चात् आक्रमण प्रारम्भ हुआ। यह आक्रमण ग्वालियर गढ़ के उत्तर-पूर्व की ओर से (जहाँ आजकल ग्वालियर द्वार है) बादल गढ़ पर हुआ था, जिसका प्रवेश द्वार हिंडोला पौर कहलाता था। इसी बादल गढ़ में गूजरीमहल था और था वह विशाल शिवमन्दिर, जिसके द्वार पर धातु का विशालकाय नन्दी प्रतिष्ठित था। हिंडोला पौर से ढाई हजार फीट ऊपर था ग्वालियर गढ़ का अन्तिम द्वार, हथिया पौर, जिसके सामने पूरे आकार का हाथी बना हुआ था। उसके सामने था स्वर्ण-मण्डित ताम्रपत्रों से जड़ी हुई गुम्बदों युक्त चित्रमहल (मानमन्दिर)। हिंडोला पौर से हथिया पौर तक पहुँचने के लिए तीस फीट चौड़ी साढ़े तीन हजार सीढियाँ थीं; जिन्हें बीच में भैरों पौर, गणेश पौर और लक्ष्मण पौर के सुदृढ फाटक रक्षित करते थे।

बादल गढ़ का युद्ध

बादल गढ़ पर आक्रमण प्रारम्भ हुआ। गढ़ के बाहर था अपार सैन्य समूह, जो उस समय उपलब्ध श्रेष्ठतम हथियारों से युद्ध कर रहा था। गढ़ के भीतर क्या होरहा था, किस प्रकार प्रतिरोध के प्रयत्न होरहे थे, इसका वर्णन सुल्तानों के इतिहासकारों ने नहीं किया। खड्गराय भी इस विषय में मौन है। इसका केवल अनुमान किया जा सकता है। कौन-कौन सामन्त किस-किस रण व्यवस्था के लिए नियुक्त किए गए थे, कहाँ आयुधागार था, किसके संरक्षण में था, इसका इतिहास लेखक संभवतः मारा गया। राज-पुरोहित हरिनाथ ने किस पूजा का आयोजन किया था, इस पर भी इतिहास मौन है। भट्ट देवचन्द्र अपने छह भाईयों के साथ क्या कर रहे थे, यह कोई नहीं जानता। सूरजदास ने केवल यह लिखा कि वे संग्राम में मारे गए। बाहर लोदियों की सेना क्या कर रही थी, इसका

वर्णन अवश्य अहमद यादगार ने किया है[1]— "ग्वालियर किले को घेरकर उसने (आजम हुमायूं ने) वीरों के मोर्चे बाँट दिए। मजनीक तथा असदों की व्यवस्था करके हुक्को को जला-जला कर किले के भीतर फैंकना प्रारम्भ कर दिया। हिन्दुओं ने रूई से भरे गिलाफों को तेल में भिगोकर जला-जला कर नीचे फैंकना शुरू कर दिया। दोनों ओर से आदमी जल रहे थे। आजम हुमायूं ने किले के नीचे सावात लगवाए और वहाँ तोपखाने लगवा कर वह इस प्रकार गोले फैंकता था कि किले वाले प्रांगण के बाहर न निकल सकते थे। किले वाले व्याकुल होगए।"[2] संभवतः विक्रमादित्य के साथ सन्धि की बातचीत चलाई गई;[3] परन्तु इसी बीच इबराहीम ने आजम हुमायूं के पास फरमान भेजा कि वह तुरन्त आगरा पहुँचे। सुल्तान को यह पता लग गया था कि आजम हुमायूं ग्वालियर को लगभग जीत चुका है, यह श्रेय वह उसे नहीं देना चाहता था।

खग्रास

आजम हुमायूं को इबराहीम ने आगरा बुलाने के साथ ही उसकी सहायता के लिए (अथवा अपने फरमान का पालन कराने के लिए एवं ग्वालियर गढ़ का घेरा बनाए रखने के लिए) अनेक अमीरों को सेना सहित ग्वालियर भेजा। आजम हुमायूं जब आगरे की ओर चला तब उसके कुछ साथी उसे पहुँचाने चम्बल के घाट तक गए तथा उसे विद्रोह के लिए प्रेरित करने लगे। आजम हुमायूं ने उन्हें समझा-बुझाकर ग्वालियर लौटा दिया और स्वयं आगरा चला गया। इबराहीम ने उसे बन्दीगृह में डाल दिया। इसी बीच इबराहीम का भाई जलालखाँ मालवा के सुल्तान से तिरस्कृत होकर गढ़कटंगा के राजा के पास पहुँचा, जिसने उसे इबराहीम के पास भिजवा दिया। इबराहीम ने उसे हाँसी के कैदखाने की ओर भेजा और मार्ग में मरवा डाला। इबराहीम के दोनों काँटे मार्ग से हट गए, जलालखाँ मार डाला गया और आजम हुमायूं कैद में बन्द था। निश्चिन्त होकर इबराहीम स्वयं ग्वालियर-विजय के लिए चल दिया। ग्वालियर गढ़ के नीचे शाही दीवानखाने का निर्माण किया गया।[4] वहाँ समस्त अमीर एकत्रित होकर गढ़ के विजय की योजनाएँ बनाते थे। अनेक वर्ष बीत चुके थे, गढ़ को आँच नहीं आ रही थी।

---

१. तारीखे-शाही, डा० रिजवी, उ० तै० का० भा०, भाग १, पृष्ठ ३४७।

२. यह वर्णन बादलगढ़ के युद्ध का है। स्मरण रहे कि इस ओर से हथिया पौर के ऊपर गोले फैंक सकने वाली तोपें लोदियों के पास नहीं थीं। हिंडोला पौर के बाहर से बादल गढ़ में उनकी तोप के गोले अवश्य जा सकते थे।

३. अहमद यादगार ने लिखा है कि विक्रमादित्य ने सात मन सोना, *श्यामसुन्दर हाथी* तथा अपनी पुत्री सुल्तान को देना स्वीकार किया था। यह स्मरणीय है कि अहमद यादगार सर्वाधिक तआस्सुबी इतिहास लेखक है। उसने सिकन्दर की स्पष्ट पराजयों को भी विजयों में बदल दिया है। उसका कथन इसी पृष्ठभूमि में आँकना होगा।

४. तबकाते-अकबरी, डा० रिजवी, उ० तै० का० भा०, भाग १, पृ० ३३६।

शक्ति के साथ सुल्तान ने युक्ति का प्रयोग करने की सोची। बादल गढ़ की दीवार में सुरंग लगवाई गई और उसमें बारूद भर दी गई। बारूद में आग लगते ही दीवार फट गई और लोदियों की सेना उसमें प्रवेश करने लगी। विक्रमादित्य ने घोर युद्ध किया। बादल गढ़ में तोमरों की अधिकांश सेना इकट्ठी थी, परन्तु संख्या में वह सुल्तान की सेना की तुलना में नगण्य ही थी। बचे हुए तोमर सैनिकों को पीछे लौटना पड़ा और वे भैरों पौर बन्द कर उसके पीछे चले गए। सुल्तान की सेना ने बादल गढ़ को पूरी तरह नष्ट-भ्रष्ट कर दिया। उसका शिव-मन्दिर पूर्णतः ध्वस्त कर दिया गया और उसमें स्थित धातु निर्मित विशाल नन्दी दिल्ली ले जाकर बगदाद द्वार पर डलवा दिया गया।[1] ज्ञात होता है कि बादल गढ के युद्ध में विक्रमादित्य की सेना का प्रमुख भाग नष्ट हो गया था, तथापि अभी गढ़ के चार द्वार और शेष थे। संभावना यह है कि जिस प्रकार बादल गढ़ तोड़ा गया उसी उपाय से भैरों पौर और गणेश पौर भी तोड़ी गईं। परन्तु तोमरों ने गढ़ की एक-एक सीढ़ी के लिए युद्ध किया। लक्ष्मण पौर पर यह युद्ध भीषणतम हो गया। इस युद्ध में इबराहीम का एक प्रसिद्ध अमीर ताज निजाम धराशायी हुआ। प्रबल पराक्रम भी सुल्तान की असंख्य सेना का सामना करने में समर्थ नहीं हुआ और लक्ष्मण पौर टूट गई। समस्त अवशिष्ट सेना हथिया पौर को बन्द कर उसके पीछे चली गई। बादल गढ़ से हथिया पौर तक कितनी सेना नष्ट हो चुकी थी यह कल्पनातीत है। तोमरों की अपार जनक्षति हुई थी और उसकी पूर्ति का कोई साधन नहीं था और सुल्तान की ओर इतना जनबल था कि दस-बीस हजार सैनिक और ताज निजाम की बलि देकर भी उसमें कोई कमी आने वाली नहीं थी।

इसी समय एक और विपत्ति आई। गढ़ पर रसद ग्वालियर नगर से पहुँचती थी। सुल्तान ने नगर के रक्षकों को रिश्वत देकर अपनी ओर मिला लिया और गढ़ की रसद बन्द करवा दी। ग्वालियर नगर पर सुल्तान की सेना ने कब्जा कर लिया। गढ़ का घेरा तीन-चार वर्ष चल चुका था। गढ़ पर जल की कमी नहीं थी परन्तु भोजन सामग्री समाप्त हो चली होगी, इसका अनुमान सहज ही किया जा सकता है। अन्न के साथ-साथ वस्त्र और तेल भी समाप्त होगए जिनको आक्रामकों पर फेंका जाता।

बाहर से खाद्य सामग्री अथवा आयुध ला सकने का कोई प्रश्न ही नहीं था। यद्यपि ऐसे उल्लेख मिलते हैं कि राणा सांगा, इस संघर्ष-काल में, ग्वालियर की सहायता को आए थे, परन्तु वे कोई प्रभावशाली सहायता न पहुँचा सके।[2]

विक्रम का साहस डिग उठा। सुल्तान भी हथिया पौर की अभेद्यता का अनुभव कर रहा था; वहाँ बारूद की सुरंग नहीं लगाई जा सकती थी, न साबात बन सकते थे और न

---

१. इस नन्दी को तुड़वा कर अकबर ने उसकी धातु से तोपें तथा बर्तन बनवा लिए थे।

२. इस घेरे के बीच ग्वालियर की सहायता का प्रयास राणा सांगा ने किया था, ऐसा ज्ञात होता है। यह सम्भव नहीं था कि राणा सांगा, सलहदी और मेदिनीराय यह अनुभव न करते हों कि ग्वालियर गढ़ के लोदियों के पास पहुँचते ही न चन्देरी सुरक्षित रहेगी, न रायसेन और

वहाँ तोपें ले जाई जा सकती थीं। विक्रम इतना निराश हो गया था कि उसने सन्धि की चर्चा प्रारंभ की।

इबराहीम ने यह शर्त रखी कि ग्वालियर गढ़ छोड़ दो और शम्शाबाद की जागीर ले लो। धन-सम्पत्ति और रनिवास ले जाने की अनुमति दे दी गई। विक्रमादित्य ने उसे स्वीकार कर लिया। अवशिष्ट सैनिकों तथा परिजन-परिवार को अन्न के अभाव में भूख से मरने की अपेक्षा यह अपमानजनक संधि स्वीकार करना उचित समझा गया। सन् १५२३ ई० के प्रारंभ में विक्रम ने ग्वालियर गढ़ छोड़ दिया। ग्वालियर का अन्तिम हिन्दू राजा परास्त हुआ और गढ़ लोदियों के कब्जे में चला गया।

राज्यावरोहण

समस्त ग्वालियर नगर, जो विक्रम के राज्यारोहण के समय मीलों दूर तक बसा हुआ था; जिसमें प्रसिद्ध कवि, भट्ट, नायक, कलावन्त, व्यापारी, कारीगर और कृषक बसे

न भेलसा। राणा ने उस समय ग्वालियर गढ़ पर से लोदियों के घेरे का दबाव कम करने का प्रयास किया था, ऐसा 'मुहणोत नेणसी की ख्यात' से ज्ञात होता है। ज्ञात होता कि राणा के ग्वालियर की सहायता के लिए चलने का समाचार सुनकर इबराहीम ने मुकंद बघेले को उन्हें रोकने के लिए भेजा। राणा ने उसे पराजित किया और उसके हाथी छीन लिए। नेणसी ने राणा के विषय में खिड़िया चारण खींवराव का यह गीत उद्धृत किया है:–

> नरवर गोपाल निजलते, समयै सिखर सवाई
> सुन सुल्तान कीनो सामें; मुकुंद तणै घर माही।
> मालतणो सझियो मोगर भट लोहतणे रस लागौ,
> दूर देश भागण पारंता, भोतण पडवो भागौ।

अर्थ स्पष्ट नहीं है, इस कारण श्री ओझाजी तथा मुंशी देवीप्रसादजी ने इसका भाष्य नहीं किया है। हमें भावार्थ यह ज्ञात होता है गोपाचल (गोपाल) की ओर राणा के प्रस्थान का समाचार सुनकर सुल्तान ने मुकुंद को उनके रोकने के लिए भेजा। युद्ध हुआ मुकुन्द को भागना पड़ा।

परन्तु राणा या तो विलम्ब से चले थे या उन्हें उस विशाल सैन्य-बल का समाचार मिल गया था जो ग्वालियर को घेरे पड़ा था, इस कारण वहाँ जाकर अपनी शक्ति को क्षीण करना उन्होंने उचित न समझा हो।

इस ख्यात की पुष्टि अन्य स्रोतों से भी होती है। बाबर ने लिखा है कि जिस समय राणा सांगा ने सुल्तान इबराहीम पर आक्रमण किया और इबराहीम के अमीरों ने धौलपुर में उसका सामना किया तो चन्देरी पर राणा का अधिकार होगया। (बाबर, बेवरिज, पृ० ९२; डा० रिजवी, बाबर, पृ० २६५; इलि० एण्ड डाउ०, खण्ड ५, पृ० १७ भी देखें।)

हुए समृद्ध हो रहे थे; हिन्दू, जैन और मुस्लिम संत अपनी सिद्धि-साधनाएँ कर रहे थे; मीलों दूर तक जहाँ मन्दिर-उद्यान और आमोद-ग्रह नरनारियों से मुखरित थे; वह चार-पाँच वर्षों में उखड़-उजड़ गया था। गढ़ पर अधिकांश सैनिकों की केवल लाशें रह गई थीं, जिन्हें उसी के ऊपर फूँकना पड़ा था; अन्न-भण्डार खाली पड़े थे; हाथी, घोड़े गिनती की संख्या में भूख से दुर्बल जीवित थे; मानमन्दिर का केशर कुण्ड स्वर्ण और रत्नों से भरपूर अवश्य था, परन्तु उस सबका मूल्य विपत्ति के समय पत्थर से अधिक कुछ नहीं था। जो कुछ सैनिक-सेवक शेष थे, उनके साथ अपने परिवार और सम्पत्ति को लेकर विक्रम ने गढ़ छोड़ दिया। शम्शावाद उसे जागीर में मिला था, परन्तु वह वहाँ नहीं गया। सुल्तान की सेना को छोड़कर अलग जाने का न उसमें साहस रह गया होगा, न शक्ति। मार्ग में अन्य राजपूतों, जाटों, डण्डोतियों, गूजरों आदि की गढ़ियाँ थीं, जिनके शूर-वीरों ने उसके लिए प्राण दिए थे और उनके परिवार जंगलों में भागे-भागे फिर रहे थे। विक्रम हथिकान्त और इटावा की ओर से भी किस मुँह से जा सकता था। ज्ञात यह होता है कि धुरमंगद चम्वल की अपनी पुरानी गढ़ियों में चले गए और विक्रमादित्य अजीतसिंह और राजकुमार रामसिंह को लेकर सुल्तान इवराहीम के साथ ही आगरा चले गए। ग्वालियर का भूतपूर्व राजा, अव शम्शावाद का जागीरदार, आगरा के सुल्तानी दरवार का दरवारी वन गया।

विक्रम का अन्त

ग्वालियर-विजय से दर्पित इवराहीम ने अपने अमीरों को किस प्रकार अपने विरुद्ध किया और अपने वाप के वजीर मियां भूवा को मारकर तथा वास्तविक ग्वालियर-विजेता आजम हुमायूं की हत्या कर किस प्रकार उसने अपनी जड़ें स्वयं खोदीं, यह हमारा वर्ण्य-विषय नहीं है; दौलतखाँ तथा अन्य अमीरों ने क्या सोचकर वावर को भारत वुलाया, यह भी हमारा विषय नहीं है; राणा संग्रामसिंह, सलहदी, मेदिनीराय तथा अवन्तगढ़ के रावत डूंगर (वाद में मियां हुसेन) किस प्रकार इवराहीम को प्रताड़ित करते रहे, यह भी हमारे वर्ण्य-विषय की सीमा के वाहर है; हमारा संवंध है आगरे में ठहरे हुए विक्रमादित्य से। जव सभी अमीर दगा दे रहे थे तव आगरा में अपने परिवार और माल-खजाने की रक्षा का भार विक्रमादित्य के छोटे भाई अजीतसिंह को सौंप कर इवराहीम वावर से लड़ने के लिए पानीपत के रणक्षेत्र की ओर चला। ग्वालियर-विजय के लिए जितना सैन्य-वल इवराहीम इकट्ठा कर सका था, जितने अमीर और राजे दलवल सहित उसने ग्वालियर भेजे थे, उतने इवराहीम पानीपत के लिए इकट्ठे न कर सका। आजम हुमायूं जैसे रणवाँकुरे और भूवा जैसे सूझ-वूझ के व्यक्ति वह अपने हाथों से मरवा चुका था। उसकी उस अस्त-व्यस्त दशा में भी उसके साथ ग्वालियर का विक्रम मौजूद था। वावर ने अपना पराक्रम वतलाने के लिए अपने आत्म-चरित्र में इवराहीम की सेना की संख्या एक लाख वतलाई है और हाथियों की संख्या एक हजार। वावर ने अपनी सेना की संख्या

बारह हजार लिखी है। बाबर के साथ तोपखाना होते हुए भी या तो बाबर की सेना की संख्या अत्यन्त मिथ्या है या इबराहीम की। यह पानीपत के प्रथम युद्ध के इतिहास लेखकों के विवेचन का विषय है। यहाँ यही महत्वपूर्ण है कि पानीपत में इबराहीम के साथ विक्रमादित्य भी था; २० अप्रैल १५२६ ई० को वह भी इबराहीम के साथ रणक्षेत्र में धराशायी हुआ। पानीपत का साका लिखने वाले ने लिखा—

नौ से ऊपर चढ़त बत्तीसा
पानीपत में भारथ दीसा।
चौथी रज्जब सुक्कर बारा,
बाबर जीता बिरहम हारा।

तारीखे-शाही के लेखक अब्दुल्ला ने युद्ध के अन्तिम दृश्य का वर्णन करते हुए लिखा—"सुल्तान इबराहीम की अधिकांश सेना मारी गई; जो सुल्तान से रुष्ट थी, वह युद्ध किए बिना भाग गई। सुल्तान अपने थोड़े-से साथियों के साथ खड़ा हुआ था। महमूदखाँ ने उसे रणक्षेत्र से भाग जाने की सलाह दी; परन्तु इबराहीम ने कहा, "अच्छा तो यही है कि हम तथा मित्र लोग सब एक ही स्थान पर धूल एवं रक्त में मिल जाएँ।"[1] इन 'मित्रों' में एक ग्वालियर का विक्रमादित्य भी था, यह अब्दुल्ला ने नहीं लिखा।

बाबर ने अपने आत्म-चरित्र में केवल यह लिखा हैं कि ताहिर तीबरी इबराहीम का सर लाया। उसका शरीर लाश के एक ढेर में मिल गया था।[2] "हजरत गैती मितानी फिरदौस मकानी" इतना लिख कर मौन हो गए। अबुल फजल ने अकबरनामे में केवल एक पंक्ति लिखी—"सुल्तान इबराहीम एक कोने में मारा गया।"[3] अब्दुल्ला ने तारीखे-शाही में बाबर को अधिक उदार बना दिया—"वह शोकप्रद दृश्य देखकर बाबर काँप उठा और उसके (इबराहीम के) शरीर को मिट्टी में से उठाकर कहा, तेरी वीरता को धन्य है। उसने आदेश दिया कि जरबफ्त के थान लाए जाएँ और मिश्री का हलुआ तैयार किया जाए....... को आदेश हुआ कि वे सुल्तान के जनाजे को नहला कर जहाँ वह शहीद हुआ है दफन कर दें।"[4]

विक्रम के विषय में अब्दुल्ल फजल तथा अब्दुल्ला दोनों मौन हैं। बाबर ने एक पंक्ति लिखी है—"सुल्तान इबराहीम की पराजय में ग्वालियर का राजा विक्रमाजीत नरकगामी हो गया था।"[5]

---

१. तारीखे शाही, डॉ० रिजवी, बाबर, पृष्ठ ४५२।
२. वही, पृष्ठ १५८।
३. तारीखे-शाही, डा० रिजवी, बाबर, पृ० ३८८।
४. वही, पृ० ४५३।
५. वही, पृ० १६०।

अब्दुल्ला ने इबराहीम का क्रिया-कर्म बावर से कराया, तब खड्गराय ने यह स्पष्ट बतलाया है कि जिन थोड़े-से मित्रों ने इबराहीम के साथ रण में प्राणों की आहुति दी थी, उनमें एक विक्रमादित्य भी था और वावर ने उसका भी अन्तिम संस्कार कराया था —

जूझि विरहमखाँ तहाँ परौ, राजा विक्रम तौ लगि गिरौ।
बहुरौ वाबर कों सुधि भई, लोथि सोधि किरिया बनवई।
जिहठां विक्रम देख्यो डरौ, देखत ताहि महादुख करौ।
कह्यौ बोलि हिन्दुन सों एहु, आछे ठौर दागु यहि देहु।
हिन्दू तबै सिमिट के आई, कियौ दागु भूप को बनाई।

नियामतुल्ला ने लिखा है कि इबराहीम के मजार पर प्रत्येक शुक्रवार के दिन बहुत बड़ी संख्या में लोग एकत्रित हुआ करते थे, और नरवर तथा कन्नौज के यात्री भी अपनी श्रद्धांजलि अर्पित करने के लिए जाते थे। मेजर जनरल कनिंघम का अनुमान है कि इन यात्रियों में अनेक हिन्दू भी होंगे जो उस स्थान के दर्शनों के लिए जाते होंगे जहाँ तोमरों का अन्तिम राजा वीरगति को प्राप्त हुआ था।[1]

वावर को विक्रमादित्य के रणक्षेत्र में मरने का कोई मलाल हुआ होगा, यह खड्गराय की कोरी मिथ्या कल्पना है। तैमूर का रक्त अफगान और तुर्कों से अधिक क्रूर था। शाहजहाँ का नागरिक खड्गराय 'गैंती सितानी फिरदौस मकानी' में उदारता का आरोपण करे यह अस्वाभाविक नहीं है। पानीपत के मैदान में विक्रम के शरीर का क्या हुआ, इसकी अधिक खोजवीन की आवश्यकता नहीं है। वावर 'जिहाद' की भावना से मुक्त नहीं था। वह भी अपने युद्धों को राज्य-प्राप्ति के साथ-साथ इस्लाम के प्रचार का साधन, अतएव, परम धर्म, मानता था। पानीपत में स्थिति भिन्न थी। इबराहीम इस्लाम धर्मावलम्वी था। उसका साम्राज्य तो वावर को चाहिए था, परन्तु रणक्षेत्र में इबराहीम और उसके मुसलमान सैनिकों की हत्या को वह 'जिहाद' नहीं कह सकता था, न इसके कारण वह 'गाजी' का पद धारण कर सकता था; यह संभव है कि उसने इबराहीमकी अन्तिम क्रिया 'दीन' के नाते कराई हो। विक्रमादित्य के लिए भी उसने यह किया होगा, यह संभव ज्ञात नहीं होता। विक्रम की वीरगति को वावर ने अपनी आत्मकथा में 'नरकगामी' होना लिखा हैं।

मुडचौरा

युद्ध के पश्चात् मृतकों के सिरों या शरीरों का चबूतरा या स्तम्भ बनाने का वावर को शौक था। खानवा के युद्ध के पश्चात् उसने 'काफिरों' के सिरों की मीनार वनाई थी, ऐसा उसने अपनी आत्मकथा में बड़े गौरव के साथ लिखा है।[2] उस युद्ध में मुकावला 'काफिरों' से था, पानीपत की वात दूसरी थी। इस प्रसंग में वावर ने इस वर्वर कार्य का उल्लेख

१. आर्कोलोजिकल सर्वे ऑफ इण्डिया रिपोर्ट, भाग २, पृ० ३८९।
२. वावरनामा, डा० रिजवी, पृ० २५१।

आत्मकथा में नहीं किया है। परन्तु खड्गराय की साक्षी पर यह कहा जा सकता है कि बाबर ने पानीपत में भी यह क्रूर काण्ड किया था —

जूझे बहुत उमराऊ दु ओर, मुडचौरा कीनौ ता ठौर।

'काफिरों' के सिर पानीपत में कम थे, अतएव, दोनों ओर के मृतकों के मूडों (सिरों) का चौरा (चबूतरा) बनाया गया। खड्गराय तो पातशाह बाबर की प्रसंशा करने के प्रसंग में लिख रहा था, उसने मिथ्या नहीं लिखा होगा। संभावना यह है कि इस 'मुडचौरे' में बाबर ने 'काफिर' और 'नरकगामी' विक्रमादित्य को भी दबा दिया होगा। यह अधिक महत्व की बात नहीं है। क्रूर काल ने विशाल मकबरे में दबे 'गैती सितानी' की मिट्टी की भी वही गति की जो विक्रमादित्य के शरीर की हुई थी, और मुगुल सल्तनत को उससे बुरे घाट उतारा जहाँ ग्वालियर का तोमर राज्य जाकर थम गया।

यह एक अद्भुत संयोग है कि जिस कुरुक्षेत्र के हरियाणे में अपना दिल्ली-साम्राज्य खोकर तोमर चम्बल-क्षेत्र में लौटे थे, उसी कुरुक्षेत्र की मिट्टी में उनका अन्तिम स्वतन्त्र राजा समा गया।

विक्रमादित्य का मूल्यांकन

मित्रसेन ने रोहिताश्व गढ़ के शिलालेख में अपने इस पूर्वज के विषय में लिखवाया है—

श्रीमद् विक्रमसाहिरुद्ध तयशास्तत् सूनुरासीदभि
प्रोद्यत् प्रौढ़तरप्रतापतपनप्रोत्सारितारिव्रजः।
यद्दानेन सुरद्रुमादिरभजत् कष्टायितो भूकतां
यत कान्त्यातुलितः सुधांशुरभवद् व्योमाश्रितो लाघवात्॥

मित्रसेन के प्रशस्तिकार ने विक्रमादित्य के जिस शौर्य का उल्लेख किया है वह उसने अपने पिता के समय से ही दिखाया था। ग्वालियर गढ़ के युद्ध में भी उसके शौर्य में कोई कमी दिखाई नहीं देती। अपनी स्वतंत्रता की रक्षा के लिए उसने पूर्ण पराक्रम प्रदर्शित किया। पराजय उस शौर्य को धूमिल भले ही करदे, उसके अस्तित्व को नहीं मिटा सकती। मित्रसेन का प्रशस्तिकार विक्रम को दान देने में कल्पवृक्ष से भी श्रेष्ठ बतलाता है।

विक्रमादित्य का मूल्यांकन करते समय उसकी अन्तिम पराजय उसके गुणों पर पर्दा डाल देती है। परन्तु इस पराजय के पीछे उसके पूर्व की दो पीढ़ियों की राजनीति थी। तोमरों के छोटे-से राज्य ने दिल्ली के सुल्तानों के साथ तब तक सफलता पूर्वक टक्करें लीं जब तक चन्दवार, इटावा, हथिकान्त आदि पड़ौस के राजा शक्तिशाली रहे। वे चम्बल के उत्तरी किनारों को सुरक्षित किए हुए थे। चम्बल के किनारों पर फैले हुए थे तोमरों के वे गढ़ जो रावत विट्ठलदेव के समय से ही पूर्ण सुसंगठित थे। कल्याणमल्ल ने अफगानों से घनिष्ट मैत्री की और ग्वालियर के विलास को बढ़ाया। उस समय चम्बल के बीहड़ों के सामन्त भी ग्वालियर की विलास-सभा की ओर आकृष्ट होने लगे। मानसिंह के खर्चीले निर्माणों
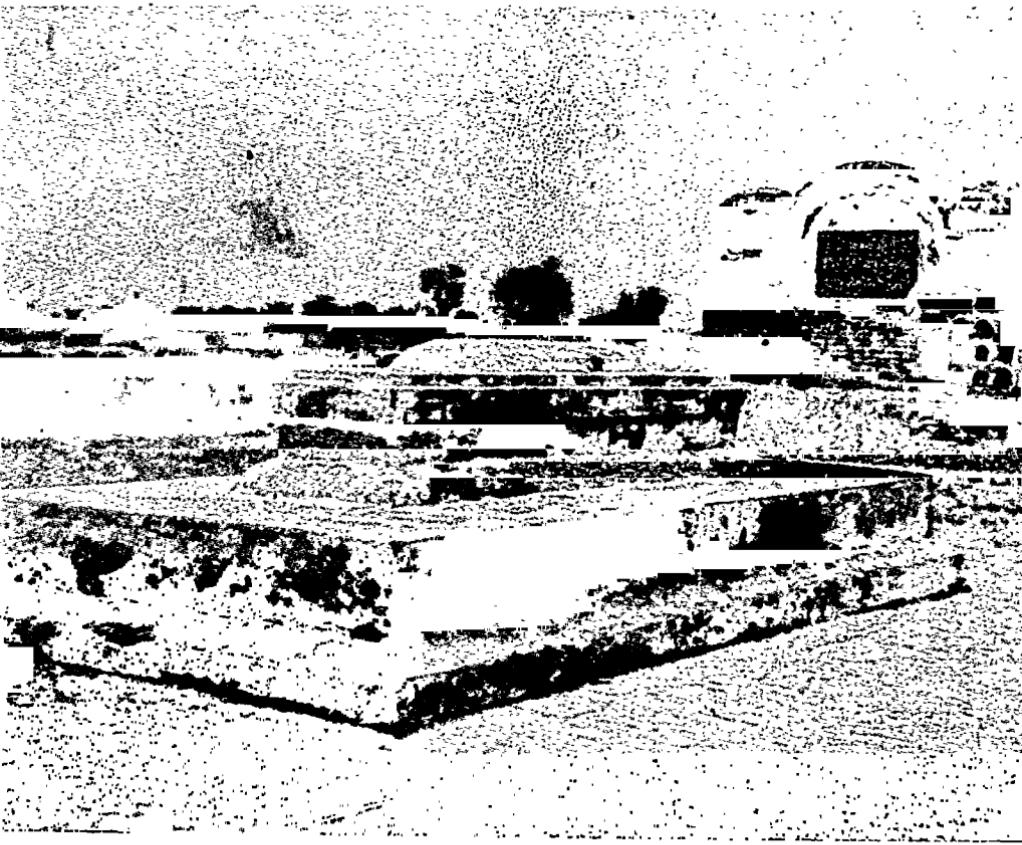
कुरुक्षेत्र में इबराहीम लोदी का मजार

—हरियाणा लोक सम्पर्क विभाग के सौजन्य से

इसी मजार के पास ही कहीं ग्वालियर के अन्तिम स्वतन्त्र तोमर राजा विक्रमादित्य का शव भी कुरुक्षेत्र की समर-भूमि में तिरोहित हो गया था (पृष्ठ १८० देखें)

ने और राग-रंग के प्रोत्साहन ने भी उत्तरी सीमा की सुरक्षा के साधनों पर अवश्य विपरीत प्रभाव डाला होगा। मानसिंह ने डूंगरेन्द्रसिंह और कीर्तिसिंह द्वारा अर्जित और संचित खजाना उड़ा दिया होगा, ऐसा स्पष्ट है। उसकी ख्याति यह है कि वह किसी मुसलमान को वन्दी वना कर भी कभी हत्या नहीं करता था। लूटपाट उसके स्वभाव के विपरीत थी। आय का एकमात्र साधन राजस्व था। मानसिंह के समय में चम्बल की दुर्गम घाटियों को छोड़ उसके प्रधान सामन्त या तो गोपाचल गढ़ पर रहते थे या ग्वालियर गढ से दस-वारह मील के दायरे के गढ़ों पर। इसके अतिरिक्त, मानसिंह के जीवनकाल में ही वहलोल लोदी और सिकन्दर ने चम्वल के दोनों किनारे के राजपूत गढ़ ध्वस्त कर दिए थे। विक्रमादित्य को केवल एक-दो वर्ष का समय मिला था। जैसी परिस्थितियाँ थी, उनमें ग्वालियर गढ़ को और अधिक दृढ़ कर लेने के अतिरिक्त वह कुछ कर भी नहीं सकता था। चम्वल के दक्षिण किनारे के गढ़ों को सजीव करने का न समय था, न साधन। पचास वर्ष के आनन्द-विलास ने चम्वल के सिंहों के नख-दन्त क्षीण कर दिए थे; वे संगीत के अखाड़े, प्रेमाख्यान, ध्रुपद, होरी, धमार में मस्त रहने लगे थे, जो राजधानी ग्वालियर में ही अधिक मिल सकते थे। जव तक मानसिंह जीवित रहे, वे अपने सामन्तों की तलवारों को तेज कराते रहे। परन्तु उनके सामन्तों में अव ग्वालियर के उत्तर के २५-३० मील के क्षेत्र को भी दृढ़ता पूर्वक रक्षा करने की शक्ति नहीं रह गई थी।'

उत्तर, पूर्व और दक्षिण के सुल्तानी राज्यों के आपसी विग्रह भी अव समाप्तप्राय हो गए थे। जौनपुर-कालपी दिल्ली के अधीन हो गए थे, मालवा शिथिल था। इन सल्तनतों के आपसी झगड़े ग्वालियर की शक्ति थे। वे झगड़े कम होते ही दिल्ली सल्तनत अपनी पूरी शक्ति ग्वालियर के विरुद्ध लगा सकी।

अफगान सुल्तानों की शक्ति और उनकी कमजोरी, दोनों ही उनके अमीर थे। जव वे संगठित होकर अपने सुल्तान की सहायता करते थे, तव वह अजेय वन जाता था; और जव वे उसका विरोध करने लगते थे, तव सुल्तान की स्थिति दयनीय हो जाती थी। विक्रम को इवराहीम का सामना उस समय करना पड़ा, जव उसके समस्त अमीर निष्ठा पूर्वक उसके साथ थे; यह सौभाग्य तो वावर का था कि उसका मुकावला उस इवराहीम के साथ हुआ जिसके अनेक अमीर उसका खुलकर विरोध कर रहे थे और अनेक केवल नाममात्र के लिए उसके साथ थे। वावर यदि सन् १५१८ में इवराहीम से जूझता तव पानीपत का परिणाम कुछ और ही होता।

जो हो, फिर भी विक्रम ने लगभग सभी तुर्क अमीरों की संयुक्त वाहिनी, और डा० गौरीशंकर हीराचन्द ओझा के अनुसार, सात हिन्दू राजाओं की सेना का भी मुकावला अनेक वर्षों तक किया, यह कम पराक्रम नहीं है।

गढ़ पर भोजन सामग्री, इतने वड़े लश्कर के लिए इतने वर्षों तक नहीं चल सकती थी। यह विपत्ति रणथम्भौर में हम्मीरदेव पर भी आई थी। पूर्ण अवरोध में खाद्य सामग्री और

सैन्य सहायता गढ़ के बाहर से नहीं आ सकती, तोमरों की अधिकांश सेना बादल गढ़ के युद्ध में ही नष्ट हो गई थी। इसी बीच किसी के विश्वासघात के कारण, नगर से रसद आना भी बन्द हो गई। मार्ग दो ही थे, या तो जो सैनिक बचे थे, उनको लेकर लड़ते-लड़ते मर जाना या गढ़ सौंप कर उन्हें और उनके परिवारों को भूख-प्यास और शत्रुओं की तलवार से बचाना। हम्मीर के समान पहला मार्ग विक्रम ने नहीं अपनाया।

परन्तु विक्रम कायर नहीं था, न उसे अपने प्राणों का मोह था। पानीपत में जब सभी तुर्क अमीर रणक्षेत्र छोड़कर भाग गए थे, तब, यदि वह कायर होता तो रणक्षेत्र से भागने में उसे रोकने वाला कोई नहीं था। वह हुमायूं से पहले आगेरा आ सकता था और इबराहीम का सभी खजाना लेकर चम्बल के बीहड़ों में या राणा सांगा के पास पहुँच सकता था, या बाबर से ही मिल जा सकता था। परन्तु वह मित्र भी पक्का था। उसने इबराहीम के साथ प्राण देना ही उचित समझा।

जैसा भी हो, विक्रमादित्य ग्वालियर का अन्तिम हिन्दू स्वतंत्र राजा था। सन् १५२३ ई० में उसके हाथ से ग्वालियर गढ़ निकल जाने के पश्चात्, ग्वालियर को राजधानी बनाकर किसी स्वतंत्र हिन्दू राजा ने कभी राज्य नहीं किया।

विक्रमादित्य की पराजय के परिणाम

भारत में अनेक विक्रमादित्यों के राज बने और बिगड़े, इसका मलाल किसी को नहीं होना चाहिए। राजपूतों का तंत्र ही ऐसा था। उनके आपसी विग्रह ही इतने थे तथा उनमें कूटनीति का अभाव इस सीमा तक था कि केवल लूट-मार पर निर्भर तुर्कों और अफगानों से उनका पराजित होना सुनिश्चित था; वे न उतने क्रूर हो सकते थे और न उतने सिद्धान्तहीन। जिस इबराहीम ने विक्रमादित्य का सब कुछ लूट लिया, पानीपत के युद्ध के समय उसकी बेगमों और खजाने की रक्षा करता रहा विक्रम का काका अजीत सिंह; और पानीपत के मैदान में जब लगभग सभी अफगान और तुर्क अमीर इबराहीम का साथ छोड़ गए तब उसकी रक्षा के लिए प्राण दिए विक्रमादित्य ने; जब आजम हुमायूं इधर-उधर डाँवाडोल होता रहा तब इबराहीम के भाई जलालखाँ को शरण देने के लिए ग्वालियर गढ़ खोया विक्रमादित्य ने। ग्वालियर गढ़ तोमरों से लोदियों को मिल गया या फिर मुगलों, सूरों और जाटों के पास चला गया, इसका मलाल आज के इतिहास लेखक को नहीं होना चाहिए; परन्तु तोमरों के हाथ से ग्वालियर चले जाने का जो भीषण परिणाम हुआ वह विषादमय और भयंकर है। सवा सौ वर्ष में जैन साधुओं, सन्तों, पण्डितों, कवियों, नायकों और सूफियों ने जिस सांस्कृतिक नवोन्मेष को पल्लवित और पुष्पित किया था; उसका मूलोच्छेदन हो गया। विक्रम की यह पराजय इतिहास के सामने इतना बड़ा अपराध बन गई कि आज का इतिहासकार यह भूल गया कि ग्वालियर की भूमि ने नयचन्द्र सूरि की सरस्वती को जाग्रत किया था; यहाँ पद्मनाभ, रइधू, यशःकीर्ति, गुणकीर्ति जैसे कवियों की वाणी मुखरित हुई थी; यहाँ विष्णुदास, नारायणदास, साधन, देवचन्द्र तथा नाभादास

जैसे महाकवियों ने हिन्दी साहित्य को समृद्ध किया था; और हिन्दी भाषा को अपभ्रंश के केंचुल से निकाल कर उसका परिनिष्ठित रूप निखारा था; यहाँ चतुर्भुजदास, दामोदर, मानिक, और मंझन ने अपनी रस-कथाएँ सुनाई थीं; यहाँ कल्लोल कवि ने "नरवर का ढोल" बजाया था; यहाँ सूर, गोविन्ददास, हरिदास, बैजू, गोपाल और बक्शू जैसे गायकों ने स्वर साधना की थी; यहाँ के शिल्पियों ने पत्थर में प्राण फूँकने वाली कला का चर्मोत्कर्ष किया था; यहाँ के चितेरों ने चित्रकला को परिष्कृत रूप दिया था। जो सांस्कृतिक प्रतिमान सवा सौ वर्ष की साधना द्वारा स्थापित किए गए थे, वे चार-पाँच वर्ष के घेरे में बिखर गए। इस घेरे से जो विद्वान, कवि, भाट और नायक जीवित बच सके उनमें से अधिकांश अपने पोथी-पत्रे, ग्रन्थ आदि लेकर इधर-उधर फैल गए; प्रसिद्ध कलावन्त मथुरा-वृन्दावन अथवा अन्य राजसभाओं में पलायन कर गए। रह गया ग्वालियर गढ़ और उस पर अपनी सूनी गोद लिए चित्रमहल, जिसका मुगलों ने कैदखाने के रूप में उपयोग किया।

विक्रमादित्य हार सकते हैं, परन्तु जनता अजेय है। लोदी गए और मुगल भी गए; अनेक आतंकवादी आए और चले गए; सबने लूटा, सबने शोषण किया; ग्वालियर फिर बसा, फिर पनपा और बन गया संसार के विशालतम गणतंत्र का एक अंग। अब तो हमें केवल एक ध्यान रखना है—फिर कोई लुटेरा हमारी भारत भूमि की ओर न दौड़ पड़े, और यदि वह ऐसा साहस करे भी, तब उसे उचित पाठ पढ़ाने की शक्ति और बुद्धि हममें हो; अब हमारी पराजयों के इतिहास न लिखे जाकर विजयों के इतिहास लिखे जाएँ।

परिशिष्ट

मानसिंह और विक्रमादित्य के इतिहास की समस्याएँ

मानसिंह की मृत्यु का वर्ष

मानसिंह की मृत्यु उस समय हुई जब आजम हुमायूं ग्वालियर घेरे हुए था अथवा उससे पूर्व हुई; यह वास्तव में कोई जटिल समस्या नहीं है, परन्तु उसे जटिल बना दिया गया है। बिना छानबीन किए अनेक स्थलों पर यह लिखा मिलता है कि जब आजम हुमायूं ग्वालियर गढ़ घेरे हुआ था तब मानसिंह की मृत्यु हुई थी। ओझाजी ने एक स्थल पर यह लिखा है कि "जलालखाँ राजा मानसिंह की शरण में जा बैठा। इसलिए इबराहीम शाह ने आजम हुमायूं की अध्यक्षता में तीस हजार सवार और तीन सौ हाथी का लश्कर ग्वालियर पर भेजा जिसमें सात राजा भी साथ थे। इसी अर्से में राजा मानसिंह मर गया और उसका पुत्र विक्रमादित्य गद्दी पर बैठा। एक वर्ष के घेरे के पश्चात् ग्वालियर फतह हुआ।"[1] लगभग इसी प्रकार का कथन सन् १९७० में प्रो० निजामी ने एक ऐसे महत्वपूर्ण ग्रन्थ में किया है "जिसका निर्माण मूल स्रोत-सामग्री के सतर्क और विवेचन पूर्ण अध्ययन के आधार पर किया गया है"। सम्बद्ध अंश के हिन्दी अनुवाद का साहस न कर, हम उसे ज्यों का त्यों देना ही उचित समझते हैं— Ibrahim then made up his mind to invade Gwalior and chastise Jalal. An army comprising of thirty thousand horsemen and three hundred and fifty elephants was sent to reduce Gwalior. Sultan Ibrahim, further, sent reinforcement.........As luck would have it, Raja Man of Gwalior died at this time.[2]

यद्यपि प्रो० निजामी सन् १४६६ ई० में भी राजा मान का राज्य होना मानते हैं[3], जो मात्र हास्यास्पद है, तथापि देखना यह है कि सन् १५१८ ई० में, प्रो० निजामी के अनुसार, राजा मान की मृत्यु का संयोग किस मूल स्रोत के विवेकपूर्ण विवेचन पर आधारित है।

इसके मूल में तबकाते-अकबरी का निम्नलिखित उद्धरण है[4] —

"उसी समय सुल्तान ने यह सोचा कि सुल्तान सिकन्दर ने ग्वालियर को विजय करने तथा उस क्षेत्र के किलों को नष्ट करने के लिए कई बार चढ़ाई की किन्तु उसे सफलता प्राप्त न हुई। यदि भाग्य मेरा साथ दे तो ग्वालियर के किले तथा तत्सम्बन्धी सब विलायत पर विजय प्राप्त करली जाए। तदनुसार उसने कड़ा के हाकिम आजम

---

१. मुहणोत नेणसी की ख्यात, द्वितीय खण्ड, पृष्ठ ४७६ की पाद-टिप्पणी।

२. ए कम्प्रेहेन्सिव हिस्ट्री ऑफ इण्डिया, भाग ५, पृष्ठ ७०५।

३. वही, पृ० ७२५।

४. डा० रिजवी, उ० तै० का० भा० भाग १, पृ० २३६।

हुमायूं शिरवानी को ३० हजार अश्वारोही तथा तीन सौ हाथी देकर ग्वालियर की विजय के लिए भेजा। संयोगवश उन्हीं दिनों ग्वालियर के राजा मान की जो वीरता एवं दानपुण्य में अद्वितीय था और जो दिल्ली के सुल्तानों से वर्षों से मुकावला कर रहा था, मृत्यु हो गई।"

प्रो० निजामी ने ३०० से बढ़ाकर ३५० हाथी कर दिए उसकी चिन्ता नहीं; परन्तु संदर्भ को देखते हुए निजामुद्दीन तवकाते-अकवरी में केवल यह कहना चाहता था कि जो राजा मान इवराहीम के बाप की ग्वालियर-विजय की आकांक्षा के मार्ग में रोड़ा बना हुआ था तथा जो "दिल्ली के सुल्तानों का वर्षों से मुकावला" कर रहा था, वह इस आक्रमण के समय जीवित नहीं था। डा० रिजवी ने जिस शब्द का अनुवाद हिन्दी में 'संयोगवश' दिया है, उसे प्रो० निजामी ने "as luck would have it" कर दिया है, और "उन्ही दिनों" को कर दिया है "this time"।

तारीखे-दाऊदी में भी इस घटना का वर्णन ठीक वैसा ही दिया गया है, जैसा तवकाते-अकवरी में; केवल 'मृत्यु हो गई' के स्थान पर 'नरक को पहुँच गया था' कर दिया गया है।[1]

अहमद यादगार ने स्थिति की और भी स्पष्ट कर दिया है। डा० रिजवी ने उस अंश का हिन्दी अनुवाद निम्न रूप में दिया है[2] —

"तदुपरान्त सुल्तान ने निश्चिन्त होकर विना किसी साझीदार के राज्य को अपने अधिकार में कर लिया और ग्वालियर की विजय का प्रयत्न करने लगा। संयोग से राजा मान, ग्वालियर का वली, जो वर्षों से सुल्तानों के विरुद्ध युद्ध कर रहा था, नरक को प्राप्त हो गया था। विकरमाजीत, उसका पुत्र, उसका उत्तराधिकारी वना। सुल्तान ने अत्यधिक युद्ध के उपरान्त किला उससे छीन लिया।"

इस अंश का सर इलियट द्वारा प्रस्तुत अंग्रेजी अनुवाद निम्न रूप में है[3] —

"After all these events, the Sultan ruled the army without fear and without admitting a partner to his empire. The Raja of Gwalior, who has been 'his' enemy for years having departed to infernal regions, was succeeded by his son Bikramajit. The Sultan after a long war, wrested the fort from him".

डा० रिजवी ने अपना अनुवाद मूल ग्रन्थों को देख कर किया है और सर इलियट से जहाँ कहीं भूल हो गई है, उसे सुधारा है। सर इलियट ने स्वयं उक्त अनुवाद किया भी नहीं था। अतएव जहाँ अंग्रेजी अनुवाद में "who has been his enemy for years"

---

१. डॉ० रिजवी, उ० तै० का० भा०, भाग १, पृ० १९७।
२. वही, पृ० ३४३।
३. इलि० एण्ड डा०, भाग ५, पृ० १३।

लिखा है, वहाँ डा० रिजवी का "वर्षों से सुल्तानों के विरुद्ध युद्ध करता रहा था" शुद्ध है। मानसिंह के ये युद्ध सिकन्दर के साथ हुए थे, न कि इबराहीम के साथ। इबराहीम हाल ही में सन् १५१७ में सुल्तान बना था और सन् १५१८ तक अपनी स्थिति सुदृढ़ करता रहा था।

अहमद यादगार के इतिहास से मानसिंह के नरक या स्वर्ग जाने की जानकारी हमें अपेक्षित नहीं है, परन्तु उसके कथन से यह अवश्य ज्ञात होता है कि इबराहीम द्वारा ग्वालियर गढ़ के आक्रमण के समय ही उसने परलोक यात्रा नहीं की थी, उसके दो वर्ष पूर्व ही वह विक्रमादित्य को इबराहीम से संघर्ष करने के लिए अकेला छोड़ गया था।

इन उद्धरणों के विवेचन से यह निष्कर्ष निकलना अनिवार्य है कि मानसिंह की मृत्यु निश्चय ही सन् १५१८ ई० के पूर्व हो चुकी थी।

ग्वालियर गढ़ का विजेता कौन, आजम हुमायूं या इबराहीम ?

ग्वालियर गढ़ को जब विक्रमादित्य ने लोदियों को समर्पित किया था तब उसको ग्रहण करने के लिए वहाँ आजम हुमायूं था या स्वयं इबराहीम, यह समस्या कुछ अधिक उलझी हुई है; क्योंकि बाबर और खड्गराय के कथनों से यह ज्ञात होता है कि गढ़ आजम हुमायूं ने लिया था। इन कथनों की बारीकी से जाँच करना होगी।

४ मई १५२६ ई० की अपनी दैनंदिनी में बाबर ने ग्वालियर गढ़ के अन्तिम युद्ध के विषय में एक टिप्पणी दी है[1] —

> "विक्रमादित्य के पूर्वज ग्वालियर में १०० वर्ष पूर्व से राज्य करते चले आ रहे थे। सिकन्दर लोदी किले पर अधिकार जमाने के लिए आगरा में कई वर्ष ठहरा रहा। तदुपरान्त इवराहीम के राज्यकाल में आजम हुमायूं सरवानी ने कुछ वर्ष से पूर्ण अवरोध के उपरान्त उसे सन्धि द्वारा प्राप्त कर लिया और उसे शम्शाबाद उसके बदले में दे दिया।"

शाहजहां के काल में खड्गराय द्वारा विरचित गोपाचल आख्यान में इस विषय में लिखा है —

तोंवर नृपति छांड़ि जब दियौ, तब गढ़ आज हुमायूं लियौ।
ऐसौ विरहमखां मन धरे, यह फिर मोसों सरवर करै।
गई खुठक मन सुख भौ आई, तब सो मारौ साहि बुलाई।

बाबर का कथन उसके द्वारा सुनी हुई बात के आधार पर अनुमान से किया गया है, न कि गहरी छानबीन के पश्चात्। विक्रमादित्य के पूर्वजों ने १०० वर्ष नहीं, १२६ वर्ष ग्वालियर पर राज्य किया था। आजम हुमायूं ने आक्रमण प्रारम्भ किया था। गढ़ लेने के समय वह वन्दीगृह में था। खड्गराय ने केवल बाबर के कथन का सम्मान किया है। उस पर अधिक ध्यान देने की आवश्यकता नहीं है।

---

1. बाबर के संस्मरण (मैमायर्स ऑफ बाबर), बैंभरिज, पृ० ४७७।

अन्य फारसी इतिहास लेखक इस विषय में क्या लिखते हैं, यह देखना आवश्यक है।

अब्दुल्लाह ने तारीखे-दाऊदी में आजम हुमायूं की हत्या का हाल लिखते हुए कहा है —"वह (आजम हुमायूं) ग्वालियर का घेरा छोड़कर आगरा की ओर चल दिया और अधिकांश लोगों को वह लौटा देना चाहता था, किन्तु कोई भी उसका साथ न छोड़ना चाहता था। जब वह चम्बल नदी के तट पर पहुँचा और नौका पर सवार हुआ तो कुछ उत्कृष्ट लोगों ने एकत्र होकर कहा, आगरा जाना किसी प्रकार उचित नहीं। आजम हुमायूं ने किसी को भी नदी पार न करने दी और सभी को (ग्वालियर) लौटा दिया।"[1]

ख्वाजा निजामुद्दीन अहमद ने तबकाते-अकबरी में लिखा है[2]—"कुछ समय उपरान्त सुल्तान के आदेशानुसार आजम हुमायूं सिरवानी तथा उसका पुत्र फतहखाँ, जो ग्वालियर के किले को घेरे हुए थे और लगभग विजय प्राप्त कर चुके थे, आगरा उपस्थित हुए। सुल्तान ने उन्हें बन्दी बना लिया।"

अहमद यादगार ने भी तारीखे-सलातीने-अफगान में लिखा है[3]— "अचानक सुल्तान का फरमान पढ़ते ही किले का कार्य त्याग कर जाने की तैयारी प्रारंभ कर दी।"

इसके साथ ही तारीखे-दाऊदी का यह कथन भी महत्वपूर्ण है[4]—"सुल्तान इबराहीम ने अपने भाई की हत्या करने के उपरान्त निश्चिन्त होकर ग्वालियर की विजय हेतु प्रस्थान किया।"

इन सब उद्धरणों को देखते हुए हम यह मानने के लिए विवश हैं कि ग्वालियर गढ़ का घेरा आजम हुमायूं ने प्रारंभ किया, वह सफल होने ही वाला था कि इबराहीम ने उसे बुलाकर बन्दीगृह में डाल दिया और ग्वालियर-विजय का श्रेय लेने के लिए वह स्वयं ग्वालियर जा पहुँचा।

ग्वालियर गढ़ की पराजय का वर्ष

७ जनवरी १५१८ ई० के पश्चात् आजम हुमायूँ ने जलालखाँ का साथ छोड़ा था और उसके पश्चात् ही जलालखाँ ग्वालियर आया था। सन १५१८ ई० के मध्य में आजम हुमायूं ने ग्वालियर गढ़ पर आक्रमण किया होगा। तब समस्या यह उत्पन्न होती है कि ग्वालियर गढ़ का अवरोध कितने समय तक चला। बाबर ने ४ मई १५२६ ई० की अपनी दैनन्दिनी में लिखा है कि गढ़ का पतन 'कुछ वर्ष के पूर्ण अवरोध' के पश्चात् हुआ था।[5] खड्गराय ने इसी कथन का भाष्य करते हुए लिखा है "घेरे रहे बरस छै-पांच" तथा "तेहि गढ़ ऐसो घेरो आई, पँछी पवन न गढ़ पर जाई।" इबराहीम के इतिहासों में ऐसी कोई घटना भी

1. डा० रिजवी, उ० तै० का० भा०, भाग १, ३०३।
2. डा० रिजवी, उ० तै० का० भा०, पृ० २३७।
3. वही, पृ० ३४७।
4. वही, पृष्ठ २९७।
5. बाबर नामा, बेमरिज, पृ० २९७।

नहीं मिलती जिसके कारण यह कहा जा सके कि खड्गराय का कथन असत्य है और यह घेरा सन् १५२ ई० तक नहीं चल सका होगा। वास्तव में ग्वालियर गढ़ की विजय के पश्चात सन् १५२३ ई० तक का इब्राहीम का इतिहास केवल अमीरों के दमन तथा उनके विद्रोह का इतिहास है। इसके लिए सन् १५२३ ई० के पश्चात् का समय ही पर्याप्त है। अतएव, खड्गराय के वरस "छै-पांच" में कोई अतिशयोक्ति ज्ञात नहीं होती। इब्राहीम के राज्यकाल की प्रमुख घटनाएँ केवल चार हैं—जलाल-वध, ग्वालियर-विजय, आजम हुमायूं-भूवा आदि का वध और पानीपत में पराजय। ग्वालियर गढ़ की विशालता को देखते हुए उसके भीतर संग्रहीत रसद चार-छह वर्ष चल सकती है। गढ की अभेद्यता के कारण भी विक्रम का धैर्य चार-छह वर्ष के पूर्व नहीं टूट सकता था। अतएव, हम यह मानकर चले हैं कि ग्वालियर गढ़ सन् १५२३ ई० के प्रारम्भ में लोदियों के हाथ आया होगा।

परिच्छेद ११

ग्वालियर गढ़ की पुनर्प्राप्ति के प्रयास

महामणि का सौदा

अजीतसिंह[1], दाद किरानी तथा फीरोजखाँ मेवाती इवराहीम लोदी की ओर से उस समय आगरा की रक्षा कर रहे थे, जव इवराहीम और विक्रमादित्य पानीपत के मैदान में वावर से युद्ध करने गए थे। पानीपत के युद्ध में विजय प्राप्त होते ही वावर को लोदियों के खजाने हस्तगत करने की चिन्ता हुई। मुख्य खजाना आगरा में था और कुछ था दिल्ली में। आगरा के खजाने पर कब्जा करने के लिए कुछ सेनापतियों के साथ हुमायूं को भेजा गया और दिल्ली भेजा गया महदी ख्वाजा को। दूसरे ही दिन वावर भी दिल्ली की ओर चल दिया।

४ मई १५२६ ई० को हुमायूं आगरा पहुँचा। हुमायूं ने इस भय से युद्ध प्रारम्भ नहीं किया कि कहीं भीतर लोग खजाने को ही नष्ट न कर दें। आगरा में ही विक्रमादित्य का परिवार और खजाना भी था। ज्ञात होता है कि दाद किरानी और फीरोजखाँ ने हुमायूं से, अजीतसिंह की अनभिज्ञता में, सन्धि की चर्चा प्रारम्भ की और हानि न पहुँचाने का आश्वासन लेकर किला हुमायूं को समर्पित करने का निश्चय किया। अजीतसिंह ने अपने तोमर सामन्तों और सैनिकों की सहायता से अपने परिवार और खजाने के साथ मुगुलों का घेरा तोड़कर भाग जाना ही उचित समझा। वे इस प्रयास में सफल न हुए और मुगुलों ने उन्हें घेर लिया। हुमायूं को तोमर-कुल के प्रताप की जानकारी हो गई थी। आगरा के गढ़ पर अधिकार करने के पूर्व वह कोई युद्ध करना भी नहीं चाहता था। उसने मुगुल सैनिकों को तोमरों को लूटने से रोका और अजीत ने कृतज्ञता-ज्ञापन में, अथवा हुमायूं को उन्हें सुरक्षित चले जाने देने के लिए सहमत करने के उद्देश्य से, अत्यधिक मणि-रत्न दिए, जिनमें वह महामणि भी था, जिसका मूल्य मुगुलों के जौहरियों ने कूता था।[2] उसका वजन ८ मिस्कल (लगभग ३२० रत्ती) था और उसके मूल्य से सारे

---

१. तारीखे-अल्फी, डा० रिजवी, वावर, पृ० ३३६।

२. तोमरों के पास यह महामणि कहाँ से आया उसके विषय में अनेक अनुमान किए गए हैं। वावर का अनुमान यह है कि उसे "अलाउद्दीन लाया होगा।" (वावरनामा, वेभरिज, पृ० ४७७, डा० रिजवी, वावर, पृ० १६१) वावर का आशय यह ज्ञात होता है कि उसे अलाउद्दीन खलजी दक्षिण के राज्यों में से किसी राज्य से लाया था। अलाउद्दीन खलजी के पास से यह मालवे के खलजियों के पास पहुँचा। तोमरों के हाथ यह

संसार की आवादी को २।। दिन तक भोजन कराया जा सकता था। इस महामणि के सौदे के वदले हुमायू की सेना से पीछा छुड़ाकर अजीतसिंह, विक्रमादित्य की विधवा पत्नी और उसका पुत्र आगरा से भागे और फिर चम्वल-घाटी में आ गए।

धुरमंगद का संघर्ष

धुरमंगद (जिन्हें बावर धर्मानकत लिखता है तथा जिनका नाम मंगलदेव या मंगत-राय भी लिखा मिलता है) कीर्तिसिंह के छोटे पुत्र थे। मानसिंह ने उन्हें ढोढरी (अम्वाह) में १२० गाँव जागीर में दिए थे। आगरा छोड़ने के पश्चात् समस्त तोमर-परिवार ढोढरी में रहने लगा, परन्तु यहाँ आकर इन्होंने चैन नहीं लिया।

इबराहीम लोदी की ओर से तातारखाँ सारंगखानी ग्वालियर गढ़ का सेनापति था। विक्रमादित्य का युवराज रामसिंह उस समय अधिक से अधिक ४–५ वर्ष का होगा।[2]

धुरमंगद अवश्य उस समय काफी वृद्ध होंगे। तोमरों का नेतृत्व उन्होंने ही किया। तोमरों ने ग्वालियर गढ़ पर आक्रमण प्रारम्भ किए। तवकाते-अकवरी के अनुसार रामसिंह की सहायता के लिए बहुत से राय, राजा और जमीदार इकट्ठे हुए थे।[3] उनके साथ

हीरा सन् १४३७ ई० में आया, जब होशंगशाह खलजी ने ग्वालियर पर आक्रमण किया था और वह वहाँ पराजित हुआ था। सन् १५२६ ई० में अजीतसिंह तोमर को इसे हुमायू को देना पड़ा। इस महामणि को टेवरनियर नामक यात्री ने शाहजहाँ के पास देखा था। यह हीरा सन् १७३९ ई० तक मुगलों के पास रहा। सन् १७३९ ई० नादिरशाह ने दिल्ली पर आक्रमण किया और तत्कालीन मुगल सम्राट् मुहम्मदशाह (१७१९-१७४८) से यह हीरा ले लिया। नादिरशाह ने ही इसका नाम कोहे-नूर रखा था। मुहम्मदशाह ने इस हीरे को अपनी पगड़ी में छिपा लिया था। एक दासी के द्वारा यह भेद नादिरशाह को ज्ञात होगया। उसने मुगल सम्राट् से मैत्री के प्रतीक रूप में पगड़ी वदलने का प्रस्ताव किया। जब पगड़ी वदलने के पश्चात् नादिरशाह ने उसमें से इस हीरे को निकाला तव वह इस की आभा देखकर चमत्कृत होगया और उसके मुंह से निकल पड़ा—'कोहे-नूर', अर्थात्, प्रकाश का पर्वत। तभी से इस महामणि को कोहेनूर कहा जाने लगा। नादिरशाह इस महामणि को अधिक समय तक न रख सका। सन् १७४७ ई० में उसे कत्ल कर दिया गया और उसका राज्य अहमदशाह अब्दाली ने छीन लिया। राज्य के साथ ही अब्दाली को यह हीरा भी प्राप्त हुआ। अहमदशाह अब्दाली के वंशज शाह शुजा से इस हीरे को महाराज रणजीतसिंह ने छीन लिया। रणजीत सिंह ने अन्य रत्नों के साथ इस हीरे को भी अंग्रेजों के गवर्नर जनरल को अर्पित कर दिया। वहाँ इसे मेजर जनरल कनिंघम ने भी देखा था और यह अभिमत व्यक्त किया था कि यह वही महामणि है जिसका उल्लेख वावर ने अपनी आत्मकथा में किया है। यह महामणि आज-कल इंग्लैण्ड की रानी के मुकुट में लगा हुआ है।

२ रामसिंह की मृत्यु हल्दीघाटी के युद्ध-क्षेत्र में १८ जून, १५७६ ई० को हुई थी। उन्हें राणा प्रताप ने अपनी सेना के दक्षिण पार्श्व का सेनापति वनाया था। उस समय उनकी वय ६० से कम होना चाहिए। जिस भीषणता से उन्होंने युद्ध किया था उसे देखते हुए इनकी वय वहुत अधिक नहीं होना चाहिए।

३ डा० रिजवी, वावर, पृ० ४३०।

मानसिंह के भतीजे खानेजहाँ नरसिंहदेव भी थे।[1] तातारखाँ संकट में पड़ गया। उल्लेख यह मिलता है कि तातारखाँ ने पराजय स्वीकार कर ली और गढ़ रामसिंह को दे दिया, परन्तु स्वयं गढ़ के ऊपर ही छिपा रहा तथा गुप्त मार्ग से बाबर से सहायता माँगी। परन्तु ज्ञात यह होता है कि तातारखाँ केवल गढ़ समर्पण करने की चर्चा करता रहा। उसे सलाह यह दी गई कि विधर्मियों को गढ़ देने के बजाए मुगुलों को गढ़ देना उचित होगा। अतएव धुरमंगद के साथ सन्धि की चर्चा के साथ-साथ उसने बाबर के पास सहायता की याचना के लिए भी दूत भेजे।

बाबर ने ३० नवम्बर १५२६ ई० के लगभग रहीमदाद को मुल्ला अपाक तथा शेख गूरान (अबुल फतहखाँ) के साथ ग्वालियर भेजा। जब तोमरों ने मुगुल सेना को देखा तब उन्हें तातारखाँ के प्रपंच का ज्ञान हुआ। धुरमंगद की सेना को अब मुगुल-वाहिनी से लड़ना पड़ा। मुगुलों की बहुसंख्यक सेना को वे पराजित न कर सके और उन्हें पीछे हटना पड़ा।

जब तोमर सेना चली गई तब तातारखाँ आश्वस्त होगया और उसने रहीमदाद को गढ़ देने से मना कर दिया। रहीमदाद और शेख गूरान आदि गढ़ के बाहर रह गए और तातारखाँ गढ़ को बन्द कर भीतर सुरक्षित होकर बैठ गया।

तोमरों ने बाहर पड़ी मुगुल सेना को सताना प्रारम्भ किया और उन पर रात्रि के समय आक्रमण प्रारम्भ कर दिए। रहीमदाद ने सहायता के लिए और सेना भेजने के लिए बाबर के पास सन्देश भेजा। रहीमदाद की स्थिति बिगड़ती ही जा रही थी। उसी बीच उसे गढ़ के भीतर से शेख मुहम्मद गौस का सन्देश मिला कि किसी प्रकार भी गढ़ में प्रविष्ट हो जाओ। प्रविष्ट होने की युक्ति भी सम्भवतः शेख साहब ने बतला दी। रहीमदाद ने तातारखाँ को सन्देश भेजा—"काफिरों के कारण बाहर खतरा है, हमारा इस ओर आने का उद्देश्य काफिरों के विद्रोह को शान्त करना है, न कि इस गढ़ की विजय करना, अतः शत्रुओं द्वारा रात्रि के छापे के भय के कारण यह समझ में आता है कि कुछ लोग थोड़ी-सी संख्या में किले में प्रविष्ट हो जाएँ और शेष सेना गढ़ के कोट के निकट शरण लिए रहें और जब अवसर आए सभी मिलकर बाहर निकल पड़ें और संगठित होकर विद्रोह की अग्नि शांत कर दें।" तातारखाँ इस बात के लिए राजी नहीं हो रहा था। सम्भवतः शेख गौस ने उसे राजी किया। ख्वाजा निजामुद्दीन अहमद ने यह लिखा है कि शेख "दावते-इस्मे-आजम इलाही" के ज्ञान में निपुण थे "अतः उन्होंने किले की विजय हेतु अल्लाह के नामों में से किसी नाम का जाप प्रारम्भ कर दिया। विश्वास है कि उनकी प्रार्थना का बाण स्वीकृति के लक्ष्य पर लगा।" कुछ भी हुआ हो, अफगान तातारखाँ मूर्ख बन गया और उसने

1. डा० रिजवी, बाबर, पृ० २१९। बाबर ने लिखा है 'एक अन्य काफिर जो खानेजहां कहलाता था'। काफिर से आशय 'हिन्दू' ही होगा। उस समय 'काफिरों' में नरसिंहदेव ही 'खानेजहां' था। उसे गुजरात के सुल्तान ने खानेजहां की पदवी दी थी। परिच्छेद १२ का परिशिष्ट एक देखें।

रहीमदादखाँ को कुछ सैनिकों के साथ गढ़ के भीतर बुला लिया। रहीमदाद ने अपने कुछ आदमियों को गढ़ के "हथिया पौर" के पास ठहरने की अनुमति भी तातारखाँ से प्राप्त कर ली। रात हुई, और जब सब लोग सो गए तब रहीमदाद के उन आदमियों ने हथिया पौर का द्वार खोल दिया और सब मुग़ल सेना गढ़ में प्रविष्ट हो गई। सवेरा होने पर तातारखाँ ने अपने आपको विवश पाया। वह बाबर की शरण में आगरा पहुँचा और उसे २० लाख की जागीर दे दी गई। शेख़ की यशःकीर्ति भी बाबर के कान में पड़ी।

धुरमंगद ने फिर भी रहीमदाद को चैन न लेने दिया। राणा संग्रामसिंह के प्रबल आक्रमणों के कारण ग्वालियर गढ़ की अधिकांश मुग़ल सेना और उसके सरदारों को बयाना की ओर प्रस्थान करना पड़ा। रहीमदाद ग्वालियर गढ़ की सरदारी से ऊब चुका था। तोमरों के दिन-रात के उत्पात की अपेक्षा वह यहाँ से किसी सुरक्षित स्थान को चला जाना चाहता था। बाबर भी रहीमदाद तथा उसके चाचा महदी ख्वाजा से अप्रसन्न हो चला था। परन्तु ग्वालियर का घटना-चक्र कुछ समय के लिए थम गया।

१६ मार्च १५२७ को खानवा में राणा संग्रामसिंह के नेतृत्व में सलहदी, मेदिनीराय, मारवाड़ के सदर्यसिंह, हसनखाँ मेवाती, ईडर के भारमल, नरपति हाड़ा, कच्छ के राय आदि की संयुक्त वाहिनी को परास्त कर बाबर ने उसके प्रतिरोध की रीढ़ तोड़ दी और 'काफिरों' के सिरों का एक स्तम्भ, उस पहाड़ी पर बनवाया जहाँ वह युद्ध हुआ था।[1] २४ सितम्बर १५२८ ई० को वह ग्वालियर की ओर चला और २७ सितम्बर से ४ अक्टूबर १५२८ ई० तक वह ग्वालियर गढ़ और सलहदी के जन्म स्थान पर घूमता रहा। बाबर का उद्देश्य इस प्रदेश की शक्ति के मूल का पता लगाना था। वह कहाँ तक सफल हुआ, यह ज्ञात नहीं। परन्तु वह रहीमदाद से पूर्णतः असन्तुष्ट अवश्य होगया। रहीमदाद बाबर की ओर से आशंकित था ही। वह मालवा के खलजियों के पास भाग जाने का विचार करने लगा।

११ अगस्त १५२९ ई० को सैयिद मशहदी ने आगरा पहुँच कर बाबर को रहीमदाद की अस्थिरता से अवगत कराया। बाबर ने अनेक पत्र और सन्देश-वाहक रहीमदाद के पास भेजे, परन्तु वह बादशाह के पास जाने में टालटूल करता रहा।

गोपाचल-आख्यान के अनुसार रहीमदाद इस बीच मांडू गया[2] परन्तु वहाँ के सुल्तान से उसे कोई आश्वासन प्राप्त न हो सका। जलाल हिसारी की 'तारीखे-ग्वालियर' के अनुसार वह मांडू जाने का केवल इरादा करता रहा। परन्तु गोपाचल-आख्यान तथा तारीखे-ग्वालियर, दोनों इस तथ्य पर सहमत हैं कि रहीमदाद ने धुरमंगद को ग्वालियर गढ़ सौंपने का निश्चय कर लिया।

---

१. डा० रिजवी, बाबर, पृ० २५१।

२. गोपाचल-आख्यान के उद्धरण के लिए परिच्छेद १२ का परिशिष्ट दो 'शेख मुहम्मद गौस' देखें।

शेख मुहम्मद गौस को यह बात पसन्द न आई। वे रहीमदाद के पास गए और उन्हें समझाया, "जो गढ़ मुसलमानों के पास इतने कष्ट से आया है तुम उसी गढ़ को हिन्दुओं को दे देना चाहते हो। हिन्दुओं के पास इस गढ़ के चले जाने पर तुम्हारे लिए यहाँ स्थान न रहेगा। तुम ऐसा मत करो, मैं बादशाह बाबर से तुम्हें क्षमा करवा दूँगा।"[१]

५ सितम्बर १५२९ ई० को शेख स्वयं आगरा पहुँचा। उसने बाबर को स्थिति की गंभीरता समझाई; हिन्दुओं के पास गढ़ चले जाने पर उसे जीतना कठिन होगा, अतएव रहीमदाद को क्षमा कर देना ही उचित होगा। बाबर ने शेख की बात मान ली और रहीमदाद को क्षमा कर दिया। शेख गूरान (अबुल फतहखाँ) तथा नूरबेग को अपने फरमान के साथ ग्वालियर भेजा। रहीमदाद आगरा बुला लिया गया और शेख गूरान (अबुल फतहखाँ) को ग्वालियर का सूबेदार नियुक्त कर दिया गया।

संगीतज्ञ[२] सैनिक शेख गूरान और राजनीतिक दरवेश शेख मुहम्मद गौस ग्वालियर के संरक्षक हो गए। खड्गराय ने शेख गूरान के लिए लिखा —

तानै आइ बहुत जस लियौ, धर्मराज गढ़ ऊपर कियौ।

शेखों का धर्मराज प्रारम्भ हो गया, और धुरमंगद की ग्वालियर गढ़ लेने की आकांक्षा सदा के लिए समाप्त हो गई। वृद्ध तोमर धुरमंगद कहीं चम्बल की घाटियों में समाप्त हो गया और खानेजहाँ नरसिंहदेव गुजरात चला गया।

---

१. डा० रिजवी, बाबर, पृ० ३३८, टिप्पणी।

२. शेख गूरान उत्कृष्ट संगीतज्ञ था, और सूफियों की तरह संगीत सभाओं में बहुत रोता था, इतना कि किसी को भी इस प्रकार रोते-चिल्लाते हुए नहीं सुना गया। (वाकआते-मुश्ताकी, डा० रिजवी, बाबर, पृ० ४४१-२।)

परिच्छेद १२

रामसिंह

(१५२६-१५७६ ई०)

के राजा' कहे जाने का अधिकार तो उसी दिन प्राप्त कर चुके थे जब अत्यन्त कच्ची अवस्था में उनके पिता विक्रमादित्य का पानीपत के मैदान में निधन हुआ था। दो-तीन वर्ष उनके दादा धुरमंगद उनके लिए ग्वालियर गढ़ वापिस लेने का प्रयास करते रहे। रामसिंह कहीं चम्बल के बीहड़ों में दिन बिताते रहे और अपने बाहुओं में वह शक्ति संचित करते रहे जिसका पराक्रम उनके द्वारा हल्दीघाटी में रक्तताल में दिखाया गया था। उन्हें समय की प्रतीक्षा थी और वह समय अत्यन्त विचित्र परिस्थितियों में आया सन् १५४२ ई० में।

शेरशाह का उदय

सन् १५२६ ई० में पानीपत के मैदान में अफगानों का दिल्ली-साम्राज्य समाप्त हो गया। फिर बिखरे हुए अफगानों तथा राजपूत राजाओं ने राणा संग्रामसिंह के नेतृत्व में मुगुल बाबर से पुनः सत्ता छीन लेने का प्रयास किया। १२ मार्च १५२७ ई० को खानवा के युद्ध क्षेत्र में वह प्रयास भी असफल हुआ और बाबर ने राजपूत राजाओं और अफगान अमीरों का दमन प्रारम्भ कर दिया। वह आंशिक रूप से ही सफल हो सका था कि सन् १५३० ई० में उसकी मृत्यु हो गई। अपने राज्यकाल के प्रारम्भिक वर्षों में हुमायूं मालवा और गुजरात की तुर्क सल्तनतों से उलझा रहा। गुजरात के सुल्तान बहादुरशाह को उसने माण्डू, मन्दसौर, चम्पानेर आदि अनेक स्थलों पर पराजित कर दिया और उसको सुदूर खम्बायत में भगा दिया। परिस्थितियाँ ऐसी उत्पन्न हो गई थीं कि बहादुरशाह का राज्य समाप्त हो जाता; परन्तु इसी बीच हुमायूं को समाचार मिला कि पूर्वी भारत में अफगान अमीर प्रबल हो रहे हैं, और वे मुगुलों के लिए वास्तविक संकट उपस्थित कर रहे हैं। हुमायूं गुजरात-विजय अधूरी छोड़ आगरा की ओर चल दिया।

रोह के पठान हसनसूर और शेखावाटी के चौहानों की राजकुमारी से नारनौल में जन्म लेने वाले फरीदखाँ सूर ने, सूर, लोदी, सरवानी, नियाजी आदि पठान अमीरों को संगठित कर अफगानों का विगत साम्राज्य पुनर्स्थापित करने का अभियान प्रारम्भ किया। उसने शेरखाँ और फिर शेरशाह के नाम से विहार में अपना राज्य स्थापित किया, और वह दिल्ली की ओर बढ़ने लगा। १७ मई १५४० ई० में कन्नौज पर हुमायूं और शेरशाह

के बीच निर्णायक मुकाबला हुआ जिसमें पराजित होकर हुमायूं को भारत छोड़ने के लिए विवश होना पड़ा। शेरशाह ग्वालियर की ओर बढ़ा।

रामसिंह और शेरशाह

ग्वालियर गढ़ पर उस समय हुमायूं के स्वामिभक्त सेवक अब्दुल कासिम बेग का अधिकार था। शेरशाह चम्बल पार कर ग्वालियर गढ़ की ओर चला। रामसिंह को आशा हुई कि संभवतः मुग़लों का शत्रु यह अफ़गान पठान उन्हें ग्वालियर गढ़ पर स्थापित कर देगा। वे उसके साथ अपनी सेना सहित हो लिए। सन् १५४२ ई० में शेरशाह ने कासिम बेग से ग्वालियर गढ़ प्राप्त कर लिया। हीरामन के 'ग्वालियर नामा' के अनुसार शेरशाह ग्वालियर गढ़ पर कुछ समय ठहरा और उसने शेर-मन्दिर तथा तालाब बनवाया। शेरशाह ने रामसिंह को अपने सेनापति शुजातखाँ के अधीन कर दिया और वे सब मालवे की विजय के लिए चल दिए।

शेरशाह का धोखा

सलहदी रामसिंह के पूर्वज थे।[1] सलहदी अपने भाई लक्ष्मणसेन के साथ ६ मई १५३२ ई० को रायसेन के जौहर के समय गुजरात के बहादुरशाह के विरुद्ध लड़ते हुए खेत रहे थे। सलहदी के ज्येष्ठ राजकुमार भूपतिराय को बहादुरशाह ने अपने साथ रख लिया, जो माण्डू के युद्ध में हुमायूं द्वारा मार डाला गया। सलहदी के अन्य पुत्र पूरनमल, चन्द्रभोज और छत्रमल, भूपति के अवयस्क पुत्र प्रतापसिंह को लेकर मेवाड़ पहुँचे। सलहदी के बड़े पुत्र भूपति का पुत्र होने के कारण 'राव' प्रतापसिंह ही था। जब परिस्थितियाँ अनुकूल हुईं तब रायसेन पुनः प्रतापसिंह को प्राप्त हो गया। उस अवयस्क राजा की ओर से राज्य कर रहे थे, भैया पूरनमल। शेरशाह ने पूरनमल से सन्धि कर ली और रायसेन के राज्य में हस्तक्षेप नहीं किया। रामसिंह बहुत प्रसन्न हुए होंगे। बड़े उत्साह से शुजातखाँ को विजयी बनाने में वे अपना पराक्रम दिखाते रहे। परन्तु अप्रैल, १५४३ ई० में शेरशाह ने पूरनमल के साथ वह विश्वासघात किया जिसे इतिहास लेखक शेरशाह का अमिट कलंक मानते है।[2] विधिवत् सन्धि कर लेने के पश्चात् शेरशाह ने रायसेन गढ़ के पाँच हजार व्यक्तियों में से एक को भी जीवित न छोड़ा। अपनी आँखों के सामने तोमर-कुल की एक शाखा का वंशनाश देखने के पश्चात् रामसिंह की क्या मनोदशा हुई होगी इसकी कल्पना की जा सकती है।

---

१. यद्यपि रामसिंह और सलहदी के वंश-परम्परागत सम्बन्धों का स्पष्ट आधार नहीं मिलता, तथापि सलहदी सोनना के तोमर सामन्त के यहाँ पैदा हुआ था इसमें कोई सन्देह नहीं है। सोनना उस समय निश्चित ही ग्वालियर के तोमरों के अधीन था। तोमरों की राज्य-व्यवस्था ही इस प्रकार की थी कि वे यत्र-तत्र अपने परिवार के राजकुमारों को सामन्त बनाते थे। संभावना यही है कि सलहदी ग्वालियर के तोमरों के राजवंश का था।

२. इसका विवरण 'मालवा के तोमर' खण्ड के अन्तर्गत आगे दिया गया है।

अफगान शेरशाह ने रामसिंह तोमर को ग्वालियर गढ़ तो न दिलाया, उनके सामने ही मालवा का तोमर राज्य अवश्य समाप्त कर दिया। रामसिंह को फिर चम्वलों के वीहड़ों में लौटना पड़ा।

ग्वालियर-विजय का अन्तिम प्रयास

ग्वालियर में, इस बीच, महत्वपूर्ण घटनाएँ हो चुकी थीं। शेरशाह के पश्चात् उसका पुत्र जलालखाँ उत्तराधिकारी हुआ। उसने अपना नाम इस्लामशाह रखा। राज्य पाते ही उसने चुनार के गढ़ से अपनी पैतृक सम्पति हटाकर ग्वालियर गढ़ में रख दी और ग्वालियर को ही अपनी राजधानी वना लिया। वह सन् १५५३ ई० में मर गया। उसके पश्चात् उसका १२ वर्षीय पुत्र फीरोज गद्दी पर बैठा। इसकी हत्या इसके मामा मुवरिजखाँ ने कर दी और वह स्वयं आदिलशाह ने नाम से सुल्तान वना। इसका ही प्रधान मंत्री हेमू अर्थात् हेमचन्द्र था, जिसे उसने विक्रमादित्य की पदवी दी थी। इसी बीच हुमायूं पुनः भारत में अपने पैर जमाने में सफल हो गया। उसके पश्चात् उसके अवयस्क पुत्र जलालुद्दीन अकवर ने, वैरमखाँ के अभिभावकत्व में, मुगुल-साम्राज्य की बागडोर संभाल ली। हेमचन्द्र को वैरमखाँ ने पानीपत के युद्ध-क्षेत्र में पराजित कर दिया। हेमचन्द्र का सिर अवयस्क अकवर से कटवाया गया और इस प्रकार उसे 'गाजी' वना दिया गया। आदिलशाह भी पटना में मारा गया। आदिलशाह ने ग्वालियर गढ़ इस्लामशाह के दास सुहैल के कब्जे में दे रखा था। सन् १५५८ ई० में ग्वालियर गढ़ पर सुहैल का ही कब्जा था, यद्यपि उसके स्वामियों का राज्य समाप्त हो चुका था।

रामसिंह ऐसे ही अवसर की प्रतीक्षा में था। सन् १५५८ ई० में उसने चम्वल के वीहड़ों में निकल कर विशाल सेना एकत्र की और ग्वालियर गढ़ पर आक्रमण कर दिया। सुहैल की पराजय निश्चित ज्ञात होने लगी, गढ़ दृढ़ता से घेर लिया गया।

अकवर ने अपने एक सेनापति कियाखाँ को ग्वालियर गढ़ पर कब्जा करने के लिए भेजा। रामसिंह को गढ़ का घेरा छोड़ अब मुगुल सेना से युद्ध करना पड़ा। रामसिंह ने कम सैन्य बल होते हुए भी तीन दिन तक मुगल सेना से घोर युद्ध किया, परन्तु वह विजयी न हो सका। रामसिंह को पीछे हटना पड़ा।[1]

कियाखाँ ने ग्वालियर गढ़ घेर लिया। अकवर ने उसकी सहायता के लिए और सेना भेजी। सुहैल को समझाया गया कि गढ़ हिन्दुओं के पास चला जाए इससे तो उसे

१. अबुलफजल, अकवरनामा, वैभरिज, खण्ड २, पृ ८८। हीरामन और फज्लअली भी इस युद्ध का वर्णन अबुलफजल के अनुसार ही करते हैं। परन्तु "तारीखे-अल्फी" में इस घटना का वर्णन कुछ अन्य रूप में किया गया है। उसके अनुसार, रामसिंह को सुहैल ने उस समय बुलाया था जब कियाखाँ ने ग्वालियर गढ़ घेर लिया था। सुहैल ने रामसिंह से गढ़ का उचित मूल्य मांगा था। रामसिंह उसके पास धन लेकर ग्वालियर आया। जब वह वहाँ पहुँचा तो कियाखाँ ने उस पर आक्रमण कर दिया। (इलियट एण्ड डाउसन, खण्ड ५, पृ १३६।) अबुलफजल का विवरण अधिक प्रामाणिक है तथा स्वाभाविक भी है।

मुगलों को दे देना ही उत्तम होगा। मुगलों ने हाजी मुहम्मदखाँ सीस्तानी को भी सुहैल को समझाने के लिए भेजा। सुहैल ने उनकी बात मानली और गढ़ कियाखाँ को सौंप दिया। सुहैल बादशाह अकबर के पास चला गया, जहाँ उसे इनामें और जागीर मिली।

ग्वालियर गढ़ के विषय में हुई इस मुगल-पठान अभिसन्धि को देखकर रामसिंह को विश्वास हो गया कि ग्वालियर गढ़ प्राप्त करने का प्रयास अब व्यर्थ है और वह अपने परिवार-परिजन सहित मेवाड़ में राणा उदयसिंह के पास चला गया।

राज-नीड़ में

मध्ययुग में राजपूत जब सब कुछ खो बैठता था तब राजपूतों के नीड़, राजस्थान, की ओर भागता था। महाराणा कुम्भा और राणा संग्रामसिंह के नेतृत्व को उस समय ग्वालियर के तोमर पूर्णतः मानते रहे थे। राणा संग्रामसिंह के समय में तो तोमरों के विवाह सम्बन्ध भी राणाओं से हो गए थे। अतएव, ग्वालियर गढ़ से निराश होकर रामसिंह मेवाड़ के राणा उदयसिंह की शरण में पहुँचे। मेवाड़ के इतिहास लेखक उन्हें 'ग्वालियर के राजा' के नाम से ही सम्बोधित करते है। राणा ने उनको सम्मान के साथ रखा। उनके पुत्र शालिवाहन के साथ अपनी एक राजकुमारी का विवाह कर दिया और गुजारे के लिए ८०० रुपये की वृत्ति भी बाँध दी। "ग्वालियर का राजा" अब ग्वालियर लौटने का स्वप्न छोड़ चुका था।

विक्रमादित्य की पराजय के साथ, सन् ७३६ ई० में, प्रारम्भ हुए तोमर-साम्राज्य और तोमर-राज्य का इतिहास सन् १५२३ ई० में समाप्त हो गया। सन १५५८ ई० में रामसिंह तोमर के स्वतंत्र राज्य स्थापना करने के प्रयास का भी अन्त हो गया और रामसिंह मेवाड़ के राणा का सामन्त बन गया; तथापि वहाँ भी उसे 'ग्वालियर का राजा' ही कहा जाता रहा है, वह विगत-वैभव की स्मृति मात्र थी।

परन्तु, इसी बीच ग्वालियर क्षेत्र के एक तोमर सामन्त ने मालवा में स्वतन्त्र तोमर राज्य की स्थापना की थी। रामसिंह की आगे की गतिविधियों पर प्रकाश डालने के पूर्व उस तोमर का राज्य का विवरण देना सुसंगत होगा।

खानेजहां राजा नरसिंहदेव

मानसिंह तोमर का एक भतीजा नरसिंहदेव गुजरात के सुल्तान बहादुरशाह (१५२६-१५३७ ई०) का विश्वस्त सामन्त था और उसको खानेजहां की पदवी दी गई थी।[1]

बाबर ने अपनी आत्मकथा में लिखा है[2] —

"तातारखाँ सारंगखानी जो ग्वालियर में था, बराबर अपनी अधीनता एवं निष्ठा का आश्वासन दिलाने के लिए आदमी भेजा करता था। काफिर (राणा संग्रामसिंह) के कन्दार को अपने अधिकार में कर लेने तथा बयाना के समीप पहुँच जाने के उपरान्त ग्वालियर के राजाओं में से धर्मानकत (धुरमंगद) तथा एक अन्य काफिर ने जो खानेजहां कहलाता था, ग्वालियर के पड़ौस में पहुँचकर, किले पर अधिकार जमाने के लोभ में उपद्रव मचाना एवं विद्रोह करना प्रारम्भ कर दिया। तातारखाँ कठिनाई में पड़ गया।"

खानेजहां के साथ 'काफिर' का विशेषण होने के कारण संभावना यही है कि यह 'खानेजहां' भी कोई राजपूत ही था। उस समय एकमात्र नरसिंहदेव ही राजपूतों में 'खानेजहां' थे, अतएव ज्ञात यह होता है कि धुरमंगद के साथ नरसिंहदेव ने भी रामसिंह तोमर के लिए ग्वालियर गढ़ की पुनर्प्राप्ति के प्रयास में भाग लिया था। ज्ञात यह होता है कि गुजरात के सुल्तान मुजफ्फरशाह के जीवनकाल में ही नरसिंहदेव गुजरात पहुँच गए थे। संभव यह है कि सन् १५२३ ई० में विक्रमादित्य की पराजय के उपरान्त उसके साथ आगरा न जाकर नरसिंहदेव गुजरात चले गए। अपने पिता सुल्तान मुजफ्फरशाह से उन दिनों बहादुरशाह की अनबन थी। ज्ञात यह होता है कि नरसिंहदेव को बहादुरशाह ने प्रश्रय दिया और उसी ने उन्हें 'खानेजहां' की पदवी प्रदान की। अपने पिता से झगड़कर बहादुरशाह इबराहीम लोदी से जा मिला था और पानीपत के युद्ध के दिन युद्धक्षेत्र में ही था। परन्तु उसने युद्ध में भाग न लिया और बाबर की विजय होने के पश्चात् वह उसके साथ ही दिल्ली चला आया। वह बाघपत में था तब उसके पास अहमदाबाद से समाचार पहुँचा कि वह गुजरात की सल्तनत सँभालने के लिए अहमदाबाद पहुँचे। बहादुरशाह अहमदाबाद की ओर चला गया और नरसिंहदेव धुरमंगद की सहायता के लिए तँवरघार में ही रुक गए। जब धुरमंगद का प्रयास विफल हो गया और उधर खानवा में राणा संग्रामसिंह भी बाबर से पराजित हो गए तब तँवरघार से नरसिंहदेव तोमर और मेवाड़ से राणा संग्रामसिंह के भतीजे पृथ्वीसिंह गुजरात में बहादुरशाह के पास पहुँच गए। कुछ अफगान अमीर भी उनके साथ गए और वे बहादुरशाह को मुगलों के विरुद्ध भड़काने का प्रयास करने लगे।

१. डा० रिजवी, हुमायूं, भाग २, पृ० ४३९।
२. डा० रिजवी, बाबर, पृ० २१९।

बहादुरशाह अपने तुर्की नौ-सेनाध्यक्ष मुस्तफा पर अधिक विश्वास करने लगा था और उसे उसने रूमीखाँ की पदवी प्रदान की थी। इसी रूमीखाँ के विश्वासघात के कारण बहादुरशाह को मन्दसौर के युद्ध में हुमायूं के हाथ पराजित होना पड़ा था। बहादुरशाह भाग कर माण्डू चला गया परन्तु यहाँ से भी उसे भाग कर चम्पानेर जाना पड़ा। इस अभियान में उसके साथ खानेजहां राजा नरसिंहदेव तोमर भी था। नरसिंहदेव युद्ध में घायल हो गया। चम्पानेर पहुँचने पर बहादुरशाह ने गढ़ का प्रबन्ध इख्तियारखाँ तथा नरसिंहदेव को सौंप दिया और स्वयं दीव बन्दरगाह की ओर चला गया। चम्पानेर की रक्षा करते समय नरसिंहदेव ने जो पराक्रम प्रदर्शित किया था उसका विवरण मिरआते-सिकन्दरी में विस्तार से दिया गया है —.........

"संक्षेप में, सुल्तान बहादुर माण्डू से चम्पानेर, जो गुजरात प्रदेश का किला है, पहुँचा। इख्तियारखाँ वजीर एवं राजा नरसिंहदेव को जिसकी उपाधि खानेजहां थी, चम्पानेर का किला सौंपकर स्वयं खम्भायत के मार्ग से सूरत रवाना हुआ एवं दीव बन्दर पर पड़ाव किया। हुमायूं भी माण्डू से गुजरात की ओर रवाना हुआ और उसने चम्पानेर के गढ़ का अवरोध कर लिया। बहादुरशाही तोप को, जो बहुत बड़ी थी, किले वाले ऊपर न चढ़ा सके। हजारों कठिनाइयाँ झेलकर वे उसे पहाड़ी के मध्य तक पहुँचा सके थे कि हुमायूं की सेना आ गई। किले वालों ने उस तोप में तीन छेद कर दिए और उसे वहीं छोड़ दिया। जब रूमीखाँ ने उसे देखा तो कहा, 'मैं इसे ठीक कर सकता हूँ।' उसने उन छेदों को अष्टधातु से भर दिया। यद्यपि पूर्व की अपेक्षा उसमें बारूद कम आती थी और उसकी मार में भी कमी हो गई किन्तु जो कुछ भी थी वह उस समय ईश्वर का कोप थी। कहा जाता है कि जब रूमीखाँ ने उसे चलाया तो पहली मार में किले के द्वार को गिरा दिया और दूसरी मार में एक विशाल वृक्ष को, जो द्वार के समीप था, जड़ से उखाड़ डाला। किले वाले यह देखकर काँप उठे। किले में एक फिरंगी (पुर्तगाली) था जिसका नाम सकता (सिस्कुइता) था। सुल्तान बहादुर ने उसे मुसलमान बना लिया था। उसने इख्तियारखाँ से कहा, 'यदि मैं उस तोप के मुँह पर गोला मारकर उसे तोड़ डालूँ तो कैसा हो?' इख्तियारखाँ ने कहा 'यदि तू ऐसा कर सके तो मैं तुझे मालामाल कर दूँगा।' उसने पहले ही निशाने में तोप के मुँह पर ऐसा गोला मारा कि वह टुकड़े-टुकड़े हो गई। किले वाले प्रसन्न हो गए। इख्तियारखाँ ने उसे कुछ कम दिया, किन्तु राजा नरसिंहदेव ने उसे सात मन सोना पुरस्कार के रूप में प्रदान किया।

"कहा जाता है कि राजा नरसिंहदेव घायल था, इस कारण सुल्तान बहादुरशाह उसे किले में छोडकर चला गया था। जब तोपों की आवाजें किले के ऊपर और नीचे आने लगीं तो राजा के घाव फटने लगे और राजा मृत्यु को प्राप्त हो गया। जब यह समाचार सुल्तान को प्राप्त हुआ तो उसने कहा, 'खेद है चम्पानेर का किला हाथ से निकल गया।'

अफ़जलखाँ वजीर ने निवेदन किया, 'क्या कोई समाचार प्राप्त हुआ है ?' सुल्तान ने कहा, 'नहीं, राजा नरसिंहदेव की मृत्यु हो गई है । इस मुल्ला, यानी इख्तियारखाँ, में इतनी शक्ति कहाँ कि वह किले की प्रतिरक्षा कर सके।"

बहादुरशाह की परख ठीक थी। कुछ समय पश्चात् ही इख्तियारखाँ ने आत्म-समर्पण कर दिया और हुमायूं से मिल गया।

गुजरात में ग्वालियर का यह तोमर राजकुमार 'पुरबिया' कहा जाता था। तारीखे-गुजरात में भी इख्तियारखाँ की कायरता और राजा नरसिंहदेव की वीरता के विषय में लिखा है, "वह (इख्तियारखाँ) असमंजस में था, परन्तु पुरबिया सरदार, जिसके अधीन बहुत बड़ी सेना थी, निरन्तर युद्ध करता था..............संयोग से मृत्यु की तोप द्वारा पुरबिया का जीवन-गृह नष्ट हो गया..............तोप चलाना रोक दिया गया।"[१]

गुजरात के सुल्तान मुजफ्फरशाह और बहादुरशाह अपनी उदार धार्मिक नीति तथा प्रजा वत्सलता के लिए प्रसिद्ध हैं। मुजफ्फरशाह ने गोपी नामक ब्राह्मण को अपना प्रधान मंत्री बनाया था। बहादुरशाह ने नरसिंहदेव को खानेजहां की पदवी से विभूषित किया। ऐसे महत्वपूर्ण पदों पर पहले भी हिन्दू रखे गए थे, तथापि इस्लाम ग्रहण करने के पश्चात् ही रखे गए थे; परन्तु गुजरात में गोपी और नरसिंहदेव तिलक-छापे-धारी ही बने रहे। नरसिंहदेव अन्त समय तक सुल्तान के प्रति निष्ठावान रहे, जबकि उसके अनेक पदाधिकारी मुग़लों से मिल गए। एक रूमीखाँ के विश्वासघात ने बहादुरशाह जैसे पराक्रमी सुल्तान को भी पराजित करा दिया। परन्तु बहादुरशाह गुजरातियों में इतना लोकप्रिय था कि हुमायूं के गुजरात से लौटते ही लोगों ने बहादुरशाह को दीव से वापस बुलाकर सुल्तान बना दिया।

---

१. यह स्मरण रखने योग्य है कि 'तारीखे-गुजरात' के लेखक मीर तुराब वली और उनके पिता बहादुरशाह की सेवा में रहे थे, और बाद में हुमायूं से जा मिले थे। इसी कारण मीर साहब 'पुरबिया सरदार' की मृत्यु की घटना से प्रसन्न दिखाई देते हैं।

परिशिष्ट—दो

शेख मुहम्मद गौस (अब्दुल मुवीद मुहम्मद)

शेख मुहम्मद गौस का विशाल मक़बरा वर्तमान ग्वालियर नगर के गौसपुरा नामक मुहल्ले में आज भी स्थित है। इसके पश्चिम की ओर एक विशाल इमामबाड़ा है और उसके दाहिनी ओर तानसेन की छोटी-सी समाधि बनी हुई है। परवर्ती तोमरों के इतिहास से शेख का बहुत सम्बन्ध है, और ग्वालियर के सांस्कृतिक इतिहास से उससे भी अधिक सम्बन्ध है; अतएव, उनके जीवन की एक झांकी अत्यन्त संक्षेप में देना उपयोगी होगा।

शेख मुहम्मद गौस के गुरु हाजी हमीद शत्तारी 'ग्वालियरी' थे। हमीद साहब स्वयं शेख अब्दुल्ला शत्तारी के शिष्य शेख काजन 'बंगाली' के शिष्य थे।[1] शेख काजन की खानकाह कहीं बंगाल में थी, इसी कारण वे 'बंगाली' कहे जाते थे। परन्तु हाजी हमीद 'ग्वालियरी' कब बने, कैसे बने; इस विषय में हमें कुछ ज्ञात नहीं हो सका है। हम यह भी ज्ञात नहीं कर सके कि हाजी हमीद शत्तारी से शेख मुहम्मद गौस ने दीक्षा कब और कहाँ ली थी। सम्भव है, हाजी हमीद कल्याणमल्ल के राज्यकाल में ग्वालियर में आ बसे होंगे और यहीं पर अब्दुल मुवीद मुहम्मद को हाजी हमीद ने शिष्य बनाया होगा। यह भी सम्भव है कि हाजी हमीद बाद में ग्वालियर छोड़ गए हों और पूर्वी भारत में चले गए हों; तथा वहाँ अपना 'ग्वालियरी' सम्बोधन उन्होंने यथावत् रखा हो। अपने शिष्य अब्दुल मुवीद मुहम्मद को हाजी साहब ने 'गौसे-हिन्दुस्तान' की पदवी दी थी और आगे वे अब्दुल मुवीद के स्थान पर 'शेख मुहम्मद गौस' कहे जाने लगे।

शेख निरक्षर थे। मआसिरुल-उमरा में लिखा है[2] कि गुजरात की खानकाह में शेख के शिष्य वजाहुद्दीन गुजराती रहते थे। वे स्वयं बहुत बड़े विद्वान थे। उनसे किसी ने पूछा कि आप स्वयं बहुत बड़े विद्वान और बुद्धिमान हैं, फिर भी आपने शेख मुहम्मद गौस को अपना गुरु बनाया? वजाहुद्दीन ने उत्तर दिया कि 'यह सौभाग्य की बात है कि मेरे रसूल उम्मी थे और मेरे गुरु निरक्षर हैं।' वास्तव में अक्षरज्ञान की अपेक्षा संसार से प्राप्त अनुभव और आत्मानुभूति से उपलब्ध ज्ञान अधिक महत्वपूर्ण है। परन्तु निरक्षर होते हुए भी दो ग्रन्थों की रचना करना चमत्कारी बात ही है। शेख के कुछ पूर्व कबीर ने भी 'मसि-कागद' नहीं छुआ था, और वे 'कागद लेखी' न कह कर 'आँखों देखी' गा-गा कर सुनाया करते थे। परन्तु शेख गौस ने तो 'कागद लेखी' को कागद पर लिख डाला! ज्ञात यह होता है कि शेख गौस ने अपने ग्रन्थों को किसी शिष्य को बोलकर लिखाया होगा।

---

१. व्रजरत्नदास, मआसिरुल-उमरा, द्वितीय खण्ड, पृ० १५५।

२. वही, पृ० १६०।

शेख मुहम्मद गौस का जन्म कब हुआ था, इसका कुछ अनुमान ही किया जा सकता हैं। शेख की मृत्यु हिजरी सन् ९७० (सोमवार १० मई १५६३ ई०) को हुई थी। बदायूंनी के अनुसार उस समय उनकी वय ८० वर्ष की थी। इस गणना से शेख का जन्म कभी सन् १४८३ ई० में होना चाहिए। परन्तु दूसरी ओर यह भी सुनिश्चित है कि शेख की प्रथम कृति 'जवाहिर खम्सा' २२ वर्ष की वय में हिजरी ९२९ (सन् १५२३ ई०) में, लिखी गई थी। इसके अनुसार शेख का जन्म कभी सन् १५०१ ई० में हुआ होगा; अर्थात्, उनकी मृत्यु ६२ वर्ष की वय में हुई होगी, न कि ८० वर्ष की वय में। सम्भव है बदायूंनी का कथन ही ठीक हो। इस विषय में शेख की साधना के विषय में प्रचलित विश्वासों पर विचार करना होगा।

हिजरी सन् ९५२ (सन् १५४५ ई०) में शेख गौस के शिष्य शाह मंझन अब्दुल्ला[1] ने 'मधुमालती' नामक आख्यान काव्य लिखा था। उसमें अपने गुरु शेख मुहम्मद गौस की तपस्या के विषय में लिखा है[2]—

बारह बरख तहाँ गै दुरे, जहाँ सूर ससि दिस्टि न परे।
बिकट बिखम औ भयावन ठाऊं, कलिजुग धुंधदरी ओहि नाऊ॥
चहुदिसि परबत बिखम अगंमा, तहाँ न केहू मानस गंमा।
तहाँ जाइ कै जपेउ बिधाता, कै अहार बन जामुन पाता।
मन मतंग मारि बस किया, ग्यान महारस अंब्रित पिया॥
साहस उदित अपान साधि कै लीन्हि सिद्धि अबराधि।
बारह बरिख रहे बन परबत लए जो ब्रह्म समाधि॥

यही कथन एक मध्ययुगीन इतिहासकार मुल्ला अब्दुल कादिर बदायूंनी भी करता है[3]— 'चुनार की पहाड़ियों के नीचे जंगल में शेख मुहम्मद गौस ने, जो हिन्दुस्तान का एक सबसे बड़ा सन्त था, बारह वर्ष तक निवास किया था। वहाँ जंगल के फल-पत्ते खाकर वह तप किया करता था।'

मंझन और बदायूंनी के अनुसार शेख गौस ने बारह वर्ष तक घोर तपस्या की थी। मंझन का कथन है कि शेख गौस उस तपस्या-काल में केवल जामुन के पत्ते ही खाते थे। गोस्वामी तुलसीदास ने जब पार्वती की तपस्या का वर्णन किया था तब उन्हें भी 'अपर्णा' बना दिया था; उन्होंने केवल सूखे टपके हुए पत्ते खाकर शिव की आराधना की थी, और फिर वे पत्ते भी छोड़ दिए थे। निश्चय ही, मंझन के कथन के अनुसार, शेख 'अपर्णा' तपस्या की स्थिति तक नहीं पहुँच सके थे— वे 'सपर्णा' या 'सपर्ण' ही रहे। बदायूंनी ने पत्तों के साथ फलों के प्रयोग का भी उल्लेख किया है। परन्तु १२ वर्ष की अवधि के विषय में वह मंझन से एकमत है।

१. शाह या शेख मंझन के परिचय के लिए आगे परिच्छेद १४ का परिशिष्ट 'दो' देखें।
२. डा० माता प्रसाद गुप्त, मधुमालती, पृ० १९; डा० शिवगोपाल मिश्र, मधुमालती, पृ० १०।
३. इलि० और डाउसन, खण्ड ५, पृ० ४०१ (हिन्दी संस्करण)।

इन कथनों के विपरीत, अल्लामा अबुल फजल ने शेख गौस की तपस्या के विषय में लिखा है कि शेख 'कभी कमी' चुनार की कुटी में बैठकर परमात्मा के नामों का जाप कर लेते थे। अकबरनामे में अबुल फजल ने शेख बन्धुओं (शेख बहलोल तथा शेख गौस) के विषय में जो कुछ लिखा है, वह किसी नाराजगी का परिणाम ज्ञात होता है; तथापि इतिहास के आज के विद्यार्थी को दोनों ओर देख लेना उचित है। बैंमरिज ने अकबरनामे के उक्त अंश का अंगरेजी अनुवाद निम्न रूप में किया है —

> "The Sheikh (Ghaus) was younger brother of Sheikh Bahlol, who has already been mentioned as having been put to death by Mirza Hindal. Though these two brothers were void of excellencies or learning, they at various times lived in mountain hermitages and practised incantations with Divine Names. They made the proofs of their credibility and renown and credibility, and obtaining by the help of easily decieved simpletons, the society of princes and amirs, they put saintship to sale and acquired lands and villages by fraud."

भले ही, अबुल फजल शेख गौस को पाखण्डी और सन्तपन का व्यवसाय करने वाला कहता है; तथापि, वह भी यह बात मानता है कि शेख गौस कभी-कभी पहाड़ों की कुटियों में अल्लाह के नामों का जाप करते थे। शेख गौस के भाई बहलोल ने 'बहरुल-हयात' में सूचना दी है कि शेख कामरूप भी गए थे।[१]

शेख की आध्यात्मिक उपलब्धियों की खोजबीन आज व्यर्थ है; देखना यह है शेख का जन्म कब हुआ होगा। यह सुनिश्चित है कि 'बारह वर्ष की तपस्या' और योगाभ्यास आदि 'जवाहिर खम्सा' के लेखन के पूर्व सन् १५२३ ई० में पूरे हो चुके होंगे। यदि यह बात सही है, तब २२ वर्ष की वय तक शेख १२ वर्ष की तपस्या कर चुके होंगे। यह असंभव तो नहीं, कठिन अवश्य ज्ञात होता है। संभव है कि बदायूंनी का कथन ठीक हो। उसके अनुसार, सन् १५२३ ई० में शेख की वय ४० वर्ष होगी। ४० वर्ष की वय तक १२ वर्ष की तपस्या भी हो सकती है; शेख बहलोल के अनुसार, शेख गौस कामरूप (असम) भी हो आ सकते हैं और हाजी हमीद शत्तारी ग्वालियरी से दीक्षा भी ले सकते हैं।

वर्तमान संदर्भ में शेख मुहम्मद गौस की राजनीतिक गतिविधियाँ ही सम्बद्ध हैं। इनका प्रारम्भ उस समय हो गया था जब सन् १५२६ ई० में बाबर ने भारत पर आक्रमण किया था। इस सम्बन्ध में हम खड्गराय से सूत्र ग्रहण कर आगे बढ़ सकेंगे। खड्गराय ने रहीमदाद की अस्थिरता का विवरण देने के पश्चात् ही लिखा है —

> जो बिधिना विधि आपुन करै, सोई होइ न टारी टरै।
> देखौ विधना को संजोग, जनमें कहूँ कहूँ रहैं लोग॥
> पूरब गाजीपुर को ठाऊ, कुमरगढ़ा ताको रहि नाऊ।
> महम्मद गौस तहां ते आई, रहे ग्वालियर में सुख पाई॥

---

१. डा० रिजवी, हकायके-हिन्दी, प्रस्तावना, पृ० १९।

बिधिना बिधि ऐसी ठई, सोई भई जु आइ।
चन्द्रप्रभू के द्योहरें, रहे गौस सुख पाइ॥

खड्गराय के अनुसार गाजीपुर का मूल नाम कुमार गढ़ था। वहीं से शेख गौस ग्वालियर आ बसे थे। वे आकर चन्द्रप्रभु के मन्दिर में ठहरे। यह चन्द्रप्रभु का मन्दिर वही विशाल जैन मन्दिर था जिसे वीरमदेव तोमर के मंत्री कुशराज ने बनवाया था।[1] यह मन्दिर आजम हुमायूं के आक्रमण के समय सन् १५१८-२३ ई० के बीच भ्रष्ट कर दिया गया था। वहीं शेख गौस ने अपनी खानकाह बनाई, और वहीं आज उनका भव्य मजार बना हुआ है। खड्गराय के कथन से यह अवश्य ज्ञात होता है कि शेख गौस ग्वालियर कभी सन् १५२३ ई० के पश्चात आए थे; परन्तु निश्चय ही वे सन १५२६ के प्रारम्भ में ग्वालियर में ही थे, क्योंकि, तातारखाँ से रहीमदाद को गोपाचल गढ़ उन्हीं के माध्यम से प्राप्त कराया गया था।[2]

जब शेख मुहम्मद गौस ग्वालियर में मुग़ुलों का आधिपत्य जमाने के लिए 'अल्लाह के पवित्र नामों' का जाप कर रहे थे[3], उस समय गाजीपुर में उनके बड़े भाई शेख बहलोल अफगान अमीरों से उलझे हुए थे और उनमें से एक पक्ष को बाबर के पास ले गए थे।

उस समय गाजीपुर का अफगान अमीर नसीरखाँ लोहानी था। वह शेख बहलोल तथा शेख मुहम्मद गौस से रुष्ट था। नसीरखाँ का विरोधी और गाजीपुर का दावेदार मुहम्मदखाँ लोहानी था। शेख बहलोल ने मुहम्मदखाँ का साथ दिया और उसे बाबर के पास भेजा। सम्भव है, शेख बहलोल स्वयं उसके साथ गए हों। उनका उद्देश्य पूरा हुआ और बाबर ने महमूदखाँ को गाजीपुर की नब्बे लाख पैंतीस हजार टंके (रुपये) की जागीर दे दी।[4]

इधर ग्वालियर में शेख मुहम्मद गौस भी मुग़ुल सम्राट् को सक्रिय सहायता प्रदान कर रहे थे। तातारखाँ पर जब धुरमंगद ने आक्रमण किया तब शेख गौस को कुछ समय के लिए चन्द्रप्रभु के मन्दिर का अपना निवास छोड़कर, ग्वालियर गढ़ के ऊपर अफगान तातारखाँ की रक्षा में जाना पड़ा। वहाँ पर उन्होंने अपनी व्युत्पन्न मति और जाप के प्रभाव से धुरमंगद के प्रयास को विफल कर दिया और तातारखाँ को ग्वालियर गढ़ मुग़ुलों को अर्पित करने के लिए विवश किया। रहीमदाद भी ग्वालियर गढ़ पर होने वाले तोमरों के आक्रमणों से व्यथित होगया था और वह तोमरों को गढ़ देने ही वाला था; उस समय भी शेख मुहम्मद गौस ही मुग़ुलों के काम आए और गढ़ मुग़ुलों के ही पास रहा। इस प्रकार बाबर शेख मुहम्मद गौस से बहुत प्रसन्न होगया।

---

१. पीछे पृ० ६३ देखें।
२. पीछे पृष्ठ १९१ देखें।
३. डा० रिजवी, बाबर, पृ० ४३१।
४. डा० रिजवी, बाबर पृ० २०६।

जब शेख रहीमदाद के विषय में बाबर को परामर्श देने के लिए आगरा गए थे उस समय उन्होंने जो कुछ किया था, उसका विवरण केवल खड्गराय के गोपाचल-आख्यान में मिलता है। खड्गराय के इतिहास का यह अंश अत्यन्त रोचक है—

अब तुम कथा सुनौ चितलाई[1], आदि अंत जो चित ठहराई ।
खोजा[2] भजन लगे[3] करि साथ, दै गढ़ धुरमंगद के हाथ ।।
रहीमदादखां खोजा नाम, छाड़न लागौ गढ़कौ धाम ।
सेख[4] कह्यौ खोजा सों जाय, तेरे गुनह देहुँ बकसाय ।।
जो गढु कर्म कस्ट करि लह्यौ, सो गढु काहे छाड़न कह्यौ ।
जब जुरिहै हिन्दुन कौ साथ, तब गढु नहिं आवै तुम हाथ ।।
बरजि सेख बाबर पै गये, यह कहि चलत आगरै गये ।
मिले सख बावर कौं जाई, आपुनु साह मिले सुख पाई ।
ब्यौरो कह्यौ सबै समुझाई, खोजा लिए सेख बकसाई ।
पंजा दोनौ तुरत पठाई, खोजा मिलौ आगरै आई ।।
करि तसलीम जु पकरे पायँ, बकस्यौ गुनह साहि सुखपाइ ।
मतौ साहि नै ऐसो कियौ, अबुल फतहखाँ कौं गढ़ दियौ ।
तानै आइ बहुत जसु लियौ, धर्मराज गढ़ ऊपर कियौ ।
मंत्रिन मंत्र कियौ अवगाहि, गढ़ पर आए बाबर साहि ।।
कुआ बावरी कीन्ही घनी, बागायत जु लगी चौगुनी ।
सेख तरहटी डेरा दियौ, साहि इहां सुख गढ़ पर कियौ ।
ऐसे मास पाँच जब भये, साहि कान की पीरा भय ।
दीनी खबरि सेख कौं साहि, दूखत कान हमारौ आहि ।।
सेखनि दुआ दई सचि पाई, दीनौ गंगू भगत पठाई ।
गंगू ने कछु हिकमति करी, आछौ कानि भयौ तिहि घरी ।।

खड्गराय के समस्त कथनों की पुष्टि इतिहास से होती है। बाबर ने अपनी आत्मकथा में भी यह लिखा है कि ग्वालियर-प्रवास में २६ सितम्बर १५२८ की रात को उसके कान में दर्द हुआ था;[5] परन्तु उसने यह नहीं लिखा कि गंगू भगत ने उसका इलाज किया और उसके उपचार से वह ठीक हो गया था। खड्गराय का यह कथन असत्य ज्ञात

१. यह स्मरण रखने योग्य है कि खड्गराय ने यह इतिहास कृष्णसिंह तोमर (समय लगभग १६४२-१६५२ ई०) को सुनाने के लिए लिखा था।

२. ख्वाजा रहीमदाद।

३. भागने लगे।

४. शेख मुहम्मद गौस।

५. डा० रिजवी, बाबर, पृ० २७५।

नहीं होता। तथापि, खड्गराय ने बाबर की यात्रा अबुल फतह के ग्वालियर आ जाने के पश्चात् की बतलाई है; जबकि बाबर ने लिखा है कि वह उस समय ग्वालियर गया था जब रहीमदाद ग्वालियर गढ़ का प्रशासक था। संभव है, बाबर की दैनन्दिनी में कुछ उलट-फेर हो गया हो या खड्गराय कहीं कुछ भूल गया हो। यह तो निश्चय है कि बाबर पाँच मास तक ग्वालियर नहीं ठहरा था, न ठहर सकता था।

परन्तु खड्गराय की आगे की पंक्तियाँ अधिक महत्वपूर्ण हैं। उनसे यह ज्ञात होता है कि बाबर ने अपनी मृत्यु के पूर्व शेख मुहम्मद गौस को आगरा बुलाया था—

आपुनु साहि बुलाए सेख, महा पीर पीरन मत लेख।
हिरदै साहि सेख करि गनै, पुत्र दिखाइ चार आपनै॥
बाबर साहि बूझियौ सोई, इनमें पातसाह को होई।
सेख इसारत कीनी ईस, मिरजा छत्र हुमाऊं सीस॥

इस घटना का उल्लेख अन्यत्र कहीं नहीं मिलता कि 'पीरों में महापीर' शेख मुहम्मद गौस ने बाबर को यह बतलाया था कि उसके पश्चात् बादशाह होने योग्य मिर्जा हुमायूं ही है। परन्तु खड्गराय के इस कथन में कुछ तथ्य ज्ञात होता है; क्योंकि संभवतः उनकी इस भविष्यवाणी के कारण ही शेख और उनके भाई बहलोल से मिर्जा हिन्दाल रुष्ट हो गया था।

बाबर के देहान्त के उपरान्त शेख गौस हुमायूं के पास चले गए थे। शेख बहलोल हुमायूं को पर्याप्त रूप में प्रभावित कर चुका था। बाबर ने मुहम्मदखाँ नोहानी को गाजीपुर की जागीर दे दी थी। इसका अर्थ यह था कि नसीरखाँ नोहानी मुगलों का शत्रु घोषित कर दिया गया था। नसीरखाँ तथा अन्य अफगानों के दमन के लिए बाबर ने हुमायूं को भेजा था। उसने १५३१ में दोराह के युद्ध में अफगानों को बुरी तरह पराजित किया। सन् १५३८ में हुमायूं ने शेरशाह से चुनार गढ़ भी जीत लिया। इस समय शेख बहलोल और हुमायूं के सम्बन्धों के विषय में अल्लामा अबुल फजल ने लिखा है—

"हुमायूं को शेख बहलोल की शोबदेबाजी में मन लगता था। इसलिए कभी वह हुमायूं को अपना शिष्य बतलाता और कभी अपने को उसका राजभक्त नौकर कहता था।"

जो हो, निश्चित ही बहलोल हुमायूं के गुरु नहीं थे, क्योंकि उसके गुरु आगे बने थे शेख मुहम्मद गौस।

जब हिजरी सन् ९५५ (सन् १५३८-९ ई०) में हुमायूं ने बंगाल को जीत लिया, तब वहाँ की जलवायु अनुकूल न होने के कारण उसने वहीं आराम करने का निश्चय किया और विषय-भोग में निमग्न हो गया। इसी बीच हुमायूं के भाई मिर्जा हिन्दाल के मन में भारत-सम्राट् बनने की इच्छा प्रबल हुई और उसने विद्रोह प्रारम्भ कर दिया। उसे समझाने के लिए हुमायूं ने शेख बहलोल को भेजा। मिर्जा हिन्दाल ने शेख का स्वागत

किया, तथापि उसके अधिकारियों ने उसकी हत्या कर दी। वास्तव में यह हत्या मिर्जा हिन्दाल के इशारे पर ही हुई थी। हिन्दाल को शेख मुहम्मद गौस का वह 'इशारा' स्मरण होगा, जिसके कारण बाबर ने हुमायूं को युवराज घोषित किया था।[1] जो हो, शेख-परिवार की इस कुर्बानी से हुमायूं बहुत प्रभावित हुआ। वह स्वयं शेख मुहम्मद गौस के पास शोक प्रदर्शित करने के लिए गया।[2] शेख के अब दोनों प्रतिष्ठान, चुनार तथा ग्वालियर, प्रतिष्ठापूर्वक चलने लगे।

हुमायूं ख्वाजा नासिरुद्दीन अहदाद के पौत्र ख्वाजा खामंद महमूद का शिष्य था। संभवतः इसी समय हुमायूं ने अपने गुरु से सम्बन्ध विच्छेद कर लिया और वह शेख मुहम्मद गौस का शिष्य हो गया।[3] इससे ख्वाजा अत्यन्त कुपित हुआ और हुमायूं का साथ छोड़ कर अपने देश चला गया। चलते समय उसने एक शेर पढ़ा, जिसका तात्पर्य है—

कहा कि ऐ हुमा, अपना छाया कभी न छोड़
उस भूमि पर जहाँ चील की तोते से कम प्रतिष्ठा होती है।

ख्वाजा का तात्पर्य संभवतः यह था कि शेख तोते के समान बहुत मिठ-बोले थे।

हवा कुछ उलटी चलने लगी। शेरशाह ने हुमायूं को पराजित कर दिया और हुमायूं विपत्तियों में फँसता गया। शेख के चुनार और गाजीपुर, दोनों स्थानों के खानकाह उजड़ गए। शेख को वहाँ से भागना पड़ा। सम्भवतः वे ग्वालियर आए। परन्तु सन् १५४२ में शेरशाह ग्वालियर भी आ धमका। शेख अपने परिवार सहित गुजरात चले गए और भड़ौंच में बस गए। शेख गौस विवाहित गृहस्थ थे और उनके कम से कम दो पुत्र अवश्य थे।

परन्तु शेख का भाग्य उनका साथ दे रहा था। गुजरात में भी उन्हें पूर्ण प्रतिष्ठा प्राप्त हो गई। वहाँ पर भी वे ऊँची खानकाह बनाकर उस देश के निवासियों को मुसलमान बनाने का प्रयत्न करते रहे।[4] गुजरात में शेख ने 'मीराजिया' नामक एक और पुस्तक लिखी या लिखाई।

भारत की राजनीति में फिर परिवर्तन आया। सन् १५५४ ई० के हुमायूं फिर भारत में प्रतिष्ठित हुआ और सूरों का सूर्य अस्ताचलगामी हुआ। हुमायूं शेख को भूला न

---

१. मिर्जा हिन्दाल ने शेख बहलोल पर यह आरोप लगाया था कि वह गुप्त रूप से शेरशाह को अस्त्र-शस्त्र भिजवाता था, इस कारण उसने उन्हें मरवा डाला (डा० रिजवी, हुमायूं, भाग १, पृ० ५२८)। हुमायूं और मिर्जा हिन्दाल की बहन गुलबदन बेगम भी इस बात पर विश्वास करती थी (वही, पृ० ५२४)।

२. ब्रजरत्नदास, मआसिरुल-उमरा, भाग २, पृ० १५५।

३. वही, पृ० १५४।

४. वही, पृ० १५५।

था। उसने उन्हें पत्र लिखा। शेख साहब ग्वालियर आ गए। गुजरात की खानकाह वे अपने शिष्यों की देखरेख में छोड़ आए।

इस बीच हुमायूं की मृत्यु हो गई और बैरामखाँ के संरक्षण में अकबर बादशाह बना। हिजरी सन् ९६६ (सन् १५५९ ई०) में शेख आगरा आए और बैरामखाँ से मिले।[1] बैरामखाँ उनसे प्रसन्न न हो सका। मुन्तखबुत्तवारीख में इस घटना का कारण यह बतलाया है कि शेख की पुस्तक 'मीराजिया' बैरामखाँ को दिखाई गई जिसमें शेख ने लिखा था कि "उसने जाग्रत अवस्था में ईश्वर से बातचीत की और ईश्वर ने उसे पैगम्बर मुहम्मद से भी उच्च स्थान दिया।" बैरामखाँ ने विद्वानों और दरवेशों को बुलाकर शेख की खिल्ली उड़वाई। शेख क्रुद्ध होकर ग्वालियर आ गए और दरवेश बन गए।

ग्वालियर गढ़ पर अभी अफगान प्रशासक सुहैल का ही आधिपत्य था। अकबर ने कियाखाँ को ग्वालियर भेजा। उसने रामसिंह तोमर को तो परास्त कर दिया, परन्तु सुहैल से गढ़ लेना सरल नहीं था। सुहैल को समझाने के लिए हाजी मुहम्मदखाँ भेजे गए। शेख ने निश्चय ही हाजी की सहायता की होगी। गढ़ फिर मुग़लों को मिल गया।

अकबर ग्वालियर गढ़ के महत्व को समझता था। साथ ही, अभी चुनार गढ़ मुग़लों के हाथ नहीं आया था। उसे हस्तगत करने के लिए भी शेख की सहायता की आवश्यकता थी। अतएव, जब सन् १५५९ ई० में अकबर ग्वालियर आया तब वह शेख से उनकी खानकाह में मिला। शेख ने अकबर को वे पशु भेंट किए जो वे गुजरात से लाए थे। शेख ने अकबर को शिष्य बनाने का प्रयास किया, परन्तु इसमें वे सफल न हुए।[2] तथापि, ज्ञात होता है कि अकबर ने उन्हें चुनार गढ़ प्राप्त कराने का कार्य अवश्य सौंप दिया।

अगले वर्ष ही शेख के माध्यम से चुनार गढ़ के अफगान अधिकारी फत्तू ने गढ़ अकबर को सौंप दिया।[3]

अब शेख के ग्वालियर, चुनार गढ़ तथा गुजरात के संस्थान पूर्ण समृद्धि के साथ चलने लगे और अकबर ने उन्हें एक करोड़ टंके (रुपये) की जागीर दे दी।

इसके पश्चात् भी शेख आगरा जाते रहे। अब उनके ठाठ किसी अमीर से कम न थे। उनकी (संभवतः अन्तिम) यात्रा का वर्णन मुल्ला अब्दुल कादिर बदायूंनी ने किया है[4]—

"जब अपनी शिक्षा समाप्त करने के लिए इस पुस्तक का संकलनकर्ता आगरा रहता था तो एक दिन शेख मुहम्मद गौस बड़े ठाठ के साथ बाजार में होकर निकला और उसके साथ लोग ऐसे जोर से नारे लगाते जाते थे जो वायु को भेद रहे थे। पहले तो मेरी इच्छा हुई कि मैं उनके प्रति आदर प्रकट करूँ, परन्तु मुझे जब मालूम हुआ कि वह हिन्दुओं

१. तबकाते-अकबरी, इलि० और डाउ०, खण्ड ५, पृ० २१२ (हिन्दी, आगरा संस्करण)।
२. अकबरनामा, बैमरिज, भाग १, पृ० १३४।
३. अकबरनामा, बैमरिज, भाग १, पृ० २३२।
४. मुन्तखबुत्तवारीख, इलि० और डाउसन, खण्ड ५. पृष्ठ ४०२।

की सलाम लेने के लिए खड़ा हो जाता है तो मेरी इच्छा नहीं रही और मुझे उस संतोष से वंचित रहना पड़ा जिसकी मुझे आशा थी। दूसरे दिन मैंने उसे आगरे के वाजार में देखा। उसके आगे-पीछे लोगों की बड़ी भीड़ थी। सब लोग उसको सलाम कर रहे थे और वह सलाम लेने में ऐसा व्यस्त था कि वह सीधा वैठ भी नहीं सकता था। उसकी आयु अस्सी वर्ष की थी, परन्तु उसका चेहरा अत्यन्त ताजा था, जिसे देख कर अचम्भा होता था और उसकी सूरत से वृद्धावस्था या निर्वलता बिलकुल प्रतीत नहीं होती थी।"

शेख मुहम्मद गौस की मृत्यु आगरा में ही हिजरी सन् ९७० (सोमवार १० मई १५६३ ई०)–'वंदएखुदाशुद'– को हुई। उनका शव ग्वालियर लाया गया। चन्द्रप्रभु के मन्दिर में, जहाँ शेख की खानकाह थी, उन्हें दफना दिया गया; और वहीं उनका मकबरा वना दिया गया।

शेख अपने युग के अत्यन्त विवादास्पद व्यक्ति थे। अल्लामा अबुल फजल उन्हें पाखंडी कहता है और मुल्ला वदायूंनी उनसे इसलिए रुष्ट है क्योंकि वे हिन्दुओं का सलाम खड़े होकर कबूल करते थे।

द्वितीय खण्ड

नियामत दरवाजा, रायसेन गढ़

(पृष्ठ २१३ तथा २३१ देखो)

—पुरातत्व विभाग, केन्द्रीय शासन, के सौजन्य से

परिच्छेद १३

सलहदी

(१५१३-१५३२ ई०)

जिस समय ग्वालियर गढ़ पर महाराज मानसिंह तोमर राज्य कर रहे थे, उसी समय मेवाड़ के राणा संग्रामसिंह के सहयोग से, एक तोमर सामन्त ने मालवा में अपना विस्तृत राज्य स्थापित करना प्रारम्भ कर दिया था। उस समय उत्तर भारत में तुर्क, अफगान, मुग़ल और राजपूतों के बीच भीषण सत्ता-संघर्ष चल रहा था। इसी संघर्ष ने उस राज्य को जन्म दिया और इसी संघर्ष में उसका अवसान भी हो गया। इस राज्य का संस्थापक था सलहदी तोमर।

सलहदी का वास्तविक नाम

सलहदी का मूल नाम क्या था, इसकी खोज सरल नहीं है। रायसेन के गढ़ में ५ फरवरी १५२६ के एक शिलालेख में, जो हाल ही में मिला है, उसका नाम 'शिलादादू' या 'शिलाहादू' पढ़ा गया है। इसके साथ ही, लगभग इसी समय, १७ जून १५२६ ई० को, नारायणदास ने अपना छिताई-चरित सलहदी को समर्पित किया था और उसमें उसके विषय में लिखा था—

देसु भारवौ कंचनखाना लोग सुजान विवेकी दाना ॥
महानगर सारंगिपुर भलौ, तिहि पुर सलहदीन जांगलौ।
खांडदान दुसरौ करनू, विक्रम जिउ दुख दालिद हरनू ॥
दुरगावती तासु बामंगू, जनु रति कामदेव कइ संगू।
तिहिपुर कवि द्यौहरिठां गयौ, कथा करन मन उद्यम भयौ ॥
हरि सुमिरतह भयौ हुलासू, विरसिंघबंस नरायन दासू।
पन्द्रह सइ रु तिरासी माता, कछुवक सुनी पाछली बाता ॥
सुदि अषाढ़ सातइं तिथि भई, कथा छिताई जंपन लई।
जंपइ विष्णुनरायणदासू, मरइ फूल जीवइ दिन बासू ॥

इन पंक्तियों में नारायणदास ने अपना परिचय पर्याप्त रूप से स्पष्ट कर दिया है। वह विष्णुदास का पुत्र है (विष्णुनरायनदासू), वह ग्वालियर के तोमर-राज्य के संस्थापक वीरसिंहदेव तोमर के वंशजों के आश्रित रहा है (विरसिंहवंस नरायनदासू)। सारंगपुर नगर के किसी मंदिर में आकर वह ठहरा है (तिहिपुर हरिद्यौहरठां गयौ), अर्थात् विक्रम की पराजय के पश्चात् ग्वालियर का ठिकाना उजड़ जाने के पश्चात् उसे 'कांचनखान' मालवा की शरण लेना पड़ी है; साथ ही, नारायणदास ने सलहदी को

यह भी स्मरण करा दिया कि गोपाचल के राजा विक्रम के समान वह भी कवियों के दुःख और दारिद्र्य को हरने वाला है (विक्रम जिउ दुख दालिद हरनू) । सलहदी के विषय में नारायणदास ने जो तथ्य बतलाए हैं वे प्रस्तुत प्रसंग में महत्वपूर्ण हैं। उसकी रानी का नाम दुर्गावती था, यह इतिहास-प्रसिद्ध है। तथापि राजा के नाम को नारायणदास ने 'सलहदीन जांगला' लिखा हैं, यह विवेच्य है।

ज्ञात होता कि चौपाई की मात्रा पूरी करने के लिए नारायणदास ने 'सलहदी' को 'सलहदीन' बना दिया है। 'शिलादादू' या 'शिलाहादू' संस्कृत के किस नाम से बन गया और फिर वह 'सलहदी' कैसे हो गया, इसका भाषावैज्ञानिक नियम खोज लेना भी आज सरल नहीं है। उस समय 'दामोदर' घिसते-घिसते 'दल्ह' रह जाते थे, राघव 'रइधू' हो जाते थे और 'संग्राम' 'सांगा' कहे जाते थे। संतोष यही है कि राजपूतों की ख्यातों में कुछ अन्य राजपूत सामन्तों के नाम भी 'सलहदी' मिले हैं, अतएव यह कहा जा सकता है कि उस युग के राजपूतों में 'सलहदी' व्यक्तिनाम प्रचलित था। उसका मूल, अर्थात्, शुद्ध रूप क्या था, इसकी खोज इतिहास के प्रयोजन के लिए आवश्यक नहीं है।

परन्तु, बात यहीं समाप्त नहीं हो जाती। सलहदी का व्यक्तित्व जितना असम हैं, उतनी ही विषम उसके नाम की समस्या है। बाबर ने अपनी आत्मकथा में उसका नाम 'सलाहुद्दीन' लिखा है और मरने के पश्चात् उसका जो मजार बना वह 'पीर सलाहुद्दीन' का मजार कहा जाता है। सलहदी का जन्म छोटे-से तोमर सामन्त के घर में हुआ था; वह फिर राणा संग्रामसिंह का दामाद या समधी बना; उन्होंने उसे छोटी-सी जागीर दे दी; बाद में वह भेलसा, रायसेन, सारंगपुर और उज्जैन का राजा बना; और मरने के पश्चात् 'पीर' बन गया। सलहदी को बाबर ने 'सलाहुद्दीन' क्यों लिखा था, इसका भी कारण था।

जिस समय महाराज मानसिंह तोमर का अवन्तगढ़ का सामन्त राय डूंगर सिकन्दर लोदी से जा मिला था तब उसने धर्म-परिवर्तन कर अपना नाम 'मियां हुसेन' रख लिया था। इस राय डूंगर (अर्थात्, हुसेन) की मैत्री सलहदी से भी थी। संभावना यह है कि राय डूंगर के साथ ही सलहदी ने भी इस्लाम ग्रहण कर लिया। कुछ समय उपरान्त राणा संग्रामसिंह ने सलहदी को फिर हिन्दू बना लिया। उस समय से सलहदी का नाम हिन्दुओं में सलहदी और मुसलमानों में सलाहुद्दीन रहा। जिस समय सन् १५२६ ई० का शिलालेख रायसेन के गढ़ पर उत्कीर्ण किया गया था, उस समय राणा संग्रामसिंह, मेदिनीराय और सलहदी का राजपूत-संगठन सर्वाधिक शक्तिशाली था और परिस्थितियां ऐसी उत्पन्न हो गई थीं कि राणा दिल्ली-सम्राट् बन जाते। उसी समय सलहदी ने अपने नाम के विशुद्धीकरण की कल्पना की होगी, जिसे उत्कीर्ण किया गया शिलादादू (या शिलाहादू) के रूप में। परन्तु, नारायणदास के साक्ष्य के आधार पर, यह मानकर चला जा सकता है कि उसके राज्य में उसका सर्वमान्य नाम 'सलहदी' ही था।

जांगला और पुरविया

नारायणदास ने सलहदी के नाम के साथ 'जांगला' विशेषण का प्रयोग किया है। यह सुनिश्चित है कि जब नारायणदास सलहदी की राजधानी में, उसे प्रसन्न करने के लिए, अपना काव्य सुना रहा था तब उसने ऐसे विशेषण का प्रयोग नहीं किया होगा, जो उसे रुष्ट कर देता। ऐसी दशा में, यह 'जांगला' विरुद भी सलहदी के लिए बहुप्रचलित होगा। संभव है, 'जांगला' विशेषण से आशय 'उग्रतेज' हो; संभव यह भी है कि जंगली इलाके में जन्म लेने के कारण महाराज मानसिंह तोमर ने उसे उसकी किशोरावस्था में इस नाम से सम्बोधित किया हो, और वृद्ध नारायणदास ने उसी नाम का स्मरण दिलाया हो।

सलहदी को समकालीन और परवर्ती फारसी इतिहासों में 'पुरविया' भी कहा गया है। उसका जन्म-स्थान उत्तर भारत के मध्य में हुआ था और उसका राज्य मालवा में था; फिर वह पुरविया कैसे हो गया? इन इतिहासों में मानसिंह तोमर के भतीजे नरसिंह-देव को भी पुरविया कहा गया है और चौहान मेदिनीराय को भी पुरविया कहा गया है। ज्ञात यह होता है कि राणा संग्रामसिंह के साथ जो भी राजपूत सामन्त मेवाड़ के पूर्व दिशा के प्रदेशों के थे, उन्हें पुरविया कहा जाता था; और इसी कारण सलहदी, नरसिंहदेव तथा मेदिनीराय, सभी 'पुरविया' कहे जाने लगे।

जन्म-स्थान

सलहदी के जन्म-स्थान के विषय में केवल बाबर ने सूचना दी है। अपनी ग्वालियर-यात्रा के प्रसंग में २ अक्टूबर १५२८ ई० के विवरण में बाबर ने लिखा है[1] — "शुक्रवार १७ मुहर्रम को मैंने नीबू तथा सदाफल के बागों की सैर की। ये बाग एक घाटी की तलहटी में पहाड़ियों के मध्य सूखजना नामक ग्राम के ऊपर स्थित हैं। यह स्थान सलाहुद्दीन का जन्म स्थान है। एक पहर उपरान्त चारबाग पहुँचकर हम वहाँ ठहरे।"

ये 'सलाहुद्दीन' सलहदी जांगला ही हैं, इसमें किसी सन्देह के लिए स्थान नहीं है। पानीपत, खानवा और चन्देरी के युद्धों में विजय प्राप्त कर लेने के पश्चात् भी बाबर सलहदी को भारत-साम्राज्य स्थापित करने के अपने संकल्प के मार्ग में बहुत बड़ी बाधा मानता था। ३० जनवरी १५२८ ई० की अपनी दैनन्दिनी में बाबर ने लिखा है[2]— "हम लोग चन्देरी इस उद्देश्य से आए थे कि इस पर विजय प्राप्त कर के हम रायसेन, भेलसा (विदिशा) तथा सारंगपुर पर, जो काफिरों के राज्य में और सलाहुद्दीन काफिर के अधीन हैं, आक्रमण करेंगे। इन पर विजय प्राप्त करने के उपरान्त हम राणा सांगा के विरुद्ध चित्तौड़ पर चढ़ाई करेंगे परन्तु........।"

यह सुनिश्चित है कि रायसेन, भेलसा तथा सारंगपुर का 'काफिर' राजा सलहदी ही था और उसे ही बाबर 'सलाहुद्दीन' लिखता है।[3]

---

१. डा० रिजवी, बाबरनामा, पृ० २७९।
२. डा० रिजवी, बाबरनामा, पृ० २६८।
३. बाबर द्वारा प्रयुक्त 'काफिर' सम्बोधन से यह भी सुनिश्चित है कि सन् १५२८ ई० में सलहदी विधिवत् हिन्दू था। उसे गुजरात के सुल्तान बहादुरशाह ने फिर मुसलमान बना लिया था।

बावर द्वारा उल्लिखित 'सूखजना' ग्राम को 'सुकुलहारी' अथवा 'सलवई' से अभिन्न माना गया है। यह 'सूखजना' वास्तव में तिघरा बाँध के पास स्थित वर्तमान 'सोजना' है। 'सुखजना' से यह 'सोजना' बन गया है और उसे ही बावर ने 'सूखजना' लिखा है। वर्तमान सोजना घाटी की तलहटी में ही स्थित है और वहाँ आज भी नीबू तथा सदाफल के बाग हैं। वाकयाते-मुश्ताफी में इसी ग्राम को 'सहजन' लिखा गया है।[1]

प्रारंभिक जीवन—भेलसा की जागीर

सलहदी की जन्म-तिथि ज्ञात नहीं है। वह रायसेन के युद्ध में ६ मई, सन् १५३२ ई० में मारा गया। उस समय उसके कम से कम चार पुत्र थे और उसके पुत्र भूपति के भी तीन सन्तानें उत्पन्न हो चुकी थीं। उसकी वय उस समय ६० वर्ष की मानी जा सकती है। इस प्रकार सलहदी का जन्म सन् १४७२ या १४७५ ई० के आस-पास माना जा सकता है, अर्थात्, कीर्तिसिंह तोमर के राज्यकाल में। ज्ञात होता है कि मानसिंह से 'जांगल' की बन न सकी और वह सन् १५०७ ई० में अवन्तगढ़ के युद्ध के पश्चात् मेवाड़ चला गया। उसके साथ उसका भाई लक्ष्मणसेन भी गया।

मेवाड़ में राणा संग्रामसिंह (सांगा) ने उसे आश्रय दिया। राणा ने अपनी पुत्री का विवाह, कुछ इतिहास लेखकों के अनुसार, सलहदी के साथ कर दिया; और कुछ इतिहास लेखकों के अनुसार, सलहदी के पुत्र भूपति के साथ कर दिया। मिरआते-सिकन्दरी और तबकाते-अकबरी के अनुसार, राणा संग्रामसिंह की पुत्री का विवाह भूपतिराय के साथ हुआ था। तारीख-ए-अल्फी भी इसी कथन का समर्थन करती है। परन्तु फरिश्ता के के अनुसार, सलहदी की पटरानी एवं भूपतिराय की माँ रानी दुर्गावती ही राणा संग्रामसिंह की पुत्री थी। डा० रघुवीरसिंह का मत है कि फरिश्ता द्वारा सुदूर दक्षिण में लिखे गए इस ग्रन्थ को कदापि प्रामाणिक तथा विश्वसनीय नहीं माना जा सकता।[2]

राणा संग्रामसिंह की पुत्री का विवाह सलहदी के साथ हुआ था या भूपतिराय के साथ, यह तथ्य अधिक महत्वपूर्ण नहीं है। राणा की राजनीति में सलहदी का महत्वपूर्ण स्थान था, यह निर्विवाद है।

दिसम्बर, १५१३ ई० में राणा संग्रामसिंह ने सलहदी को भेलसा परगना जागीर में दे दिया।

मेदिनीराय का उदय

इस समय मालवा में अनेक महत्वपूर्ण घटनाएँ हो रही थीं। सन् १५१० ई० में मालवे का सुल्तान नासिरुद्दीन मदिरा के नशे में कालियादेह में डूबकर मर गया और उसका उत्तराधिकारी उसका पुत्र महमूद द्वितीय हुआ। उसके अमीरों ने विद्रोह किया।

---

१. डा० रिजवी, उत्तर तैमूर कालीन भारत, भाग १, पृ० १६७।

२. छिताई चरित, पृ० ४३०।

मेदनीराय[1] ने उसकी सहायता की। महमूद ने मेदिनीराय को अपना प्रधान मंत्री वना लिया। मेदिनीराय का प्रभाव अत्यधिक वढ़ गया। महमूद ने पहले तो मेदिनीराय की हत्या का प्रयास किया; और जब यह सम्भव न हो सका तो वह गुजरात के सुल्तान मुजफ्फरशाह के पास सहायता के लिए पहुँचा।

माण्डू का जौहर

मेदिनीराय अभी भी मालवा के सुल्तान के प्रति निष्ठावान था। महमूदशाह के गुजरात भाग जाने के पश्चात् वह यह प्रयास करता रहा कि सुल्तान पुनः माण्डू लौट आए। उसने उसे यह समझाने का प्रयास किया कि गुजरात के सुल्तान को मालवा ले आने के परिणाम मालवा की सल्तनत के लिए भयावह हो सकते हैं। जब मेदिनीराय को यह ज्ञात हुआ कि सुल्तान मुजफ्फरशाह मालवा पर आक्रमण कर ही रहा हैं, तब उसने माण्डू की सुरक्षा का प्रवन्ध किया। उसने सलहदी से भी सहायता ली। माण्डू के गढ़ का प्रवन्ध अपने सम्वन्धी पृथ्वीराज (राय पिथौरा) के ऊपर छोड़कर मेदिनीराय सलहदी के साथ सहायता प्राप्त करने के लिए चितौड़ में राणा संग्रामसिंह के पास पहुँचा। पृथ्वीराज (राय पिथौरा) ने मुजफ्फरशाह का सामना किया और गढ़ की रक्षा करता रहा।

परन्तु, उसी वीच किसी व्यक्ति ने गढ़ की कमजोरी का भेद मुजफ्फरशाह को वतला दिया। निजामुद्दीन के अनुसार[2], "संयोग से, एक व्यक्ति ने पर्वत पर पहुँचने का एक सरल मार्ग वताकर कहा कि राय पिथौरा ने उस स्थान पर बहुत थोड़े-से व्यक्ति नियुक्त किए हैं, कल होली का दिन है, राजपूत लोग अपने-अपने घरों में खेलकूद में व्यस्त होंगे। यदि होली के दिन अन्य मोर्चों पर युद्ध प्रारम्भ करके आप शिविर को लौट जाएँ और तदुपरान्त एक सेना उस मार्ग से भेजें तो सम्भव है किले पर अधिकार प्राप्त हो जाए।"

ऐसा ही किया गया। दिन में एक ओर युद्ध कर मुजफ्फरशाह ने रात्रि में उस निर्वल स्थान पर भालों की नसेनी वनाकर अपने सैनिकों को गढ़ में प्रविष्ट कर दिया, जिन्होंने किले के द्वार खोल दिए। द्वार खोलने के समय राजपूत सावधान हो गए। सुल्तान के सैनिकों ने आक्रमण कर दिया। राय पिथौरा ने युद्ध प्रारम्भ किया। निजामुद्दीन ने अपनी विशिष्ट शैली में इस युद्ध का वर्णन किया है[3]—

"जब यह समाचार राय पिथौरा को प्राप्त हुआ तो उसने स्वयं प्रस्थान करने के पूर्व शादीखाँ पुरविया को ५०० सशस्त्र राजपूतों सहित एमादुलमुल्क से युद्ध करने के लिए भेजा और स्वयं कई हजार राजपूत लेकर शादीखाँ के पीछे रवाना हुआ। गुजरात के वीरों के वाण की गोलाई में होकर उस समूह को जो शादीखाँ के समक्ष आ रहा था वाण

१. मेदिनीराय चौहान का मूल नाम राय चन्द था। उसे राणा संग्रामसिंह ने 'मेदिनीराय' की पदवी प्रदान की थी। ज्ञात यह होता है कि कभी राय चन्द भी मुसलमान हो गया था और उसे भी राणा ने हिन्दू वना कर मेदिनीराय की पदवी दी थी। वाकआते-मुश्ताकी में उसे 'मुतिद' लिखा गया है (डा० रिजवी, वावर, पृ० ४४१)।
२. डा० रिजवी उत्तर तैमूर कालीन भारत, भाग २, पृ० १२४।
३. वही, पृ० १२५।

द्वारा आहत कर दिया। उनको भी घातक घाव लगे और आहत सूअर[1] के समान वे भाग खड़े हुए। इसी बीच में सुल्तान मुजफ्फरशाह भी उसी मार्ग से किले में पहुँच गया। जब किले वालों की दृष्टि मुजफ्फरशाह की पताका पर पड़ी तो वे अपने-अपने घरों को लौट गए और जौहर आयोजित किया। राजपूतों में यह प्रथा है कि परेशानी के समय वे अपने घरों में आग लगा देते हैं और अपने परिवार की हत्या कर देते तथा उन्हें जला डालते हैं। यह प्रथा जौहर कहलाती है। गुजराती वीरों के समूह तथा दल राजपूतों के घरों में प्रविष्ट हो गए और उन्होंने सामान्य रूप से सब की हत्या करनी प्रारम्भ कर दी। यह बात भली भाँति ज्ञात हुई है कि उस रात्रि तथा दिन के थोड़े से भाग में १९ हजार राजपूतों की हत्या हुई और लूट की धन, सम्पत्ति तथा दास गुजरात की सेना को इतनी अधिक संख्या में प्राप्त हुए कि उनकी गणना असम्भव है।"

"जब ईश्वर की कृपा से विजय प्राप्त हुई तो नमकहराम[1] राजपूतों ने अपने कुकर्म का फल भोग लिया। सुल्तान महमूद ने उपस्थित होकर बधाई दी और जल्दी में पूछा, 'खुदावन्दे जहाँ? हमारे लिए क्या आदेश है?' सुल्तान मुजफ्फर ने अपने बड़प्पन को प्रदर्शित करते हुए, कहा, "मैं तुम्हें मालवा के राज्य की बधाई देता हूँ।"

मालवा के सुल्तान की पराजय

निजामुद्दीन द्वारा राजपूतों के साथ की गई गाली-गलौज की उपेक्षा करते हुए आगे का घटना-क्रम उसी के शब्दों में देना उचित होगा[2]—

"जब सुल्तान महमूद के पास अत्यधिक सेना एकत्र हो गई तो उसने आसिफखाँ के परामर्श से भीमकरण के ऊपर, जो मेदिनीराय की ओर से गागरौन[3] के किले को दृढ़ बनाकर बन्द किए हुए था, चढ़ाई की। मेदिनीराय ने यह समाचार पाकर राणा सांगा (संग्रामसिंह) से कहा कि मेरा सब कुछ गागरौन के किले में है। मैंने आपकी सेवा में इस उद्देश्य से प्रार्थना की थी कि आप मालवा प्रदेश को साफ करके मुझे सौंप देंगे और अब यह दशा हो गई है कि जो कुछ मेरा था वह भी मुझसे जबरदस्ती छीना जा रहा है।"

"राणा सांगा की मर्यादा तथा उद्दण्डता को ठेस लगी और वह चित्तौड़ के किले से कई हजार खूंख्वार राजपूतों को लेकर गागरौन की ओर रवाना हुआ। जब सुल्तान महमूद को यह समाचार प्राप्त हुआ तो वह अत्यधिक वीरता एवं पौरुष के कारण

---

१. इस युग के मुस्लिम इतिहास लेखक केवल इतिहास ही नहीं लिखते थे, राजपूतों को विशेषतः, और हिन्दुओं को सामान्यतः, इस प्रकार के अनेक शालीन (?) विशेषणों से विभूषित करते थे। मुस्लिम शासकों का यह बुद्धिजीवी वर्ग योजनापूर्वक इस शैली को अपनाता रहा है। फिर भी उनकी इस शैली से बुरा मानने की आवश्यकता नहीं है। अपने ग्रन्थों में जो इतिहास-सामग्री वे छोड़ गए हैं, वह आज के भारत की बहुत बड़ी उपलब्धि है। उनके द्वारा लिखे तथ्यों को जाँच-परख कर अंगीकार कर लेना चाहिए और गाली-गलौज को दृष्टि से ओझल कर देना चाहिए—"परे अपावन ठौर पर कंचन तजत न कोइ।"

२. तबकाते-अकबरी, डा० रिजवी, उ० तै० का० भा०, भाग २, पृ० १२६-१२८।

३. फारसी ग्रन्थों में यह "काकरौन" लिखा मिलता है; 'गाफ' के स्थान पर 'काफ' लिख देने से नाम बदल गया।

सावधानी से कार्य न लेते हुए गागरौन के अवरोध को छोड़कर राणा सांगा से युद्ध करने के लिए अग्रसर हुआ।"

"दिन के अधिकांश भाग में वह यात्रा करता था। संयोग से जिस दिन युद्ध हुआ, सुल्तान महमूद ने अधिक यात्रा की थी और राणा सांगा से ७ कोस की दूरी पर पड़ाव कर दिया था। जब राणा सांगा को यह ज्ञात हुआ तो उसने अपने सामन्तों को बुलवा कर कहा 'यह उचित होगा कि इसी समय शत्रु पर आक्रमण कर दिया जाए, कारण कि वह बड़ी दूर से यात्रा करके आ रहा है और उसमें युद्ध करने तथा हिलने की शक्ति नहीं है। यदि शीघ्रातिशीघ्र प्रस्थान कर दिया जाएगा तो वह अपनी सेना को सुव्यवस्थित न कर सकेगा और कार्य सुगमतापूर्वक सम्पन्न हो जाएगा।' समस्त रायों तथा राजपूतों ने उसके विचार की प्रशंसा की और वे सेनाएँ तैयार करके युद्ध के लिए चल खड़े हुए।"

"जब वे सुल्तान महमूद के शिविर के निकट पहुँचे तो जिस प्रकार उन्होंने सोचा था, सुल्तान महमूद की सेना वाले एक-एक करके युद्ध के लिए आते थे और शहीद हो जाते थे। अव्यवस्थित रूप से युद्ध करने के कारण ३२ प्राचीन प्रतिष्ठित सरदार मार डाले गए। गुजरात की सेना में से आफिसखाँ ५०० मुसलमानों सहित शहीद हुआ और सुल्तान महमूद की सेना बुरी तरह पराजित हो गई। सुल्तान महमूद अपनी वीरता तथा पौरुष के कारण दो-तीन अश्वारोहियों सहित रणक्षेत्र में डटा रहा। जब राजपूतों की सेना उसकी ओर बढ़ी तो उसने अपने घोड़ों को एड़ लगाकर उस सेना में जो तलवारों तथा बर्छों के समुद्र के समान थी, डुबकी लगाई। उसके कवच में १०० से अधिक घाव लगे। उसके शरीर पर दो कवच थे, अतः दूसरे कवच को पार करते हुए ५० घाव उसके शरीर पर लगे। इतने अधिक घावों के बावजूद उसने शत्रु को पीठ न दिखाई! जब वह घोड़े से भूमि पर गिर पड़ा तो राजपूत लोग उसे पहचान कर राणा सांगा के पास ले गए। प्रत्येक राजपूत उसकी प्रसंशा करता था और अपने आपको उसकी वीरता की तारीफ करता हुआ न्यौछावर करता था।[1] राणा सांगा सुल्तान के समक्ष हाथ बाँधकर खड़ा हो गया और उसने सेवा सम्बन्धी समस्त सत्कार पूरे किए और उसके उपचार का प्रयत्न करने लगा। जब सुल्तान स्वस्थ हो गया तो राणा सांगा ने निवेदन किया[2], 'मुझे मुकुट प्रदान करके सम्मानित किया जाए।' सुल्तान महमूद ने जड़ाऊ ताज, जिसमें याकूत लगे हुए थ, राणा सांगा को प्रदान कर दिया। राणा सांगा ने सुल्तान महमूद के साथ दस हजार राजपूत कर दिए और उसे मन्दू (माण्डू) भेज दिया। वह स्वयं चित्तौड़ चला गया।"

"बुद्धिमानों को यह बात भली भाँति ज्ञात होनी चाहिए कि राणा सांगा की कीर्ति सुल्तान मुजफ्फर से श्रेष्ठ थी, कारण कि सुल्तान मुजफ्फर ने शरण लेने वाले की सहायता

---

१. यह निज़ामुद्दीन की कोरी कल्पना है। राजपूतों को आमरण युद्ध का पाठ महमूद से सीखने की आवश्यकता न थी।

२. विजयी राणा को भी पराजित सुल्तान के समक्ष **'हाथ बाँध कर खड़ा करना'** तथा 'निवेदन' कराना अद्भुत है!

की थी; परन्तु राणा सांगा ने शत्रु को युद्ध में बन्दी बनाकर राज्य प्रदान कर दिया। इतना महान आश्चर्यजनक कार्य सम्भवत: किसी के द्वारा सम्पन्न न हुआ होगा।"

"संक्षेप में यह समाचार पाकर सुल्तान मुजफ्फर ने बहुत बड़ी सेना उसकी सहायतार्थ भेजी और प्रेमयुक्त पत्रों द्वारा सुल्तान के हृदय के घावों पर मलहम रखा तथा उसके विषय में कृपादृष्टि प्रदर्शित की। बहुत समय तक गुजरात की सेना मालवा की विलायत में रही। जब सुल्तान महमूद के राज्य को स्थायित्व प्राप्त हो गया तो उसने कृतज्ञता प्रकट करते हुए सुल्तान मुजफ्फर की सेवा में पत्र भेजकर यह प्रार्थना की, 'क्योंकि हमारी इच्छानुसार राज्य के कार्य सम्पन्न हो चुके हैं, अतः गुजरात की सेना को वापस बुला लिया जाए।' सुल्तान मुजफ्फर ने अपनी सेना को बुलवा लिया।"

"गुजरात की सेना के चले जाने के उपरान्त सुल्तान महमूद की कमज़ोरी प्रकट होने लगी और उसके राज्य का अधिकांश भाग उसके अधिकार से निकल गया। उसके राज्य का कुछ भाग राणा सांगा ने अपने अधिकार में कर लिया। सारंगपुर के क्षेत्र से भेलसा (विदिशा) तथा रायसेन तक के स्थान सलहदी पुरबिया ने अपने अधिकार में कर लिए।"

हिजरी सन् ९२६ (अक्टूबर १५२० ई०) में सलहदी का दमन करने के लिए मालवा के सुल्तान महमूद ने भेलसा की ओर प्रस्थान किया। सलहदी ने सारंगपुर के समीप सुल्तान के साथ युद्ध किया और उसे पराजित कर दिया। तबकाते-अकबरी के अनुसार, सेना पराजित हो जाने के पश्चात् "केवल २० अश्वारोहियों की सहायता से सुल्तान ने विजयी राजपूत सेना को भगा दिया और सलहदी को पेशकश के रूप में उपहार देने पड़े।" हो सकता है, वह जादू टोने का युग था! परन्तु आज तो यह मानना पड़ेगा कि सुल्तान महमूद सलहदी से पराजित हुआ और माण्डू भाग गया।

रायसेन का राजा सलहदी

जनवरी, १५२१ ई० में जब गुजरात की सेना ने मन्दसौर का घेरा डाला तब राणा संग्रामसिंह भी ससैन्य वहाँ पहुँचे। सलहदी महमूद खलजी के साथ मन्दसौर पहुँचा, परन्तु वहाँ जाकर राणा से मिल गया। गुजरात के सुल्तान के सेनापति अयाजखाँ को राणा संग्रामसिंह के साथ सन्धि करके मन्दसौर का घेरा उठाना पड़ा। इसके पश्चात् गुजरात के सुल्तान को कुछ वर्षों तक मालवा की ओर ध्यान देने का अवकाश नहीं मिला। मालवा के सुल्तान महमूद को भी सलहदी के साथ छेड़-छाड़ करने का साहस नहीं हुआ।

भेलसा, रायसेन और सारंगपुर[1] अब सलहदी के आधिपत्य में थे। बाबर के अनुसार सलहदी के पास तीस हजार घुड़सवार थे। उसकी राजधानी रायसेन थी, यद्यपि यदा-कदा वह सारंगपुर में भी रहता था। यहीं सारंगपुर में १७ जून १५२६ ई० (संवत् १५८३ वि०

---

१. सारंगपुर कालीसिंध के पूर्वी किनारे पर बसा हुआ है। वह आगर से ३४ मील और भेलसा (विदिशा) से पश्चिम में ८० मील की दूरी पर है।

आषाढ़ सुदी सप्तमी) को नारायणदास ने अपना काव्य छिताई-चरित सुनाया था। सलहदी के एक राज्याधिकारी वाचनाचार्य जयवल्लभ भी थे, जो मालव-ऋषि कहलाते थे; परन्तु सलहदी राजकार्य में उनका परामर्श कभी-कभी अमान्य भी कर देता था।[1]

१५२६ का भारत

२० अप्रैल सन् १५२६ ई० भारत के इतिहास में एक महत्वपूर्ण दिन है। इस दिन मुगुल बाबर ने केवल बारह हजार सैनिकों के साथ उत्तर भारत के 'सम्राट्' की एक लाख की संख्या की सेना को पराजित कर भारत में एक नवीन राजवंश की स्थापना की थी।[2] यह बात अलग है कि यह मुगुलवंश आगे चल कर भारतीय बन गया था, तथापि सन् १५२६ ई० में बाबर और उसकी सेना, भारत के सन्दर्भ में, विदेशी लुटेरों और आक्रान्ताओं के समूह मात्र थे। सन् १५२६ ई० के भारत को इन विदेशी आक्रामकों के समक्ष क्यों घुटने टेक देने पड़े, इस तथ्य पर राष्ट्रीय हित की दृष्टि से विचार कर लेना आवश्यक है। इबराहीम लोदी का साम्राज्य लगभग समस्त उत्तर भारत पर फैल गया था। इधर मेवाड़ के राणा संग्रामसिंह गुजरात, मालवा और दिल्ली को भी दहला रहे थे; और समस्त राजपूत राज्य उनके अनुगत थे। सलहदी और मेदिनीराय ने मालवा के बहुत बड़े भू-भाग पर अधिकार कर लिया था। गुजरात का सुल्तान मुजफ्फरशाह भी अत्यन्त प्रतापी था। भारत की इन सब शक्तियों को ज्ञात था कि बाबर ने काबुल में तोपें ढलवा ली हैं और उसका प्रयोग वह युद्धक्षेत्र में करता है। उधर पुर्तगाली भी भारत में तोपें ले आए थे। परन्तु भारत के अफगान, राजपूत, सभी तलवारों और तीरों के ही युग में बने रहे।

बाबर ने सब से पहले इबराहीम लोदी के राज्य पर आक्रमण किया था। अन्य समस्त भारतीय शक्तियों ने उसे केवल इबराहीम के विरुद्ध आक्रमण माना। पानीपत के युद्ध में कुछ भारतीय शक्तियाँ तटस्थ रहीं और कुछ ने बाबर का साथ दिया। परिणाम जो होना था, सो हुआ।

इबराहीम लोदी ग्वालियर की विजय के पश्चात् मदोन्मत्त हो गया था। उसके अनेक अमीर उसके विरुद्ध हो गए और पंजाब के सूबेदार दौलतखाँ ने बाबर को भारत पर आक्रमण करने के लिए निमन्त्रित ही कर दिया। उसके साथ कुछ अन्य अमीर भी थे।

उधर गुजरात के सुल्तान मुजफ्फरशाह का छोटा बेटा बहादुरशाह अपने पिता से रुष्ट हो गया। वह इबराहीम लोदी से जा मिला। बाबर जिस समय आक्रमण की तैयारी कर रहा था; ठीक उसी समय पर इबराहीम ने बहादुरशाह को भी रुष्ट कर दिया। बहादुरशाह ने भी सहायता के लिए विदेशी बाबर का ही आश्रय लिया। जब पानीपत का युद्ध हो

---

१. अगरचन्द नाहटा, मालवा के जैन इतिहास का एक अनावृत पृष्ठ, जैनयुग, वर्ष १, अंक ९।

२. सेनाओं की ये संख्याएँ पातशाह बाबर की आत्मकथा से ली गई हैं, जो अशुद्ध ज्ञात होती हैं।

रहा था, तब गुजरात का भावी सुल्तान, इबराहीम की ओर से युद्ध में सम्मिलित होने का ढोंग रचकर भी युद्धक्षेत्र में मूक दर्शक बना रहा।[1]

बाबर ने अपने आत्मचरित्र में एक भयंकर बात लिखी है। उसके अनुसार, जब वह काबुल ही में ही था, तब राणा संग्रामसिंह के दूत ने उसके समक्ष उपस्थित होकर निष्ठा प्रदर्शित की थी, और यह निश्चय प्रकट किया था कि 'सम्मानित बादशाह उस ओर से दिल्ली पहुँच जाएँ तो मैं इस ओर से आगरा पर आक्रमण कर दूँगा।' इसके विपरीत राजपूताने के इतिहासकारों का दृढ़ मत है कि बाबर ने ही राणा संग्रामसिंह के पास अपने दूत के हाथ यह पत्र भेजा था कि वह आकर दिल्ली पर अधिकार करेगा और राणा उस ओर से आगरा पर अधिकार करेंगे। कहा जाता है कि बाबर के इस प्रस्ताव को राणा ने सलहदी की सलाह से स्वीकार किया था और बाबर के दूत के साथ अपनी स्वीकृति का पत्र भेजा था।

राणा और सलहदी ने संभवतः यह सोचा होगा कि बाबर तैमूर के समान लूट-पाट कर लौट जाएगा और उसके हल्ले में अफगानों की सल्तनत नष्ट हो जाएगी; उस समय वे समस्त उत्तर भारत को अपने अधिकार में करने में समर्थ होंगे। अपनी निजी समस्याएँ विदेशी सत्ताएँ नहीं सुलझा सकतीं, उसके लिए अपना स्वयं का पराक्रम आवश्यक है; यह तत्व सन् १५२६ का भारत न समझ सका। परिणाम भयंकर हुआ। बाबर ने आगरा, दिल्ली, सब जीत लिए और उन्हीं दिनों के रोजनामचों में राणा संग्रामसिंह, मेदिनीराय तथा सलहदी, सब के प्रति कटूक्तियाँ लिख दीं।

पानीपत के युद्ध के पश्चात् ही भारत की राजपूत, अफगान और तुर्क शक्तियों को ज्ञात हो गया कि उन्होंने अपने लिए बहुत बड़ी विपत्ति बुला ली है। परन्तु, यह अनुभूति उन्हें बहुत विलम्ब से हुई। भारत की एकतंत्रीय शासन पद्धति की राजनीतिक सूझ-बूझ, बुद्धिमत्ता और समरनीति की भीषण पराजय का प्रतीक है पानीपत का प्रथम युद्ध!

राणा-बाबर संघर्ष

राणा संग्रामसिंह ने इस नवीन विपत्ति से भारत को छुटकारा दिलाने के लिए भारतीय शक्तियों का संगठन किया। पानीपत के मैदान से जीवित भाग निकलने वाला इबराहीम लोदी का पुत्र महमूद लोदी भी चित्तौड़ में राणा की शरण में पहुँचा। मेवात का हसनखाँ मेवाती भी राणा से जा मिला। इस प्रकार राणा सांगा के नेतृत्व में राजपूत-अफगान संगठन खड़ा हुआ जिसने बाबर को भारत से भगा देने का संकल्प किया। बाबर के अनुसार राणा के पक्ष में निम्न लिखित व्यक्ति थे[2]—

१. सलहदी, जिसके पास तीस हजार अश्वारोहियों का प्रदेश था।
२. बागड़ के रावल उदयसिंह, जिनके पास बारह हजार अश्वारोहियों का प्रदेश था।

१. डा० रिजवी, हुमायूं, भाग २, पृ० ४१०।
२. डा० रिजवी, बाबरनामा, पृ० २३९।

३. मेदिनीराय, जिसके पास वारह हजार अश्वारोहियों का प्रदेश था।
४. हसनखाँ मेवाती, जिसके पास वारह हजार अश्वारोहियों का प्रदेश था।
५. ईडर का भारमल, जिसके पास चार हजार अश्वारोहियों का प्रदेश था।
६. नरपति हाड़ा, जिसके पास सात हजार अश्वारोहियों का दल था।
७. कच्छ का सत्रवी, जिसके पास छह हजार अश्वारोहियों का प्रदेश था।
८. चार हजार अश्वारोहियों के प्रदेश के स्वामी धर्मदेव।
९. चार हजार अश्वारोहियों के प्रदेश के स्वामी वीरसिंहदेव।
१०. सुल्तान सिकन्दर लोदी का पुत्र महमूदखाँ, जिसके पास कोई प्रदेश तो न था परन्तु दस हजार अश्वारोही थे।

वयाना और खानवा

जनवरी, १५२७ ई० को राणा ने अपनी विशाल सेना के साथ वावर के विरुद्ध प्रस्थान किया। वे चन्दवार आए, जहाँ के राजा मानिकचन्द्र चौहान ने उनका स्वागत किया। वयाना को मुगुलों ने जीत लिया था, अतः सर्वप्रथम उसी को घेरा गया। वावर ने वयाना गढ़ की सहायता के लिए मुहम्मद सुल्तान मिर्जा के नेतृत्व में सेना भेजी। यह सेना राणा की सेना के समक्ष ठहर न सकी और १६ फरवरी १५२७ ई० के आसपास वयाना के युद्ध में राणा को पूर्ण सफलता मिली। वावर के अनेक अमीर हताहत हुए। इस पराजय के परिमार्जन के लिए वावर ने भीषण तैयारियाँ प्रारम्भ कीं। सैनिकों को कुरआन पर हाथ रखकर शपथ दिलाई गई। राणा ने वावर पर सीधा आक्रमण करने के वजाए उसे एक मास का समय तैयारी के लिए दे दिया।[1] शनिवार १२ मार्च १५२७ ई० को खानवा के मैदान में राणा और वावर की सेनाओं का सामना हुआ। युद्ध अत्यन्त उग्र रूप से चल रहा था, उसी समय राणा संग्रामसिंह एक तीर से आहत हो गए। उन्हें रणक्षेत्र से वाहर ले जाया गया। राणा अज्जा ने राणा संग्रामसिंह के चंवर-छत्र धारण कर युद्ध का संचालन किया। राजपूत सैनिक इस भ्रम में युद्ध करते रहे कि उनका नेतृत्व राणा संग्रामसिंह ही कर रहे हैं। परन्तु क्रमशः यह वात फैलने लगी कि राणा संग्रामसिंह आहत होकर युद्धक्षेत्र छोड़ चुके हैं। इसका परिणाम राजपूतों के लिए घातक हुआ। वे युद्धक्षेत्र छोड़ने लगे। सलहदी भी रण-क्षेत्र से हट गया। कुछ इतिहासकारों का मत है कि सलहदी से ही वावर को यह ज्ञात

---

१. यह समय राणा संग्रामसिंह ने वावर के साथ सन्धिवार्ता में विताया था, ऐसा कर्नल टाड का मत है; परन्तु इसके प्रमाण में उन्होंने वावर की आत्मकथा का वह अंश उद्धृत किया है जिसमें वावर ने भारत के आक्रमण के पूर्व की सन्धि का उल्लेख किया है। कर्नल टाड के अनुसार इस सन्धि का मध्यस्थ सलहदी बना था और इसी कारण टाड ने उसे 'देश के हित को वेचने वाला देशद्रोही' लिखा है। (एनाल्स एण्ड एण्टीक्विटीज आफ राजस्थान, १८९८ संस्करण, भाग १, पृ०३१९-२०।)

हो सका था कि राणा संग्रामसिंह घायल होकर रणक्षेत्र छोड़ चुके हैं। परन्तु स्वयं बाबर ने इसका उल्लेख नहीं किया है तथा यह अत्यन्त निराधार कथन है।

जो हुआ हो, यह अवश्य हुआ है कि राजपूतों द्वारा प्रस्तुत बाबर के प्रतिरोध का संगठन ध्वस्त हो गया और समस्त भारत पर मुगुलों के साम्राज्य-स्थापन का मार्ग प्रशस्त हो गया। बाबर ने राजपूतों के मुण्डों का चबूतरा (मुडचौरा) बनवाया और 'गाजी' की उपाधि ग्रहण की।

मेदिनीराय की हत्या

बाबर ने लिखा है कि डूंगरपुर के रावल उदयसिंह, राय चन्द्रभान, चन्देरी का राजा, मानिकचन्द्र चौहान आदि के साथ सलहदी का पुत्र भूपति भी खेत रहा।[1] २६ जनवरी १५२७ ई० को बाबर ने मेदिनीराय के विरुद्ध चन्देरी के गढ़ पर आक्रमण किया। चन्देरी-विजय का वर्णन करते हुए बाबर ने लिखा है—"गढ़ के भीतरी भाग के काफिरों ने इतना भी युद्ध न किया। जब हमारे बहुत से आदमी किले पर चढ़ गए तो वे शीघ्रातिशीघ्र भाग खड़े हुए। थोड़ी देर बाद काफिर लोग नंगे होकर निकल पड़े और युद्ध प्रारंभ कर दिया। उन लोगों ने हमारे बहुत-से आदमियों को भगा दिया। वे चहारदीवारी की ओर भागने के लिए विवश हो गए। हमारे कुछ आदमियों की उन्होंने हत्या कर दी। दीवारों से उनके तुरन्त चले जाने का कारण यह था कि उन्होंने यह समझ लिया था कि उनकी पराजय निश्चित ही है; अतः वे अपनी स्त्रियों और रूपवतियों की हत्या करके और प्राणत्याग देने के उद्देश्य से युद्ध हेतु नंगे निकल पड़े। हमारे आदमियों ने अपने-अपने स्थान से भीषण आक्रमण करके उन्हें दीवारों के पास से भगा दिया। तदुपरान्त दो-तीन सौ आदमी मेदिनीराय के घर में प्रविष्ट हो गए। वहाँ शत्रुओं ने एक-दूसरे की इस प्रकार हत्या कर दी—एक आदमी तलवार लेकर खड़ा हो जाता था, अन्य लोग प्रसन्नतापूर्वक अपनी ग्रीवा उसकी तलवार के नीचे रख देते थे। इस प्रकार वे बहुत बड़ी संख्या में नरक में पहुँच गए।"[2]

फरिश्ता के अनुसार इस युद्ध में पाँच-छह हजार राजपूत मारे गए थे।

परन्तु ज्ञात होता है कि मेदिनीराय इस युद्ध में नहीं मरे, वरन् मुगुलों द्वारा बन्दी बना लिए गए। बाबर ने पहले उन्हें बलात् मुसलमान बनाया और फिर उनकी हत्या करा दी।[3]

बाबर ने राजपूतों के सिरों के स्तम्भ के निर्माण का आदेश दिया।

इसके पश्चात् बाबर लिखता है—"हम लोग चन्देरी इस उद्देश्य से आए थे कि इस पर विजय प्राप्त करके हम रायसेन, भेलसा तथा सारंगपुर, जो काफिरों (अर्थात् हिन्दुओं)

---

१. भूपति खानवा के युद्ध में नहीं मरा था। यदि सलहदी बाबर से मिल गया होता तब यह अशुद्ध कथन बाबर की आत्मकथा में स्थान न पाता। चन्देरी का राजा मेदिनीराय भी खानवा युद्ध में नहीं मरा था।

२. डा० रिजवी, बाबरनामा, पृ० २६७।

३. डा० रिज़वी, बाबर, पृ० ४४१।

के राज्य में है और सलाहुद्दीन (सलहदी) काफिर के अधीन है, आक्रमण करेंगे। इन पर विजय प्राप्त करने के उपरान्त हम राणा सांगा के विरुद्ध चितौड़ पर चढ़ाई करेंगे। किन्तु उस चिन्ताजनक समाचार के प्राप्त होने के कारण" —

बावर के इस कथन के पश्चात् यह सन्देह नहीं रह जाना चाहिए कि सलहदी खानवा के रणक्षेत्र से हट कर बावर से नहीं मिल गया था। यदि वह बावर से मिल गया होता तब बावर उसे राणा संग्रामसिंह के समकक्ष अपना शत्रु न मानता। खानवा के युद्ध में हुई राजपूतों की पराजय से खीझ कर कर्नल टाड तथा श्री हरविलास शारदा ने सलहदी को "देशद्रोही" लिखा है और यह भी लिखा है कि उसके रणक्षेत्र छोड़ देने और बावर से मिल जाने के कारण राणा संग्रामसिंह की पराजय हुई थी। राणा संग्रामसिंह की पराजय के कारणों का विवेचन करना हमारा उद्देश्य नहीं है, वे हारे थे यह सुनिश्चित है, और, अनेक अन्य राजपूतों के समान, सलहदी भी रणक्षेत्र छोड़ गया था यह भी सुनिश्चित है; परन्तु उसे जिन कारणों से 'देशद्रोही' की उपधि दी गई है, वे नितान्त काल्पनिक और मिथ्या हैं।

बहादुरशाह से मैत्री—उज्जैन का राज्य

राणा संग्रामसिंह की मृत्यु के पश्चात् मेवाड़ की शक्ति और प्रताप को बहुत धक्का लगा था।[1] तथापि, मेवाड़ राज्य में महमूद खलजी की लूटमार का बदला लेने के लिए अक्टूबर, १५२० ईसवी के लगभग राणा रत्नसिंह ने मालवा पर चढ़ाई की। गुजरात के सुल्तान मुजफ्फरशाह की मृत्यु हो चुकी थी। उसके उपरान्त बहादुरशाह गुजरात का सुल्तान बना। मालवा के सुल्तान ने गुजरात के तख्त के दावेदार, मुजफ्फरशाह के दूसरे पुत्र, चांदखां को प्रश्रय दिया था; अतएव सुल्तान बहादुरशाह ने भी मालवे पर आक्रमण किया और वह भी बागड़ प्रदेश में आ पहुँचा। महमूद खलजी ने सलहदी को भी अपनी सहायता के लिए बुलाया, उसकी बड़ी आवभगत की तथा कई और परगने उसको जागीर में दिए।[2] परन्तु महमूद की इन अनपेक्षित कृपाओं से सशंकित होकर सलहदी ससैन्य राणा रत्नसिंह से जा मिला। बहादुरशाह ने मालवा पर चढ़ाई कर माण्डू के किले का घेरा डाला और माण्डू पर अधिकार कर महमूद खलजी को सकुटुम्ब कैद कर लिया। सलहदी बराबर बहादुरशाह के साथ रहकर उसकी पूरी-पूरी सहायता करता रहा एवं जब मालवा पर बहादुरशाह का आधिपत्य हो गया तब उज्जैन का सूबा भी सलहदी को पुरस्कार स्वरूप दिया गया। रायसेन का किला, आष्टा की सरकार, सारंगपुर तथा भेलसा की जागीर भी उसी के अधिकार में यथावत बनी रही।

बहादुरशाह से संघर्ष

वर्षा प्रारम्भ होने पर जुलाई, १५३१ ई० में सलहदी बहादुरशाह से विदा लेकर अपनी राजधानी रायसेन को लौट गया, परन्तु उसका पुत्र भूपतिराय तब भी बहादुरशाह

१. इसके आगे का अंश डा० रघुवीरसिंह द्वारा लिखित "रायसेन का शासक सलहदी" के आधार पर दिया गया है ; छिताईं-वरित, पृ० ४३३-३९।
२. डा० रिजवी, उत्तर तैमूर कालीन भारत, भाग २, पृ० १२९।

की सेना में बना रहा। वर्षा ऋतु की समाप्ति के बाद भी जब सलहदी लौटकर दरबार में नहीं गया तब नवम्बर १५३१ ई० में बहादुरशाह ने अपना एक प्रमुख अमीर सलहदी को अपने साथ लिवा लाने के लिए भेजा। परन्तु सलहदी तब भी आना-कानी और टाल-मटूल ही करता रहा। अपने रनिवास में सलहदी ने सैकड़ों मुसलमान स्त्रियाँ रख छोड़ी थीं। यह जानकर ही बहादुरशाह सलहदी से रुष्ट हो गया था और अब तो उसका रोष और भी अधिक बढ़ गया। तथापि, कहीं भागकर सलहदी मेवाड़ के राणा से नहीं जा मिले इस आशंका के कारण, बहादुरशाह ने सलहदी को अपने पास बुलाने के लिए छल से काम लेने का निश्चय किया। वह स्वयं गुजरात को लौट रहा है यह घोषित कर वह तदर्थ माण्डू से चलकर दिसम्बर १५, १५३१ ई० को नालछा पहुँचा।

भूपतिराय बहादुरशाह से बहुत ही आतंकित था। अपने पिता के प्रति बहादुर-शाह के रोष को दूर करने के लिए वह प्रयत्नशील हुआ। उचित आश्वासन देकर सलहदी को दरबार में लाने के लिए बहादुरशाह की स्वीकृति लेकर भूपतिराय अपने पिता के पास उज्जैन पहुँचा और शिकार का मिस कर बहादुरशाह भी पीछे-पीछे देपालपुर और सादल-पुर तक चला गया। सलहदी को तो विश्वास हो गया कि बहादुरशाह वस्तुतः गुजरात को लौट रहा था, साथ ही ऐसे अवसर पर बहादुरशाह से अनेकानेक पुरस्कार पाने का लालच भी उसे हो आया। अतः भूपतिराय को उज्जैन में पीछे छोड़कर सलहदी तत्परता के साथ सादलपुर में बहादुरशाह की सेवा में उपस्थित हो गया। बहादुरशाह के साथ ही सलहदी भी धार पहुँचा और वहाँ के किले को घेर लिया। दिसम्बर २७, १५३१ ई० के दिन बहादुरशाह ने वहाँ सलहदी और उसके कुछ साथियों को कैद कर लिया। सलहदी के कुछ साथी सैनिक धार से भाग कर भूपतिराय के पास उज्जैन पहुँचे और उनसे सारा समाचार सुनकर भूपतिराय भी वहाँ से चितौड़ के लिए चल पड़ा।

बहादुरशाह ने बड़ी तत्परता के साथ उज्जैन पर अधिकार करने के लिए सेना भेजी और वह स्वयं भी वहाँ के लिए रवाना हो गया। भूपतिराय के चले जाने के कारण बिना किसी विरोध के उज्जैन पर बहादुरशाह का अधिकार हो गया, और उज्जैन तथा आष्टा के परगने अन्य मुसलमान अमीरों को जागीर में दे दिए गए। तेजी से बढ़कर बहादुरशाह ने सारंगपुर पर भी अधिकार कर लिया और वह परगना भी मल्लूखाँ को जागीर में दे दिया गया। बहादुरशाह ने भेलसा पर भी अधिकार कर वहाँ के अनेक मन्दिरों को नष्ट भ्रष्ट किया। तदनन्तर वहाँ से रवाना होकर बुधवार, जनवरी १७, १५३२ ई० को बहादुरशाह रायसेन के सामने जा पहुँचा। उधर सलहदी का भाई, लक्ष्मणसेन, रायसेन के किले को सुसज्जित कर उसकी सुरक्षा में तत्पर था। किले के सामने पड़ाव कर रही बहादुरशाह की सेना पर आक्रमण कर उसे मार भगाने का राजपूतों ने पूरा प्रयत्न किया, किन्तु वे विफल हुए और दूसरे दिन से रायसेन के किले का घेरा प्रारम्भ हुआ।

वहादुरशाह की सेना के साथ कैदी के रूप में सलहदी भी रायसेन पहुँच गया। घेरे की व्यवस्था, वहादुरशाह की सैनिक शक्ति तथा आक्रमणों से निरन्तर हो रही किले की क्षति, आदि को देखकर सलहदी को वहादुरशाह की जीत सुनिश्चित जान पड़ी। सर्वथा निराश और परिस्थितियों से विवश सलहदी किले में वन्द अपने कुटुम्बियों को वचाने और आगे भी अपना महत्व वनाए रखने के लिए स्वयं मुसलमान वनने तथा रायसेन का क़िला वहादुरशाह के अधिकार में करवा देने के लिए तैयार हो गया। वहादुरशाह के स्वीकृति देने पर सलहदी ने विधिवत इस्लाम धर्म स्वीकार किया, और तव उसे कैद से मुक्त कर वहादुरशाह ने उसे सम्मानित भी किया।[1]

अव रायसेन के किले से लक्ष्मणसेन को वुलवाकर किला वहादुरशाह को सौंप देने का सलहदी ने पूरा-पूरा आग्रह किया, परन्तु चित्तौड़ से सहायतार्थ सेना लेकर भूपतिराय के वहाँ जल्दी ही पहुँचने की आशा तव भी लक्ष्मणसेन को थी; अतएव अगले दिन किला सौंप देने का वचन देकर उस दिन तो वह वापिस किले में लौट गया, परन्तु दूसरे दिन सलहदी के वहुत यत्न करने पर भी लक्ष्मणसेन ने वह वादा पूरा नहीं किया। इसके कुछ ही वाद राजपूत घुड़सवारों के दल की वहादुरशाह की एक सैनिक टुकड़ी के साथ लड़ाई हो गई जिसमें कई राजपूत काम आए। यह समाचार सुनकर कि उस युद्ध में काम आने वालों में राजपूत घुड़सवारों का सेनानायक, उसका छोटा पुत्र भी था, सलहदी को वहुत ही खेद हुआ और वह अचेत हो गया। यह सुन वहादुरशाह को विश्वास हो गया कि सलहदी उसको धोखा दे रहा था, अतः सलहदी को उसने पुनः कैद कर माण्डू भिजवा दिया।

इधर मेवाड़ के राणा विक्रमादित्य ससैन्य भूपतिराय के साथ सहायतार्थ रायसेन की ओर चले, परन्तु उसका सामना करने के लिए वहादुरशाह मार्ग में ही आ पहुँचा। विना युद्ध किए ही राणा ससैन्य चित्तौड़ वापस लौट गए।

रायसेन का जौहर

उधर से लौटकर वहादुरशाह रायसेन के किले के घेरे को पूरी तत्परता से चलाने लगा। अन्यत्र कहीं से कोई सैनिक सहायता प्राप्त होने की आशा अव विलकुल ही नहीं

---

१. हमारे मत में सलहदी ने इस्लाम धर्म इसके पूर्व ही स्वीकार कर लिया था। वावर ने अपनी आत्मकथा अपने जीवनकाल में ही लिखी थी। सन् १५२८ ई० की दैनन्दिनी में वावर सलहदी को 'सलाहुद्दीन' लिखता है। ज्ञात यह होता है कि सलहदी उसी समय 'सलाहुद्दीन' हो गए थे जव राय डूंगर 'हुसेन' वने थे। राणा संग्रामसिंह ने उन्हें फिर हिन्दू वनाया, परन्तु वावर ने इस नये परिवर्तन को अपनी आत्मकथा में मान्यता नहीं दी। वहादुरशाह ने उसे दूसरी वार मुसलमान वनाया था।

डा० कालिकारंजन कानूनगो ने इस तथ्य को असत्य वतलाया है कि वहादुरशाह ने सलहदी को दुवारा मुसलमान वनाया था। परन्तु उनका यह निष्कर्ष इस वात पर आधारित है कि "वेचारा सलहदी तो वहादुरशाह ने मालवा जीता उसके दस वर्ष पहले ही खानवा के युद्ध में वीरगति प्राप्त कर चुका था।" (शेरशाह और उसका समय पृ० ४१०।) सलहदी की मृत्यु खानवा के युद्ध में निश्चित ही नहीं हुई थी, रायसेन के जौहर के समय मई ६, १५३२. में हुई थी, इसमें सन्देह नहीं है।

रह गई थी। अतः अप्रैल, १५३२ ई० के उत्तरार्द्ध में लक्ष्मणसेन ने बहादुरशाह को निवेदन करवाया कि सलहदी को माण्डू से रायसेन बुलवा लिया जाए जिससे उसकी उपस्थिति में वह रायसेन का किला बहादुरशाह को सौंप सके। लक्ष्मणसेन की प्रार्थना स्वीकार कर सलहदी को शीघ्र ही माण्डू से वापस बुलवा लिया गया। तब लक्ष्मणसेन बहादुरशाह के पड़ाव पर पहुँचा, सलहदी से मिला, बहादुरशाह से भेंट की और गढ़ को सौंप देने का वचन देकर उसे पूरा करने के लिए गढ़ पर लौट गया। अब किले को खाली करने के आयोजन होने लगे। अन्त में सोमवार मई ६, १५३२ ई० को सलहदी की पटरानी, रानी दुर्गावती की ओर से बहादुरशाह को निवेदन करवाया गया कि सलहदी को किले पर जाने की आज्ञा दी जाए जिससे वह अपनी रानियों, अपने रनिवास की सभी स्त्रियों तथा अपने कुटुम्बियों आदि को साथ लेकर किले पर से उतार लाए। बहादुरशाह ने यह प्रार्थना स्वीकार की और मलिक शेर को सलहदी के साथ किले पर भेजा।

किले पर जब सलहदी अपने महलों में पहुँचा तब लक्ष्मणसेन, रानी दुर्गावती आदि के पूछने पर सलहदी ने बताया कि रायसेन के किले तथा आसपास के प्रदेश के बदले में उसे बड़ौदा नगर और उसके आसपास का परगना दिया जाएगा एवं भविष्य में उसके और भी कृपान्वित होने की पूरी आशा है। यह सुनकर लक्ष्मणसेन आदि के साथ ही उसकी पटरानी दुर्गावती ने भी सलहदी की तीव्र भर्त्सना की और अन्त में रानी दुर्गावती ने कहा, "ओ सलहदी! तुम्हारे जीवन का अन्तकाल निकट ही है। क्यों अब अपने गौरव और मान-मर्यादा को नष्ट करते हो। हमने तो निश्चय कर लिया है कि हम स्त्रियाँ तो जौहर कर चिता पर जल जाएँगी और हमारे वीर पुरुष लड़ते हुए खेत रहेंगे। अगर तुम में कुछ भी लज्जा शेष है तो हमारा साथ दो।" सलहदी का शौर्य जाग्रत हुआ और लक्ष्मणसेन आदि का साथ देते हुए युद्ध में मर-मिटने के लिए वह कृत-संकल्प हो गया। मलिक शेर ने सलहदी को समझाने का प्रयत्न किया परन्तु विफल होकर वह वापस लौट गया।

रायसेन किले पर जौहर की चिता जल उठी, अन्य रानियाँ एवं दूसरी सभी स्त्रियों के साथ रानी दुर्गावती तथा अपने दो बच्चों के साथ भूपतिराय की पत्नी ने भी उसमें प्रवेश किया। सलहदी के रनिवास की सभी मुसलमान स्त्रियों को भी उस जौहर की चिता में जल मरने को बाध्य किया गया तथापि उनमें से एक किसी प्रकार बच निकली। तदन्तर सलहदी, लक्ष्मणसेन और उनके सभी साथी मरने के लिए कृत-निश्चय होकर बहादुरशाह की सेना पर टूट पड़े तथा वीरतापूर्वक लड़ते हुए सब ही वहाँ खेत रहे। सोमवार, मई ६, १५३२ ई० के दिन रायसेन किले में यह जौहर हुआ और उसी दिन सलहदी भी लड़ता हुआ खेत रहा। रायसेन के किले पर बहादुरशाह का अधिकार हो गया और उस किले के साथ ही भेलसा, चन्देरी आदि का सारा प्रदेश, जो अब तक सलहदी के अधिकार में था, कालपी के भूतपूर्व शासक, सुल्तान आलम लोदी को दे दिया गया। सलहदी के विस्तृत राज्य का अन्त हो गया।

सलहदी का वैभव

सलहदी तत्कालीन मालवा का एक प्रमुख राजपूत शासक और अतीव अनुभवी सेनानायक था। मेदिनीराय के बाद सलहदी की ही गणना की जाती थी। रायसेन का किला कोई एक युग से अधिक समय तक सलहदी की राजधानी रहा था एवं वहाँ के उसके महलों के वैभव को देखकर बहादुरशाह के दरबार का मलिक अलीशेर भी आश्चर्यचकित रह गया था। 'मिरआते—सिकन्दरी' में यत्र-तत्र सलहदी के ऐश्वर्य-विलास का कुछ-कुछ वर्णन मिलता है। सलहदी के पास ऐसे-ऐसे बरतन-भाण्डे, वस्त्र, इत्र-फुलेल, आदि अनेकानेक वस्तुएँ थीं जो कदाचित ही किसी अन्य सुलतान या राजा-महाराजा के पास हों। सुनहरी जरी के वस्त्र पहने सुवर्ण-आभूषणों और रत्नों से सुसज्जित बनी-ठनी वहाँ की वे अतीव सुन्दर तथा अपनी-अपनी विशिष्ट कला में अद्वितीय नर्तकियाँ और उनकी वैसी ही अनुपम सहेलियाँ—समूचे मालवा में उनका जोड़ शायद ही कहीं देख पड़ता। सलहदी के रनिवास में अनेक रानियाँ तथा कोई सात-आठ सौ उप-पत्नियाँ, खवासिनें आदि थीं जिनमें से कई सौ मुसलमान थीं। उन सब के खान-पान, रहन-सहन और साज-सिंगार आदि पर बहुत अधिक द्रव्य व्यय होता था। इस सारे ऐश्वर्य-विलास में जीवन बिताकर भी सलहदी की पटरानी, रानी दुर्गावती की सुदृढ़ धर्मभावना तथा कठोर कर्तव्यनिष्ठा बराबर बनी रही। घेरे के कठिन समय में उसने लक्ष्मणसेन आदि रायसेन किले के संरक्षकों को डटकर सामना करने के लिए प्रोत्साहित ही नहीं किया, अपितु अपने धर्मच्युत पति को भी प्रेरणा देकर उसका उचित मार्गदर्शन किया। मुख्यतः रानी दुर्गावती की ही दृढ़ता और प्रेरणा से रायसेन का यह जौहर हुआ तथा प्राणों की आहुति देकर सलहदी अपने प्रायश्चित्त को चिरस्मरणीय बना सका।

पीर सलाहुद्दीन

ज्ञात होता है कि रायसेन के जौहर के पश्चात् बहादुरशाह ने सलहदी के शव का अन्तिम संस्कार इस्लाम की रीति से करवाया और गढ़ की मस्जिद के पास उसे दफना दिया; तथा वहाँ एक मजार बनवा दिया। पीर सलाहुद्दीन का मजार आज भी रायसेन के गढ़ पर स्थित है। तोमरवंश के इस अत्यन्त महत्वाकांक्षी और उद्दाम व्यक्तित्व के जीवन का अन्त इस प्रकार हुआ। मृत्यु के पश्चात् "पीर सलाहुद्दीन" हिन्दू और मुसलमान, दोनों के द्वारा समान रूप से पूजित हुए।

परिच्छेद १४

प्रतापसिंह

(१५४०-१५४३ ई०)

रायसेन में जो महाज्वाला प्रज्वलित हुई थी, उसमें से कौन बच सका और कौन नष्ट हो गया, इसका कोई विवरण उपलब्ध नहीं है। सलहदी तो निश्चय ही रायसेन में मारा गया था। उसके पुत्र भूपतिराय को बहादुरशाह ने अपने पास ही रखा। ज्ञात यह होता है कि भूपति के पुत्र प्रतापसिंह के साथ सलहदी के अन्य पुत्र पूरनमल, चन्द्रभानु और छत्रमल मेवाड़ चले गए।

भूपतिराय

रायसेन के साका के पश्चात् भूपतिराय के दर्शन इतिहास में सर्वप्रथम सन् १५३५ ई० में होते हैं जब हुमायूं ने बहादुरशाह को माण्डू के गढ़ में घेर लिया था। भूपति के विषय में दो इतिहासकारों ने दो प्रकार के विवरण दिए हैं। मीर अबू तुराब वली के अनुसार, जब बहादुरशाह मांडू से भागने लगा तब भूपतिराय ने उसका निष्ठापूर्वक साथ दिया था[1] और संभवतः वह हुमायूं के विरुद्ध युद्ध करते हुए मारा गया था।

परन्तु इसके विपरीत मिरआते-सिकन्दरी में इस घटना का विवरण अन्य रूप में दिया गया है[2]—

"संक्षेप में, हजरत जन्नत आशियानी (हुमायूं) ने वहाँ से प्रस्थान कर माण्डू का अवरोध कर लिया। सुल्तान बहादुर ने किला बन्द कर लिया। उपद्रव की अग्नि पुनः बुलन्द हो गई। युद्ध होने लगा। इसी बीच रूमीखाँ[3] ने सलहदी के पुत्र भूपतिराय को सूचना दी कि 'सुल्तान ने तुम्हारे वंश के प्रति जो अत्याचार किए हैं वह तुम्हें ज्ञात हैं, अतः ऐसे अत्याचारी के लिए अपने बहुमूल्य प्राण अर्पित करना बुद्धि के अनुकूल नहीं, अपितु, यह प्रतिकार का समय है और उससे बदला लेना चाहिए। इसका उपाय यह है कि युद्ध के समय जो द्वार तुम्हारे अधीन है, उसे खोल दो। सम्मानित बादशाह (हुमायूं) ने यह निश्चय किया है कि तुम्हारे पिता का स्थान तुम्हें प्रदान कर दिया जाएगा, अपितु, उससे भी बढ़कर, तुम्हारे प्रति कृपा दृष्टि की जाएगी।' भूपतिराय ने रूमीखाँ के मार्गभ्रष्ट करने पर द्वार खोल दिया और स्वयं हट गया। सेना ऊपर पहुँच गई। जब सुल्तान (बहादुरशाह) को यह पता चला तो उसने कहा, 'जो कुछ बुद्धिमानों ने कहा है उसमें भूल

---

१. डा० रिजवी, हुमायूं, भाग २, पृ० ४१७।
२. डा० रिजवी, हुमायूं, भाग २, पृ० ४३७।
३. रूमीखाँ वही तुर्की मुस्तफाखाँ है जो बहादुरशाह का अत्यन्त विश्वस्त पदाधिकारी था। गुजरात का तोपखाना उसी के अधीन था। रूमीखाँ बहादुरशाह को धोखा देकर हुमायूं से मिल गया था।

नहीं की कि साँप को मारना और उसके बच्चे का पालन पोषण करना बुद्धिमानों का कार्य नहीं है। उसका यही परिणाम होता है।' इसके पश्चात् सुल्तान गुजरात की ओर भाग गया।"

एक ही घटना के दो प्रकार के विरोधी वर्णनों को देखकर यह कहना कठिन है कि भूपतिराय के चरित्र को किसके आधार पर परखा जाए। पहला विवरण उस अबू तुराब वली ने लिखा है जो स्वयं गुजरात के सुल्तान की सेवा में था और आगे रूमीखाँ के समान ही उसका साथ छोड़कर हुमायूँ से जा मिला था। तथापि वह बहादुरशाह के इतिहास से अधिक परिचित था। मिरआते-सिकन्दरी का लेखक बहुत बाद का भी है और वह गुजरात के सुल्तानों के निकट भी नहीं रहा था।

यह सुनिश्चित है कि माण्डू के अवरोध में ही भूपतिराय की मृत्यु हुई। माण्डू में हुमायूँ ने कत्ले-आम कराया था। मिरआते-सिकन्दरी के अनुसार[1], 'एक घड़ी में माण्डू के नगर के प्रत्येक बाजार तथा गली में रक्त की नदी बह निकली।" ग्वालियर का प्रसिद्ध गायनाचार्य बैजू भी उस दिन माण्डू में ही था। उस मृत्यु-ताण्डव से वह कैसे निकल सका, इसका विवरण अन्यत्र दिया गया है। सलहदी का पुत्र भूपतिराय उस दिन माण्डू में अवश्य मारा गया, चाहे बहादुरशाह की ओर से लड़ता हुआ मारा गया हो, चाहे माण्डू-विजय के पश्चात् उसे हुमायूँ ने मरवा डाला हो।

भूपतिराय अपने जीवनकाल में कभी राजा न बन सका। रायसेन के जौहर के पश्चात् चार वर्ष तक वह बहादुरशाह का सामन्त रहा और सन् १५३५ ई० में समाप्त हो गया।

पूरनमल और चन्द्रभानु

रायसेन गढ़ के नियामत दरवाजे पर १९ अगस्त सन् १५४२ ई० के कुछ शिलालेख प्राप्त हुए हैं जिनमें "महाराजाधिराज प्रतापशाहदेव", "महाराजकुमार पूरनमलदेव" तथा "महाराजकुमार चन्द्रभानुदेव" के नाम प्राप्त हुए हैं। जैसा ऊपर लिखा जा चुका है, सलहदी के भूपति के अतिरिक्त, दूसरी रानी से पूरनमल, चन्द्रभानु (चन्द्रभोज) तथा छत्रसाल नामक तीन पुत्र और थे। सलहदी की गद्दी का अधिकारी भूपतिराय था। उसकी मृत्यु के पश्चात् उस गद्दी का अधिकारी हुआ भूपतिराय का पुत्र प्रतापसिंह। यद्यपि पूरनमल और चन्द्रभानु प्रतापसिंह से बड़े थे, तथापि वे छोटी शाखा के होने के कारण केवल 'महाराजकुमार' रहे और राजा हुआ अवयस्क प्रतापसिंह। परन्तु जब भूपतिराय की मृत्यु हुई तब उसके पास कोई राज्य नहीं था और अवयस्क प्रतापसिंह अपनी ननसाल चित्तौड़ में पल रहा था। अवयस्क प्रतापसिंह को 'राजा' बनने का अवसर कुछ विचित्र परिस्थितियों में प्राप्त हुआ, वह भी केवल तीन वर्ष के लिए।

1. डा० रिजवी, हुमायूँ, भाग २, पृ० ४३८।

बहादुरशाह जब हुमायूं से लगभग पराजित हो गया था, उसी समय बिहार में शेरशाह सूर ने अफगानों की शक्ति का संगठन किया और नव निर्मित मुगुल सल्तनत को धक्का देना प्रारम्भ किया। हुमायूं गुजरात छोड़कर आगरा की ओर दौड़ा। उसके लौटते ही बहादुरशाह ने पुनः गुजरात और मालवा पर अधिकार कर लिया। सन् १५३७ ई० में बहादुरशाह की मृत्यु हो गई और मालवे में अराजकता फैल गई। उस समय मल्लूखां कादिरशाह के नाम से मालवे का सुल्तान बना। कादिरशाह मुगुलों और अफगानों के विषम संघर्ष को देख रहा था और उसने यह परिणाम निकाला कि मुगुलों या अफगानों में से जो भी विजयी होगा वह मालवा पर चढ़ दौड़ेगा। सलहदी और मेदिनीराय के समय से ही मालवा में राजपूतों का बाहुल्य था और वे अपनी खोई हुई शक्ति को पुनः प्राप्त करने के लिए उत्सुक थे। कादिरशाह दोहरी मार के बीच में नहीं पड़ना चाहता था, अतएव उसने भूपतिराय के अवयस्क राजकुमार प्रतापसिंह को मेवाड़ से बुलाया और उसे रायसेन का गढ़ दे दिया। अवयस्क प्रतापसिंह की ओर से महाराजकुमार पूरनमल राज्य का कार्य देखने लगे। पूरनमल को पूर्वी मालवे का बहुत बड़ा भाग कादिरशाह ने दे दिया था, उसने और भू-भाग भी दबा लिए तथा थोड़े समय में ही वह मालवे का बहुत शक्तिशाली राजा बन गया।

शेरशाह से सन्धि

१७ मई सन् १५४० को कन्नौज के युद्ध में मुगुलों और अफगानों के बीच निर्णायक युद्ध हुआ, जिसमें पराजित होकर हुमायूं को भारत छोड़ना पड़ा और शेरशाह सूर के सामने मैदान खाली हो गया। अगस्त सन् १५४० में शेरशाह सूर ने दिल्ली के तख्त पर अधिकार कर लिया। उत्तर, पश्चिम तथा पूर्वी भारत की विजय के पश्चात् शेरशाह ने मालवे की ओर ध्यान दिया। कादिरखां ने शेरशाह के समक्ष आत्मसमर्पण कर दिया और फिर वह गुजरात की ओर भाग गया। रायसेन के राजा प्रतापसिंह के संरक्षक महाराजकुमार (जिन्हें 'भैया' भी लिखा गया हैं) पूरनमल के साथ शेरशाह ने कोई छेड़-छाड नहीं की और उससे सन्धि कर ली। पूरनमल शेरशाह से गागरौन के गढ़ में मिलने गए। शेरशाह ने उन्हें १०१ घोड़े प्रदान किए। पूरनमल ने अपने भाई चन्द्रभानु को शेरशाह की सेवा में छोड़ दिया। परन्तु शेरशाह ने यह सन्धि विवशतापूर्वक की थी। उसे मारवाड़ के राजा मालदेव से टक्कर लेने के लिए समय की अपेक्षा थी। मालदेव ने हुमायूं को सहायता दी थी और शेरशाह इस कारण उससे बहुत रुष्ट था। शेरशाह मारवाड़ से दिल्ली पहुंचा। एक मास विश्राम कर शेरशाह ने पुनः मालवा की ओर प्रस्थान किया। मालवा से शेरशाह चन्देरी के मार्ग से बिहार गया; परन्तु अपने बेटे जलालखां को रायसेन की विजय करने के लिए भेज दिया। सन् १५४३ में जलालखां ने चन्देरी को घेर लिया। उसी समय बिहार से शेरशाह भी लौट आया और उसने रायसेन के पास छावनी डाली।

चित्र-फलक ७

महीपालदेव तोमर के शिवमन्दिर का एक प्रस्तर (पृष्ठ ३३१ देखें)

—भारतीय पुरातत्व विभाग के सौजन्य से

युद्ध का बहाना

एक वर्ष पूर्व ही शेरशाह पूरनमल से घनिष्ट मैत्री कर चुका था। अब किस बहाने से युद्ध किया जाए? युद्ध के बहाने का विवरण तारीखे-शेरशाही के लेखक अब्बासखाँ ने दिया है। वह लिखता है[1]—"एक दिन अफगानों के कुछ नौकर साथ-साथ बैठे हुए थे, तो उनमें भैया पूरनमल के सैनिकों की वीरता के बारे में बात चली। जो लोग वहाँ उपस्थित थे, उनमें से अधिकांश लोगों ने कहा कि इन गुणों में पूरनमल के सैनिकों की उन दिनों कोई समानता नहीं कर सकता। ये लोग नित्य दुर्ग के बाहर निकलते हैं, और कहते हैं कि 'शेरखाँ की सेना में ऐसा कोई एक भी व्यक्ति नहीं है जो हम से लड़ सके।' इन लोगों में जो अफगान थे उन्होंने जब इन बातों पर गहरा विचार किया तो ये अफगानों के अपमान से सहम गए, और उन्होंने कहा, 'चाहे शेरशाह हमारे गले काट डाले या हमको अपने राज्य से निर्वासित कर दे, तो भी हम पूरनमल के सैनिकों का सामना करेंगे ताकि हम उनके बल और पराक्रम की परीक्षा कर सकें।'

"अगले दिन सूर्योदय से पहले पन्द्रह सौ सवार निश्चित स्थान पर एकत्रित हुए और व्यूह बनाकर पूरनमल से कहलाया, 'तुम्हारे आदमी नित्य अपने बल पर अभिमान करते हैं। हम १५०० सवार शेरशाह की आज्ञा के विरुद्ध यहाँ आए हैं[2] और हमने युद्ध करने के लिए व्यूह बना लिया है, तुम अपने आदमी एकत्रित करो और दुर्ग के बाहर निकलो ताकि हम लड़ सकें और दोनों पक्षों का शौर्य प्रकट हो जाए।' भैया पूरनमल को अपने आदमियों की वीरता और शक्ति पर बड़ा भरोसा था, और वह समझता था कि अफगान लोग वीरता में उनके समान नहीं हैं। इस बात का मुकाबला करने के लिए उसने अपने प्रसिद्ध और अनुभवी सैनिकों को बाहर निकाला और स्वयं दरवाजे के ऊपर बैठकर युद्ध देखने लगा। राजपूतों और अफगानों में युद्ध हुआ, और दिन के प्रथम पहर तक लड़ाई होती रही। तब तक कोई भी एक पक्ष दूसरे को रणभूमि से नहीं खदेड़ सका। अन्त में अफगानों को लाभ हुआ और राजपूतों के पैर डिगने लगे। परन्तु, उस समय दोनों पक्षों ने ऐसी वीरता दिखाई कि उसका वर्णन नहीं हो सकता। अन्त में सर्वशक्तिमान ईश्वर ने विजय अफगानों को प्रदान की और उन्होंने राजपूतों को उनके स्थान से दुर्ग के द्वार तक खदेड़ भगाया। दरवाजे के पास राजपूत लोग फिर लड़ने के लिए खड़े हो गए। परन्तु अफगानों ने उन पर ऐसा प्रबल आक्रमण किया कि वे इसे रोक नहीं सके और दरवाजे के अन्दर भाग गए। अफगान लोग विजयोल्लास के साथ अपने डेरों को लौट गए।"

रायसेन का घेरा

अब्बास ने आगे लिखा है—"जब शेरशाह ने सुना कि अफगान नौकरों ने ऐसा शौर्य और वीरत्व प्रदर्शित किया है तो उसको अति हर्ष हुआ। परन्तु उन्होंने उसके आदेश का

---

१. इलियट एण्ड डाउसन, खण्ड ४, पृ० ३९९।

२. यह कथन असत्य ज्ञात होता है। वास्तविकता यह ज्ञात होती है कि शेरशाह ने ही यह विग्रह योजनापूर्वक कराया था, ताकि सन्धि तोड़ कर रायसेन पर आक्रमण करने का बहाना मिल सके।

उल्लंघन करके यह लड़ाई लड़ी थी, इसलिए उसने प्रत्यक्ष में उनको बहुत बुरा-भला कहा। कुछ दिन पश्चात् उसने उनमें से प्रत्येक को उपयुक्त पुरस्कार, अच्छी नियुक्तियाँ और जागीरें दीं और कहा, 'तुम्हारी वीरता मुझे विदित हो गई है। अब मेरे काम को देखो और यह भी देखो कि मैं इस किले पर क्या करता हूँ।' इसके पश्चात् शेरशाह ने आदेश दिया कि डेरे में जितनी भी पीतल हो उसे गलाकर तोपें बनाई जाएँ। उसके आदेशानुसार जब बाजार से और सिपाहियों के डेरों से बर्तन, तश्तरी और तवे के रूप में सारी पीतल का संग्रह हो गया तो उसकी तोपें बनाई गईं, और जब वे तैयार हो गईं तो उसने सब को साथ-साथ दुर्ग पर चलने का हुक्म दिया। जब दुर्ग पर गोलों का प्रहार करके चारों ओर की प्राचीर कई जगह तोड़ दी गई तो पूरनमल को बड़ा भय हुआ और छह महीने के पश्चात् वह शेरशाह के पास आया। तब उससे शेरशाह ने कहा, 'मैं तुमको प्राणदान देता हूँ और बनारस का राज्य प्रदान करता हूँ। शर्त यह है कि मुसलमानों के जिन परिवारों को तुमने दासता में जकड़ रखा है, छोड़ दो।' पूरनमल ने उत्तर दिया, 'मैंने इनमें से किसी भी कुटुम्ब को कभी दासता में नहीं रखा, और न मैं राजा हूँ। मैं तो उसका केवल नायब हूँ। मैं उसके पास जाकर आपकी बात कहूँगा और फिर देखूँगा कि वह क्या उत्तर देता है।' शेरशाह ने उसको जाने दिया। जब वह किले में गया तो उसने अपनी सब जवाहरात इकट्ठी करके शेरशाह के पास भेज दी और कहा, 'मैं पुनः आपके सामने उपस्थित होने का साहस नहीं कर सकता। तुम पहले दुर्ग से दो मंजिल दूर चले जाओ, मैं बाहर निकल कर यह दुर्ग तुम्हारे सिपाहियों को दे दूँगा और मैं दूसरे देशों को चला जाऊँगा और यदि तुम्हारा ज्येष्ठ पुत्र आदिलखाँ और कुतुबखाँ बानेत शपथ लेकर पाबन्द हो जाएँगे तो मैं अपने कुटुम्ब और स्त्रियों के साथ किले के बाहर आ जाऊँगा।' शेरशाह ने आदिलखाँ और कुतुबखाँ बानेत से पूरनमल की बात कही और उन्हें आदेश दिया कि उसको सन्तुष्ट करके बाहर ले आएँ। कुतुबखाँ बानेत किले में गया। उसने शपथ लेकर प्रतिज्ञा ली और पूरनमल को उसके परिवार और स्त्रियों के सहित रायसेन के दुर्ग के बाहर ले आया। कुतुबखाँ ने निवेदन किया कि पूरनमल के डेरे के वास्ते कोई स्थान बताया जाए। तब शेरशाह ने अपने डेरे के बीच में एक स्थान बतलाया और कुतुबखाँ स्वयं पूरनमल के साथ उस स्थान पर गया जो शेरशाह ने बतलाया था।

शेरशाही न्याय (!)

आगे फिर अब्बास ने लिखा है—"कुछ दिन के बाद चन्देरी के मुखियाओं की विधवाएँ और अन्य स्त्रियाँ सड़क के किनारे पर शेरशाह की सेवा में आईं और उसकी तरफ चिल्ला कर बोलीं। शेरशाह ने पूछा कि यह कौन हैं तथा आदेश दिया कि उनको सामने लाया जाए। उन्होंने कहा, 'इस अमानुषिक और दुष्ट काफ़िर ने हम पर सभी प्रकार की क्रूरताएँ और अत्याचार किए हैं। उसने हमारे पतियों को मार डाला और हमारी लड़कियों को दासियाँ तथा नर्तकियाँ बना लिया, हमारी जमीनें छीन लीं और बहुत अर्से से हमारी समस्त सम्पत्ति का हरण कर लिया। यदि तुम हमारे साथ न्याय

नहीं करोगे तो आज के बाद कयामत के दिन जब प्रथम और अन्तिम, सब लोग इकट्ठे हो जाएँगे तो हम लोग तुम्हारे ऊपर दोष लगाएँगे।' शेरशाह ईमानदार और न्यायशील शासक था। उत्पीड़ितों के इन हृदयद्रावक शब्दों को सुनकर उसकी आँखों से अश्रु गिरने लगे और उसने कहा, 'धैर्य रखो, क्योंकि मैंने प्रतिज्ञा करके उसको बाहर निकाला है।' उन्होंने उत्तर दिया, 'अपने उलमा से सलाह करो और उनके निश्चय के अनुसार, व्यवहार करो।' जब शेरशाह अपने डेरे में वापस लौटा तो उसने उन तमाम उल्माओं को बुलाया जो उसकी विजयी सेना के साथ थे, और एक-एक करके पूरनमल के उन सारे अमानुषिक कार्यों का वर्णन किया जो उसने मुसलमानों की स्त्रियों तथा परिवारों के साथ किए थे और उनसे अपना फैसला देने के लिए कहा। अमीर शेख रफीउद्दीन ने और दूसरे उल्माओं ने, जो विजयी सेना के साथ थे, यह निर्णय दिया कि पूरनमल को मार डालना चाहिए।"

विश्वासघात

आगे की घटना भी अब्बास के मुख से सुनना ही सुविधाजनक है—

"रात में ईसाखाँ हाजिब को आदेश दिया कि वे अपनी सेना को और हाथियों को अमुक स्थान पर एकत्रित कर ले क्योंकि शेरशाह गौंडवाना की ओर कूच करना चाहता है। हबीबखाँ को यह गुप्त आदेश दिया गया कि वह पूरनमल को देखता रहे। वह इस बात की चिन्ता रखे कि वह भाग नहीं जाए, तथा उनके विषय में किसी प्राणी से एक शब्द भी नहीं बोले क्योंकि यह विचार शेरशाह ने बहुत अर्से से कर रखा है। जब सेना और हाथी निश्चित स्थान पर पहुँच गए तो उनको सूचना दी गई। शेरशाह ने आदेश दिया कि सूर्योदय के समय भैया पूरनमल के डेरे घेर लिए जाएँ। पूरनमल से कहा गया कि उसके डेरों को क्यों घेरा जा रहा है। तब उसने अपने डेरे में जाकर अपनी प्रिय पत्नी रत्नावली का, जो हिन्दी गीत बड़े मधुर स्वर से गाया करती थी, सिर काट डाला और बाहर आकर अपने ही साथियों से कहा, 'मैंने तो यह किया है, अब तुम अपनी स्त्रियों तथा कुटुम्बियों को मार डालो।' जब हिन्दू लोग अपनी स्त्रियों व कुटुम्बियों को मारने में लगे हुए थे तो सब ओर से अफगानों ने हिन्दूओं का संहार शुरू कर दिया। पूरनमल और उसके साथी मुकाबले के लिए खड़े हुए, "सुअरों" की भांति शौर्य और शक्ति का प्रदर्शन करने में कोई कसर नहीं रखी, परन्तु निमेष मात्र में ही वे लोग मार डाले गए। पूरनमल की एक लड़की और उसके बड़े भाई के तीन बच्चे जीवित पकड़ लिए गए। शेरखाँ ने पूरनमल की पुत्री बाजीगारों को दे दी ताकि वे उसे बाजारों में नचाएँ। लड़कों को नपुंसक करवा दिया गया जिससे अत्याचारी का वंश आगे न बढ़े।"

मालवा के तोमरों का यह वंशनाश अप्रैल, १५४३ में हुआ था।[1] शेरशाह के इतिहास का प्रामाणिक विवरण प्रस्तुत करने वाले विद्वान डा० कालिकारंजन कानूनगो ने अपने ग्रन्थ "शेरशाह और उसका समय" में अब्बासखाँ के विवरण को अनेक स्थलों पर त्रुटि-

१. शेरशार और उसका समय, डा० कालिकारंजन कानूनगो, पृ० ४०८।

पूर्ण बतलाया है। रत्नावली और शुजातखाँ के कथोपकथन को उन्होंने "पठानी कठपुतली का तमाशा" कहा है। पूरनमल की पुत्री बाजीगरों को देना भी वे कपोल-कल्पित बतलाते हैं। जिस पूरनमल ने अपनी पत्नीका सिर अपने हाथ से काटा हो उसने अपनी पुत्री को आततायी पठानों द्वारा अपमानित होने के लिए जीवित छोड़ा होगा, यह कल्पनातीत है। कुछ भी हुआ हो, यह सुनिश्चित है कि दिसम्बर १५१३ में भेलसे की जागीर प्राप्त करने के पश्चात् सलहदी तोमर ने मालवा में जिस राज्य और राजवंश की स्थापना की थी उसमें से कुछ का विनाश हुआ, ६ मई १५३२ को रायसेन के जौहर के समय, और जो कुछ बचा था, उसका पूर्ण अवसान हो गया अप्रैल, १५४३ में।[1] समय की ऊँच-नीच देखता, यह तोमर राज्य केवल ३० वर्ष चला।

१. शेरशाह और उसका समय, डॉ० कालिकारंजन कानूनगो, पृ० ४०८।

परिशिष्ट

शाह मंझन अब्दुल्लाह

मालवा के तोमरों के इतिहास से शाह मंझन का प्रत्यक्ष सम्बन्ध नहीं है। वे रायसेन तब आए थे जब शेरशाह ने प्रतापसिंह और पूरनमल का वंशनाश कर दिया था और गढ़ पर अपना अधिकार जमा लिया था। मंझन की मधुमालती हिन्दी सहित्य की गौरवशाली निधि है, इस कारण मंझन के जीवनवृत्त को मालवा के तोमरों के इतिहास के परिशिष्ट के रूप में देने का औचित्य माना जा सकता है।

मंझन ने अपनी कृति मधुमालती में शाहे-वक्त के रूप में शेरशाह के पुत्र और उत्तराधिकारी इस्लामशाह सूर का उल्लेख किया है; साथ ही, शेरशाह के बंगाल के सूबेदार खिज्रखाँ का भी बहुत सम्मान के साथ उल्लेख किया है और ९ कडवकों में शेख मुहम्मद गौस का गुणगान अपने पीर के रूप में किया है। ज्ञात यह होता है कि प्रारंभ के ३८ कडवक मंझन ने अपनी आवश्यकताओं के अनुसार समय-समय पर जोड़े हैं। इस विवाद में अभी न पड़कर मंझन के जीवनवृत्त पर ही ध्यान केन्द्रित करना उचित होगा।

मंझन का पूरा नाम शाह मंझन अब्दुल्लाह था।

काजी ताजुद्दीन नहवी (व्याकरणाचार्य) बलख के निवासी थ और वहीं उनकी खानकाह थी। ईसवी चौदहवीं शताब्दी में ताजुद्दीन नहवी भारतवर्ष में धर्मप्रचार के लिए आए और लखनौती नगर में निवास करने लगे। लखनौती में ही उनके एक पुत्र काजी खैरुद्दीन शरीफ का जन्म हुआ। सन् १५१३ ई० में काजी खैरुद्दीन को पुत्र की उपलब्धि हुई, जिसका नाम रखा गया, मंझन अब्दुल्लाह।

मंझन के नाना काजी समाउद्दीन देहलवी थे जो उच्च पद पर आरूढ़ थे। उन्हें कुतलुगखाँ की उपाधि दी गई थी।

मंझन को विधिवत् विद्याध्ययन कराया गया था। उस समय के प्रसिद्ध विद्वान शेख अहमदी मंझन के सहपाठी थे। मंझन शरा का पूरा ध्यान रखते थे और उसी के अनुसार जीवन व्यतीत करते थे।

इसी समय सैयिद ताजुद्दीन बुखारी भारत में आए और वे भी बंगाल में बस गए। शाह मंझन ने बुखारी का शिष्यत्व ग्रहण कर लिया। बुखारी साहब स्वयं शेख मुहम्मद गौस के शिष्य बन गए थे और उनके माध्यम से शाह मंझन भी गौस के शिष्य बने। यह घटना सम्भवतः उस समय की है जब शेख गौस और शेख बहलोल हुमायूं के साथ बंगाल में थे।

सन् १५३९ ई० में चौसा के युद्ध में हुमायूं को शेरशाह के हाथों पराजित होना पड़ा और समस्त बिहार तथा बंगाल पर शेरशाह का अधिकार हो गया। उसने बंगाल का प्रशासन अपने तुर्क सेनापति खिज़्रखाँ को सौंप दिया और स्वयं हुमायूं का पीछा करता हुआ पंजाब की ओर चला गया। इसी समय शाह मंझन खिज़्रखाँ के कृपापात्र बने होंगे। सम्भव यह है कि खिज़्रखाँ के माध्यम से ही मंझन शेरशाह से परिचित हो सके हों।

परन्तु, खिज़्रखाँ अधिक समय तक प्रभावशाली न रह सका और सन् १५४२ ई० में शेरशाह ने उसे अपदस्थ कर बन्दी बना लिया।

अप्रैल, सन् १५४३ ई० में शेरशाह ने धोखा देकर रायसेन के तोमर राजा प्रतापसिंह और उसके समस्त परिवार को कत्ल करवा दिया तथा रायसेन पर अधिकार कर उसका नया नाम 'इस्लामाबाद' रखा। उसने उस गढ़ का प्रशासक शाहबाजखाँ को नियुक्त किया। इसी समय शाह मंझन भी लखनौती से रायसेन पहुँच गए और शेरशाह ने उन्हें इस्लामाबाद, अर्थात्, रायसेन का 'शेखुल-इस्लाम' नियुक्त कर दिया। मंझन ने वहीं अपनी खानकाह स्थापित की।

रायसेन के तोमरों का वंशनाश करने के पश्चात् शेरशाह कुछ समय तक राजस्थान के राजपूतों से जूझता रहा। सन् १५४४ में उसने कालिंजर की ओर प्रयाण किया। उस समय बान्धव गढ़ पर राजा वीरभानु बघेला का राज्य था। शेरशाह के भय से वह कालिंजर के राजा कीर्तिसिंह की शरण में चला गया। शेरशाह ने कालिंजर गढ़ को घेर लिया। १० रबी-उल-अव्वल, ९५२ हिजरी (२२ मई १५४५ ई०) को कालिंजर के राजा कीर्तिसिंह की पराजय के साथ ही शेरशाह की भी बारूद में आग लग जाने के कारण मृत्यु हो गई।

उसके पश्चात् कालिंजर गढ़ की उपत्यका में ही २२ मई १५४५ ई० को शेरशाह के छोटे पुत्र जलालखाँ का इस्लामशाह के नाम से राज्यारोहण किया गया। इस्लामशाह ने पहला काम यह किया कि कालिंजर के राजा कीर्तिसिंह और उसके ७० प्रमुख अनुयायियों को मृत्यु के घाट उतार दिया। इसके उपरान्त वह आगरा आया। उसने शेरशाह के समय के सरदारों का दमन आरम्भ कर दिया। इसी प्रसंग में उसने शुजातखाँ[1] को मालवा का प्रशासक बना दिया। शुजातखाँ रायसेन और सारंगपुर को केन्द्र बनाकर मालवे का प्रशासन देखने लगा।

इसी समय मंझन ने रायसेन में मधुमालती लिखना प्रारम्भ की—

सन नौ से बावन जब भये, सती पुरुष कलि परिहरि गये।
तब हम जिय उपजी अभिलाषा, कथा एक बंधऊं रस भाखा॥

---

१. शुजातखाँ के मालवा के प्रशासन का स्मारक वर्तमान शुजालपुर है।

२२ मई सन १५४५ ई० को शेरशाह की मृत्यु हुई थी, अर्थात्, सती पुरुष (शेरशाह) 'कलि परिहर गए—' इस पृथ्वी को छोड़ गए थे, तभी रायसेन के शेखुल-इस्लाम, शाह मंझन के मन में यह 'अभिलाषा' जागृत हुई थी कि वे 'रस भाषा' में एक कथा लिखें (अथवा 'भाखा' में रस कथा लिखें)। वह पूरी कब हुई यह मंझन ने नहीं लिखा है। परन्तु घटना-क्रम से यह अवश्य ज्ञात होता है कि उस समय तक शुजातखाँ को रायसेन का प्रशासक नियुक्त कर दिया गया था।

इस बीच, इस्लामशाह ने आगरा से हटाकर अपनी राजधानी ग्वालियर में स्थापित कर ली[1] और चुनार गढ़ से अपना पैतृक खजाना भी ग्वालियर मँगा लिया।

इस्लामशाह शुजातखाँ से भी रुष्ट हो गया। वास्तव में बात यह थी कि जब इस्लामशाह अन्य युद्धों में व्यस्त था तब शुजातखाँ के मन में स्वतन्त्र सुल्तान बनने की इच्छा जागृत हुई। इस्लामशाह ने जब अपने शत्रुओं का पूर्ण दमन कर दिया तब शुजातखाँ भयभीत हुआ और वह सफाई देने के लिए हिजरी सन् ९५४ (सन् १५४७ ई०) में ग्वालियर आया। परन्तु ग्वालियर में शुजातखाँ की हत्या का प्रयत्न किया गया और वह सारंगपुर भाग आया। इस्लामशाह ने शुजातखाँ पर आक्रमण कर दिया और उसे रायसेन से भगा दिया। कुछ समय उपरान्त इस्लामशाह ने शुजातखाँ को क्षमा कर दिया और उसे मालवा का इलाका दे दिया।

इस्लामशाह और शुजातखाँ की मृत्यु के पश्चात्, ज्ञात होता है कि रायसेन पर किसी राजपूत ने अधिकार कर लिया था। मांडू निवासी गौसी शत्तारी शाह मंझन के समकालीन थे और उन्होंने शाह मंझन का जीवनवृत्त अपनी कृति 'गुलजारे-अबरार' में लिखा है। गौसी लिखते हैं[2]—"जब रायसेन पर पुनः दुष्ट काफिरों का अधिकार हो गया तो वे (शाह मंझन) वहाँ से सारंगपुर चले गए।" ये 'दुष्ट काफिर' कोई राजपूत ही होंगे; जिनका पता हम नहीं लगा सके हैं। यह अवश्य है कि यह वह समय था जब सारंगपुर पर शुजातखाँ का पुत्र बाजबहादुर राज्य कर रहा था। शाह मंझन को रायसेन बहुत उतावली में छोड़ना पड़ा था क्योंकि 'उनके ग्रन्थ भी दुर्घटना के कारण नष्ट हो गए थे'।[3]

यद्यपि भारत का साम्राज्य इस समय तक अफगानों के हाथ से निकलकर मुगलों के हाथ में जाने लगा था और इस्लामशाह का उत्तराधिकारी आदिलशाह भी बैरमखाँ से पराजित होकर मार डाला गया था; तथापि सारंगपुर पर शुजातखाँ के दूसरे पुत्र मियाँ बायजीद (बाजबहादुर) का ही आधिपत्य था। उसने शाह मंझन को अवश्य प्रश्रय दिया होगा।

---

१. इलि० एण्ड डाउसन, भाग ४, पृ० ३७३।

२. डा० रिजवी, हुमायूँ, भाग २, पृ० ४९३।

३. वही।

बाजबहादुर का राज्य भी बहुत समय तक टिक न सका। सन् १५६१ ई० में उसे भी अकबर ने पराजित कर दिया। अकबर ने बाजबहादुर के विरुद्ध आदमखाँ को भेजा था। बाजबहादुर पराजित होकर भाग गया और उसकी प्रसिद्ध पातुर रूपमती, अन्य सुन्दरियों के साथ, आदमखाँ के अधिकार में आ गई। रूपमती ने आत्महत्या कर ली। इन स्त्रियों और लूटी हुई सम्पत्ति के कारण अकबर आदमखाँ पर बहुत कुपित हुआ और स्वयं सारंगपुर आया। आदमखाँ को अकबर ने किसी कारण क्षमा कर दिया और उसको ही सारंगपुर का प्रशासक बना दिया।

जब अकबर सारंगपुर में था तभी शाह मंझन, अन्य सूफी सन्तों के साथ, बादशाह से मिलने गए थे। आजीवन अफगानों के प्रश्रय में रहने वाले शाह मंझन की स्थिति दयनीय होगी। उस समय ही शाह मंझन को शेख मुहम्मद गौस के आशीर्वाद की परमावश्यकता हुई होगी।

गौसी शत्तारी ने लिखा है कि शाह मंझन ने अपने खोए हुए ग्रन्थों को सारंगपुर में अपने शिष्यों से पुनः लिखवाया था। संभवतः मधुमालती का नवीन पाठ भी इसी समय लिखा गया होगा। यही कारण है कि उसमें इस्लामशाह का भी उल्लेख है, खिज्रखाँ का भी और शेख मुहम्मद गौस का भी। अफगानों के परम शत्रु शेख गौस मुहम्मद की स्तुति मंझन इसके पूर्व अपनी रचना में नहीं कर सकते थे।

यह जो हो, अकबर से भेंट करने के पश्चात् शाह मंझन ने अपने पुत्रों और परिवार-परिजनों को सारंगपुर में ही छोड़ा और स्वयं आष्टा[1] नामक कस्बे में एकान्तवास करने लगे। अपना अन्त समय निकट जान वे पुनः सारंगपुर लौट आए। उनकी वय अब ८० वर्ष की हो गई थी। जनवरी, सन् १५९३ ई० में वे 'जिक्रे-जहर' (ईश्वर के नाम का चिल्ला-चिल्ला कर जाप) करते हुए संसार से बिदा हो गए।

शाह मंझन के उपरान्त उनके पुत्र शेख उसमान सारंगपुर में ही रहते थे। गौसी शत्तारी सन् १६०५ ई० में मंझन के पुत्र शेख उसमान से मिला था। शेख उसमान उस खिरके को उस समय तक बड़े यत्न से अपने पास रखे हुए थे जो शेख मुहम्मद गौस ने शाह मंझन को प्रदान किया था। कहा यह जाता है कि यह वही खिरका था जिसे मुहम्मद गौस ने अपनी बारह वर्ष की कथित तपस्या के समय धारण किया था।

सारंगपुर में शाह मंझन का मकबरा भी था। सारंगपुर के निवासियों ने कालांतर में शाह को पूर्णतः भुला दिया। उनका छोटा-सा मकबरा भी बाजबहादुर का मकबरा कहा जाने लगा, यद्यपि बाजबहादुर का भव्य मकबरा माण्डू में है।[2] आदमखाँ के आगमन के पूर्व सारंगपुर साहित्य, संगीत और कला का बहुत बड़ा केन्द्र था। उसके इस रूप के निर्माण में शाह मंझन का भी बहुत हाथ था, परन्तु बाजबहादुर और रूपमती की स्वर-लहरी की जगमगाहट में हिन्दी के इस कवि की स्मृति भी विलुप्त हो गई।

१. आष्टा अब मध्यप्रदेश के सीहोर जिले की एक तहसील का केन्द्र है।
२. आर्कों० सर्वे० रि०, भाग २, पृ० २८९।

तृतीय खण्ड

परिच्छेद १५

सीसौदिया-सामन्त रामसिंह

खानवा के युद्ध ने राजपूत-साम्राज्य के स्वप्न को सदा के लिए समाप्त कर दिया। सन् १५२८ ई० में राणा संग्रामसिंह की हत्या ने उस स्वप्नदृष्टा को भी उठा लिया जिसमें इस महत्वाकांक्षा को संजोने की क्षमता थी। ग्वालियर की प्राप्ति की आशा छोड़ रामसिंह तोमर ने अफगानों का साथ दिया, इस आशा में कि कहीं वह फिर तोमर राज्य की नींव डाल सके। सन् १५४३ ई० रायसेन में रामसिंह को इस अफगान-मैत्री का परिणाम भी देखने को मिला, उस समय के एक मात्र तोमर राजा का वंशनाश उसे अपनी आँखों से देखना पड़ा। यह पहले लिखा जा चुका है कि इस प्रकार सब ओर से निराश होकर रामसिंह तोमर ने मेवाड़ की शरण ली। राणा उदयसिंह ने अपनी एक राजकुमारी का विवाह रामसिंह के पुत्र शालिवाहन के साथ कर दिया तथा उनके लिए वृत्ति बाँध कर उन्हें अपना सामन्त बना लिया।[1]

चित्तौड़ का अजेय दुर्ग सवा तीन मील लम्बे और लगभग १२०० गज चौड़े एक पर्वत के ऊपर बना हुआ है। पहाड़ी का घेरा नीचे लगभग आठ मील है और ऊँचाई चार-पाँच सौ फुट तक है। इस गढ़ पर एक ओर राणा कुम्भा का कीर्ति-स्तम्भ बना हुआ है। बाबर के समय से ही चित्तौड़ गढ़ मुग़लों के प्रतिरोध का केन्द्र बना हुआ था। बाबर और हुमायूं उसकी परिखा तक भी न पहुंच सके थे। महत्वाकांक्षी अकबर मेवाड़ के सीसौदिया-मस्तक[2] को भी झुका देना चाहता था और चित्तौड़ को भी हस्तगत कर लेना चाहता था।

मेवाड़ के इतिहास के स्थानीय स्रोतों के अनुसार, अकबर ने जब सर्वप्रथम चित्तौड़ पर आक्रमण किया था तब उसकी सेना पराजित हुई थी। फारसी के मुस्लिम इतिहास लेखकों द्वारा इस आक्रमण का उल्लेख न किया जाना स्वाभाविक है। अकबर ने जब यह

---

१. पीछे पृ० १९७ देखें।

२. सीसौदिया सूर्यवंशी क्षत्रिय माने जाते हैं। उनका मूल पुरुष गुहिल बड़नगर (आनन्दपुर, गुजरात) का नागर ब्राह्मण था, इस कारण यह वंश गुहिलोत भी कहा जाता है—

"आनन्दपुर विनिर्गते विप्रकुलानन्दनो महीदेवः।
जयति श्री गुहदत्तः प्रभवः श्री गुहिल वंशस्य॥"

(आनन्दपुर से निकले हुए ब्राह्मणों के कुल को आनन्द देने वाला महीदेव गुहदत्त जिससे गुहिल वंश चला, विजयी हो)—नागरी प्रचारिणी पत्रिका, भाग १, पृ० ८९।

आक्रमण किया था तब चित्तौड़ के सरदारों और मेवाड़ राज्य के सामन्तों ने अपनी-अपनी सेनाएँ लेकर चित्तौड़ की रक्षा के लिए अकबर की सेना के साथ युद्ध किया था और मुगुल बादशाह को पराजित होना पड़ा था। इस युद्ध में राणा उदयसिंह की एक उपपत्नी ने भी चित्तौड़ की सेना के साथ युद्ध स्थल पर जाकर मुगुल सेना पर आक्रमण किया था।[1]

सन् १५६७ ई० में अकबर ने चित्तौड़ पर जो भीषण आक्रमण किया था उसमें रामसिंह तोमर ने भी राणा की ओर से भाग लिया था। अकबर के आक्रमण का समाचार मिलते ही राणा उदयसिंह ने अपने सामन्तों के साथ अपनी रणनीति निश्चित की। सामन्तों का मत था कि महाराणा उदयसिंह पश्चिमी मेवाड़ में चले जाएँ और सामन्तगण चित्तौड़ की रक्षा करें। राणा चले गए।[2] जयमल के नेतृत्व में राजपूत सेना संगठित हुई। जिन सामन्तों ने इस युद्ध में भाग लिया उनमें 'ग्वालियर का तोमर राजा' भी प्रमुख था।[3] २३ अक्टूबर १५६७ को विशाल मुगुल सेना लेकर स्वयं अकबर चित्तौड़ गढ़ के पास पहुँचा। बारूद से गढ़ की दीवार उड़ाने के उपक्रम किए गए। उनका पुनः निर्माण कर गढ़ के रक्षकों ने उन प्रयासों को विफल किया। चार मास तक दोनों ओर से घोर प्रयास होते रहे। एक दिन जब गढ़ की दीवार जोड़ी जा रही थी, अकबर की बन्दूक ने जयमल को निशाना बनाया। प्रतिरोध का नेता मारा गया। गढ़ में भोजन-सामग्री भी समाप्त हो गई। राजपूतों को अपनी पराजय सुनिश्चित ज्ञात होने लगी। उन्होंने पत्ता को अपना नेता मनोनीत किया, राजपूत स्त्रियों ने जौहर की ज्वाला में अपने-आप को भस्म कर लिया, तथा समस्त राजपूत चित्तौड़ की आन की रक्षा के लिए युद्ध में कूद पड़े। मुगलों की तोपों और बन्दूकों का सामना किया राजपूतों के तीरों और बाणों ने। अकबर की ओर से सूँड़ में तलवार बाँधे हुए मस्त हाथी राजपूतों पर छोड़ दिए गए। समय कुछ भी लगा हो, समस्त राजपूत सामन्त और सैनिक धराशायी हुए। टॉड के अनुसार, राणा के राज-परिवार के अनेक व्यक्तियों के साथ चित्तौड़ में जितने सामन्त वहाँ थे वे सभी इस युद्ध में समाप्त हुए। सामन्तों में बच सका था केवल एक—रामसिंह तोमर।[4]

राजपूत सामन्तों और सैनिकों के धराशायी हो जाने के पश्चात् बादशाह अकबर ने चित्तौड़ के नागरिकों पर आक्रमण कर दिया। तीस हजार निहत्थे नागरिक उस दिन

---

१. टॉड, राजस्थान, पृ० १९० (अकबर के इस प्रथम आक्रमण को ओझाजी कल्पित बात मानते हैं—उदयपुर राज्य का इतिहास, भाग १, पृ० ४१२)।

२. राणा के इस कृत्य को अनेक इतिहासज्ञों ने उनकी कायरता बतलाया है। हमें इस विवाद में पड़ने की आवश्यकता नहीं है। हम इतना ही कह सकते हैं कि कायरता हो या शूरता, वह बुद्धिमानी अवश्य थी। यदि इस युद्ध की भट्टी में राणा को भी झोंक दिया जाता तब संभवतः मेवाड़ को अकबर बहुत शीघ्र हस्तगत कर लेता, वह मेवाड़-विजय की साध मन में लिए न मरता।

३. टॉड, राजस्थान, पृ० १९१।

४. टॉड, राजस्थान, पृ० १९२।

चित्तौड़ में मार डाले गए।[1] सामन्त रामसिंह कहाँ और कैसे भाग कर प्राण बचा सका, यह ज्ञात नहीं हो सका।

रक्तताल में पूर्णाहुति

राणा उदयसिंह ने मृत्यु के पूर्व अपने छोटे राजकुमार जगमल को उत्तराधिकारी मनोनीत किया था। यह राजस्थान की पुरानी रीति के विपरीत था, अतएव सामन्तों को यह प्रस्ताव रुचिकर प्रतीत नहीं हुआ। उदयसिंह की मृत्यु के पूर्व ही कुछ सामन्तों ने जगमल का राज्यारोहण करा दिया। उदयसिंह के दाह-संस्कार के समय जगमल की अनुपस्थिति से रामसिंह तोमर तथा झालौर के मानसिंह अखैराजोत को संदेह हुआ। रामसिंह तथा अखैराजोत ने सामन्त चौंडावत कृष्ण से परामर्श किया। निश्चय यह हुआ कि प्रतापसिंह को ही मेवाड़ की गद्दी पर बिठाना उपयुक्त होगा। अतः दाहक्रिया से लौटने के पश्चात्, राजदरबार में गद्दी पर बैठे जगमल को चौंडावत कृष्ण ने पकड़कर उठा दिया और कहा, "महाराज आप भूल कर रहे हैं, इस आसन पर बैठने का अधिकार केवल प्रतापसिंह को है।" २८ फरवरी १५७२ ई० के दिन गोगुण्डा के गढ़ में मेवाड़ की गद्दी पर परमप्रतापी महाराणा प्रतापसिंह आसीन हुए।

राणा ने अपने इस काँटों के ताज को किस प्रकार सँभाला, मेवाड़ की अस्त-व्यस्त दशा को किस प्रकार व्यवस्थित किया और अकबर किन कारणों से पुनः मेवाड़ पर आक्रमण करने की तैयारी करने लगा, इन सब बातों का सम्बन्ध रामसिंह तोमर के इतिहास से नहीं है। रामसिंह की यह कथा १८ मार्च १५७६ ई० से प्रारंभ होती है, जब अकबर मेवाड़-विजय की अदम्य आकांक्षा लेकर मुगुल सलतनत की सम्पूर्ण शक्ति के साथ अजमेर में आ गया।

मेवाड़ अभियान का नेतृत्व दिया गया मानसिंह कछवाहे को। अकबर ने लोहे से लोहा काटने की नीति को अपनाया। इकबालनामे के अनुसार, मानसिंह के पूर्वज कभी मेवाड़ के राणाओं की सेवा में रह चुके थे। अब मुगुलों के 'फरजन्द' कुँअर मानसिंह को अभियान का नेता बनाए जाने के कारण कुछ मुसलमान अमीरों को असंतोष भी हुआ था। परन्तु अकबर की नीति गंभीर थी।

---

१. मुगुलों ने चित्तौड़ गढ़ को फिर कभी न बसने दिया। जहाँगीर ने यह स्पष्ट आदेश दिया था कि चित्तौड़ गढ़ की कभी मरम्मत न की जाए। इस आदेश के विपरीत जब चित्तौड़ गढ़ की कुछ मरम्मत की गई तब सन् १६५३ ई० में शाहजहाँ ने स्वयं जाकर उस मरम्मत को तुड़वा दिया। ४ मार्च १६८० ई० को औरंगजेब भी चित्तौड़ पहुँचा। उसने उजड़े हुए चित्तौड़ के ६३ मन्दिर तुड़वाए और राणाओं के राजकुल की मूर्तियाँ भी तुड़वा दीं। मलिक मुहम्मद जायसी की भविष्यवाणी फलवती हुई—"पातशाह गढ़ चूरा, चितउर भा इस्लाम"। तथापि मुगुल सल्तनत के बिखरते ही १८वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में चित्तौड़ फिर राणाओं के कब्जे में आ गया।

मानसिंह के नेतृत्व में मुगुल सेना वनास नदी के किनारे पहुँची। अड़ावली पर्वत-माला की घाटी 'हल्दीघाटी' के दूसरी ओर थी महाराणा प्रतापसिंह की सेना। जब महाराणा को शत्रु की सेना के वनास के किनारे आ जाने का समाचार मिला, तब उन्होंने भी अपनी सेना के व्यूह की रचना की।

हरावल का नेतृत्व दिया गया हाकिमखाँ सूर को, जिसके साथ थे सोलुम्वर के चौड़ावत कृष्णदास, लानी के भीमसिंह, देवगढ़ के रावत सांगा और चित्तौड़-युद्ध के यशस्वी जयमल के पुत्र रामदास राठौर।

दक्षिण पार्श्व का नेतृत्व दिया गया 'ग्वालियर के राजा' रामसिंह को, जिनके साथ थे उनके तीनों पुत्र शालिवाहन, भवानीसिंह और प्रतापसिंह तथा अनेक तोमर सैनिक।

वाम पार्श्व का नेतृत्व था मानसिंह झाला के अधीन, और उनके साथ थे वड़ी सादड़ी के झाला वीदा और जालौर के अखयराज के पुत्र मानसिंह।

पीछे चन्दावल का नेतृत्व था राणा पुंजा के अधीन, और उनके साथ थे पुरोहित गोपीनाथ, जगन्नाथ, मेहता रत्नचन्द, महासनी जगन्नाथ तथा चारण केशो और जैसा।

महाराणा प्रतापसिंह स्वयं घाटी के मध्य में थे, और उनके पीछे थे महामंत्री भामाशाह तथा उसके भाई ताराचन्द।

आसपास की पहाड़ियों पर स्वातंत्र्य-यज्ञ के रक्षक भीलों की टुकड़ियाँ धनुष-वाण और भाले लिए सजग थीं।

अकवर की सेना के मध्य में कुँअर मानसिंह कछवाहा थे। उनके दक्षिण पार्श्व में था सैयिद अहमदखाँ। वाम पार्श्व में (रामसिंह के समक्ष) था गाजीखाँ वदख्शी। आसिफ-खाँ, और जगन्नाथ हरावल का नेतृत्व कर रहे थे। पीछे (चन्दावल) का नेतृत्व मेहतरखाँ के अधीन था। माधोसिंह आड़े के लिए सुरक्षित सेना का नेतृत्व कर रहे थे तथा सैयिद हाशिम वारहा अग्रिमदल (जुआ-ए-हरावल) का नेतृत्व कर रहा था।[1]

इसी सेना में जुआ-ए-हरावल की किसी टुकड़ी में था मुन्तखवुत्तवारीख इतिहास-ग्रन्थ का लेखक मुल्ला अब्दुल कादिर वदायूंनी।

१८ जून १५७६ ई० के प्रातःकाल महाराणा का ध्वज-गज हल्दीघाटी से निकल कर आगे वढ़ा। उसके पीछे हाकिमखाँ सूर था। रणवाद्य वज उठे और महाराणा की हरावल मुगुलों की हरावल से जा टकराई। मुगुल हरावल लड़खड़ा गई। इस प्रथम दृश्य से ही समस्त राजपूत सेना इतनी अधिक उत्साहित हो गई कि वह अपनी सुरक्षा के स्थान,

१. मुल्ला वदायूंनी ने अपने इतिहास में इस सेना के विषय में एक स्थल पर अत्यन्त मनोरंजक वात लिखी है। वह लिखता है कि मैंने आसिफ से कहा, "इन परिस्थितियों में हम मित्र पक्ष के और शत्रु पक्ष के राजपूतों में कैसे विभेद कर सकेंगे।" उसने उत्तर दिया "तुम तीर चलाए जाओ, वे किसी भी पक्ष के मारे जाएँ, इस्लाम का लाभ ही होगा।"

घाटी, को छोड़ कर नीचे की ओर वढ़ चली जहाँ मुगुल सेना पूर्ण सज्जा के साथ जमी हुई थी। हाकिमखाँ सूर और महाराणा प्रताप मुगुलों की हरावल और दक्षिण पार्श्व पर टूट पड़े। मुगुलों के वाम-पार्श्व से जा भिड़ा रामसिंह तोमर का दल। भयंकर युद्ध प्रारंभ हुआ और मुगुलों की हरावल और वाम-पार्श्व भाग खड़े हुए।[1] रामसिंह तोमर के प्रवल पराक्रम के सामने गाजीखाँ वदख्शी रणक्षेत्र छोड़कर भागा। इस युद्ध के प्रत्यक्षदर्शी और अकवर की ओर से लड़ने वाले मुल्ला अब्दुल कादिर वदायूंनी ने रामसिंह के इस समय के पराक्रम के विषय में लिखा है—"ग्वालियर के राजा मानसिंह के पोते रामशाह ने जो हमेशा राणा की हरावल में रहता था, ऐसी वीरता दिखलाई, जिसका वर्णन लेखनी की शक्ति के वाहर है।" महाराणा, रामसिंह और हाकिमखाँ सूर की मार से आसिफखाँ, जगन्नाथ और मानसिंह कछवाहा के राजपूत सैनिक भी भाग खड़े हुए। इनमें से कुछ ने तो दस-वारह मील भागने के पहले घोड़ों की लगाम को नहीं खींचा और भागते ही गए।[2] इस प्रकार युद्ध का प्रथम अध्याय महाराणा की विजय के साथ समाप्त हुआ।

दूसरी ओर वारहा के सैयिद अभी भी रण में डटे हुए थे और युद्ध किए जा रहे थे। इसी वीच, पीछे से मेहतरखाँ ने चिल्लाकर ऐसे शब्द कहे जिसका आशय मुगुल सैनिक यह समझे कि स्वयं अकवर वादशाह युद्धक्षेत्र में आरहे हैं। इसके कारण मुगुल सैनिकों की भगदड़ थम गई और वे पुनः युद्ध में आ जुटे। संग्राम का दूसरा अध्याय प्रारम्भ हुआ।

घाटी के मुहाने से हटता-हटता संग्राम का केन्द्र अव वनास के किनारे उस स्थल पर आ गया जो अव रक्तताल कहा जाता है। अत्यन्त उग्र युद्ध प्रारम्भ हुआ। महाराणा प्रताप का शौर्य चरमसीमा पर था और उनके राजपूत अपने प्राणों की वाजी लगा रहे थे। भीलों ने भी अपने वाणों का प्रयोग प्रारम्भ किया। मुगुलों ने भी अपने चरम शौर्य का प्रदर्शन किया। उनकी अधिक संख्या अव प्रभाव दिखाने लगी। अवुलफजल के शब्दों में, 'प्राण लेने और प्राण विसर्जन की' वाजी लग उठी। दोनों ओर से योद्धा अपने प्राणों की आहुति देकर सम्मान-रक्षा में जुट गए। इसी अवसर पर दोनों ओर के हाथी भी युद्ध में कूद पड़े। रक्त की धार वह उठी और रणक्षेत्र रक्तताल वन गया। चितौड़-युद्ध के पराक्रमी वीर जयमल की अमर कीर्ति को अक्षुण्ण रखते हुए उसका वीर पुत्र रामदास राठौर धराशायी हुआ। गत पचास वर्षों से हृदय में निरन्तर प्रज्वलित वह्नि का अन्तिम प्रकाशपुंज दिखाकर अनेक शत्रुओं के उष्ण रक्त से रक्तताल को रंजित करते हुए मेवाड़ की स्वतन्त्रता की रक्षा के निमित्त धराशायी हुआ विक्रमसुत रामसिंह तोमर। अपने पिता के अनुगामी हुए उसके तीनों पुत्र—शालिवाहन, भवानीसिंह और प्रतापसिंह। वदायूंनी के अनुसार, 'तंवर खान्दान का एक भी वीर पुरुष वचने न पाया।' तोमरों ने राणाओं के

1. अकवरनामा, वेवरिज, खण्ड ३, पृ० २४५।
2. मुन्तखवुत्तवारीख, वदायूंनी।

प्रश्रय का मूल्य चुका दिया। राणा पर कोई आँच आए उसके पूर्व ही उन्होंने अपने रक्त को रक्तकुण्ड में मिला दिया। विक्रमादित्य ने अपना बलिदान दिया था पानीपत में, सम्भवतः भारत की स्वतन्त्रता को मुग़ुलों से बचाने के लिए; परन्तु वह उस इबराहीम के लिए मरा था, जो उस बलिदान का पात्र न था। विक्रमसुत रामसिंह ने अपने तीनों पुत्रों सहित रक्तांजलि दी थी महाराणा प्रताप के स्वातन्त्र्य संग्राम के आह्वान पर, उस युग की पुण्यस्थली मेवाड़ की स्वाधीनता की रक्षा के लिए। तोमरवंश के इतिहास-पुरुषों से अनेक भूलें हुई थीं। कुछ कार्य जो किए जाने चाहिए थे उन्होंने नहीं किए, जो नहीं किए जाने चाहिए थे वे किए; इन सबका परिमार्जन रामसिंह तथा उसके तीनों पुत्रों और रण में उपस्थित समस्त तोमरों ने अपनी बलि देकर कर दिया। वे हल्दीघाटी के संग्राम का अन्तिम अध्याय अपनी आँखों से नहीं देखना चाहते थे, जब महाराणा के अचूक भाले के वार से भी मानसिंह कछवाहा बच गया, महाराणा अकेले ही युद्ध में जूझते रहे और फिर चेतक उन्हें किसी प्रकार बचाकर रणक्षेत्र के बाहर ले गया। रामसिंह और उसके पुत्रों ने अपने जीवित रहते मुग़ुलों को आगे नहीं बढ़ने दिया। उनकी पूर्णाहुति के प्रति खड्गराय ने अपने इतिहास में श्रद्धांजलि के रूप में कुछ पंक्तियाँ अर्पित की है—

झाला झुकि नहीं लरौ हारि हाड़ा मुख मोयौं।
सिकरवार पवारु हहरि करवर कर जोयौं॥
बागर वर मेवार मेरु चनेचक दीयौ।
चलि चंदेल चौहान मंदपा नंचन कीयौ॥

दो-दल चल्यौ, दलपति चल्यउ, इक चल्यो न विक्रमसाह सुब
दै प्रान पन्याउ रान धन, सु राम अटल रन में रहुब।

(दोनों दल विचलित हुए, बड़े-बड़े दलपति भी विचलित हुए, केवल एक विक्रम का पुत्र ही रण में अविचलित रहा। राणा रूपी (राष्ट्र के) धन की रक्षा में अपने प्राणों को पन्याउ (पण्य=पण्याउ=पनिहाई) के रूप में देकर 'राम' रण में अटल रहा।)

परिच्छेद १६

राजपूत-युग का अन्त

रामसिंह, उसके पुत्रों और साथी तोमरों के बलिदान के साथ तोमर राजवंश का इतिहास रक्ततताल में समाहित हो गया। दिल्ली-सम्राट् तोमरवंश और ग्वालियर के राजाओं के तोमरवंश के इतिहास का अन्तिम परिच्छेद रामसिंह है। वह न सम्राट् हो सका, न राजा। उसका जन्म उस समय हुआ था जब या तो विक्रमादित्य के हाथ से गोपाचल गढ़ जा चुका था या लोदियों की सेनाओं से घिरा हुआ था। उसने जब होश संभाला तब वह एक अपदस्थ राजा था। अपने राज्य को वापस लेने का उसने आजीवन प्रयास किया और जब वह हताश हो गया तब उसने मुग़लों के विरुद्ध दृढ़ता से जमे रहने वाले एकमात्र राजपूत कुल, मेवाड़ के राणाओं के सामन्त के रूप में, मुग़लों से संघर्ष लेना प्रारम्भ कर दिया। दुर्दिनों में उसका जन्म हुआ और उसका समस्त जीवन संघर्ष में बीता। परन्तु उसने अन्त में अपने देश और वंश का गौरव अक्षुण्ण रखा। अनंगपाल प्रथम से प्रारम्भ हुए महान तोमरवंश की वीरता और तेजस्विता का पूर्ण प्रकाश दिखा कर वह तिरोहित हो गया। जितना महत्वपूर्ण वह दिन था, जब बिल्हणदेव (अनंगपाल प्रथम) ने सन् ७३६ ई० में कभी दिल्ली का अनंगपुर बसाया था; उससे अधिक महत्वपूर्ण, तोमर-वंश के इतिहास में, १८ जून सन् १५७६ ई० का दिन है, जब इस यशस्वी वंश की अन्तिम वयस्क पीढ़ी उन सिद्धान्तों की रक्षा के लिए मर-खप गई जिसके लिए समस्त राजपूत-तन्त्र सदियों से संघर्ष कर रहा था। कुछ इतिहास लेखकों का मत है कि हल्दीघाटी पर यद्यपि राणा को हानि उठानी पड़ी, परन्तु अकबर के 'फरजन्द' मानसिंह कछवाहे को विजय प्राप्त न हो सकी और उसे यथाशीघ्र मेवाड़ छोड़ देना पड़ा था।[1] इस परिणाम को प्राप्त करने में रामसिंह, उसके तीनों पुत्रों और उसके चम्बलघाटी तथा तंवरघाटी के तोमर साथियों का कितना योग था, इसका प्राक्कलन हल्दीघाटी के इतिहास का हिन्दू लेखक न कर सका—न मध्यकालीन और न आधुनिककालीन। राणा प्रताप के प्रताप के प्रकाश से वह इस सीमा तक चकाचौंध गया कि उसे इस महान बलिदान का गौरव दिखाई ही न दे सका। हल्दीघाटी में राणा के घोड़े तक की समाधि बनवाई गई, परन्तु रामसिंह के नाम का एक पत्थर भी नहीं है।[2] कृतघ्नता एकतन्त्र राज्यव्यवस्था का प्रधान लक्षण है। उस युद्ध का प्रत्यक्षद्रष्टा मुल्ला बदायूंनी और समकालीन इतिहास लेखक अबुल फजल

---

१. डा० ओझा, उदयपुर का इतिहास, पृ० ४४२।

२. वि० सं० १९५१ (सन् १७९४ ई०) में उदयपुर के महाराणा कर्णसिंह ने हल्दीघाटी के युद्धस्थल के पास खमनोर ग्राम में रामसिंह के पुत्र शालिवाहन की छत्री बनवा दी थी।

रामसिंह के शौर्य के विषय में पर्याप्त लिख गए हैं। मुल्ला बदायूंनी के अनुसार, "ग्वालियर के राजा मानसिंह के पोते रामशाह ने, जो हमेशा राणा की हरावल में रहता था, ऐसी वीरता दिखाई जिसका वर्णन लेखनी की शक्ति के बाहर है।" मुल्ला ने यह भी लिखा है कि "तंवर खान्दान का एक भी वीर पुरुष युद्ध में जीवित न बचा था" और अबुल फजल के अनुसार, "दुश्मन के दक्षिण पार्श्व ने सम्राट् की सेना के बायें पार्श्व को भगा दिया" तथा "वीरता के साथ युद्ध करते हुए अपने तीनों पुत्र शालिवाहन, मानसिंह (भवानीसिंह) तथा प्रतापसिंह के साथ राजा रामशाह धराशायी हुआ।" राजपूतों के इतिहास के यशस्वी लेखक डा० गौरीशंकर हीराचन्द ओझा ने इस कथन को एक स्थल पर ठीक माना है[1] परन्तु एक स्थल पर उन्होंने अभिमत व्यक्त किया है कि शालिवाहन युद्ध से बच निकला था।[2] सम्भव है, किसी भाट की बही में कुछ लिखा मिल गया हो; परन्तु इस सन्दर्भ में मुल्ला बदायूंनी और अबुल फजल का कथन ही अधिक प्रामाणिक है, उन्हें तोमरों से कोई पक्षपात नहीं था, उनकी निगाह में जैसे 'काफिर' मेवाड़पति थे वैसे ही रामसिंह और उसके पुत्र। यह कम संतोष की बात नहीं है कि ये मध्ययुगीन मुस्लिम इतिहास लेखक तोमरों की इस आत्माहुति का महत्व आंक सके। यदि वे उनके विषय में ये शब्द न लिख जाते तब खड्गराय के कथन के समर्थन का कोई आधार न रह जाता और वह केवल कवि-कल्पना तथा अतिरंजना मानी जाती।

राणा प्रताप हल्दीघाटी के युद्ध के पश्चात् भी बहुत समय तक जीवित रहे और मेवाड़ पर राज्य करते रहे। अकबर उनके अस्तित्व को मिटा न सका। तथापि १८ जून १५७६ ई० के दिन राजपूत-संघर्ष का युगान्त हो गया। राणा संग्रामसिंह के नेतृत्व में राजपूतों ने भारत का साम्राज्य हस्तगत करने का अन्तिम प्रयास किया था। उस समय उन्हें आशा थी कि तुर्कों-अफगानों के ढहते हुए भारत साम्राज्य के अवशेषों पर वे पुनः राजपूत साम्राज्य की स्थापना कर सकेंगे। राणा संग्रामसिंह ने इस उद्देश्य की प्राप्ति के लिए उस युग के राजपूतों को संगठित भी किया था और उसके लिए अद्भुत पराक्रम भी दिखाए, परन्तु उनमें वह राजपूती उदारता भी थी जो तुर्कों-अफगानों के मुकाबले में आत्मघाती ही थी। मालवा का राज्य उन्होंने जीत कर भी इसी उदारता के कारण खो दिया। राणा को निजामुद्दीन जैसे इतिहास लेखक से कुछ प्रसंशा के शब्द अवश्य मिल गए, परन्तु उनके संकल्प को भीषण ठेस पहुँची। राणा संग्रामसिंह का राजपूत-साम्राज्य स्थापित करने का स्वप्न शनिवार, १२ मार्च सन् १५२७ ई० में खानवा का युद्ध क्षेत्र में भंग हो गया। सन् १५२८ ई० में राणा संग्रामसिंह की हत्या

१. उदयपुर का इतिहास, भाग १, पृ० ४४०-४४१।

२. राजपूताने का इतिहास, खण्ड १, द्वितीय संस्करण, पृ० २६७। ओझाजी का पहला कथन ही ठीक है, इसका प्रमाण शालिवाहन की खमनोर की छतरी है।

कर दी गई और राजपूत-साम्राज्य की पुनर्स्थापना की संभावना सदा के लिए तिरोहित हो गई।

फिर आया मुगुलों का युग। बाबर और हुमायूं का इतिहास वास्तव में मुगुल और अफगान-पठानों के संघर्ष का इतिहास है। राजपूत राज्य उनके धक्कों में ही बनते-बिगड़ते रहे। अकबर के साथ ही एक अन्य प्रकार का भारत भी सामने आने लगा। राजपूत राज्य अपने अस्तित्व मात्र के लिए बहुत निम्न स्तर पर उतरते दिखाई देते हैं। कछवाहा भारमल ने एक नवीन मार्ग खोज लिया। यद्यपि तुर्कों के समय में भी इस प्रकार की घटनाएँ हुई थीं कि राजपूत राजाओं को अपनी बेटियाँ तुर्क सुल्तान को देना पड़ी थीं, परन्तु वह संघर्ष और पराजय के पश्चात् ही संभव हो सका था। भारमल तो, जैसा इतिहास में मिलता है, स्वयं ही अजमेर में अपनी राजकुमारियों की भेंट लेकर बादशाह अकबर के पास पहुँचा था। यह राजपूत-तंत्र के साथ समस्त हिन्दू-जीवन-पद्धति की समाप्ति का भी प्रारम्भ सिद्ध होता, यदि राणा प्रताप अपनी समस्त तेजस्विता के साथ प्रतिरोध के के लिए कटिबद्ध न हो जाते। राणा यह तो सोच नहीं सकते थे कि वे पुनः भारत में राजपूती साम्राज्य की स्थापना कर सकेंगे; उनके सामने प्रधान समस्या अकबर की सर्वग्रासी और सर्वग्राही बुभुक्षा से मेवाड़ के स्वातन्त्र्य की रक्षा करना और हिन्दू-जीवन-पद्धति एवं आदर्शों की श्रेष्ठता स्थापित करना था। यद्यपि हल्दीघाटी में उन्हें पराजय का सामना करना पड़ा, तथापि वे अपने उद्देश्य में सफल हुए। भारमल और उसके वंशजों के मार्ग पर चलने वाले राजपूतों को भी आत्मग्लानि हुई और मुगुल सल्तनत भी राजपूतों को महत्व देने लगी। आगे चलकर राणा प्रताप के पुत्र अमरसिंह ने जहाँगीर के साथ सन्धि कर ली थी; तथापि, यदि हल्दीघाटी का उदाहरण प्रस्तुत न किया गया होता तब उस सन्धि का स्वरूप ही दूसरा होता।

भारतीय इतिहास में जिस समय से राजपुत्र अभिधानधारी वर्ग के दर्शन होते हैं तभी से उनकी कुछ विशेषताएँ ध्यान आकर्षित करती हैं। प्रत्येक नियम के अपवाद होते हैं, उन अपवादों को छोड़कर, सामान्यतः मध्ययुग के राजपूतों में अपने प्राणों का मोह बिलकुल नहीं था। उनकी आत्मसम्मान की भावना अदम्य दम्भ की सीमा तक पहुँच गई थी। संसार के इतिहास में अन्य किसी देश के किसी अन्य वर्ग में राजपूतों के समकक्ष शौर्य और आत्मबलिदान की भावना नहीं दिखाई देती।

युद्ध में पराजित होने की संभावना मात्र के उत्पन्न होते ही उनकी रमणियाँ जौहर की ज्वाला में कूद पड़ती थीं और समस्त राजपूत बिना किसी कवच के युद्ध में निश्चित मृत्यु के हाथों अपने-आपको सौंप देते थे। यह सब कुछ होते हुए भी राजपूत तुर्कों, अफगानों और मुगुलों के हाथों पराजित होते रहे। इसने अनेक कारण थे। राजपूत वर्ग उस समय नियंत्रण-विहीन विद्युतकणों का समूह था; उस महान् शक्तिपुंज का प्रयोग कभी समवेत रूप से एक लक्ष्य की ओर न किया जा सका।

अपरिमित शौर्य के साथ आवश्यक कूटनीति और रणनीति का पाठ राजपूत-तंत्र कभी न सीख सका। जिस प्रकार के शत्रुओं से उनका मुकाबला हुआ था, उसके लिए बल और शौर्य के साथ राजनीति का अपरिहार्य अंग 'कूटनीति' भी परमावश्यक थी। राजनीति में साम, दाम, दण्ड और भेद, चारों आवश्यक माने गए हैं; केवल एक से ही काम नहीं चल सकता। मध्ययुग में चन्द्रगुप्त से भी अधिक पराक्रमी अनेक राजपूत हुए, परन्तु वह युग किसी चाणक्य को जन्म न दे सका।

विडम्बना उस समय दिखाई देती है जब अकबर अपनी कूटनीति और छल के प्रयोग के लिए राजपूती शौर्य का प्रयोग अपने पक्ष में कराता था। उसके अनेक निर्णायक युद्ध राजपूत सेना-नायकों और सैनिकों ने जीते थे, परन्तु रणनीति और राजनीति का नियंत्रण मुग़लों के हाथ में रहता था। इस प्रकार अकबर राजपूती शौर्य और शक्ति का अपने पक्ष में पूर्ण लाभ उठा सका और उसने राजपूतों से राजपूतों को ही कटवा कर मुग़ल सल्तनत की जड़ें गहरी जमा लीं। जहाँगीर, शाहजहाँ और औरंगजेब ने राजपूतों का अपमान करने की भी परम्परा डाली; कहीं कुछ प्रतिरोध के दृश्य भी दिखाई दिए, परन्तु वह बुझते हुए दीपक की भभक मात्र थी।

हल्दीघाटी का युद्ध राजपूत तंत्र की आकांक्षाओं के युग की समाप्ति का सूचक था। उसके पश्चात् अनेक छोटे-बड़े राजपूत राज्य रहे, कुछ पराक्रम भी हुए; परन्तु उनके द्वारा कभी राष्ट्रीय स्तर पर कोई महत्वपूर्ण कार्य हो सकेगा, यह संभावना मिट गई। मुग़लों से संघर्ष लेने के लिए फिर राजपूत राज्य आगे नहीं बढ़े थे; उसके लिए मराठे, जाट और सिख उठे थे। यद्यपि कहा यह जाता है कि महाराजा शिवाजी सीसौदिया वंश के राजपूत थे, परन्तु इस कथन का कोई पुष्ट आधार नहीं है। वे जो भी रहे हों, परन्तु उनकी मराठी सेना छत्तीस कुली राजपूतों की नहीं थी, वह साधारण कृषकों की सेना थी। गुरु गोविन्द-सिंह ने जिन शिष्यों को मंत्रपूत कर सिंह बना दिया था वे छत्तीस कुली नहीं थे; उनमें अधिकांश हरियाणा के जाट थे या फिर उस वर्ग के थे जिसे राजपूत अपने पास नहीं बैठाते थे।

महाराणा प्रताप के पश्चात् हिन्दू-जीवन-पद्धति की रक्षा का कार्य, धीरे-धीरे परन्तु सुनिश्चित रूप से, राजपूतों के हाथों से निकल कर अन्य वर्गों के हाथ में चला गया। १८ जून सन् १५७६ ई० में, इन अर्थों में, राजपूत-युग का अन्त हुआ था। जब छत्रपति शिवाजी और महाराज जसवन्तसिंह एक-दूसरे के सामने खड़े हुए थे, उस दिन इस युगान्त का प्रभाव प्रत्यक्ष दिखाई दिया था। आगे की घटनाएँ इतिहास में सुनिश्चित हैं। मराठी सेना के जिन सेनानायकों ने राजपूती राज्यों को समतल बनाकर अधिकांश राजपूती राज्यों का सफाया कर दिया था उनके छत्तीस कुली होने का विभ्रम भी उत्पन्न नहीं किया जा सकता; और न उनमें शिवाजी की उदात्त राष्ट्रीय भावना का आरोप किया जा सकता है। अंगरेजों ने उत्तरी भारत का अधिकांश मराठा, सिख, जाट और नवाबों से प्राप्त किया था।

चतुर्थ खण्ड

परिच्छेद १७

मुगल-सामन्त—ग्वालियर के राजा

'ग्वालियर के राजा' विरुद

ग्वालियर के अन्तिम तोमर राजा विक्रमादित्य थे। सन् १५२३ में इबराहीम लोदी के हाथों पराजित होकर ग्वालियर गढ़ छोड़ देने के पश्चात् वे इबराहीम लोदी की ओर से शम्शाबाद के जागीरदार बना दिए गए थे। तथापि, ज्ञात यह होता है कि पानीपत के युद्ध में मरने के समय भी वे 'ग्वालियर के राजा' के नाम से ही सम्बोधित किए जाते थे। बाबर ने अपनी आत्मकथा में उन्हें 'ग्वालियर के राजा' के रूप में ही स्मरण किया है। विक्रमादित्य के राजकुमार रामसिंह ने कभी एक दिन को भी ग्वालियर में राज्य नहीं किया, तथापि अफगान इतिहासकार भी उन्हें 'ग्वालियर के राजा' लिखते हैं और मेवाड़ के इतिहास में भी वे 'ग्वालियर के राजा' के रूप में सम्बोधित किए जाते हैं। यद्यपि रामसिंह अपने अन्त समय में मेवाड़ के राणा के सामन्त थे, तथापि हल्दीघाटी के युद्ध में उनके रूप में 'ग्वालियर के राजा' ने ही आत्माहुति दी थी। रामसिंह के बड़े पुत्र शालिवाहन अपने पिता के साथ ही रणक्षेत्र में काम आए, अतएव, औपचारिक रूप से वे 'ग्वालियर के राजा' का विरुद धारण नहीं कर सके थे। परन्तु आगे उनकी कुछ पीढ़ियाँ 'ग्वालियर के राजा' कही जाती रहीं। मुगलों के इतिहासकारों ने उन्हें भी 'ग्वालियर के राजा' के नाम से सम्बोधित किया है, साथ ही यह भी बतलाया है कि वे थे मुगलों के मन्सबदार ही।

तोमर सामन्तों के इतिहास का औचित्य

दिल्ली, ग्वालियर और मालवा के तोमरों का इतिहास लिखने के उपरान्त, और फिर रामसिंह की संघर्ष-गाथा का वर्णन करने के उपरान्त, मुगलों के मन्सबदार तोमर सामन्तों का इतिहास लिखना स्फूर्तिदायक कार्य नहीं है। मुगलों के मन्सबदार अनेक राजपूत थे जो 'राजा' भी कहे जाते थे और उनके अपने ठिकाने भी थे। परन्तु इन 'ग्वालियर के राजाओं' के पास ग्वालियर में बैठने के लिए भी कोई स्थान नहीं था। यह सब कुछ होते हुए भी मुगल इतिहास पर उन्होंने अपनी छाप छोड़ी है, अतएव तोमरों के इतिहास के पूरक के रूप में उनका इतिहास भी दे देना अनुचित नहीं होगा। कुछ ऐसे तोमर सामन्त भी हैं जिन्हें 'ग्वालियर के राजा' का विरुद प्राप्त नहीं था, तथापि वे भारतीय इतिहास में अपना महत्व रखते हैं। मोलाराम तोमर न सामन्त था न मन्सबदार, वह

मात्र चित्रकार था। परन्तु भारतीय चित्रकला के इतिहास में उसका स्थान बहुत ऊँचा है। इन सबके इतिहास की खोजबीन उपयोगी ही मानी जाएगी।

श्यामसिह तोमर

१८ जून सन् १५७६ ई० के दिन रामसिंह और उनके तीनों पुत्र शालिवाहन, भवानीसिंह तथा प्रतापसिंह हल्दीघाटी के युद्धक्षेत्र में वीरगति को प्राप्त हुए और उनके पश्चात् शालिवाहन के दो पुत्र श्यामसिंह तथा मित्रसेन ही जीवित बच सके। उस समय इन दोनों भाइयों की वय क्या थी और राणा प्रताप के दरबार में उन पर क्या बीती, इस विषय में हमें कहीं से कुछ ज्ञात नहीं हो सका है। महाराणा प्रताप का स्वर्गवास १९ जनवरी सन् १५९७ ई० को हुआ था। संभव है तब तक श्यामसिंह और मित्रसेन मेवाड़ में ही रहे हों। यह बात सुनिश्चित है कि अकबर के राज्यकाल में ही श्यामसिंह और मित्रसेन मुगुलों की सेना में आ गए थे। मित्रसेन ने अपने शिलालेख में रामसिंह, शालिवाहन, श्यामसिंह तथा स्वयं अपने विषय में लिखवाया है—

श्री रामसाहिरभवत्तनयोऽथ तस्य
प्रत्याशमुल्लसित विक्रमशौर्य्यधैर्य्यः।
यन्नामनिश्रुतिपथातिथितामुपेते
सद्योधनुः स्खलति पाणितलात् परेषां॥ १०॥
श्री शालिवाहन इति प्रथितोऽस्य पुत्रः
प्रख्यातकात्ति रतिदान दया विवेकः।
यः सङ्गरे बहु विधान्नृपतीन् निहत्य
प्राप्तः सुरेश्वर विभूषितमासनार्द्धं॥ ११॥
तस्य श्री श्यामसाहिः क्षिति मुकुट मणिर्मित्रसेनश्च पुत्रौ
त्रैलोक्य ख्यातकीर्त्ती प्रतिबलजलधरन्तरौद्वायमाणौ।
दाने युद्धे दयायां हरिहरचरणाम्भोज पूजा प्रसक्तौ
नित्यं यावेकवीरौ कथयति सततं साहि जल्लालदीनः॥ १२॥

रामसिंह और शालिवाहन की यशोगाथा के सम्बन्ध में लिखे गए मित्रसेन के प्रशस्तिकार के कथन, उन दोनों के इतिहास के निर्माण में हमें बहुत सहायक नहीं हुए। परन्तु जब वह शालिवाहन के दोनों पुत्रों के विषय में लिखता है तब कम से कम एक तथ्य अवश्य स्पष्ट होता है कि ये दोनों भाई कभी बादशाह जलालुद्दीन अकबर की सेना में आ गए थे और अकबर उनके वीरत्व की सतत सराहना करता रहता था। परन्तु उसने यह सराहना कब और कहाँ की, इस विषय में मित्रसेन का प्रशस्तिकार, मैथिल कवि पण्डित शिवदेव, मौन है।

'ग्वालियर के राजा' के अकबर के एक सेनापति के रूप में सर्वप्रथम दर्शन असदवेग की पुस्तक विकाया-ए-असदवेग (अथवा हालात-ए-असदवेग) के माध्यम से सन् १६०२ ई के आसपास होते हैं जब अबुल फजल की मृत्यु हो चुकी थी।[1] असदवेग ने 'ग्वालियर के राजा' का उल्लेख किया है। यह 'ग्वालियर का राजा' निस्सन्देह रूप से श्यामसिंह तोमर था। ज्ञात यह होता है कि इस घटना के कुछ वर्ष पूर्व श्यामसिंह और मित्रसेन मेवाड़ से अकबर के पास आ गए थे।

वीरसिंहदेव बुन्देला का घेरा

सन् १६०२ ई० में आँतरी के पास वीरसिंहदेव बुन्देला ने, युवराज सलीम के कहने से, अबुल फजल को मार डाला। अकबर बहुत क्रुद्ध हुआ। उसने त्रिपुरदास[2] रायरायान को वीरसिंहदेव को पकड़ लाने या मार डालने के लिए भेजा। उसके साथ श्यामसिंह तोमर भी अपना सैन्य-दल लेकर गए थे। वीरसिंहदेव एरछ के किले में घेर लिए गए। परन्तु रात में वे मुगल सेना का घेरा तोड़ निकल गए। अकबर अत्यधिक रुष्ट हुआ और जवाब माँगा। रायरायान ने उत्तर भेजा कि वीरसिंहदेव 'ग्वालियर के राजा' की सैन्य पंक्ति से भागा है और 'ग्वालियर के राजा' (श्यामसिंह) का उत्तर था कि वह रायरायान के शिविर में से भागा है। अकबर ने असदवेग को इस तथ्य की जाँच के लिए भेजा कि वास्तविक अपराधी कौन है और किसके दोष से वीरसिंहदेव भाग सका। असदवेग किसी पक्ष को रुष्ट नहीं करना चाहता था। उसने बादशाह के समक्ष यह प्रतिवेदन प्रस्तुत किया कि असावधानी हो सकती है, दोष किसी का नहीं हैं। इस गोलमोल कथन का जब स्पष्टीकरण माँगा गया तब असदवेग ने यह उत्तर दिया कि जब तक बदनियती न हो तब तक किसी को दोषी नहीं माना जा सकता। अकबर ने फिर इस मामले को आगे न बढ़ाया।[1]

वीरसिंहदेव ने घेरा कैसे तोड़ा

जहाँगीर के राज्यकाल के प्रारम्भ होते ही श्यामसिंह की निरन्तर उन्नति क्यों होती गई इसका कारण तभी समझ में आ सकता है जब एरछ की घटना का सही रूप ज्ञात हो। जो तथ्य असदवेग ने अकबर से छुपाया था उसे बुन्देलों के राजकवि केशवदास ने प्रकट कर दिया है। वीरसिंहदेव पूर्ण पराक्रम के साथ रायरायान के शिविर के बीच घुस पड़े। श्यामसिंह ने जब उन्हें रोकना चाहा तब उन्होंने उन्हें हल्दीघाटी में अकबर के

---

१. इलियट एण्ड डाउसन, खण्ड ६ पृष्ठ १२३।

२. त्रिपुरदास खत्री को सभी इतिहास लेखक 'पत्रदास' लिखते हैं। फारसी लिपि के प्रताप से 'त्रिपुरदास' 'पत्रदास' बन गए। उनका शुद्ध नाम केशवदास ने 'त्रिपुरदास' लिखा है—वह मुग़ुलों के इतिहासकारों ने बना दिया 'तिपरदास' और पढ़ा गया 'पतरदास' और शुद्ध (या अशुद्ध) किया गया 'पत्रदास'।

विरुद्ध प्राण देने वाले रामसिंह का स्मरण दिलाया। श्यामसिंह ने कोई प्रतिरोध न किया और वीरसिंहदेव निकल भागे। केशवदास ने वीरचरित्र में लिखा है[1]—

पावक पानी पवन गति, निकसे सिंह समान,
सबही के देखत चले गाज बजाइ निसान।
वीरसिंहदेव पौर बाहरि दपट दौरि,
वैरिन की सैन बेर बीसक कचौंदिगौ।
कन्चन बुंदेलमनि सेल्हन ढकेलि कोरि,
हाथि पेलि चौकीदार बेतवै में सौंदिगौ।
दुन्दभी धुकार सौं हजार कौं चुनौती देत
भीम कैसी पैज लेतु रेत खेत खौंदिगौ।
रामसीं को नाम स्योंरि घामसी जुन्हाई मांझ
तामसी तिपुर के तनाउ तम्बु रोंदिगो।'

आधी रात बीत चुकी थी, 'तामसी' त्रिपुरदास रायरायान गहरी नींद में सो रहा था, सतर्क जाग रहा था श्यामसिंह। परन्तु उसे सम्भवतः पहले ही समझा दिया गया था। जिस अकबर के विरुद्ध युद्ध करते हुए उसके पितामह ने प्राण दिए थे, उसकी सहायता उचित नहीं, अकबर अब वृद्ध है, शीघ्र ही युवराज सलीम बादशाह बनेगा, ऐसी दशा में राजनीति भी यही है कि उसका भला बना जाए। इसी कारण उस हल्ले में भी वीरसिंह देव ने 'रामसी' के नाम का उच्चारण किया न कि 'रामजी' के नाम का। भागा था वीरसिंह देव रायरायान त्रिपुरदास के तम्बुओं में से ही। श्यामसिंह को अकबर के कोप से बचने का बहाना भी मिल गया और वीरसिंहदेव घेरे से निकल भी सके।

असदबेग रायरायान को रुष्ट करने की स्थिति में नहीं था। उसके 'एक-व्यक्ति-आयोग' ने समय-साधन का विवरण बादशाह के समक्ष प्रस्तुत कर दिया।

श्यामसिंह और जहाँगीरी दरबार

वीरसिंहदेव बुन्देला और श्यामसिंह की एरछ में मिली-भगत थी इसमें सन्देह नहीं रहता जब इस तथ्य को दृष्टि में रखा जाए कि सम्राट् बनने के कुछ समय पश्चात् ही, रविवार, ३१ अगस्त १६०६ ई० को जहाँगीर ने श्यामसिंह को डेढ़ हजार जात और १२०० सवार का मन्सब दे दिया[2] और किलिजखाँ के साथ काबुल भेज दिया जहाँ से बदख्शां पर नियन्त्रण किया जा सके। खड्गराय ने गोपाचल-आख्यान में लिखा है—

हुकुम जहांगीर कौ राखि। बंगस बदखसान लई नाख ॥

१. वीर-चरित्र, केशव ग्रन्थावली, खण्ड ३।
२. तुजुक, बेभरिज, भाग १, पृ० ७७।

'बंगस' और 'बदख्शां' में कुछ समय बिता कर श्यामसिंह आगरा आ गए। सन् १६१२ ई० उनके इतिहास में विशेष महत्वपूर्ण है। श्यामसिंह के काबुल के सेनापति किलिजखाँ आगरा आ गए थे। उसी समय अब्दुल रहीम खानखाना के बड़े पुत्र ईरज (केशवदास के एलच) भी दक्षिण से आगरा आ गए थे और हिन्दी के महाकवि केशवदास भी आगरा पहुँच गए थे। ईरज के आग्रह पर केशवदास ने 'जहाँगीर-जस-चन्द्रिका' लिखी। इसी समय रविवार, अप्रैल २५, १६१२ को जहाँगीर का सातवाँ नवरोज का दरबार हुआ। किलिजखाँ ने श्यामसिंह की सिफारिश की और अप्रैल ६ मई, १६१२ के प्रारम्भ में उनका मनसब ड़ेढ़ हजारी जात से बढ़ाकर दो हजार कर दिया गया।[1]

केशवदास को भी इस समय बहुत कुछ मिला था। ईरज ने सम्भवतः उनकी सिफारिश की थी। अपने यशःचन्द्र की चन्द्रिका की छटा से प्रसन्न होकर जहाँगीर ने केशव से कुछ माँगने के लिए कहा। केशव ने दुःखी होकर कहा कि जन्म भर माँगते ही बीता है, अब वृद्धावस्था में क्या माँगू, मेरे पुत्र की सलाम स्वीकार करें, इसे आश्रय दें, मैं सदा आपकी 'सलामति' के लिए ईश्वर से प्रार्थना करता रहूँगा। उस दरबार में वीरसिंहदेव भी थे। उन्होंने भी अपने राजकवि का समर्थन किया और बिहारीदास को बादशाह के समक्ष प्रस्तुत किया। इसका स्मरण केशव के पुत्र बिहारीदास को भी सदा रहा—

श्री नरहरि नरनाह कों, दीनी बाँह गहाइ
सुगुन-आगरें आगरे, रहत आइ सुखपाइ।

वृद्ध केशव का भी बादशाह ने सम्मान किया—

जहाँगीर जू जगतपति दै सिगरौ सुख साज
केशवराय जहांन में कियौ राय तैं राज।[2]

यहाँ प्रसंग श्यामसिंह तोमर का है। इस नवरोज के दरबार में श्यामसिंह की आकृति और गुणों का केशव ने अत्यन्त सजीव वर्णन किया है।

'उदय' के प्रश्न में मिलता है श्यामसिंह का चित्र—

उर विसाल आजानु भुज मुद्रनि मुद्रित भाल।
समसदीन मिरजा निकट कहो कौन नरपाल।

और 'भाग्य' के उत्तर में श्यामसिंह के चरित्र को प्रस्तुत किया गया है—

तूंवर तमाम कौ, तिलक मानसिंह जू के
कुल को, कलश वंश पांडव प्रबल कौ।
जूझ में न बूझि परै, सूझतियो देवन कौ,
किधौ हलधर कै धरन हलाल कौ।

---

1. तुजुक, बेवरिज, पृ० २२२।
2. जहाँगीर-जस-चन्द्रिका, केशव ग्रन्थावली, खण्ड २, पृ० ६४२।

जालिम जुझार जहांगीर जू को सावंत
कहावत है केशोराइ स्वामी हिन्दूदल को
राजनि की मण्डली को रंजन, विराजमान,
जानियत स्यामसिंह सिंह गोपाचल को।

'स्वामी हिन्दूदल को'

केशवदास ने श्यामसिंह को मुगुल दरवार के हिन्दू राजाओं का स्वामी क्यों कहा है, इसका इतिहास भी रोचक है। वय वढ़ जाने से 'उर विशाल' होगया है, माथे पर हिन्दू धर्म की प्रतीक अनेक मुद्राएँ बनी हैं, जवानी में बहुत युद्ध लड़ चुके हैं और मुगुलों को विजयें भी दिलाई हैं। केवल इन्हीं तथ्यों से ये 'ग्वालियर के राजा' हिन्दूदल के स्वामी नहीं हो गए थे। इसका कारण विशेष था।

इस प्रसंग में खड्गराय ने श्यामसिंह के लिए जो कुछ लिखा है वह भी दृष्टव्य है—

तिनके श्याम राइ रनधीर, बंधन मित्रन में बलवीर।
हुकुम जहाँगीर को राखि, बंगस बदखसान लाइ नाखि।
अति सुन्दर वाकी तरवारि, सोमवंश तोंवर की पारि।
बड़ौ दानि भुव ऊपर भयौ, विधना ताहि भगति जस दयौ
स्यामसाहि जस अति अवनोपं, जिनहि परसि नृप होत पुनीत।

बंगस-बदख्शां तक हो आए; अपना पराक्रम भी दिखाया परन्तु अपने धर्म-नेम को नहीं छोड़ा। जहाँगीर की सेवा में कुछ राजपूतों ने बेटियाँ भी अर्पित की थीं और दरबार में उन्नति पाई थी; उस मार्ग को भी उन्होंने नहीं अपनाया और जव जहाँगीर ने हिन्दू-धर्म की ही खिल्ली उड़ाने का प्रयास किया तब श्यामसिंह के पुत्र संग्रामसिंह उससे झगड़ पड़े और उसे निरुत्तर कर दिया।

जहाँगीर का धर्म-विवाद

जहाँगीर के राज्यारोहण के समय कट्टर मुल्लाओं ने यह प्रयास किया था कि वह वादशाह अकबर की धार्मिक नीति को बदल दे और हिन्दूधर्म को हतोत्साहित करे। इसका प्रभाव भी जहाँगीर पर पड़ा था। राज्यारोहण के पश्चात् ही उसने हिन्दू धर्म के पण्डितों को चुनौती दी कि वे विष्णु के दशावतारों (की मूर्तियों) का किस प्रकार समर्थन कर सकते हैं? उसने कहा कि सर्वशक्तिमान, परमेश्वर द्वारा शरीरी अवतार लेने का सिद्धान्त वुद्धि के विपरीत है। इस दूषित सिद्धान्त के अनुसार निराकार सर्व शक्तिमान लम्वाई, चौड़ाई, और ऊँचाई की सीमाओं में बँध जाता है। यदि दशावतार की कल्पना का उद्देश्य इन (दस) शरीरों में ईश्वर के प्रकाश का प्रत्यक्षीकरण है तब वह प्रकाश तो सृष्टि की सभी वस्तुओं में भासित है और केवल उन दस विग्रहों तक सीमित नहीं है।

---

१. जहाँगीर-जस-चन्द्रिका, केशव ग्रन्थावली, खण्ड २, पृ० ६२८-२९।

बहुत अधिक विवाद हुआ, तर्क-वितर्क चले। जहाँगीर की आत्मकथा से यह प्रकट नहीं होता कि उसे संतुष्ट किया जा सका था। परन्तु इस बात का साक्ष्य अवश्य प्राप्त होता है कि उस धर्म-सभा में उपस्थित हिन्दू तथा उदार मुसलमानों का समाधान कोई कर सका था। यह समाधान किसने किया था, इसका साक्ष्य भी उपलब्ध है। यह कार्य किया था श्यामसिंह के राजकुमार संग्रामसिंह ने। उत्तर क्या दिया गया था यह जहाँगीर अपनी आत्मकथा में स्पष्ट नहीं कर सका है।[1] जो कुछ अटपटे शब्द उसने लिखे हैं, उनका आशय यह प्रतीत होता है—

"समस्त देवताओं के ऊपर एक परमेश्वर है, जिसका न रूप है, न रंग, न आकार। परन्तु साधारण व्यक्ति इस निराकार ब्रह्म पर अपना ध्यान केन्द्रित नहीं कर सकता, अतएव हम इन सगुण स्वरूपों के माध्यम से उसी निर्गुण परमात्मा से तादात्म्य स्थापित करने का प्रयास करते हैं।"

इस घटना का वर्णन खड्गराय ने किया है—

संग्राम बिजै तिनके नृप साज, राखि लई हिन्दुनि की लाज।
जहाँगीर साहिन मन साहि, तासों टेकि करी अवगाहि॥
जहाँगीर सौं सुत्तरु दीयौ, हिन्दू धरम राखि सब लीयौ।
दोउ दीन सराहै ताहि, मनौ औतार पंथ को आहि॥

कवित्त

कै तब द्वापर पारथ भोजु कै
या कलि साहि संग्राम ने राखी
उत चकव्वे साहि सलीम की टेक
इतै झुकिन द्वै ज्वाबु लै तैसिय भाखी
हिन्दुन की, हिन्दुवान की मान की,
न्याय की, तेग चढ़ी जस ताखी
तैसैहि साहि संग्राम ने हिन्दुन की
पत राखी भली, सबै जग साखी।

यह विवाद जहाँगीर के राज्यकाल के प्रारंभिक वर्ष में ही हुआ था। उसके पश्चात् यह तोमर-परिवार जहाँगीरी दरबार में 'हिन्दूदल का स्वामी' माना जाने लगा।

संग्रामसिंह

सन् १६१६ ई० में श्यामसिंह की मृत्यु हो गई। उनके स्थान पर उनका बड़ा पुत्र उदयसिंह ग्वालियर का राजा मान्य किया गया। उदयसिंह का मन्सब ८०० जात ४०० सवार था और उसकी मृत्यु सन् १६३० ई० में हुई।[2] उदयसिंह के कोई पुत्र नहीं था,

१. तुजुक, बैवरिज, पृ० ३२-३३। इस पाठ की अस्पष्टता के विषय में श्री व्रजरत्नदासजी ने भी शंका प्रकट की है। देखें, श्री व्रजरत्नदास का अनुवाद, पृ० ७१-७२।
२. पादशाहनामा, लाहौरी, १-ब पृ० ३१५।

अतएव संग्रामसिंह के पुत्र कृष्णसिंह को 'राजा' का खिताब दिया गया। मित्रसेन और संग्रामसिंह को, क्रमशः रोहिताश्व गढ़ तथा नरवर गढ़ का, प्रशासक नियुक्त कर दिया गया।

संग्रामसिंह ने नरवर गढ़ में जयस्तम्भ की स्थापना की और उस पर मित्रसेन के ही समान ३३ पंक्तियों का एक शिलालेख खुदवा दिया।[1] इस शिलालेख में संवत् उपलब्ध नहीं है तथापि इसके साथ ही बनी बावड़ी के लेख में वि० सं० १६८७ (सन् १६३० ई०) की तिथि पड़ी है, तथा जयस्तम्भ के शिलालेख में इस बावड़ी (जलाशय) के निर्माण का उल्लेख है। अतएव इस जयस्तंभ का निर्माण भी सन् १६३० ई० में हुआ माना जा सकता है। बावड़ी के पास ही शिवमन्दिर भी था, जो अब नष्ट हो गया है।

शिव को शीश-समर्पण

निश्चय ही संग्रामसिंह का दुनियादारी में मन नहीं लगता होगा। सन् १६३० और सन् १६४७ के बीच कभी संग्रामसिंह की मृत्यु हो गई। वह मृत्यु भी विचित्र रूप में हुई। खड्गराय ने गोपाचल-आख्यान में लिखा है—

> सतु हिम्मतु तिहि राखो इसौ, कृपन मनौ धन राखै जिसौ
> गूढ़ ज्ञान मति गूढ़ समाई, सिवकौं सीस समर्प्यो जाई
> ऐसे साहि सिव सीस चढ़ाई, मुक्ति पयानौ कीनौ राई
> संग्रामसाहि सौ वीर न भयौ, दोऊ लोक साधि सो गयौ।

काशी-करवत के विषय में अनेक स्थलों पर उल्लेख मिलते हैं। परम शिवभक्त काशी में आरे से सिर कटा कर विश्वनाथ को अपना मस्तक अर्पण किया करते थे। एक तोमर राजकुमार भी यह भीषण रुद्र-पूजा करने काशी गया था। नयचन्द्र सूरी ने अपनी रंभामंजरी विश्वनाथ के उन यात्रियों के मनोरंजन के लिए अभिनीत किए जाने के लिए लिखी थी जो वीरम तोमर के समय में ग्वालियर से काशी गए थे। काशी के उन यात्रियों ने वहाँ करवत पर प्राणोत्सर्ग करने वालों के भी दर्शन किए होंगे। दो सौ वर्ष पश्चात् न जाने किस सन्-संवत में उन्हीं तोमरों का अन्तिम उल्लेखनीय वंशज विश्वनाथ की काशीपुरी में अपना शीश समर्पित कर आया!

आज के युग में संग्रामसिंह के इस कार्य को संभवतः आत्महत्या माना जाएगा। वह कुछ भी हो—था अनूठा कृत्य, श्रद्धा और विश्वास की चरम परणति।

खड्गराय ने संग्रामसिंह के इस कृत्य के लिए अपनी वाङ्मयी श्रद्धांजलि अर्पित की है। दुर्भाग्य से, गोपाचल-आख्यान की हमें प्राप्त प्रतियों में यह कवित्त शुद्ध रूप में प्राप्त नहीं हो सका है। परन्तु जिस रूप में जैसा भी प्राप्त है उसे उद्धृत करने का हम लोभ संवरण नहीं कर सकते, स्यात् कभी कोई अन्य प्रति उपलब्ध हो सके और इसका शुद्ध पाठ निर्धारित किया जा सके—

---

१. ज० ए० सो० बं०, भाग ३१, पृ० ४२२। आगे परिशिष्ट बो देखें।

आदि राज तोमर संग्रामसाहि हिन्दूपति
राच्यौ रुद्ररामे चित्त आनन्द के चाडि कै
सिर देत छनक में अनहद बाजै
ऐरापति साजे रथ आगे राखे आइकै
कहै कवि खर्ग सुरलोक तें विमानन पै
सुरपति हाइ-भाइ लै गयौ चढ़ाई कै
उछरि-उछरि सिव सीस पै तरंगै गंगा
संकर की तारी छूटी उठ्यौ भहराइ कै ॥

संग्रामसिंह का विवरण देने के पश्चात् खड्गराय ने आगे केवल एक पंक्ति लिखकर छुट्टी ले ली—

ता सुत कृष्नसाहि भयौ आन, सोमवंस को तिलक प्रमान।

फिर मेवाड़ में

संग्रामसिंह के इस आत्मबलिदान के पहले ही उसका पुत्र कृष्णसिंह (राजा किसनसिंह या किसनशाह) को 'ग्वालियर के राजा' माना गया था।[1] यह घटना कब की है, यह ज्ञात नहीं हो सका। सन् १६४७ ई० तक शाहजहाँ से कृष्णसिंह को ५०० जात और ५०० सवार का मन्सब प्राप्त हो गया था। मार्च सन् १६५२ ई० में यह मन्सब बढ़ा कर १००० जात ५०० सवार कर दिया गया।[2]

शाहजहाँ के जीवनकाल में उसके बेटे साम्राज्य के लिए झगड़ बैठे। इस संघर्ष में कृष्णसिंह ने दाराशिकोह का साथ दिया और ८ जून १६५८ ई० को सामूगढ़ के युद्ध में वे दारा की ओर से लड़े थे। दाराशिकोह इस युद्ध में बुरी तरह पराजित हुआ और उस युद्धक्षेत्र से भाग निकला। इस युद्ध में औरंगजेब दारा की ओर से लड़ने वाले राजपूतों के शौर्य से अत्यधिक प्रभावित हुआ था। जैसे ही वह अपने समस्त भाइयों को ठिकाने लगा कर भारत सम्राट् बना, उसने इन राजपूतों को अपनी ओर मिलाने का प्रयास किया। कृष्णसिंह का मन्सब बढ़ा कर १५०० जात और १००० सवार का कर दिया।[3]

परन्तु ज्ञात यह होता है कि 'हिन्दूदल के स्वामी' ये तोमर औरंगजेब के समय में अधिक समय तक मुगुल दरबार में टिके न रह सके। कृष्णसिंह के पुत्र विजयसिंह तथा हरिसिंह को मेवाड़ भाग जाना पड़ा। वहीं सन् १७२४ ई० में विजयसिंह का देहान्त हुआ।[4] मेजर जनरल कनिंघम को सन् १८६२ ई० के लगभग यह ज्ञात हुआ था कि विजयसिंह के वंशज उस समय भी उदयपुर में रह रहे थे।[5]

---

१. पादशाहनामा, लाहौरी, २, पृ० ७४७।
२. वारिस, १ पृ० २२६; कम्बू अलम-इ-सालेह, ३ पृ० १४३।
३. आलमगीरनामा, पृ० ९५, ३०४, ४२८।
४. डा० ओझा, राजपूताने का इतिहास, पृ० २६७।
५. आर्कोलोजिक सर्वे रिपोर्ट, भाग २।

परिशिष्ट—एक

'ग्वालियर के राजाओं' की वंशावली और मित्रसेन

वंशावली

मित्रसेन के शिलालेख और खड्गराय के गोपाचल-आख्यान को साथ-साथ देखने से उन व्यक्तियों के विषय में कुछ भ्रम उत्पन्न हो जाता है, जिन्हें श्यामसिंह के पश्चात् 'ग्वालियर का राजा' माना गया। खड्गराय ने रामसिंह के पश्चात् 'ग्वालियर के राजा' के रूप में श्यामसिंह का उल्लेख किया है, श्यामसिंह का उत्तराधिकारी संग्रामसिंह बतलाया है और संग्रामसिंह का उत्तराधिकारी कृष्णसिंह लिखा हैं। खड्गराय ने गोपाचल-आख्यान कृष्णसिंह को सुनाने के लिए ही लिखा था, इस कारण कृष्णसिंह के पश्चात् गोपाचल-आख्यान मौन है।

एक शिलालेख संग्रामसिंह द्वारा नरवर के जयस्तम्भ पर उत्कीर्ण कराया गया था। उस में श्यामसिंह का उत्तराधिकारी संग्रामसिंह बतलाया गया है।[1]

शालिवाहन के दूसरे पुत्र मित्रसेन का उल्लेख न तो खड्गराय ने किया है और न संग्रामसिंह ने। मित्रसेन ने स्वयं रोहिताश्व गढ़ के शिलालेख में यह बतलाया है कि वह श्यामसिंह का छोटा भाई था। परन्तु उसने श्यामसिंह के पुत्र संग्रामसिंह का उल्लेख नहीं किया है।[2]

मुगुल दरबार में श्यामसिंह और उनके उत्तराधिकारी 'ग्वालियर के राजा' कहे जाते थे और इस कारण उन्हें विशेष मन्सब भी प्राप्त होते थे। श्यामसिंह के पश्चात्, यह पद उनके पुत्र उदयसिंह को प्राप्त हुआ। उदयसिंह सन् १६३० ई० में निस्संतान मर गए और उनके पश्चात् यह पद मिला संग्रामसिंह के पुत्र कृष्णसिंह को। उस समय मित्रसेन और संग्रामसिंह भी जीवित थे। उन दोनों को क्रमशः रोहिताश्व गढ़ और नरवर गढ़ का प्रशासक बना दिया गया था।

मित्रसेन और संग्रामसिंह से शिलालेखों तथा खड्गराय के गोपाचल-आख्यान के साथ समसामयिक मुगुल इतिहास लेखकों की कृतियों का अध्ययन करने के उपरान्त रामसिंह तोमर के वंशजों की वंशावली सुनिश्चित रूप में उपलब्ध हो जाती है—

---

१. ज० ए० सो० बं०, भाग ३१, पृ० ४०४।

२. ज० ए० सो० बं०, भाग ८, पृ० ६९३।
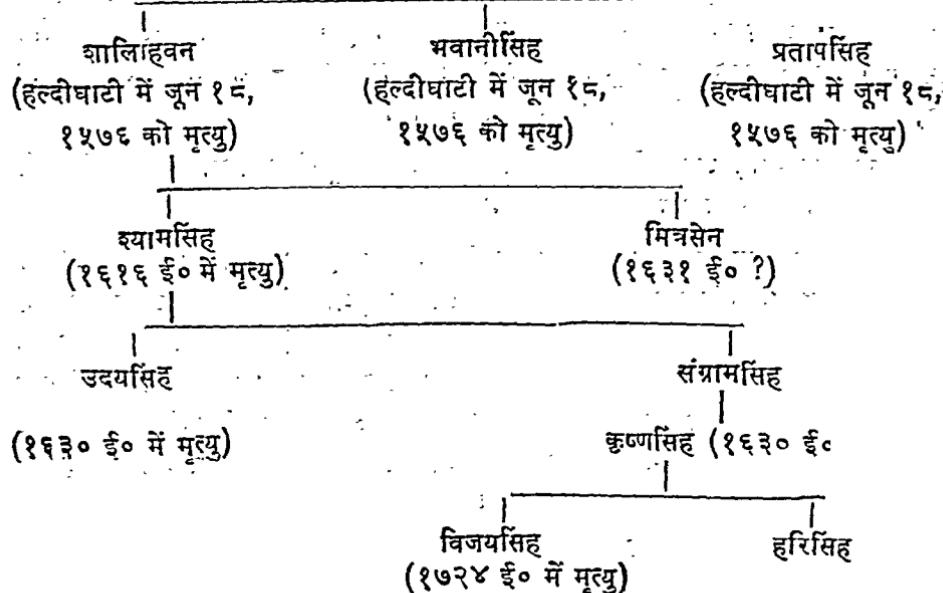
रोहिताश्व गढ़ और उसके शिलालेख

रोहिताश्व गढ़ अथवा रोहतास विहार के शाहाबाद जिले में ८३ देशान्तर और २४ अक्षांश पर, सोन नदी के किनारे स्थित है। सन् १५३८ ई० के प्रारम्भ में वह राजा हरिकृष्ण राय के अधीन था, तीन मास पश्चात् वह गढ़ शेरशाह के आधिपत्य में आ गया और राजा हरिकृष्ण निकाल दिए गए। शेरशाह के इतिहास में यह घटना भी रायसेन के विश्वासघात से कम निंद्य नहीं है। जब हुमायूं शेरशाह का पीछा कर रहा था तब वह अपने परिवार की स्त्रियों और खजाने को लेकर शरण के लिए रोहिताश्व गढ़ के राजा हरिकृष्ण राय के पास पहुंचा। इसके पूर्व राजा ने शेरशाह के भाई और उसके कुटुम्ब को शरण दी थी। परन्तु जब शेरशाह ने पुनः अपने परिवार के लिए शरण की याचना की तब राजा को कुछ असमंजस हुआ। शेरशाह ने राजा के मन्त्री चूड़ामणि को रिश्वत देकर उसके माध्यम से राजा की अशरण-शरण की रजपूती शान को जागृत कराया। अफगान शिविर से अनेक डोलियाँ गढ़ पर जाने लगीं। उदार राजपूत राजा ने यह भी न देखा कि उन डोलियों में अफगान महिलाएँ जा रहीं है या कोई और। डा० कालिकारंजन कानूनगो के शब्दों में[1]—"विश्वासघात तो पहले से ही रचा जा चुका था, इसलिए अन्दर घुसते ही औरतें आदमी बन गए और तलवारें निकाल कर राजा और

१. शेरशाह और उसका समय, पृ० १९२ (हिन्दी संस्करण)।

उसके राजपूतों को दुर्ग में से बाहर निकाल दिया। राजपूत अफगानों के विश्वासघात से ऐसे हक्के-बक्के रह गए कि उनका सामना न कर सके। इस प्रकार जघन्य युक्ति के द्वारा शेरशाह ने रोहतास का दुर्ग छीन लिया जो चुनार से चार गुना बड़ा और दृढ़ था।" डा० कानूनगो को दुःखी हृदय से लिखना पड़ा—"शेरखाँ वास्तव में शेर था, परन्तु कभी-कभी वह लोमड़ी भी बन जाता था।"

रोहिताश्व गढ़ अफगानों के हाथ से निकलकर मुगुलों को मिल गया। उसे खोने वाले अफगान का नाम भी शेरशाह था।[1]

रोहिताश्व गढ़ के महल के द्वार पर हिजरी सन् १००५ (सन १५९७ ई०) का एक फारसी का शिलालेख प्राप्त हुआ है,[2] जिससे यह ज्ञात होता है कि उस महल का निर्माण राजा मानसिंह कछवाहा ने कराया था। ज्ञात होता है कि कभी रोहिताश्व गढ़ कछवाहा मानसिंह के प्रबन्ध में भी रहा था। कालक्रम में इसके पश्चात् प्राप्त होता है मित्रसेन तोमर का विक्रम सम्वत् १६८८ (सन् १६३१ ई०) का शिलालेख जो रोहिताश्व गढ़ के कोथौटिया द्वार पर प्राप्त हुआ था। शाहजहाँ के राज्यकाल में रोहिताश्व गढ़ का प्रशासक तोमर मित्रसेन बना दिया गया था।

रोहिताश्व गढ़ की पहचान

शेरशाह सूर बिहार के रोहिताश्व गढ़ से इतना प्रभावित हुआ था कि जब उसने गक्खरों को दबाने के लिए उत्तर-पश्चिम सीमान्त में अनेक गढ़ बनवाए तब उनमें से एक का नाम 'रोहतास' रख दिया।[3] शेरशाह ने वहाँ एक गढ़ 'ग्वालियार' के नाम से भी बनवाया था, ऐसा अब्दुल्ला की तारीखे-दाऊदी से ज्ञात होता है। नियाजियों से युद्ध करने के लिए जब इस्लामशाह सूर उस ओर गया था तब उसे भी गक्खरों से संघर्ष करना पड़ा और उसने भी वहाँ गढ़ों की एक शृंखला निर्मित कराई थी।[4] यह सब कार्य उसने उस 'ग्वालियार' में रह कर कराई थी, जिसका राजा परशुराम उसका सेवक हो गया था। इस 'ग्वालियार' का वर्णन अब्दुल्ला ने किया है—"ग्वालियार एक पहाड़ी पर स्थित है; जब कांगड़ा और नगरकोट जाएँ तब यह पहाड़ियों में दक्षिण की ओर सीधे हाथ पर स्थित है। इस्लामशाह ने वहाँ पर कुछ इमारतें बनवाईं। ग्वालियार के निवासी बहुत सुन्दर नहीं हैं। इस्लामशाह ने मजाक में निम्नलिखित पंक्तियों की रचना की थी—

---

१. इलियट एण्ड डाउसन, भाग ४ पृ० ३९० (हिन्दी)।
२. जर्नल आंफ दी एशियाटिक सोसायटी बंगाल, भाग ८, पृ० ६१५।
३. इलियट एण्ड डाउसन, भाग ४, पृ० ३९०। यह गढ़ रावलपिंडी के पास बनवाया गया था।
४. शेरगढ़, इस्लामगढ़, रशीदगढ़, फीरोजगढ़ और मानगढ़ (इलि० एण्ड डाउसन, भाग ५, पृ० ४९४)।

"मैं ग्वालियार की प्रेयसियों की प्रसंशा का गान कैसे कर सकता हूँ ?
मैं हजार वार भी प्रयत्न करूँ तव मैं यह समुचित रूप से नहीं कर सकूँगा।
मैं नहीं जानता कि मैं परशुराम को कैसे सलाम करूँ
जव मैं उसे देखता हूँ तो परेशान हो जाता हूँ, और चिल्ला उठता हूँ, राम! राम!!"

इस सुल्तानी मजाक़ को महत्व न देते हुए मुद्दे की वात यह है कि कांगड़ा और नगरकोट के पास का ग्वालियार वह गोपाचल गढ़, या गोपाचल नगर नहीं है, जहाँ इस्लामशाह ने अपनी राजधानी वनाई थी, और जहाँ की सुन्दरियाँ तथा स्वरलहरी इस्लामशाह को परेशान करने वाली नहीं थी। इसी प्रकार जहाँ मित्रसेन का शिलालेख मिला है, वह पेशावर के पास स्थित रोहतास नहीं है, वरन सोन नदी के किनारे स्थित रोहिताश्व गढ़ है।

रोहिताश्व गढ़ की पहचान कराने के लिए यह सव लिखना आवश्यक न होता यदि प्रसिद्ध इतिहासज्ञ और गंगोलाताल के तोमर शिलालेखों को प्रकाश में लाने वाले डा० सन्तलाल कटारे इस स्थापना पर न डटे रहते कि वह रोहताश्व गढ़ जहाँ मित्रसेन का शिलालेख मिला है रावलपिंडी वाला रोहतास है।[1] मित्रसेन के शिलालेखयुक्त यह पत्थर मिला तो विहार के ही रोहिताश्व गढ़ पर था। इसके लिए एशियाटिक सोसाइटी के जर्नल के सम्पादक ने जो कुछ लिखा है उसके कुछ अंशों को उद्धृत करना ही पर्याप्त है—

Art 1. Sanskrit inscription on the slab removed from above the Kothoutiya gate of the fort Rohtas.

In our May Number, we presented our readers with an interesting letter from Mr. Ravenshaw, communicating some inscriptions collected in Bihar. Mr. Ravenshaw notices the Persion inscriptions over the gateway of the palace on the summit of the fort of Rohtas............Mr. Ravenshaw adds that the Sanskrit inscription over the Kothoutiya gate of the fort had been taken to Chupra by Mr. W. Ever, and was then on the premises of Mr. Luke. It has since been forwarded to the Asiatic Society, and we are enabled to present our readers with a transcript and translation."

अतएव, यह वात निर्विवाद है कि मित्रसेन का शिलालेख सोन नदी के किनारे स्थित विहार के रोहिताश्व गढ़ से प्राप्त किया गया था न कि झेलम जिले के रोहतास से।

मित्रसेन का इतिहास

रोहिताश्व गढ़ के स्थान को सुनिश्चित कर देने का शुभ कार्य करने के साथ-साथ एशियाटिक सोसाइटी जर्नल के सम्पादक महोदय ने मित्रसेन के शिलालेख को 'भूल और अतिरंजना

1. टू गंगोलाताल, ग्वालियार, इनक्रप्शन्स आफ द तोमर किंग्स आफ ग्वालियर, जर्नल आफ द ओरिएण्टल इन्स्टीट्यूट, भाग २३, जून १९७४, पृ० ३४४। भय यह भी है कि कोई भावी विद्वान गोपाचल के तोमरों को ही पेशावर के 'ग्वालियर' में न वैठा दें।

का अपराधी' घोषित करने का अपकृत्य भी किया है।[1] यह शिलालेख इस कारण अपराधी सिद्ध माना गया है कि उस में दावा किया गया है कि मित्रसेन ने शेरखान को जीतकर रोहिताश्व गढ़ को अपने अधिकार में कर लिया था और उसके इस शौर्य से दिल्लीश्वर भी चकित हो गया था। इसके विषय में टिप्पणी करते हुए जर्नल के सम्पादक महोदय ने लिखा है—"यह साहसपूर्ण कथन कि वीर मित्रसेन ने गढ़ को शक्तिशाली शेरशाह से ले लिया था, इतिहास-सम्मत नहीं है; क्योंकि इस पत्थर के साक्ष्य से ही मित्रसेन सन् १६३१ ई० में जीवित था और प्रसिद्ध पठान सम्राट् सन् १५४० में मर चुका था।" बिना इस बात पर विचार किए कि "प्रसिद्ध पठान सम्राट् शेरशाह" की मृत्यु के पश्चात् आदिलशाह सूर के बेटे ने भी 'शेरखाँ' नाम धारण किया था और वह 'शेरशाह' भी कहा जाने लगा था, इस बेचारे 'पत्थर' को अपराधी घोषित कर दिया गया ! सन् १५६१ ई० में उस शेरखाँ को अकबर के जौनपुर के सूबेदार खान जमा (अलीकुलीखाँ) ने पराजित कर दिया था। इस पराजय के पश्चात् वह फ़कीर बन गया था। तारीखे-दाऊदी में अब्दुल्ला ने लिखा है—"उसके पश्चात् उसका क्या हुआ, यह किसी को ज्ञात नहीं है।"[2] मित्रसेन के शिलालेख का पत्थर उसी शेरखाँ का उल्लेख करता है; और हमें इस बात के लिए उसके लेखक के प्रति कृतज्ञ होना चाहिए कि उसने इतिहास के उस पृष्ठ पर प्रकाश डाला है जिसका ज्ञान अफगानों के इतिहासकार अब्दुल्ला को भी नहीं था। रोहिताश्व गढ़ के मित्रसेन के शिलालेख के कथनों को अविश्वसनीय मानने का कोई कारण नहीं है और उसके आधार पर मित्रसेन के विषय में अनेक प्रामाणिक तथ्य ज्ञात होते हैं।

उस शिलालेख में पहली बात यह कही गई है कि शालिवाहन के दो पुत्र थे—श्यामसिंह और मित्रसेन; तथा वे दोनों अकबर की सेवा में आ गए थे। बादशाह अकबर उन्हें "अप्रतिम वीर" कहा करता था। इस तथ्य का विवेचन श्यामसिंह के सन्दर्भ में किया जा चुका है।

दूसरा तथ्य जो इस शिलालेख से प्राप्त होता है वह यह है कि श्यामसिंह की मृत्यु के उपरान्त, संभवत: शाहजहाँ के राज्य प्रारम्भ में, मित्रसेन ने शेरखाँ से रोहिताश्व गढ़ जीत लिया। जहाँगीर के राज्यकाल के अन्तिम वर्षों में रोहिताश्व गढ़ शाहजहाँ के विद्रोह का केन्द्र बन गया था। ज्ञात होता है कि उसी समय कभी आदिलशाह के पुत्र शेरखाँ ने अपना फकीरी लिबास त्याग कर रोहिताश्व गढ़ पर अधिकार कर लिया और मित्रसेन ने उसे पराजित कर, शाहजहाँ की ओर से, गढ़ पर कब्जा कर लिया।

रोहिताश्व गढ़ का प्रशासक मित्रसेन

जब शाहजहाँ सम्राट् बना, उस समय उसे अपने विरोधी राजपूत-दल से अपना

1. Though the slab should thus be convicted of error and exaggeration, there may still be some historical facts....
2. इलियट एण्ड डाउसन, भाग ४, पृ० ५०९।

हिसाब-किताब पूरा करना था। ज्ञात होता है कि उसी समय नरवर और रोहिताश्व गढ़ कछवाहों के प्रबन्ध से हटा कर तोमरों के प्रशासन में दे दिए गए।

रोहिताश्व गढ़ के अपने प्रशासनकाल में मित्रसेन ने उस गढ़ का जीर्णोद्धार कराया, वहाँ मित्रेश्वर महादेव के मन्दिर का भी निर्माण कराया तथा वि० सं० १६८८ (सन् १६३१ ई०) में दुर्गा के मन्दिर तथा प्रासाद का भी निर्माण कराया और उसी उपलक्ष्य में मैथिल कवि-पण्डित, कृष्णदेव के पुत्र, शिवदेव, से प्रशस्ति लिखवा कर प्रस्तर पर अंकित करा दी।

पण्डित शिवदेव के अनुसार, मित्रसेन वीर भी था और दानी भी। उसने दुर्भिक्ष-पीड़ित ब्राह्मणों को आश्रय देने के लिए काशी में भवन बनवा कर अन्न और धनदान की व्यवस्था कर दी थी।

मित्रसेन ने अपने समय में जो कुछ किया था, उसका स्वरूप धुँधला है; तथापि वह अपने पूर्वजों का इतिहास उत्कीर्ण कराकर बहुत बड़ा काम कर गया। तोमरवंश के इतिहास-लेखक के लिए वह पत्थर बहुत उपयोगी है, जिसे मि० ईवर रोहिताश्व गढ़ से निकाल कर छपरा ले गए और वहाँ वह मि० लूक के बंगले में पड़ा रहा और तब एशियाटिक सोसाइटी के संग्रह में जा पहुँचा।

परिशिष्ट—दो

संग्रामसिंह का जयस्तम्भ

नरवर के बाहर कभी एक स्तम्भ खड़ा हुआ था[1] जिसे 'जयतखम्भ' या जयस्तम्भ कहा जाता था। उसके पास ही एक बावड़ी थी जिस पर विक्रम संवत् १६८७(सन् १६३०ई०) का शिलालेख है। वहीं एक शिव मन्दिर के अवशेष थे।

अकबर के समय में जब आमेर (जयपुर) के कछवाहों का प्रभुत्व बहुत बढ़ा था, तब उन्हें नरवर और ग्वालियर का सूबेदार भी बना दिया गया था। परन्तु शाहजहाँ के राज्यकाल के प्रारंभ होते ही कछवाहों का प्रभुत्व कम हो गया; क्योंकि शाहजहाँ के मुकाबले में उन्होंने शाहजादा खुसरू का साथ दिया था। उसी समय नरवर गढ़ कछवाहों से लेकर शाहजहाँ ने संग्रामसिंह तोमर के संरक्षण में दे दिया था। संग्रामसिंह ने ही सन् १६३० ई० में इस जयस्तम्भ का निर्माण कराया था और उस पर ३३ पंक्तियों का शिलालेख खुदवा दिया था।[2] जयस्तम्भ का यह लेख अत्यन्त अशुद्ध उत्कीर्ण हुआ है और कालगति से अस्पष्ट भी हो गया है। उसका कुछ विवरण एशियाटिक सोसाइटी, बंगाल, के जर्नल के भाग ३१, पृ० ४०४ पर प्रकाशित हुआ है और उसका चित्र उसके फलक ४ पर प्रकाशित किया गया है। यद्यपि यह शिलालेख अब पूरा पढ़ा जाना संभव नहीं है, तथापि उसमें वीरसिंहदेव तोमर से शालिवाहन एवं श्यामसिंह तक की वंशावली जानी जा सकती है। श्यामसिंह के पश्चात् इस शिलालेख में संग्रामसिंह का उल्लेख है। इस नष्टप्राय स्तम्भ और शिलालेख के चित्र यहाँ एशियाटिक सोसाइटी के जर्नल से प्रस्तुत किए जा रहे हैं।

१, अब यह स्तम्भ अपने मूल स्थान से हटाकर कोतवाली में डाल दिया गया है।

२. मेजर जनरल कनिंघम ने इस जयस्तम्भ को डूंगरसिंह की नरवर विजय के उपलक्ष्य में निर्मित बतलाया है (आर्को० सर्वे० रि०, भाग २, पृ० ३१७)। यह कथन नितान्त भ्रमपूर्ण है।

नरवर का जयस्तम्भ

जयस्तम्भ का शिलालेख

(रायल एशियाटिक सोसाइटी, बंगाल, के जर्नल से साभार)

परिच्छेद १८

रावी तट के तोमर-सामन्त

अनंगपाल प्रथम का राज्य रावी-तट तक था। रावी के किनारे उसका तोमर सामन्त नियुक्त किया गया था। उसके गढ़ का नाम था रूपाल (रूपालय)। फरिश्ता इसे 'रुडपाल' भी लिखता है। तारीखे-अल्फी में यह नाम 'दमाल' मिलता है।[1] आगे इसी स्थान का नाम 'नूरपुर' रखा गया जो 'रूपालय' का अनुवाद है।[2] यामिनी वंशी मसऊद के पुत्र इबराहीम ने सन् १०८८ ई० के पश्चात् कभी रूपालय को लूटा था। ज्ञात यह होता है कि सन् ११९३ ई० की पराजय के पश्चात् भी तोमर सामन्तों का यह वंश कहीं अस्तित्व बनाए रहा और अवसर पाकर उसने रूपालय, अब नूरपुर, पर कब्जा कर लिया। जिस समय हुमायूं के विरुद्ध सिकन्दर सूर पंजाब में तैयारी कर रहा था तब नूरपुर के तोमरों के राजा बख्तमल ने सूरों का साथ दिया। जब अकबर ने मानकोट जीत लिया तब बख्तमल को बैरमखाँ ने मरवा डाला और उसके स्थान पर उसके भाई तख्तमल को राजा बना दिया। इसका पुत्र राजा बासू था।[3]

बासू ने अकबर के विरुद्ध विद्रोह कर दिया। अकबर ने उसके विरुद्ध हसनबेग को भेजा।[4] राजा टोडरमल ने भी उसे पत्र लिख कर बादशाह के अधीन हो जाने की सम्मति दी। इस पर वह हसनबेग के साथ शाही दरबार में उपस्थित हो गया। शाहजादा सलीम के विद्रोही हो जाने के पश्चात् राजा बासू भी उससे मिल गया। बादशाह अकबर ने उसे पकड़वाने की चेष्टा की परन्तु वह सफल न हुआ। जब सलीम जहाँगीर के नाम से बादशाह हुआ तब उसने राजा बासू को ३५०० का मन्सब देकर अपना दरबारी बना लिया। केशवदास ने जिस नौरोज दरबार का वर्णन किया है उसमें बासू का भी शब्द-चित्र प्रस्तुत किया है—

उदय—

पुष्प मालिका सी सभा वह बरनौं अनुकूल।
तामें को यह सोभिजे चंपै कैसो फूल॥

---

१. इलियट एण्ड डाउसन, भाग ५, पृ० १६२।

२. नूरपुर के तोमरों के इतिहास के विषय में 'हिस्ट्री आफ द पंजाब हिल स्टेट्स' हचिनसन तथा वोगेल; आर्कोलोजिकल सर्वे रिपोर्ट, भाग १४; आर्कोलोजिकल सर्वे रिपोर्ट १९०४-५, तुजुक जहाँगीर; जहाँगीर जस-चन्द्रिका, केशवदास; तथा मआसिरुल-उमरा, ब्रजरत्नदास, दृष्टव्य हैं।

३. राजा बासू को डा० ओझा ने भी तोमर माना है। उदयपुर राज्य का इतिहास, भाग १, पृ० ४८६, टिप्पणी (१)।

४. ब्रजरत्नदास, मआसिरुल-उमरा, भाग १, पृ० १४४, २३४, ३२५, ४४६।

भाग्य—

साहि जलाल जहाँगीर जालिम दीनी बड़ाई बड़ेनहू मोहै।
दान कृपान विधान प्रमान समान न आन न दान को टोहै ।।
केसव स्वारथ हू परमारथ पूरन भारथ पारथ को है।
वासुकि सौ बहु बैरिनि को रन धर्म को बासु कि बासुकि सोहै ।।

राजा वासू के दो पुत्र राजा सूरजमल और राजा जगतसिंह थे।

राजा वासू अपने बड़े पुत्र सूरजमल से प्रसन्न नहीं था। उसे उसने कारागार में डाल दिया था। राजा वासू की मृत्यु के पश्चात् जहाँगीर ने सूरजमल को राजा बनाया। जहाँ-गीर भी उससे प्रसन्न न रह सका और रायरायान त्रिपुरदास ने उसे पराजित कर दिया और मऊ और मुहरी के दुर्ग उससे छीन लिए।

राजा वासू का छोटा पुत्र राजा जगतसिंह जहाँगीर की सेना में कार्य कर रहा था। सूरजमल के पराजित होने के पश्चात् जहाँगीर ने इसे राजा वासू का उत्तराधिकारी बनाया। जहाँगीर और शाहजहाँ के समय में अनेक महत्वपूर्ण पदों पर काम कर जगतसिंह की सन् १६४५ ई० में पेशावर में मृत्यु हो गई।

जगतसिंह का उत्तराधिकारी राजा राजरूप हुआ। सुलैमान शिकोह के प्रसंग में इसके कार्यों का विवरण अगले परिच्छेद में दिया जा रहा है। इसकी मृत्यु सन् १६६१ ई० में गजनी में हुई। इसका उत्तराधिकारी बना इसका भाई भारसिंह। औरंगजेब के आग्रह पर यह मुसलमान हो गया और इसका नाम हुआ मुरीदखाँ। इसके वंशज आगे भी अनेक 'खाँ' हुए, परन्तु तोमरों के इतिहास से उनका दूर का भी सम्बन्ध नहीं है।

परिच्छेद १९

गढ़वाल के तोमर

दीवान श्यामदास

मोलाराम विश्व-प्रसिद्ध मध्यकालीन चित्रकार है। प्रसिद्ध कलाविज्ञ राय कृष्णदास ने मोलाराम के विषय में कुछ अस्पष्ट कथन किए हैं—"१८२८ ई० में कांगड़ा के संसारचन्द्र की दो कन्याएँ गढ़वाल नरेश से व्याही गईं। इसी सिलसिले मे कांगड़े के चित्र और चित्रकार भी दहेज में यहाँ आए। इसी समय गढ़वाल में पहाड़ी शैली प्रतिष्ठित हुई। वहाँ के मोलाराम चित्रकार का नाम आजकल प्राय: सुन पड़ता है; किन्तु जो चित्र मोलाराम पर आरोपित किए जाते हैं उनके निजस्वों में इतनी विभिन्नताएँ हैं कि वे एक चित्रकार के नहीं हो सकते।"[1]

दहेज की बात और चित्र एक व्यक्ति न होने की बात यहाँ अप्रासंगिक है। यहाँ देखना केवल यह है कि यह मोलाराम थे कौन और कहाँ से कहाँ गए? मोलाराम चित्रकार तो थे ही, कवि भी थे और इतिहासवेत्ता भी। सन् १८०३ ई० के लगभग गढ़वाल के परमार राजाओं से नेपाल के गोरखाओं ने गढ़वाल छीन लिया। गढ़वाल के राजाओं के आश्रित थे मोलाराम। गढ़वाल के राजा अलकनन्दा के दूसरी ओर टेहरी-गढ़वाल चले गए और गढ़वाल की राजधानी श्रीनगर पर गोरखाओं का आधिपत्य हो गया। मोलाराम गढ़वाल में ही बने रहे। चित्रकार के रूप में उनकी ख्याति बहुत अधिक थी। गोरखाओं के सेनानायक हस्तिदल ने मोलाराम से गढ़वाल राज्य के पतन का कारण पूछा। मोलाराम ने गढ़वाल का पद्यबद्ध इतिहास लिखा और उसमें अपने पूर्वजों का भी इतिहास अंकित कर दिया।

शाहजहाँ के पुत्र उसके जीवनकाल में ही राज्य-सिंहासन के लिए झगड़ बैठे। सन् १६५७ ई० में शाहजहाँ बीमार पड़ा और उसने अपनी वसीयत लिखा दी जिसके अनुसार उसका बड़ा पुत्र दारा शिकोह उसका उत्तराधिकारी नियत किया गया। औरंगजेब ने अपने सभी भाइयों को किस प्रकार समाप्त किया और अपने बाप को कैद कर दिया, यह इतिहास अत्यन्त प्रसिद्ध है। दारा शिकोह पकड़ा गया और मुल्लाओं की न्याय-मंडली ने उसे काफिर ठहराया और प्राणदण्ड दिया। दारा का पुत्र सुलैमान शिकोह सन् १६५८ ई० में औरंगजेब के क्रूर हाथों से रक्षा पाने के लिए गढ़वाल की राजधानी श्रीनगर पहुँचा। उसके साथ उसका रनिवास और कुछ सैनिक थे। उसका दीवान था श्यामदास तोमर। दीवान श्यामदास

---

१. राय कृष्णदास, भारत की चित्रकला, पृ० १००।

के साथ उसका पुत्र हरदास भी था। हरदास के हुए हीरालाल, उनसे मंगतराय, और मंगतराय से सन् १७३० ई० में हुए मोलाराम। मोलाराम का देहान्त गढ़वाल में ही अलकनन्दा के किनारे श्रीनगर में सन् १८३२ ई० में हुआ था। वे स्वयं चित्रकार थे और उनके पास उनके पूर्वजों का ३०० वर्ष पुराना विशाल चित्र-संग्रह भी था।

सुलैमान शिकोह का, मोलाराम के काव्य के अनुसार, गढ़वाल के तत्कालीन परमार राजा पृथ्वीशाह[1] ने स्वागत किया। उन्हें ठहरने के लिए महल की व्यवस्था की गई। औरंगजेव पृथ्वीशाह[2] पर सुलैमान शिकोह को लौटाने के लिए जोर डालने लगा। जब पृथ्वीशाह ने स्वीकार न किया तब औरंगजेव ने राजा राजरूप को सेना के साथ पृथ्वीशाह को समझाने के लिए भेजा और यह आदेश दिया कि यदि श्रीनगर का राजा समझाने से न माने तो उसके इलाके को लूट लिया जाए।[3] राजा पृथ्वीशाह ने राजरूप की बात न मानी। राजरूप राजा वास का प्रपौत्र था और तोमर था।[4] सुलैमान शिकोह के साथ दुर्भाग्य के दिन काटने वाला भी तोमर और उसके गले पर फन्दा डालने का प्रयास करने वाला भी तोमर।

राजरूप का समझाना और परेशान करना जब कारगर न हुआ तब औरंगजेव ने तरवियतखाँ और राजअन्दाजखाँ को भी भेजा।[5] पृथ्वीशाह त्रस्त हो गया। उसने मिर्जा राजा जयशाह को बीच में डालकर औरंगजेव से सुलह कर ली और सुलैमान शिकोह को लौटाना स्वीकार कर लिया। पृथ्वीशाह ने यह कार्य अपने युवराज मेदिनीशाह को सौंप दिया। मेदिनीशाह सेना लेकर सुलैमान शिकोह के पास पहुँचा। अपनी गढ़वाली सेना सुलैमान के सामने खड़ी कर मेदिनीशाह ने कहा—

कुलो पाछे जिनस लावै।
संग दिवान जू तिन कै आवै॥
तुमहूं बैठौ डाक के मांही।
हमहूं संग चलत हैं ताहीं॥
श्यामदास जू के हरदास।
पिता पुत्र रहे माल के पास॥

---

१. पृथ्वीशाह जब ७ वर्ष का था तभी गद्दी पर बैठा था। उसकी ओर से उसकी माता कर्णावती राजकाज देखती थीं। सन् १६३५ में शाहजहां ने गढ़वाल पर आक्रमण किया। पृथ्वीशाह ने शाहजहां की एक लाख पैदल और तीस हजार घुड़सवारों की विशाल सेना को पराजित कर दिया।

२. व्रजरत्नदास, मआसिरुल्-उमरा, भाग १, पृ० ३२४।

३. औरंगजेव के पत्रों से और तत्कालीन यात्री वनियर के यात्रा विवरण से यह ज्ञात होता है कि औरंगजेव ने गढ़वाल पर आक्रमण कर इस राज्य को नष्ट कर मुगल साम्राज्य में मिलाने का निश्चय किया था। परन्तु उसे उस विचार को त्याग देना पड़ा। उसे शाहजहां को पराजय का स्मरण था। युद्ध के स्थान पर औरंगजेव ने कूटनीति से काम लिया था।

४. डा० ओझा, उदयपुर राज्य का इतिहास, पृ० ४८६, टिप्पणी १।

५. व्रजरत्नदास, मआसिरुल-उमरा, भाग १, पृ० ३२४।

कुली मुलक सैं पाछे आवै।
माल असबाब सभी को लावै॥

मेदिनीशाह ने सुलैमान के साथ न उसका दीवान जाने दिया और न माल-असबाब। मेदिनीशाह सुलैमान शिकोह को लेकर मुगल फौज से आ मिला और उसे औरंगजेब के पास पहुँचा आया।[1] २ जनवरी १६६१ ई० को सुलैमान दिल्ली में सलीमगढ़ के किले में वन्द कर दिया गया और १५ जनवरी को ग्वालियर गढ़ में ले जाया गया। जहाँ उसे 'पुस्ता' (विष) द्वारा धीरे-धीरे मौत के घाट उतार दिया गया।

उधर दीवानजी पर क्या बीती यह भी मोलाराम ने लिखा है। मेदिनीशाह ने—

गढ़ माँहि जाकै जपती कीनी।
जिनस सब हजरत की लीनी॥
यौं सैजादे को गढ़ छूट्यौ।
माल बादसाही सब लूट्यौ॥
जपत दीवान मुसद्दी कीने।
राखे कैद लूट सब लीने॥

दीवान श्यामदास ने राजा पृथ्वीशाह से फरियाद की। राजा ने उनका परिचय पूछा। उन्होंने उत्तर दिया हम 'तोमर' हैं। तब उन्हें सम्मान मिला, परन्तु नजर-कैद न छूटी। हरदास को मेदिनीशाह को फारसी पढ़ाने का कार्य मिला। बदले में पाँच रुपये रोज और जागीर दी गई। मोलाराम के ही शब्दों में—

तूंवर जान दिवानहि जाने,
राखे हित सौं अति सनमाने।
तब सौं हम गढ़ मांझ रहाये।
हमरे पुरखा या विद आए।
तिनके बंस जनम हम धारा।
मोलाराम नाम हमारा।
पांच रूपैया रोज लगायौ।
साठ गाँउ जागीर ही दीनें,

---

१. कुछ इतिहासकारों में यह भी कथन किया गया है कि तरवियतखाँ की सेना से लड़ने के लिए पृथ्वीशाह ने अपनी सेना भेजी थी, जिसका सेनापति सुलैमान शिकोह को बनाया गया था। परन्तु यह कथन ठीक नहीं है। इस सन्दर्भ में मोलाराम का कथन ही ठीक है। मेदिनीशाह ने विश्वासघात कर धोखे से सुलैमान शिकोह को पकड़वा दिया था। इसका समर्थन आकिलखाँ भी करता है। देखें, वाकयात-ए-आलमगीरी, आकिलखाँ, जफरहसन द्वारा संपादित, पृ० ५५।

अपने वह उस्तादहि कीनै।
पढ़ो पारसी तिनके पासहि।
रहे होय जो तिनके दासहि।
नजर वंदि कर राखे पासा[1].......

तोमरों की प्रतिष्ठा गढ़वाल के परमारों में थी। दो सौ वर्ष पूर्व कश्मीर का जैन-उल-आवेदीन डूंगरेन्द्रसिंह और कीर्तिसिंह का मित्र रह चुका था और राणा संग्रामसिंह और मुगुल, तोमर दोनों के ही शक्तिशाली सामन्त रह चुके थे। ऐसा कौन हिन्दू राजा उस समय हो सकता था जो 'तोमर' परिचय का आदर न करता।

'रामकृष्ण अल्लाह'

मोलाराम ने अपने 'काव्य' में एक अद्भुत बात लिखी है —

सुलैमान जब वन्द में डारे
'रामकृष्ण अल्लाह' पुकारे।

संकट काल में मृत्यु के सामने भी दारा शिकोह का युवराज सुलैमान शिकोह 'रामकृष्ण अल्लाह' पुकार उठा। निश्चय ही यह उसकी अन्तरात्मा की वाणी थी। मृत्यु की छाया में मनुष्य के हृदय का सत्य मुखरित होता है, उसका वास्तविक रूप ही प्रकट होता है। साम्राज्य का वैध अधिकारी दारा था और उसका वैध उत्तराधिकारी था सुलैमान। ये दो पीढ़ियाँ यदि भारत का साम्राज्य चला लेतीं तब वास्तव में भारत के घाव भर जाते, उन घावों के चिह्न भी मिट जाते जो तुर्कों और अफगानों के हाथों उठाने पड़े थे। पर होना कुछ और था। सिकन्दर लोदी के समय में जुन्नारदार बोधन ने "हिन्दू-मुस्लिम एक है— राम रहीम एक है" का स्वर उठाया; उसके न्याय (?) के लिए सिकन्दर लोदी ने समस्त भारत के शेख, सय्यद, सूफी इकट्ठे किए थे। बोधन का कथन कुफ्र ठहराया गया। मुसलमान बनने पर सहमत न होने पर उसे मार डाला गया। ऐसा ही न्याय का एक नाटक औरंगजेब ने किया दारा के साथ। वैध भावी सम्राट् का न्याय हुआ अपने ही खान्दान पर डाका डालने वाले द्वारा। दारा को भी धर्म-गुरुओं ने मृत्युदण्ड दिया। बेचारा सुलैमान भी तिल-तिल कर मारा गया। होना तो वह था, जो हुआ। जहाँगीर ने गुरु अर्जुनदेव को वन्दीगृह में मार डाला और पंजाब में मुगुलों के विरुद्ध कभी न बुझने वाली ज्वाला प्रज्वलित कर दी। औरंगजेब ने 'रामकृष्ण-अल्लाह' की वाणी का गला घोंट कर गुरु गोविन्दसिंह, शिवाजी और महाराज छत्रसाल जैसे अनेक ज्वालामुखियों को प्रज्वलित कर दिया। मुगुल साम्राज्य मिटा, अंगरेजी साम्राज्य का मार्ग प्रशस्त हुआ !

---

१. मोलाराम के इस काव्य का अंश श्रीयुत मुकुंदीलाल ने अपनी लेखमाला "चित्रकार कवि मोलाराम की चित्रकला और कविता" में सन् १९३२-३५ की "हिन्दुस्तानी" में प्रकाशित कराया था। उक्त उद्धरण उसी लेखमाला से लिए गए हैं।

षष्ठम खण्ड

● सांस्कृतिक प्रवृत्तियां ●

परिच्छेद २०

संगीत

भारतीय संगीत राजाओं और राजसभाओं की सृष्टि न होकर लोकमानस की देन है; उसका विकास भारत के सुरम्य वनों, पार्वत्य उपत्यिकाओं, नदी और निर्झरों के किनारों पर षट्ऋतुओं के चिरन्तन नृत्य से आनन्द विभोर मानव-समूह ने किया था। उसे वहीं अपने वन्य सहचरों की वाणी में सप्त स्वर मिले थे और राग-रागिनियाँ उसके कण्ठ से फूट निकली थीं। इनके आधार पर साधकों ने अपनी धर्म-सभाओं के लिए और राजाओं ने अपनी राजसभाओं के लिए संगीत लिया। उसे परिष्कृत कर परिनिष्ठित रूप दिया गया और नियमों में बाँधकर संगीत, गीत, ताल और नृत्य के सूत्र और नियम निरूपित किए गए। शास्त्र के रूप में संगीत सर्वप्रथम भारत में ही निरूपित हुआ था और यहाँ से यह समस्त संसार में फैला। भारत के संगीत शास्त्रियों ने रागों की स्वर-लिपियाँ प्रस्तुत कीं जो पहले ईरान गईं, वहाँ से अरब और अरब से योरप पहुँचीं।[1] ईरान के बादशाह बहराम ने ईसवी छठवीं शताब्दी में भारत से बीस हजार गायक ईरान बुलाए थे।[2]

तुर्कों ने भारत के विभिन्न भागों को अपने शस्त्र-बल से जीत लिया। भारत की राजसभाएँ और उनके आश्रित संगीत शास्त्री और गायक भी स्थान-भ्रष्ट हुए। इन आक्रमणों से सुरक्षा प्राप्त करने के लिए अनेक संगीतज्ञ सुदूर दक्षिण की राजसभाओं एवं धार्मिक संस्थानों की ओर जाने लगे। जब महमूद गजनवी के आक्रमण हो रहे थे उसके आस-पास ही कश्मीर के मातृगुप्त, धाराधीश भोज, अनहिलवाड (गुजरात) के सोमेश्वर तथा चन्देल परमार्दिदेव संगीत शास्त्र के पुनर्स्थापन और विकास के प्रयास कर चुके थे और कर रहे थे। महमूद के आक्रमणों के धक्कों के कारण उनकी राजसभाओं के समान ही उनके द्वारा पोषित परम्परागत शास्त्रीय संगीत उत्तर भारत में छिन्न-भिन्न होने लगा था। दक्षिण के राज्यों में विशेषतः देवगिरि के यादवों के द्वारा इस परम्परागत भारतीय संगीत को पर्याप्त प्रश्रय मिला, भारतीय संगीत के उत्तरी और दक्षिणी, दो स्वरूप स्पष्ट होने लगे।

मध्यकाल के सर्वश्रेष्ठ संगीत-शास्त्र-प्रणेता शार्ङ्गदेव के पूर्वज कश्मीर से देवगिरि पहुँचे थे। देवगिरि के राजा सिंघण (१२१०-१२१७ ई०) के आश्रय में शार्ङ्गदेव ने संगीत-रत्नाकर की रचना की और परम्परागत संगीत की बिखरी हुई कड़ियों को जोड़ने

१. विलियम हण्टर, इण्डियन गजेटियर, इण्डिया, पृ० ९२३।
२. डा० ओझा, राजपूताने का इतिहास, भाग १, पृ० २९।

का प्रयास किया। कुछ समय पश्चात् ही यादवों का राज्य भी उखड़ गया और भारतीय संगीतज्ञों को विजयनगर राज्य में प्रश्रय मिला।

उत्तर भारत में सामरिक स्थिति कैसी भी रही हो, तथापि संगीत-साधकों का नितांत अभाव नहीं हुआ था। जिस समय दक्षिण में शार्ङ्गदेव संगीत-रत्नाकर लिख रहे थे, लगभग उसी समय उत्तर भारत, हरियाने के एक ब्राह्मण ने जैन धर्म स्वीकार कर भारतीय संगीत की साधना प्रारम्भ की। संगीतकार पार्श्वनाथ किसी राजा के आश्रित नहीं थे, उन्हें सभी समसामयिक राजसभाओं में सम्मान प्राप्त था। मातृगुप्त, भोज परमार, परमार्दि चन्देल और चालुक्य सोमेश्वर की परम्परा को उन्होंने अपने ग्रन्थ 'संगीत समयसार' में आगे बढ़ाया।

मध्यकाल के युगधर्म के अनुसार भारत के परम्परागत प्राचीन संगीत में जड़ता आने लगी थी। वह राजसभाओं, कुछ गायकों और संगीत शास्त्रियों तक सीमित रहने की प्रवृत्ति बहुत पहले से ही दिखाने लगा था। लोक जीवन ऐसे बँधे पानी से संतुष्ट नहीं होता, अतएव, इस परिनिष्ठित मार्गी संगीत को छोड़ लोक जीवन में 'देशी' संगीत प्रस्फुटित हो रहा था। ईसवी छठवीं-सातवीं शताब्दी में मतंग ने अपनी 'वृहद्देशी' में इसे स्पष्ट किया है—

अबला बाल गोपालैः क्षितिपालैर्निजेच्छया।
गीयते सानुरागेण स्वदेशे देशिरुच्यते॥

अबला, बाल, गोपाल, और, मौज में आकर, राजा, अपने-अपने देश में जो गाते हैं वह 'देशी' है। राजा को राजसभा में 'मार्गी' ही सुनना आवश्यक था। जिस प्रकार जन साधारण ने परिनिष्ठित काव्य भाषा संस्कृत और प्राकृत को छोड़ अपभ्रंश को अपनाया, उसी प्रकार मार्गी को छोड़ 'देशी संगीत के प्रति रुचि दिखाई। मार्गी संगीत लोक जीवन से दूर होता गया। राजसभाओं और मन्दिर-मठों में उसे प्रतिष्ठा का स्थान प्राप्त था, परंतु वे अब विचलित हो रहे थे।

ईरानी संगीत का भारत में प्रवेश

इस्लाम के कट्टर प्रतिबन्धों को चुनौती देने वाले सूफी संत ईसवी दसवीं शताब्दी में ही उभरने लगे थे। भारतीय अद्वैतवाद के सिद्धान्तों के अनुसार 'अनलहक' (अहंब्रह्मास्मि) कहने पर मनसूर हल्लाज को सन् ९१९ ई० में मृत्यु दण्ड दिया गया था। इस्लाम के आलिमों के अनुसार किसी भी अन्य धर्म को जीवित रहने का अधिकार नहीं है। इसके विपरीत प्रसिद्ध सूफी कवि हकीम सनाई (मृत्यु ११३१ ई०) ने अपनी प्रसिद्ध फारसी रचना हदीके में एक छन्द लिखा है जिसका आशय है'–' कुफ्र तथा इस्लाम, दोनों "उसी" के मार्ग पर अग्रसर हैं, और दोनों ही कहते हैं—वह एक है और कोई भी (उसके राज्य में) उसका

१. डा० रिजवी, हकायके-हिन्दी, पृ० ८।

साझी नही है ।" कट्टर आलिमों के अनुसार इस्लाम में संगीत का पूर्णतः निषेध है, इसके विपरीत सूफियों की गोष्ठियों में संगीत को प्रमुख स्थान प्राप्त हुआ ।

तुर्की विजय-वाहिनियों के साथ इस्लाम के ये आलिम और सूफी दोनों ही प्रचुर संस्था में भारत आए और बारहवीं शताब्दी के अन्त तक बंगाल तक फैल गए और आगे दक्षिण की ओर भी बढ़ गए । भारत में आकर यहाँ की परिस्थितियों में सूफियों को भी, 'सनाई' की धार्मिक उदारता को भुला देना पड़ा और इस्लाम के प्रबल प्रचारक का रूप धारण करना पड़ा । परन्तु यहाँ प्रसंग केवल उनके संगीत का है। सूफियों के भारत आने पर उनकी संगीत-सभाएँ (समाएं) भी देश के विभिन्न भागों में जमने लगीं । सैनिक सुल्तान तलवार के बल पर सामूहिक धर्म परिवर्तन कराते थे । उन्हें जन साधारण से सौहार्द्य-सम्बन्ध स्थापित करने की न आवश्यकता थी, न अधिक इच्छा । उन्हें धन, दास-दासियाँ और प्रदेश तलवार के माध्यम से ही प्राप्त हो रहे थे । परन्तु ये सूफी सन्त जनता के सम्पर्क में आते थे और अपने सुल्तानों के द्वारा विजित राज्य को स्थायित्व देने के लिए तथा दीन के प्रचार के लिए जन सम्पर्क भी करना चाहते थे । इस क्रम में भारतीय जन साधारण की भाषा के साथ-साथ वे उसके संगीत से भी अवगत होने लगे ।

शेख बहाउद्दीन जकरिया (मृत्यु सन् १२६७ ई०) ने मुल्तान में भारतीय संगीत का अच्छा ज्ञान प्राप्त किया था । वहाँ का देशी संगीत 'छन्द' कहलाता था । उसका नाम उन्होंने 'जहंद' रखा । भारतीय रागों का मिश्रण कर नवीन राग बनाने का कार्य भी उन्होंने प्रारंभ किया था । धनाश्री और मालश्री को मिलाकर शेख ने एक नये राग का निर्माण किया था और उसका नाम 'मुल्तानी धनाश्री' रखा । यह कहा जाता है कि शेख बहाउद्दीन जकरिया सूफियों के संगीत समारोहों के विरोधी थे, परन्तु भारतीय संगीत के प्रति वे भी आकर्षित हुए थे ।[1] शेख साहब के नाती मौलाना इल्मुद्दीन ने सूफियों की संगीत सभाओं की पुष्टि मुहम्मद तुगलुक के दरबार में की थी, यद्यपि वह आंशिक थी । उनके अनुसार, 'समा सुनना तब हलाल है जब वह हृदय से सुना जाए; जो वासना से सुनें उनके लिए वह हराम है '। परन्तु इस सूक्ष्म लक्ष्मण-रेखा का पालन न किया जा सका और सूफियों के संगीत समारोह निर्बाध होते रहे ।

शेख निजामुद्दीन चिश्ती : सूफी संगीत-सभाओं का स्वरूप

अलाउद्दीन खलजी के राज्यकाल में प्रसिद्ध सूफी शेख निजामुद्दीन चिश्ती द्वारा सूफियों की संगीत-सभाओं का बहुत अधिक प्रचार किया गया । बरनी ने तारीखे-फीरोज-शाही में लिखा है—"शेखुल-इस्लाम निजामुद्दीन ने आम बैअत (शिष्य बनने) के द्वार खोल दिए थे, वे पापियों को खिरका (दरवेशों के वस्त्र) तथा तौबा प्रदान करते थे । लोगों को

---

१. डा० रिजवी, तुगलुक कालीन भारत, भाग १, पृ० १५२, टिप्पणी १ ।

अपना चेला बना रहे थे। सभी विशेष तथा साधारण व्यक्ति, मालदार तथा दरिद्र, मलिक तथा फकीर, विद्वान तथा जाहिल, देहाती तथा शहरी, गाजी, मुजाहिद स्वतंन्त्र तथा दास तौबा करके धर्मनिष्ठ हो गए थे।... कोई ऐसा मुहल्ला न था जिसमें महीने में एक बार या बीसवें दिन धर्मनिष्ठ लोग एकत्रित न होते हों और सूफी लोग समा (संगीत-सभा) न करते हों, उस समय रोते तथा आँसू न बहाते हों।"[1]

आत्मा के परमात्मा से हुए वियोग से उत्पन्न विषाद का प्रत्यक्षीकरण सूफियों की इन संगीत-सभाओं में रोने और आँसू बहाने के रूप में प्रकट किया जाता था। सूफी समा की परिणति रोने और आँसू बहाने में होना आवश्यक थी। शेख गूरान (अबुल फतहखाँ) बहुत बड़ा संगीतज्ञ था। उसे बाबर ने ग्वालियर गढ़ का प्रशासक नियुक्त किया था। एक सूफी 'समा' का वर्णन करते हुए वाकआते-मुश्ताकी में लिखा है[2]—"एक दिन उसने (शेख गूरान ने) बहार के जश्न (वसन्तोत्सव) की गोष्ठी आयोजित की। उसमें उसने बहुत अधिक टीमटाम किया। सूफी लोग भी उपस्थित थे। उत्कृष्ट गायक तथा वादक भी उपस्थित थे। अत्यधिक प्रयत्न करने एवं गाने बजाने पर भी कोई भी न रोता था। यद्यपि वह बड़ा ही सुन्दर स्थान था और सूफी लोग उपस्थित थे किन्तु गाने का कोई प्रभाव न होता था। सभी गायक उसके दान-पुण्य के इच्छुक थे, किन्तु वे सब प्रयत्न करते करते थक गए। उसी समय शेख (गूरान) उठ खड़ा हुआ और गोष्ठी में बैठकर उसने गजल गाई। जैसे ही उसने गाना प्रारंभ किया लोगों ने रोना शुरू कर दिया और वे इतना रोए कि उसका वर्णन संभव नहीं। वह स्वयं ऐसे अवसरों पर बहुत रोता था, किसी सूफी को भी इस प्रकार रोते-चिल्लाते हुए नहीं सुना गया है।"[2]

सूफी संगीत की इस वीभत्स परिणति से भारतीय संगीत किसी प्रकार भी मेल नहीं खाता था। भारतीय संगीत पूर्णानन्द की प्राप्ति का साधन रहा है। गजल उसका माध्यम नहीं है।

अमीर खुसरो का संगीत-समन्वय

अमीर खुसरो अपने युग का सर्वाधिक प्रतिभासम्पन्न व्यक्तित्व था। वह जन्म से भारतीय था और भारत के सांस्कृतिक वैभव का उसे अभिमान भी था, परन्तु वह तुर्क अमीर था और तुर्क सुल्तानों का पदाधिकारी। जिन तुर्क सुल्तानों की सेवा में वह रहा उनके दरबारों में अनेक आलिम और सूफी फारस तथा अन्य पाश्चात्य देशों से आते थे। उसे उनके समक्ष भी अपनी श्रेष्ठता सिद्ध करना थी। उसने अनेक रचनाएँ की। उसने जहाँ ईरानी

---

१. डा० रिजवी, खलजी कालीन भारत, पृ० १०१-१०२।
२. डा० रिजवी, बाबर, पृ० ४४१-४२।

संगीत का शास्त्रीय अध्ययन किया वहाँ भारतीय संगीत का भी पूर्ण ज्ञान, शास्त्रीय और व्यावहारिक, प्राप्त किया। उस युग के विजित और विजेताओं की संस्कृतियों का अमीर खुसरो संधि-स्थल था।

नूहसिपेहर के तीसरे अध्याय में अमीर खुसरो ने भारतीय संगीत के विषय में अपने विचार प्रकट किए हैं। वह लिखता है, "भारतवर्ष के संगीत की समानता संसार के किसी भाग में नहीं हो सकती। यहाँ का संगीत अग्नि के समान है, जो हृदय तथा प्राण में अग्नि भड़का देता है। संसार के विभिन्न भागों से लोगों ने आकर यहाँ संगीत की शिक्षा ग्रहण करने का प्रयत्न किया, किन्तु वर्षों के प्रयास पर भी उन्हें यहाँ के किसी ताल-स्वर का ज्ञान न हो सका।.... यहाँ का संगीत केवल मनुष्यों को ही नहीं, पशुओं को भी उत्तेजित कर देता है। मृग संगीत से कृत्रिम निद्रा में ग्रस्त हो जाते हैं और बिना धनुष-बाण के शिकार हो जाते हैं। यदि कोई यह कहे कि अरब में ऊँट भी संगीत के सहारे से यात्रा करते हैं; तो इसका उत्तर मैं यह दूँगा कि ऊँटों को अपने मार्ग का ज्ञान होता है, किन्तु मृग को अपनी मृत्यु के समय तक किसी बात का ज्ञान नहीं होता।[1]

अमीर खुसरो ने भारतीय और ईरानी संगीत का समन्वय कर एक ऐसी संगीत-पद्धति को जन्म दिया जिसमें रस-निष्पत्ति भले ही न हो, रसाभास पूर्ण रूप से प्राप्त होता था और वह अत्यन्त चपल तथा हृदयग्राही थी। अपने भारतीय और ईरानी संगीत के ज्ञान के आधार पर उसने दोनों संगीत-पद्धतियों का समन्वय किया और अनेक नवीन रागों की सृष्टि की। उसने बारह राग चुने और उनके नये नाम बारह तालों के आधार पर रखे। ये नये राग भारतीय रागों के साथ ईरानी रागों को मिलाकर बनाए गए थे। फकीरुल्ला सैफखाँ ने मानकुतुहल के अपने अनुवाद में अमीर खुसरो के इन नवीन रागों का विस्तृत विवरण दिया है।[2] उसके अनुसार बरारी और मलारी के साथ हुसेनी राग मिलाकर उसने उसका नाम 'दिवाली' रखा। टोडी में पंजगाह मईर को मिलाकर 'मोवर' नाम रखा, पूर्वी का नाम बदल कर 'गनम' कर दिया, फारसी राग शहनाज को पटराग में मिलाकर 'जेल्फ' नाम रख दिया। इस प्रकार, जो राग अफगानिस्तान के कव्वाल गाते थे उन्हें भारतीय रागों में मिलाकर अमीर खुसरो ने एक नवीन सृष्टि की और अपना संगीत-सिद्धान्त अपनी पुस्तक 'किरानुस्सादैन' में प्रतिपादित किया।

अमीर खुसरो के श्रोता उसके सुल्तान, अमीर, तुर्क, सैनिक, सूफी और कभी-कभी आलिम भी होते थे। उनके लिए ये मिले-जुले नुस्खे बहुत अधिक आकर्षक सिद्ध हो रहे थे। परम्परागत रूढ़िबद्ध संगीत में पारंगत भारतीय संगीतज्ञों के लिए इस नवीन राजतंत्र में महत्व का स्थान नहीं रह गया था।

---

१. डा० रिजवी, खलजी कालीन भारत, पृ० १७९-८०।
२. द्विवेदी, मानसिंह और मानकुतुहल, पृ० ७५।

अमीर खुसरो ने संगीत के बोल भी नये लिखे, जो उसके नये श्रोताओं की रुचि के अनुरूप थे। उसने गजल को वहुत अधिक प्रचलित किया। सुल्तानी दरबारों में अमीर खुसरो की गजलें वहुत लोकप्रिय हुईं।

अमीर खुसरो की गजलों के उपयोग और लोकप्रियता का इतिहासकार बरनी ने रोचक वर्णन किया है —

"सुल्तान के गायकों में से मुहम्मद सना चंगी ढोल वजाता और फुतुहा ककाई की पुत्री एवं नुसरत खातून गाना गाती थी। उनके सुन्दर और मनोहर स्वर पर चिड़ियाँ हवा से नीचे उतर कर आती थीं। सुनने वाले होश-हवास खो देते, दिल वेकाबू हो जाता।[1] प्राण तथा हृदय टुकड़े-टुकड़े हो जाता। दुख्तर खासा, नुसरत बीवी, मेहर अफरोज इतनी सुन्दर कृत्रिम भाव वाली युवतियाँ थीं कि जिस ओर देखतीं या जो नाज व अन्दाज दिखातीं उस ओर लोग लट्टू हो जाते थे। वे सुल्तान की महफिल में नृत्य करतीं.......अमीर खुसरो जो कि सुल्तान की महफिल के मुसाहिबों का नेता था, प्रत्येक दिन इन रमणियों तथा युवतियों की सुन्दरता, मनोहर छवि, नाज व अन्दाज, कृत्रिम भाव और किशोरों के विषय में, जिनके कपोलों पर अभी तक रोएँ न उठे थे, और जो युवतियों के समान मनोहर थे, नयी-नयी गजलों की रचना करता। साकियों के मदिरापान कराते समय तथा युवतियों, रमणियों एवं किशोरों के नाज व अन्दाज एवं कृत्रिम भाव दिखाने के समय, अमीर खुसरो की गजलें पढ़ी जातीं।"

इसी प्रकार की महफिलों में गाए जाने के लिए अमीर खुसरो ने मुकरियों, पहेलियों आदि की रचना की थी। उसके सैनिक श्रोताओं में अब फारसी छन्दों में रस लेने की क्षमता कम हो चली थी, नौमुस्लिमों में तो वह क्षमता थी ही नहीं; अतएव अमीर खुसरो ने हरियाना-दिल्ली की बोली, हिन्दी में, इस गेय साहित्य की रचना की थी।

अमीर खुसरो के संगीत के क्षेत्र में किए गए आविष्कार के विषय में फकीरुल्ला ने लिखा है[2] —"पारस्तानीनामा में इस तरह के उसके गीतों के नाम आए हैं (१) कौल (२) तराना (३) ख्याल (४) नक्श (५) निगार (६) वशीत (७) तल्लाना तथा (८) सुहिल। अमीर खुसरो ने इस रागों को खूब चमकाया। गाते-गाते चुप हो जाना और एक

---

१. वरनी साहब इन महफिलों में सम्मिलित होकर स्वयं होश-हवास खो चुके थे। अपने विषय में वे लिखते हैं, "मैंने उनमें से कुछ के नाज, अन्दाज तथा कृत्रिम भाव देखे हैं। कुछ का गाना तथा नृत्य देखा है। मेरा जी चाहता है कि उनकी याद में जुन्नार (जनेऊ) बांध लूँ और ब्राह्मणों का टीका अपने दुष्ट माथे पर लगा कर तथा अपना मुँह काला करके सुन्दरता के वादशाहों और खूबसूरती के आकाश के सूर्यों की याद में गलियों में मारा-मारा फिरूँ। आज ६० वर्ष पश्चात् जबकि मैं उन्हें नहीं पाता तो जी चाहता है कि रोते-चिल्लाते वस्त्र फाड़, सिर व दाढ़ी के वाल नोचते हुए उनकी कब्र पर अपने प्राण त्याग दूँ।"

२. द्विवेदी, मानसिंह और मानकुतूहल, पृ० ९२, ९३।

बोल को बार-बार दुहराना, यह तर्ज अमीर खुसरो ने फारसी और हिन्दुस्तानी मिलाकर उत्पन्न की थी, और फलस्वरूप गीत अधिक आनन्ददायक हो गया।"

अमीर खुसरो के ये आविष्कार भारतीय संगीत के लिए महान चुनौती थे। यदि इस प्रवाह का प्रतिरोध न किया जाता तब निश्चय ही भारतीय संगीत का पूर्ण विलोपन हो जाता और भारत की सामरिक पराजय पूर्ण सांस्कृतिक पराजय में भी बदल जाती। अमीर खुसरो के समय में उत्तर भारत में यह ज्ञात होने लगा था कि अब गजल, कव्वाली और ख्याल ही भारतीय संगीत के आधार बनेंगे। उसी समय देवगिरि का प्रसिद्ध संगीताचार्य नायक गोपाल[1] कुरुक्षेत्र स्नान करने आया था। उसने अमीर खुसरो के संगीत की ख्याति सुनी और वह अपने संगीत-कौशल से उसे पराजित करने की आकांक्षा से दिल्ली पहुँचा। नायक गोपाल और अमीर खुसरो की संगीत प्रतियोगिता का विवरण फकीरुल्ला ने दिया है[2] —

"अमीर खुसरो ने सुल्तान अलाउद्दीन से कहा कि वर्तमान काल में गोपाल अद्वितीय गायक है और उसके १२०० शिष्य हैं जो सिंहासन को कहारों के स्थान पर उठाते हैं, और उसमें अपनी भलाई समझते हैं। आप मुझे तख्त के नीचे छिपा दें और गोपाल नायक को बुला लें और उस से कह दें कि अमीर खुसरो बीमार हैं, जब तक उसे आराम न हो, तुम्हारा गाना हुआ करे। गोपाल आया और गाना गाया। अमीर खुसरो, गोपाल से पहले आ गए और तख्त के नीचे छिप गए। छह दिन तक यही कार्यक्रम चलता रहा। अमीर खुसरो जी अब तक चुप थे, दरबार में आए। गोपाल नायक ने उनसे गाने के लिए कहा। अमीर खुसरो ने कहा कि मैं ईरान से अभी हिन्दुस्तान आया हूँ[3] और हिन्दुस्तान की गानविद्या का मनोरंजन करने आया हूँ। मैं आप जैसा आचार्य नहीं हूँ कि सिर पर कलमा बाँधूँ। पहले आप गाएँ उसके पीछे मुझे जो कुछ आता है, मैं सुना दूँगा। गोपाल ने गाना प्रारंभ किया। जो गीत और जो स्वर तथा जो आलाप गोपाल ने सुनाई, अमीर खुसरो ने कहा कि बहुत पहले से मैं इन्हें जानता हूँ। गोपाल ने कहा, 'अच्छा सुनाइए'। अमीर खुसरो ने हर हिन्दुस्तानी राग के मुकाबले में फारसी के राग सुनाए। गोपाल दंग रह गया। उसके बाद खुसरो ने कहा कि मैंने तो फारसी के लोक-विख्यात गाने सुनाए हैं। अब वे गाने सुनिए जिनकी मैंने स्वयं रचना की है। गोपाल और सारी सभा सुन कर

---

१. गोपाल नामक दो संगीताचार्य हुए हैं।

२. द्विवेदी, मानसिंह और मानकुतुहल, पृ० ९५।

३. अमीर खुसरो पटियाली में जाटिनी माता तथा तुर्क पिता से उत्पन्न हुआ था। वह अपने आप को ईरान से आया बतलाने लगा, इससे देवगिरि का गोपाल नायक वास्तव में चमत्कृत हुआ होगा। अमीर खुसरो का यह कथन अंगरेजी राज्य के उन काले साहबों का स्मरण दिलाता है जो अपनी सांस्कृतिक श्रेष्ठता प्रतिपादित करने के लिए प्रसंग या अप्रसंग में कहा करते थे, "व्हेन आइ वाज इन इंग्लैण्ड"।

प्रसन्न हुई। मैदान अमीर खुसरो के हाथ रहा। वास्तव में बात यह थी कि खुसरो गानविद्या में इतने निपुण थे कि एक बार सुन कर उसी से मिलते-जुलते फारसी के गीत बना देते थे और गा देते थे।"

गोपाल नायक अमीर खुसरो के गायन से भले ही दंग न रह गया हो, सुल्तान के दरबार के श्रोताओं की रुचि के अनुरूप वह गायन अवश्य रहा होगा। भारतीय संगीतज्ञों एवं संगीत-पोषकों के लिए यह समस्या अवश्य उत्पन्न हुई होगी कि संगीत के क्षेत्र में गजल, कव्वाली, ख्याल आदि का प्रतिरोध किस प्रकार किया जाए।

गोपाल नायक अलाउद्दीन खलजी को अपने संगीत से आकर्षित अवश्य कर सका था। प्रतियोगिता के पश्चात् गोपाल नायक दिल्ली में ही बस गया और संभवतः अमीर खुसरो ने उसे प्रभावित भी किया। नायक गोपाल दिल्ली में बस गया था इसका उल्लेख नारायणदास के छिताईचरित में है[1] (पंक्ति संख्या १६४० तथा १८५०)। नारायणदास ने गोपाल को 'नायक' तथा 'नट्टुवा' (नट्टुवन) लिखा है। देवगिरि का गोपाल दिल्ली में हिन्दी में पद लिखने लगा था और उन्हें अमीर खुसरो द्वारा आविष्कृत तालों में बांधने लगा था। उसका भीमपलासी का एक पद प्राप्त हुआ है जो अमीर खुसरो के उसूल फाख्ता (सूल) ताल में निबद्ध किया गया है[2] —

घकदलन रे प्रबल्ल नाद
सिंघनाद बल अपबल वक्कअर।
कुंडानधीर अडांन मिलवत
चपल चाप अचपल अक्कअर
गीत गावत नाइक गोपाल विद्यावर।
साहिनिसाहि अल्लावदीं तपै डिल्लीनरेस
जाकें वसुधा सुचित तू अत्तक्कधर।

गोपाल नायक अलाउद्दीन के राज्यकाल का भारत-प्रसिद्ध संगीतज्ञ था, इसमें संदेह नहीं है। कल्लिनाथ ने संगीत-रत्नाकर की टीका (सन् १४२५ ई०) में गोपाल नायक की प्रशंसा की है। परिस्थितियाँ ऐसी उत्पन्न हुईं कि गोपाल नायक को भी अपनी लोकप्रियता पर आँच आती दिखाई दी और वह भी अमीर खुसरो से प्रभावित हो गया।

अमीर खुसरो के पश्चात् का सुल्तानी दरबारों का संगीत

सूफियों की भारत की संगीत-सभाओं में प्रारंभ में गजल, कव्वाली, ख्याल आदि चलते रहे और फिर कालांतर में उनमें ध्रुपद और विष्णुपद के भारतीय गीत प्रतिष्ठित दिखाई देते हैं। मुस्लिम सुल्तानों ने ईरानी संगीत को प्रश्रय दिया तथा फिर अमीर खुसरो ने उनकी संगीत-सभाओं में ईरान-भारत का मिश्रित संगीत प्रतिष्ठित किया तथा आगे चल

---

१. द्विवेदी, छिताईचरित, पाठ भाग।
२. श्रीमती सुमित्रा आनन्दपालसिंह, ध्रुपदगायकों और ध्रुपदकारों के आश्रयदाता, संगीत, १९६४, पृ० १४।

कर ईरानी संगीत तिरोहित हो गया और भारतीय संगीत प्रतिष्ठित दिखाई देता है। यह अद्‌भुत परिवर्तन किस प्रकार संभव हो सका, इसके लिए अमीर खुसरो से मानसिंह तोमर के समय तक की विभिन्न राजसभाओं के संगीत के स्वरूप पर विचार कर लेना उचित होगा।

फीरोज तुगलुक-कालीन संगीत

फीरोज तुगलुक के समय में दिल्ली में अमीर खुसरो द्वारा प्रारंभ की गई ख्याल गायकी का प्रचार था। ग्वालियर के संगीतज्ञों ने इस गायकी में भी निपुणता प्राप्त की। फकीरुल्ला के अनुसार ख्याल दो पंक्ति का होता था। उस समय गायक बहुत थे, किसी जमाने में भी इतने गायक नहीं हुए। इन गाने वालों में अधिक संख्या ग्वालियर वालों की थी।[1]

सिकन्दर लोदी का संगीत प्रेम

मानसिंह का सामरिक प्रतिद्वन्द्वी सिकन्दर लोदी हिन्दुओं के और धर्म एवं धार्मिक संस्थानों के प्रति अत्यधिक असहिष्णु था। परन्तु जिस संगीत से वह अपना मनोरंजन करता था वह ईरानी संगीत न होकर भारतीय संगीत ही था। तारीखेशाही के लेखक अहमद यादगार ने सिकन्दर के विषय में लिखा है—"क्योंकि वह कलाकारों को अत्यधिक प्रोत्साहन प्रदान करता था, अतः वह संगीत का इतना बड़ा प्रेमी था कि उसके राज्यकाल में अद्वितीय संगीतज्ञ तथा गायक एकत्र हो गए थे। एक पहर रात्रि व्यतीत हो जाने के उपरान्त वह संगीत की सभा आयोजित करता और संगीत प्रारम्भ होता जिसके फलस्वरूप पक्षी हवा से उतर आते थे और शुक्रतारा आकाश पर लटका रह जाता था। उसने चार दासों को १५·० दीनार में क्रय किया था। उसमें एक चंग (डफ) बजाता, दूसरा कानून (५० तार की वीणा), तीसरा तम्बूरा और चौथा वीणा। उनके स्वर इतने हृदयग्राही होते थे कि उनके द्वारा मुर्दे जी उठते थे, और जीवित लोगों के प्राण क्षीण हो जाते थे। रूप तथा सज्जा में वे अद्वितीय थे। उनका मुख ईश्वर की कृपा का बहुत बड़ा प्रमाण था। कभी-कभी रूपवतियों के स्वर सभा को इतना मुग्ध कर देते थे कि मदिरा बोतलों में रखी रह जाती थी। इनके अतिरिक्त चार सरना (शहनाई) बजाने वाले थे। जब आधी रात्रि व्यतीत हो जाती तो वे सरना बजाने लगते। सर्वप्रथम कदबरा (केदारा, द्वितीय अजाना (अड़ाना), तृतीय हिसी (श्री ?), चतुर्थ रामकली। उसी पर वादन समाप्त हो जाता था।"

दासों और सेवकों की इस संगीत-सभा के अतिरिक्त सिकन्दर लोदी के पास कभी गोपाल नायक[2] भी रहा था। इस युग के सुल्तानों को भारतीय संगीत से प्रेम अवश्य था, परन्तु वे उसके विकास में कोई विशेष योगदान नहीं दे सके थे। हिन्दू नायकों से मुसलमान गायक और गायिकाओं को संगीत या नृत्य की शिक्षा दिलाना उस समय कुफ्र माना जाता था।

---

१. द्विवेदी, मानसिंह और मानकुतूहल, पृ० ९६।

२. यह गोपाल नायक देवगिरि के अलाउद्दीन खलजी-कालीन गोपाल नायक से भिन्न है।

फिर भी गोपाल नायक ने सिकन्दर को संगीत सुनाया अवश्य था, जैसा कि उसके एक पद से प्रकट है—

दिल्लीपति नरेन्द्र सिकन्दर साह,
जाकौं डर से धरनि पै तिलहिल्यायौ।
दल साज महिमा अपार अगाध जहाँ
गुनी जन विद्या तहां कीरति छायौ॥
नाद विद्या गावै सुनि आलम धावै,
दीन-दुनिया कै तुमहि अवतार आयौ।
कहत नायक गोपाल चिरंजीव रहौ पादसाह,
गहन बन तै आप मृग धायौ॥

परन्तु गोपाल को सिकन्दर अपने पास आश्रय न दे सका, उसे लौटना पड़ा मान की ग्वालियरी संगीत-मंडली में ही।

जौनपुर

जौनपुर में अमीर खुसरो द्वारा प्रवर्तित या परिवर्तित संगीत पद्धति प्रचलित थी, यद्यपि उस पर ग्वालियरी संगीत का प्रभाव बढ़ता ही गया था। सुल्तान हुसैनशाह शर्की कीर्तिसिंह तोमर से घनिष्ट मैत्री सम्बन्ध रखता था और समय-समय ग्वालियर आता भी रहता था। तथापि हुसैनशाह 'चुटकुला' के प्रचार के लिए प्रसिद्ध है। फीकरुल्ला ने मान-कुतूहल में लिखा है—

"जो कुछ जौनपुर में गाया जाता है उसे चुटकुला कहते हैं। इसमें दो पंक्तियाँ होती हैं। इसमें तुक होती है परन्तु काफिया नहीं होता, तथा 'वरन' उस स्थान को कहते हैं जहाँ पर कि चोट पूरी पड़े। यदि दो पंक्तियाँ पूरी नहीं हों तो तीसरी पंक्ति जोड़ देते हैं। इसमें प्रेम की चर्चा होती है, वियोग का क्रंदन होता है। विनय होती है, वीर रस होता है। इसमें रण का चुटकुला होता है। चुटकुले की सात तालें स्थिर हैं। इसे झूमरा ताल पर बाँधना चाहिए। यह सुल्तान हुसैन शर्की ने निकाला जो जौनपुर का बादशाह था।"

मालवा के खलजी

मालवा के सुल्तान संगीत-प्रेमी थे, परन्तु उनका संगीत विशुद्ध अन्तःपुर में व्यक्तिगत मनोरंजन का साधन था। गयासुद्दीन खलजी ने संगीतज्ञों को अपनी सभा में एकत्रित किया था और अपने अंतःपुर को कनीजों तथा राजाओं और जमीदारों की पुत्रियों से परिपूर्ण कर लिया था। इन रूपवतियों में से प्रत्येक को किसी-न-किसी कला की शिक्षा दी जाती थी, किसी को नृत्य, किसी को पातुरबाजी, किसी को गाना, किसी को वादन सिखाया जाता।[1]

१. डा० रिजवी, तबकाते-अकबरी, उत्तर तैमूर कालीन भारत, भाग २, पृ० ९३।

कालपी

तत्कालीन मुस्लिम सुल्तानों की दृष्टि में अपने मनोरंजन के लिए संगीत का उपयोग कुफ्र नहीं रह गया था, परन्तु यदि हिन्दू नायकों से मुसलमान स्त्रियों को नृत्य-गीत की शिक्षा दिलाई जाए तब वह अपराध अवश्य माना जाता था; विशेषतः यदि वह कृत्य अपेक्षाकृत दुर्बल शासक द्वारा किया जाए। कालपी के सुल्तान नसीरखाँ के विरुद्ध जौनपुर के सुल्तान को यह शिकायत थी कि वह "शरीअत के सन्मार्ग से विचलित हो गया है और ईल्हाद तथा जिन्दिके के मार्ग पर अग्रसर है, उसने रोजा-नमाज त्याग कर मुसलमान स्त्रियों को नृत्य की शिक्षा के हेतु हिन्दू नायकों को दे दिया है।"[1]

परन्तु यह केवल कालपी को हड़पने का बहाना था। नसीरखाँ ने तोबा कर ली और इस विपत्ति से अपना पीछा छुड़ाया।

कड़ा मानिकपुर

जौनपुर के सुल्तान इबराहीम शर्की (सन् १४००-१४४० ई०) के समय कड़ा का अधिपति मलिक सुल्तान था। उसका पुत्र बहादुर मलिक संगीत एवं नाट्य का प्रेमी था और भारतीय संगीत शास्त्र के अध्ययन में रुचि रखता था। उसने उस समय उपलब्ध समस्त संगीत ग्रन्थ एकत्रित किए। उसने अपने समय के अनेक प्रसिद्ध संगीत-शास्त्रियों को बुलाया और पहले के संगीत ग्रन्थों के आधार पर सन् १४२८ ई० में एक नवीन ग्रन्थ 'संगीत-शिरोमणि' की रचना कराई।

कश्मीर

इसी समय कश्मीर में सुलतान जैनुल-आबेदीन हुआ। वह संगीत प्रेमी था और उसके दरबार में हिन्दू तथा मुसलमान संगीतज्ञों को समादर प्राप्त था। उसके संगीत के प्रति रुचि को देखते हुए ग्वालियर के तोमर राजा डूंगरेन्द्रसिंह ने उसे दो-तीन संगीत ग्रन्थ भेंट में भेजे थे।[2]

मेवाड़

डूंगरेन्द्रसिंह तोमर के समकालीन राणा कुम्भा (सन् १४३३-१४६८ ई०) की राज-सभा में संगीत के दो ग्रन्थ 'संगीत राज' तथा 'संगीत मीमांसा' लिखे गए। 'संगीत राज' सोलह सौ श्लोकों का वृहत् ग्रन्थ है। राणा कुम्भा ने नृत्य पर 'नृत्यरत्नकोश' की भी रचना की थी। परन्तु ज्ञात यह होता है कि मेवाड़ाधिपति ने केवल ग्रन्थों की ही रचना कराई। उनके समय में कोई प्रसिद्ध नायक, संगीत शास्त्री हुआ हो, ऐसा उल्लेख नहीं मिलता।

तोमर और संगीत

भारत का संगीत राजाओं या राजसभाओं की देन नहीं है। वह लोककला है जिसे

---

१. डा० रिजवी, तबकाते-अकबरी, उत्तर तैमूर कालीन भारत, भाग २, पृ० ७६।

२. डा० रिजवी, तबकाते अकबरी, उत्तर तैमूर कालीन भारत भाग २, पृ० ५१९।

संतों और गायकों ने नादब्रह्म की आराधना के लिए विकसित किया था। उसके रंजक स्वरूप के कारण राजसभाओं में भी उसकी प्रतिष्ठा हुई और कुछ राजा भी संगीत प्रेमी तथा संगीतज्ञ हुए हैं। कामसूत्र के भाष्यकार यशोधर के अनुसार वीणावादिनी सरस्वती न केवल विद्या की देवता है वरन् कला की भी अधिष्ठात्री है। गीत, वाद्य और नृत्य के देवता देवाधिदेव महादेव, पार्वती और गणेश राजाओं की कल्पना न होकर लोक मस्तिष्क की कल्पना हैं। लोक मानस में स्थित अपने सुदृढ़ मूल के कारण ही जब भारत सामरिक रूप से इस्लाम की वाहिनियों से पराजित हुआ, भारतीय संगीत ने इन समर-विजेताओं को भी संगीत के क्षेत्र में विजित कर लिया। यद्यपि भारतीय संगीत पर ईरान की संगीत पद्धति का आक्रमण हुआ, तथापि भारत के संगीतज्ञों ने उसका पुनरुत्थान कर तथा उसे परिस्थितियों के अनुसार बदल कर उसकी श्रेष्ठता को पुनः स्थापित किया और कालान्तर में वह हिन्दू और मुसलमान, दोनों के लिए ग्राह्य हो गया। भारतीय संगीतज्ञों की वाग्देवी सरस्वती जितनी हिन्दू संगीतज्ञों की आराध्या रही, उतनी ही वह मुस्लिम संगीतज्ञों के लिए भी वन्दनीया हो गई।

तोमरों ने और उनके प्रदेश हरियाणा तथा ग्वालियर ने इस सांस्कृतिक क्षेत्र में जो कुछ योगदान दिया है उसके मूल्यांकन के लिए ब्रह्मा के नाट्यवेद, महादेव शंकर, पार्वती अथवा नन्दी से संगीत शास्त्र की उत्पत्ति के विवेचन की आवश्यकता नहीं है। उसके लिए मदनपाल तोमर से प्रारम्भ करना पर्याप्त है।

मदनपाल

'दिल्ली के सम्राट्' मदनपाल ने 'आनन्द संजीवन' नामक संगीत-ग्रन्थ की रचना की थी।[1] राणा कुम्भा ने "नृत्यरत्नकोश' में इनका उल्लेख किया है। कड़ा के मलिक सुल्तान ने जिस 'संगीतशिरोमणि' की रचना कराई थी, उसमें भी मदनपाल के उक्त ग्रन्थ का उल्लेख है।[2]

वीरसिंहदेवकालीन संगीत साधना

वीरसिंहदेव का व्यक्तित्व विशिष्टताओं से युक्त था, उनकी प्रतिभा बहुमुखी थी। उनका समस्त जीवन सुल्तानों से संघर्ष करते हुए बीता। साथ ही वे स्वयं बहुत बड़े विद्वान भी थे। जब उन्होंने गोपाचल गढ़ पर अधिकार किया उस समय ही ग्वालियर की संगीत-परम्परा समृद्ध थी, यद्यपि उस पर अमीर खुसरो द्वारा प्रवर्तित ईरानी और भारतीय संगीत पद्धतियों के सम्मिलन का प्रभाव प्रत्यक्ष होने लगा था।

दक्षिण के कुछ विद्वान भी वीरसिंहदेव के कुछ समय पूर्व से ही ग्वालियर आने लगे थे। महाकवि रुद्राचार्य के शिष्य देवेन्द्र भट्ट ग्वालियर में निवास करने लगे थे। और उन्होंने

१. भरत का संगीत सिद्धान्त, डॉ० कैलासचन्द्र देव बृहस्पति, पृ० ३१०।
२. दिल्ली के तोमर, परिच्छेद २५ देखें।

सन् १३५० ई० में 'संगीत मुक्तावली' नामक ग्रन्थ की रचना की।[1] इस ग्रन्थ में नृत्य प्रक्रिया पर भी विचार किया गया है और उसकी आन्ध्र, महाराष्ट्र तथा कर्णाटकी शैलियाँ भी दी गई हैं। इस प्रकार ग्वालियर गढ़ पर तोमर-राज्य प्रारम्भ होने के पूर्व ही इस क्षेत्र में उत्तरी और दक्षिणी संगीत का संगम होने लगा था।

संगीत दर्पण

वीरसिंहदेव धर्मशास्त्र, ज्योतिष और वैद्यक के प्रकाण्ड पण्डित थे, यह उनकी रचनाओं से प्रकट है। उन्होंने संगीत को भी प्रश्रय दिया। उनके आश्रित संगीताचार्य दामोदर ने 'संगीत दर्पण' में राग-रागिनियों के मूर्तरूपों की प्रतिष्ठा की जो आगे चलकर रागमाला चित्रों के आधार बने। रागिनियों की नायक-नायिकाओं के रूप में उपयुक्त रसों के अनुरूप कल्पना, कला के क्षेत्र में बहुत बड़ा योगदान है। वास्तव में दामोदर पण्डित का 'संगीत दर्पण' लिखने का प्रमुख उद्देश्य राग-रागिनियों के ये ध्यान प्रस्तुत करना ही था। उसके ग्रन्थ का 'रागाध्याय' ही महत्वपूर्ण है, स्वराध्याय तो केवल मात्र संगीत रत्नाकर के अनुकरण में लिखा गया है।

डूंगरेन्द्रसिंह कालीन संगीत-साधना

वीरमदेव तोमर के समय में रम्भामंजरी नाटिका लिखी गई थी। संगीत नट्य-मंच का सहयोगी अवश्य है, परन्तु रम्भामंजरी में संगीत का विवेचन नहीं है। हम्मीरमहाकाव्य में भी नृत्य और संगीत के समारोह अंकित किए गए हैं। तथापि, इन रचनाओं के आधार पर वीरमदेव के समय की संगीत-साधना पर कोई प्रकाश नहीं पड़ता। प्राप्त जानकारी के आधार पर डूंगरेन्द्रसिंह को ही ग्वालियरी संगीत की समृद्धि का जन्मदाता माना जा सकता है।

संगीत चूड़ामणि

डूंगरेन्द्रसिंह ने कश्मीर के सुल्तान जैनुल-आबेदीन को दो-तीन संगीत ग्रन्थ भेंट में भेजे थे, ऐसा उल्लेख तबकाते-अकबरी में है। श्रीवर पंडित ने अपनी जैन-राजतरंगिणी में दो संगीत ग्रन्थों का उल्लेख किया है, 'संगीत शिरोमणि' तथा 'संगीत चूड़ामणि'।[2] 'संगीत शिरोमणि' वह ग्रन्थ ज्ञात होता है जो सन् १४२९ ई० में कड़ा मानिकपुर के मलिक सुल्तान ने तैयार कराया था। संभव है, उस ग्रन्थ को लिखवाने में डूंगरेन्द्रसिंह की राजसभा के संगीताचार्यों का भी योग हो। श्रीवर के अनुसार दूसरे ग्रन्थ 'संगीत चूड़ामणि' में गीत, ताल, कलावाद्य और नाट्य के लक्षणों का विवेचन किया गया था। संगीत चूड़ामणि ग्रन्थ स्वयं डूंगरेन्द्रसिंह ने लिखा था अथवा किसी अन्य लेखक के ग्रन्थ को अपनी संगीत साधना

---

१. भरत का संगीत सिद्धान्त, डा० कैलासचन्द्रदेव बृहस्पति, पृ० ३११।
२. पीछे पृ० ८६ देखें।

के लिए आधार बनाया था, यह विषय विशेष खोजबीन की अपेक्षा रखता है। गायकवाड़ ओरिएण्टल सीरिज में श्री दत्तात्रय काशीनाथ वेलणकर द्वारा संपादित संगीत चूड़ामणि उसकी एकमात्र प्राप्त प्रति के आधार पर प्रकाशित हुआ है। इस ग्रन्थ में गीत, ताल तथा कलावाद्यों का वर्णन है, तथापि उसकी प्राप्त प्रति में नाट्य लक्षण नहीं हैं। इस ग्रन्थ की प्राप्त पाण्डुलिपि मलयालम लिपि में मिली है और उस ग्रन्थ की संस्कृत भाषा पर मलयालम भाषा का भाव है, ऐसा श्री वेलणकर का अभिमत है।[1] इस ग्रन्थ में रचनाकार के उल्लेखयुक्त श्लोक निम्न रूप में प्राप्त हुआ है—

श्रुतिस्वरग्राम समग्र रागवर्णक्रमास्थानघनाभिरामम्।
संगीत चूड़ामणिमात्म राज्य कल्पं विधते कवि चक्रवर्ती॥

यह 'कवि चक्रवर्ती' डूंगरेन्द्रसिंह भी हो सकते हैं तथा अन्य कोई नरेश भी। एक अन्य स्थान पर संगीत चूड़ामणि को 'राजा जगदैकमल्ल' कृत भी कहा गया है। कुछ विद्वानों ने 'जगदैकमल्ल' व्यक्तिनाम मानकर उसे चालुक्य राजा प्रताप चक्रवर्ती (११३४-११४५ ई०) से अभिन्न माना है। यह स्मरणीय है कि गोपाचल के कच्छपघात राजाओं ने 'त्रैलोक्यमल्ल' तथा 'भुवनैकमल्ल' जैसे विरुद भी ग्रहण किए थे। संभव है, यह 'जगदैकमल्ल' डूंगरेन्द्रसिंह का ही विरुद हो अथवा रचनाकार विषयक श्लोक ही प्रक्षिप्त हो।[2] परन्तु इसमें कठिनाई यह है कि संगीत चूड़ामणि के उद्धरण पार्श्वनाथ के 'संगीतसमयसार' में भी दिए गए हैं जिसके विषय में यह मान्यता है कि वह तेरहवीं शताब्दी की रचना है। श्री वेलणकर के समक्ष श्रीवर पण्डित की राजतरंगिणी का उल्लेख नहीं था, इस कारण उनका निष्कर्ष अन्तिम नहीं माना जा सकता। जो भी हो, अभी तो यही कहा जा सकता है कि डूंगरेन्द्रसिंह ने या तो स्वयं ही संगीत चूड़ामणि नामक ग्रन्थ की रचना की थी अथवा उसे अपनी संगीत साधना का आधार बनाया था।

विष्णुपद

डूंगरेन्द्रसिंह कालीन ग्वालियर की संगीत-साधना का वास्तविक महत्व संगीत के विविध अंगों के शास्त्रीय पुनर्विवेचन में न होकर उसे अधिक लोकप्रिय बनाने एवं भारतीय संस्कृति के अनुरूप ढालने में है। डूंगरेन्द्रसिंह और उनकी राजसभा के संगीतज्ञों ने अमीर खुसरो द्वारा प्रचारित गजलों, ख्यालों, मुकरियों आदि से उत्पन्न होने वाले परिणामों को

---

१. ग्वालियर में लिखा गया ग्रन्थ मलयालम लिपि में मिलना कोई आश्चर्य की बात नहीं है। कल्याणमल्ल तोमर विरचित 'सुलैमच्चरितम्' की एकमात्र प्रति भी मलयालम अक्षरों में लिखी हुई दक्षिण में प्राप्त हुई हैं।

२. इस प्रकार का क्षेपक कल्याणमल्ल तोमर द्वारा विरचित 'अनंगरंग' में भी प्राप्त हुआ है। इन श्लोकों में अनंगरंग के रचयिता कल्याणमल्ल के पिता का नाम 'गजमल्ल' तथा प्रपिता का नाम 'त्रिलोकचन्द्र' लिखा गया है, जबकि यह असंदिग्ध है कि अनंगरंग डूंगरेन्द्रसिंह के पौत्र तथा कीर्तिसिंह के पुत्र कल्याणमल्ल की रचना है।

समझा और उनके निराकरण के प्रयास किए। परम्परागत भारतीय मार्गी संगीत के बोल संस्कृत के होते थे। जन साधारण में अब संस्कृत नहीं समझी जाती थी, उसका प्रयोग राजसभाओं के प्रशस्तिकारों तथा विद्वानों तक सीमित रह गया था। संस्कृत के गीतों को आधार बना कर गाया गया राग सर्वसाधारण का मनोरंजन नहीं कर सकता था। भारतीय संगीत की इस कमी को पूरा करने के लिए डूंगरेन्द्रसिंह ने लोकभाषा हिन्दी में विष्णुपदों की रचना की और उन्हें भारतीय राग-रागिनियों के स्वरों में बैठाया। कृष्ण-भक्ति से ओत-प्रोत ये पद लोक-मानस को आनन्द से परिपूर्ण करने में सफल हुए होंगे, इसमें संदेह नहीं। डूंगरेन्द्रसिंह ने इन गीतों का एक संग्रह कश्मीर के सुलतान जैनुल-आबेदीन के पास भेजा था, परन्तु वह अब अनुपलब्ध है।

डूंगरेन्द्रसिंह के राजकवि विष्णुदास जितने बड़े साहित्यकार थे, उतने ही संगीत के मर्म को समझने वाले गायनाचार्य थे। उनके महाभारत (पांडव चरितु) में किये गये संगीत के विवेचन से यह स्पष्ट है[1]—

जानों राग कंठ छत्रीसा, मूरछना जानों इकतीसा।
तीन ग्राम पद चार्यौं जानों, जाति सहचरी ध्रुवा बखानों॥
बिधि पंचौ गुन दस कौ भाऊ, जानौं सातौ सुरन प्रभाऊ।
गमक चारि अरु पंचौं ताला, तानें उनंचास भोवाला॥
अलति चारि अरु आठौ बर्गा, जिती कला जानहिं गंधर्वा।
कला बहत्तरि रंग अनेका, नाद जोति तिन्हैं एकीएका॥
एक सिद्धि तिन्हैं एकै ध्यानू, सोरह रचना राखों मानू।
चौरासी हस्तक गुन पाऊं, अस बाजे छत्तीस बजाऊं॥
मोपह उपजहि पांचौ सादा, तंतु बितंतु और सिखनादा।
बाजै गीतु होइ जौ रंगू, भांवरि भवत न सूझै अंगू।

विष्णुपद गायन-शैली

डूंगरेन्द्रसिंह का नाम भारतीय संगीत के इतिहास में नहीं लिया जाता, यह विडम्बना है। विष्णुपद गायन-शैली के इस प्रवर्तक को भारतीय संगीत के इतिहास में उचित स्थान मिलना चाहिए। संगीत के इतिहासकार को केवल मानसिंह और उसके नायकों का स्मरण रहा, वे उनकी पुष्ट पृष्ठभूमि के निर्माताओं को भूल गए। मानसिंह के समय में डूंगरेन्द्र-सिंह द्वारा प्रवर्तित विष्णुपद गायन की परम्परा निरन्तर चलती रही और जब ग्वालियरी संगीत देश के विभिन्न भागों में फैला तब स्वामी हरिदास द्वारा इस विष्णुपद गायन-शैली को मथुरा-वृन्दावन के मन्दिरों में प्रतिष्ठित किया गया। फकीरुल्ला सैफखाँ ने लिखा है— "मथुरा में एक राग गाया जाता है जिसे विष्णुपद कहते हैं। उसमें चार बोल से लेकर आठ बोल तक होते हैं। इसमें कृष्ण की स्तुति होती है और पखावज बजाई जाती है।"

१. द्विवेदी, छिताइ-चरित, पाठ भाग, पृ० ११०।

इस शैली के प्रवर्तक थे डूंगरेन्द्रसिंह के गायक, एवं उसको अत्यन्त शालीन और समृद्ध स्वरूप दिया स्वामी हरिदास ने।

मानसिंह और उसके नायकों ने डूंगरेन्द्रसिंह और उसकी संगीत सभा के इस महान योगदान को श्रद्धापूर्वक स्वीकार किया था। मानसिंह के समय में शृंगार का रंग कुछ गहरा हो गया था, तथापि वे इस शालीन विष्णुपद गायन-पद्धति को भी अपनाए रहे। बैजू, सूरदास और हरिदास ने अनेक विष्णुपदों की रचना की। मानसिंह ने जिन तीन गीत संग्रहों का संकलन कराया था उनमें एक विष्णुपदों का भी था। जब ध्रुपद की चार वाणियों की प्रतिष्ठा की गई तब डूंगरेन्द्रसिंह का उपकार मानते हुए, उनमें से एक का नाम 'डूंगरवानी' रखा गया। यही 'डूंगरवानी' संगीत के पदों में 'डागुरवानी' बन गई जो गुवरहार (गोपहारी=ग्वारियरी=ग्वालियरी) की मूल वानी की 'दीवान' मानी गई। तानसेन ने लिखा है—

राजा गुबरहार, फौजदार खंडार, दीवान डागुर, बकसी नौहार।

इस डागुरवानी को अपने संगीत का आधार बनाकर आगे हरिदास 'डागुर' हुए और वह परम्परा अब तक चल रही है।

कल्याणमल्ल

डूंगरेन्द्रसिंह की यह संगीत-परम्परा कीर्तिसिंह के समय भी अक्षुण्ण रूप से चली। कल्याणमल्ल 'भूपमुनि' संगीत के पोषक अवश्य ही रहे होंगे क्योंकि उनके और उनके मित्र अहमद नृपति के पुत्र लादखाँ लोदी के विनोद के लिए कामशास्त्र के साथ संगीत और नृत्य को परमावश्यक माना गया होगा। तथापि, कल्याणमल्ल ने भारतीय संगीत के विकास में कोई योगदान दिया हो, ऐसा ज्ञात नहीं हुआ है। अयोध्या का अमीर लादखाँ अपने साथ गजलों और चुटकुलों के गायक भी लाया होगा, यह अवश्य कहा जा सकता है।

मानसिंह कालीन संगीत-साधना

मानसिंह तोमर ने सन् १४८६ से १५१६ ई० तक ३० वर्ष राज्य किया। उसे वीरसिंह देव से कल्याणमल्ल के समय तक अर्जित ग्वालियर के तोमरों की अपार सम्पदा दाय में प्राप्त हुई थी। उसका यौवन कल्याणमल्ल के दरबार के विलासपूर्ण वातावरण में बीता था। उसके राज्यारोहण के पूर्व ८-१० वर्षों में पड़ौसी सुल्तानों से ग्वालियर के कोई विग्रह भी नहीं हुए थे। बहलोल लोदी यद्यपि परम क्रूर था तथापि वह शिथिल हो चला था। ऐसे समय और इन परिस्थितियों में राजा मान ने राजतंत्र सँभाला। उन्हें लगभग २० वर्ष का शान्तिपूर्ण समय मिल गया क्योंकि सिकन्दर लोदी से उनकी टक्करें सन् १५०५ ई० से प्रारंभ हुई थीं।

मानसिंह बचपन से ही आश्चर्यजनक प्रतिभा के धनी थे और राज्य प्राप्त होने पर वे अपार ऐश्वर्य के स्वामी हो गए। गंगोलाताल की प्रशस्ति के अनुसार, वे अपने आपको

दूसरा कृष्ण ही मानते थे;[1] गोपाचल उनका गोवर्धन था, यवनों की घनघोर घटा से दुखित पृथ्वी की रक्षा वे इसी गोवर्धन से करते थे।[2] इस प्रशस्ति को ध्यान में रखते हुए यदि मानसिहकालीन नायकों एवं गायकों के पदों को देखा जाए तब बहुत सी गुत्थियाँ सुलझ जाती हैं। केवल तानसेन के एक पद में 'मानसिंह' की अभ्यर्थना उसके नाम से की गई है; अन्यथा बैजू, सूरदास आदि किसी के पदों में मानसिंह का नामोल्लेख नहीं है। कारण स्पष्ट हो जाता है, यदि यह ध्यान में रखा जाए कि जहाँ कृष्ण का उल्लेख हो वह मानसिंह माना जाता था और गोवर्धन का उल्लेख समझा जाता था गोपाचल का उल्लेख। दुर्भाग्य से अभी तक बक्शू का पद-संग्रह प्रकाशित नहीं हो सका है, अतएव उसके पदों के विषय में कोई कथन किया जाना संभव नहीं है। अपने आपको भूप-मुनि और 'राजर्षि' कहने वाले कल्याणमल्ल के इस उत्तराधिकारी मान ने 'अपर-कृष्ण' के रूप में अपनी संगीत-सभा संजोई थी।

मानकुतूहल की रचना

विभिन्न राग-रागिनियों में गाये जाने वाले गीतों के बोल हिन्दी में लिखे जाने के महत्व को डूंगरेन्द्रसिंह स्थापित कर चुके थे। परन्तु संगीत शास्त्र के विवेचन के लिए वे संस्कृत ग्रन्थों को ही आधार मानते रहे। मेवाड़ के राणा कुम्भा भी संस्कृत भाषा को ही शास्त्रीय ग्रन्थों के विवेचन का माध्यम बना गए थे। दक्षिण के भी समस्त शास्त्रीय ग्रन्थ संस्कृत में ही थे। यहाँ तक कि कड़ा मानिकपुर के बहादुर मलिक ने भी 'संगीत शिरोमणि' संस्कृत में ही लिखवाया। भारत के शास्त्रीय संगीत के तत्कालीन साधक को यह वास्तविक कठिनाई थी। संस्कृत भाषा का ज्ञान कम हो चला था। वास्तव में मानसिंह की दूरदर्शिता का ही परिणाम था कि उसने शास्त्रीय संगीत का विवेचन हिन्दी में कराया और मानकुतूहल की रचना हिन्दी में हुई। दुर्भाग्य से मूल मानकुतूहल अभी तक पूरा प्राप्त नहीं हुआ है; अतएव, उसकी रचना के विषय में उसके फारसी अनुवादक या छायानुवादक फकीरुल्ला ने ने जो कुछ लिखा है, उसी से संतोष करना होगा। फकीरुल्ला ने लिखा है[3]—

"ग्वालियर में जब अनेक उच्चकोटि के गायक एकत्रित हो गए तब राजा मानसिंह के हृदय में यह बात उत्पन्न हुई कि ऐसे उच्च कोटि के गायक कठिनाई से बहुत समय पश्चात् एकत्रित होते हैं, इसलिए यह उचित है कि रागों की संख्या तथा प्रसार विस्तार पूर्वक तथा व्याख्या सहित लिपिबद्ध कर लेना चाहिए ताकि संगीत के विद्यार्थियों को कठिनाई न हो। इस विचार से राग, रागिनी और उनके पुत्रों का विस्तारपूर्वक वर्णन करके मानकुतूहल पुस्तक की रचना राजा मानसिंह के नाम से की गई।"

---

१. कृष्णाश्रितस्तु ननु तोमर मानसिंहः—गंगोलाताल प्रशस्ति।
२. गोवर्धनं गिरिवरं करशाख एव
   धृत्वागवामुपरि वारिधरार्दितानां—गंगोलाताल प्रशस्ति।
३. द्विवेदी, मानसिंह और मानकुतूहल, पृ० ५८।

मार्गी और ध्रुपद

मानसिंह स्वयं संगीत के मर्मज्ञ थे। फकीरुल्ला के अनुसार—"मानसिंह का संगीत शास्त्र विषयक ज्ञान तथा कीर्ति अनुपम है। कहते हैं कि सबसे पहले ध्रुपद का आविष्कार राजा मानसिंह ने किया था। उसके समय में अनुपम गायक थे। राजा स्वयं उनसे संगीत विद्या के विषय में वाद-विवाद करता था।"

ध्रुपद गायन-शैली का विवेचन फकीरुल्ला ने विस्तार से किया है। उसके मत में इस शैली का आविष्कार मार्गी संगीत का स्थान ग्रहण करने के लिए किया गया था। फकीरुल्ला के शब्दों में ही इन दोनों संगीत-शैलियों का वर्णन उपयोगी होगा—

"मार्गी उस गीत को कहते हैं जिन्हें देवता गाते हैं। इसका वर्णन वाणी से होना कठिन है। यह उत्तरी भारत में अत्यन्त अल्प है परन्तु दक्षिणी भारत में जहाँ देशी राग और गीत प्रचलित नहीं है, वहाँ जो कुछ गाया जाता होगा वह मार्गी के ढंग पर गाया जाता होगा। कुछ विश्वसनीय लोग दक्षिण से आकर मुझसे मिले। उन्होंने मुझसे कहा कि दक्षिण में भी मार्गी गाने वाले नहीं रहे, जो कुछ हैं वे राग और देशी गीत ही गाने लगे हैं।"[1]

"(मार्गी में) चार पंक्तिवाला पद देवताओं की कीर्ति में बनाते हैं। नायकों ने स्थिर कर दिया कि अमुक पद का अमुक देवता है। वहाँ गीतों में ताता-तिल्ली भी गाया जाता है। गीतों में स्वर होते हैं, किन्तु वे अर्थरहित होते हैं। इनमें देवताओं की प्रार्थना की जाती है अथवा राजाओं का यशोगान किया जाता है अथवा किसी पशु की बोली की नकल होती है। इसमें नवरस प्रयोग में लिए जाते हैं। तात्पर्य यही होता है कि सुनने वालों का मनोरंजन किया जाए।"

"मार्गी भारत में तब तक प्रचलित रहा जब तक कि ध्रुपद का जन्म नहीं हुआ था। ध्रुपद देशी भाषा में देशवारी गीत था तथा मार्गी संस्कृत में था। इसलिए मार्गी पीछे हट गया और ध्रुपद आगे बढ़ गया। दूसरा कारण यह था कि मार्गी एक शुद्ध राग था और ध्रुपद में सब रागों से थोड़ा-थोड़ा लिया गया।"

वही कला-परम्परा जीवित तथा प्रवहमान रह सकती है जो अपने आपको युग की आवश्यकताओं और परिस्थितियों के अनुरूप ढाल सके। परम्परागत मार्गी संगीत संस्कृत भाषा के छन्दों पर आधारित था और उसमें परिवर्तित लोकरुचि के अनुरूप बदलने की क्षमता नहीं रह गई थी। मानसिंह-कालीन संगीत-शास्त्रियों ने भारतीय संगीत के मौलिक सिद्धान्तों का परित्याग नहीं किया तथापि उन्होंने अपने समय की लोकरुचि के अनुसार उसे बदल दिया, उसके गीत लोकभाषा में लिखे और अनेक रागों का मिश्रण कर उसकी रंजकता

---

१. फकीरुल्ला को ठीक ही सूचना मिली थी। उसके समय से बहुत पहले इब्राहीम आदिलशाह बीजापुर में ध्रुपद गायन शैली की प्रतिष्ठा कर चुके थे जिसके गीत हिन्दी (दक्षिणी हिन्दी) के होते थे।

में अभिवृद्धि कर दी। उसके श्रोता को अब गजल, चुटकुले, ख्याल तथा ईरानी संगीत के प्रति आकृष्ट होने की आवश्यकता नहीं रही। वास्तव में भारतीय संगीत के इतिहास में यह बहुत बड़ी क्रान्ति थी, जिसका श्रेय मानसिंह तोमर और उसके गायनाचार्यों को था। इस सांस्कृतिक क्रान्ति के विषय में फकीरुल्ला ने लिखा है—

"मानसिंह के इस अद्भुत आविष्कार के लिए गायन शास्त्र सदा उसका आभारी रहेगा। आज लगभग दो सौ वर्ष हो चुके हैं,[1] कदाचित आगे चल कर कोई गायक राजा मानसिंह के समान गायन शास्त्र में प्रवीण हो तो परमात्मा की अपार लीला से ध्रुपद जैसे अन्य गीत की रचना कर सके। परन्तु मस्तिष्क में अभी तो विचार आता है कि ऐसा होना असम्भव है।"

मानसिंह और उसके संगीताचार्यों के बारे में फकीरुल्ला ने यह भी लिखा है—

"कहते हैं, ध्रुपद राजा मानसिंह ने पहली बार गाया था। इसमें चार पंक्तियाँ होती हैं और सारे रसों में बाँधा जाता है। नायक मन्नू (बैजू), नायक बक्सू, सिंह जैसा नाद करने वाले नायक महमूद तथा नायक कर्ण ने ध्रुपद को इस प्रकार गाया कि इसके सामने पुराने गीत फीके पड़ गए।"

धमार और होरी

ध्रुपद गायन विशिष्ट और दक्ष गायनाचार्यों द्वारा ही संभव था। एक आधुनिक ध्रुपद गायक के अनुसार[2]—"ध्रुपद गायन के लिए जोरदार, लम्बी और गम्भीर आवाज होना आवश्यक है। इसके बिना ध्रुपद गायन प्रभावी नहीं हो सकता। परिश्रम करने पर ही ध्रुपद के योग्य आवाज बनती है।" परन्तु संगीत केवल गायनाचार्यों का ही निजस्व नहीं है, इस तथ्य का अनुभव कर नायक बैजू ने ध्रुपद के सरल रूप 'धमार' या 'होरी' का प्रचार किया। ध्रुपद या विष्णुपद के समान धमार भी मूलतः एक ताल का नाम है। धमार ताल में जो गीत गाया जाता है उसे पक्की होरी या धमार कहते हैं।[3] इसके गीतों में अधिकतर राधाकृष्ण अथवा गोपियों की शृंगार-लीलाओं के वर्णन होते हैं। इसमें ध्रुपद की अपेक्षा गम्भीरता कम होती है और शब्द-रचना भी बहुत सरल होती है। धमार या होरी ध्रुपद का लोक प्रचलित रूप है। ज्ञात यह होता है कि बैजू ने लोक गीतों की धुनों को परिष्कृत कर इस गायन-विधा को जन्म दिया।

नायक

मानसिंह कालीन संगीताचार्य को (जिन्हें 'नायक' कहा जाता था) संगीत के शास्त्रीय और व्यावहारिक ज्ञान के अतिरिक्त पद-रचना में दक्ष होना भी आवश्यक था। मानसिंह

---

१. अब चार सौ वर्ष से अधिक हो गए, और फकीरुल्ला का कथन अब भी पूर्णतः सत्य है।
२. राजा भैया पूंछवाले, ध्रुपद धमार गायन, पृ० २।
३. राजा भैया पूंछवाले, ध्रुपद धमार गायन, पृ० ३।

और उसके समकालीन संगीतज्ञ संगीत और साहित्य की समान रूप से सेवा करने में किस कारण समर्थ हुए और वे युग के अनुरूप कला-साधना क्यों कर सके, इसका आधार उन गुणों में है जिन्हें उस युग के संगीताचार्य के लिए आवश्यक माना गया था। जिसमें ये सब गुण नहीं होते थे वह नायक कहलाने का अधिकारी नहीं माना जाता था। मानकुतूहल में नायक के लिए आवश्यक योग्यताएँ निर्धारित कर दी गई थीं—

"श्रेष्ठ गायक तथा गीत रचयिता को व्याकरण का अच्छा ज्ञान होना चाहिए तथा उसे शब्द-ज्ञान में भी प्रवीण होना चाहिए। पिंगल और अलंकार का भी अच्छा ज्ञान अनिवार्य है तथा उसे रस और भाव का भी अच्छा ज्ञान होना चाहिए। देशाचार और लोकाचार का भी ज्ञान होना आवश्यक है तथा उसे अपनी कला में प्रवीण होना चाहिए। उसकी प्रवृत्ति कलानुवर्ती तथा समय से सामंजस्य स्थापित करने वाली होना चाहिए तथा उसे कुशाग्र बुद्धि होना चाहिए। दूसरों को लाभ पहुँचाना उसके स्वभाव में होना अनिवार्य है, क्योंकि यह उसकी प्रतिष्ठा एवं प्रभुता का हेतु होता है। शास्त्रार्थ करने में उसकी क्षमता होना आवश्यक है, जिससे लोग उसकी धाक मानें। गीत का रचयिता होना तथा गायन की ओर हार्दिक रुचि होना भी गायनाचार्यों को अभीष्ट है। उसके गीत के विषय विचित्र एवं अनूठे होना चाहिए। उसे प्राचीन रचनाएँ कण्ठस्थ होना चाहिए। संगीत, वाद्य एवं नृत्य में भी उसकी पैठ होना अनिवार्य है।"

जिस युग में इन योग्यताओं से युक्त दस-पाँच भी नायक या संगीताचार्य हों वह युग संगीत और साहित्य की अनुपम सेवा करने में समर्थ हो सकता है। समय के साथ सफलतापूर्वक सामंजस्य स्थापित कर सकने की क्षमता को ही मौलिकता माना जा सकता है। मानसिंह कालीन संगीताचार्यों ने उस समय व्याप्त भारतीय संगीत की जड़ता को नष्ट कर उसे जीवन्त लोकप्रिय रूप दिया।

गीत-रचना

मानसिंहकालीन संगीताचार्यों ने प्रचुर मात्रा में गीतों की रचना की थी। लोकरुचि के अनुसार समाज के विभिन्न मानसिक और बौद्धिक स्तरों को ध्यान में रखकर गीत रचे गए थे। नायक की योग्यता का एक अंग गीत-रचना में निपुण होना भी था। वे गीत व्याकरण, अलंकार, और रस की दृष्टि से श्रेष्ठ हों यह भी आवश्यक था। इस प्रकार के हजारों गीत उस समय लिखे गए। दोहा और उसके परिवर्तित रूप सोरठा और पाल्हुरी भी गेय गीत माने जाते थे। इस प्रकार पदों और दोहों का विशाल भण्डार एकत्र हुआ था।

ये गीत और दोहे हिन्दी में लिखे गए थे। ध्रुपद गायकी का प्रधान लक्षण ही यह है कि उसके गीत मध्यदेशीया हिन्दी में हों। यह मान्यता आगे भी चलती रही।

मानसिंह तोमर स्वयं पदों की रचना करते थे। मानसिंह ने सावंती, लीलावती पाढ़व तथा मानशाही कल्याण रागों के गीत लिखे थे। बैजू और बक्शू के पद भी बहुत बड़ी संख्या में उपलब्ध हैं, यद्यपि उनमें से प्रकाशित कम ही हुए हैं।

शाहजहाँ ने बक्शू के ध्रुपद गीतों का संग्रह कराया था। परिणामस्वरूप बक्शू के कई हजार पद एकत्रित हो गए थे। उनमें से एक हजार सर्वोत्कृष्ट पदों का संकलन किया गया और उन्हें चार राग तथा चालीस रागिनियों में विभाजित कर फारसी भूमिका सहित प्रकाशित किया गया। इसके 'राग-ए-हिन्दी', 'सहस्ररस', 'एक हजार ध्रुपद', 'रागमाला', आदि अनेक नाम रखे गए। इस ग्रन्थ की पांडुलिपियाँ इंगलैण्ड के 'इण्डिया आफिस' तथा 'बोडलिएन' पुस्तकालयों में सुरक्षित हैं। मानसिंहकालीन अन्य नायकों के पद अभी प्राप्त नहीं हो सके हैं।

सूरदास के अधिकांश पद उनकी पुष्टिमार्ग में शरणागति के पूर्व ही ग्वालियर में लिखे गए थे।

गीत-संग्रह

मानसिंह ने भारतीय संगीत के प्रचार के लिए योजनापूर्वक कार्य किया था। गायन के लिए प्रत्येक वर्ग के रसज्ञ के लिए उपयुक्त गीत उपलब्ध हो सकें, इस आशय से, मानसिंह ने अपनी राजसभा के तीन नायकों को एक-एक गीत संग्रह तैयार करने का निदेश दिया। आईने-अकबरी के अनुसार नायक बख्शू, बझू (बैजू) तथा भानु ने विष्णुपद, ध्रुपद तथा होरी-धमार के तीन संग्रह तैयार किए थे। ये संग्रह श्रोताओं के वर्गों की रुचियों के अनुरूप तैयार किए गए थे।

हकायके-हिन्दी

मानसिंह द्वारा प्रस्तुत कराए गए तीन गीत ग्रन्थों के अस्तित्व का आईने-अकबरी के अतिरिक्त एक और प्रमाण मीर अब्दुल वाहिद बिलग्रामी (सन् १५०६-१६०८ ई०) की रचना 'हकायके-हिन्दी' है।[१] इस पुस्तक की रचना सन् १५६६ ई० में हुई थी। इस पुस्तक से मानसिंह के तीनों ग्रन्थों के गीतों के विषय और स्वरूप की भी जानकारी प्राप्त होती है और यह भी प्रकट होता है कि दोहा भी गेय छन्द था। मीर साहब ने कुछ दोहे तो पूरे उद्धृत कर दिए हैं।

मानसिंहकालीन ग्वालियरी संगीत जितना हिन्दुओं को रुचिकर और प्रिय था, उतना ही मुसलमानों को भी। मध्यकालीन भारतीय संस्कृति के इतिहास की यह एक अविस्मरणीय घटना है कि जब धर्म और राजनीति के क्षेत्र में हिन्दू और मुसलमानों में घोर वैमनस्य व्याप्त था, तब मानसिंह के ग्वालियर और उसके संगीत ने इन दोनों वर्गों के बीच की विभेदक दीवार को ध्वस्त कर दिया। इस सांस्कृतिक समन्वय की स्थापना में जितना योग

१. नागरी प्रचारिणी सभा, वाराणसी, द्वारा प्रकाशित।

मानसिंह, बैजू और कर्ण का था, उतना ही बक्शू तथा महमूद लोहंग का। कबीर या बोधन के राम-रहीम एक होने के घोष का तुर्क और अफगान स्वागत न कर सके, परन्तु विशुद्ध भारतीय आधार पर स्थित ग्वालियरी संगीत-धारा में वे सराबोर हो गए और इस्लाम के निषेधों को पूर्णतः भूल गए।

ग्वालियरी संगीत सूफियों की संगीत-सभाओं में प्रवेश कर गया और गजलों-मुकरियों आदि के स्थान पर सरस्वती तथा गणेश की वंदना से प्रारम्भ होने वाले राधा-कृष्ण एवं गोपियों की प्रेम कथाओं में रस-सिक्त ये ग्वालियरी पद शेखों और सूफियों द्वारा भी गाए जाने लगे। कट्टर आलिमों को इस पर आपत्ति होना स्वाभाविक थी। अब्दुल वाहिद बिलग्रामी ने उनका मन समझाने का प्रयास किया और सरस्वती, गणेश, राधा, कृष्ण, गोपी, गोवर्धन, सब के सूफी सम्प्रदायपरक अर्थों की निष्पत्ति 'हकायके-हिन्दी' में की। मीर की इस नवीन अर्थ-निष्पत्ति का विवेचन यहाँ अभीष्ट नहीं है। प्रासंगिक केवल यह है कि मानसिंह द्वारा प्रस्तुत कराए गए तीन गीत संग्रहों के वाक्य और शब्द हकायके-हिन्दी में तीन अध्यायों में बांटे गए हैं। अब्दुल वाहिद के अनुसार, पहले अध्याय में उन वाक्यों के अर्थ-संकेत हैं जिनका प्रयोग 'ध्रुपदों' में होता है; दूसरे अध्याय में उन वाक्यों की व्याख्या है जो 'विष्णुपदों' में आते हैं; तथा तीसरे अध्याय में इनके अतिरिक्त (धमार-होरी) गानों के वाक्यों की व्याख्या है।

हकायके-हिन्दी के आधार पर यह कहा जा सकता है कि मानसिंह द्वारा प्रस्तुत कराए गए तीन गीत ग्रन्थों के विषय ध्रुपद, विष्णुपद तथा धमार-होरी थे। ध्रुपद ध्रुपद-गायकों के लिए थे, विष्णुपद भक्त गायकों के लिए और धमार-होरी सर्वसाधारण के लिए। इन तीन गीत संग्रहों में एक विष्णुपदों का भी संग्रह था, इसका उल्लेख रामपुर के राजकीय पुस्तकालय में संग्रहीत बादशाहनामा में भी है।[1]

मानसिंहकालीन नायक

मानसिंह के समय में गायकों की तीन श्रेणियाँ थी। प्रथम श्रेणी में नायक या संगीताचार्य थे। इस पद को प्राप्त करने के लिए अपेक्षित योग्यताएँ पहले लिखी जा चुकी हैं। अनेक ऐतिहासिक स्रोतों से मानसिंहकालीन नायकों के नाम प्राप्त होते हैं। फकीरुल्ला सैफखाँ के अनुसार मानसिंह की राजसभा के नायकगण बक्शू, मन्नू (बैजू)[2], महमूद लोहंग, पाण्डवीय तथा कर्ण थे। इनमें से नायक मन्नू (बैजू), नायक बक्शू, नायक महमूद तथा नायक कर्ण ने "ध्रुपद को इस प्रकार गाया कि इसके सामने पुराने गीत फीके पड़ गए।"

---

१. संगीत : ध्रुपद-धमार अंक, १९६४, पृ० १६।

२. फकीरुल्ला ने बैजू को एक स्थान पर 'नायक मन्नू' लिखा है (मान० और मानकुतू०, पृ० ९१) और दूसरे स्थान पर 'मत्तू' लिखा है (वही, पृ० १३०), संभवतः यह लिपि-दोष के कारण हुआ है।

अबुल फजल ने मानसिंह के तीन गायनाचार्यों के नाम दिए हैं—बक्शू, मन्नू और मंझू।[1] किस व्यक्ति का क्या नाम लिखा गया और क्या पढ़ा गया, यह ज्ञात नहीं होता, 'मंझू' अवश्य बैजू के लिए है। परन्तु बैजू तथा बक्शू के नाम अन्य फारसी ग्रन्थों में भी आए हैं। रामपुर के भूतपूर्व नवाब के राजकीय पुस्तकालय के प्रबन्धक मौलाना अर्शी ने बादशाहनामा, खुलासतुल-ऐश, आलमशाही तथा गुंचए-राग का हवाला देते हुए नायक बैजू को मानसिंह तोमर का दरबारी गायक बतलाया है और नायक बक्शू को मानसिंह का शिष्य बतलाया है।[2]

मानसिंहकालीन ध्रुपद गायक नायकों का लगभग समकालीन उल्लेख ध्रुपद गायक जगन्नाथ कविराय ने अपने एक ध्रुपद में किया है। जगन्नाथ कविराय तानसेन के सम-कालीन थे। वे जो भी ध्रुपद लिखते थे वह तानसेन को सुनाते थे।[3] जगन्नाथ कविराय द्वारा नायकों के नाम उनकी मान्य वरिष्ठता के अनुसार दिए गए हैं—

सर्वकला सम्पूरन, मति अपार विस्तार,
नाद को नायक 'बैजू' 'गोपाल'।
ता पाछै 'बक्सू' बिहंसि बस कीन्हौ, 'महमू' महिमण्डल में
उदोत चहुंचक भरौ, डिढ़ विद्या निधान,
सरस धरु 'करन' डिढ़ ताल ॥
'भगवंत' सुरभरन, 'रामदास' जसु पायौ,
तानसेन जगतगुरु कहायौ, 'धौंधो' बानी रसाल।
'सुरति विलास' 'हरिदास डागुर' जगन्नाथ कविराय
तिनके पग परसिवे कौं स्याम राम रंगलाल।[4]

निश्चय ही जगन्नाथ कविराय का कथन पूर्णतः विश्वसनीय है। उससे यह स्पष्ट होता है कि मानसिंह की राजसभा का सर्वश्रेष्ठ नायक बैजू ही था। वह गुण और आयु में बक्शू, महमूद, कर्ण, गोपाल आदि से वरिष्ठ था। गोपाल नायक[5] और तानसेन ने भी उसी के चरणों में बैठकर संगीत का ज्ञान प्राप्त किया था।

गोपाल नायक ने यद्यपि बैजू से संगीत की शिक्षा प्राप्त की थी, परन्तु संभवतः वह कहीं एक स्थान पर टिक न सका। जैसा ऊपर लिखा जा चुका है, गोपाल सिकन्दर लोदी की राजसभा में भी अपना जौहर दिखा आया था और फिर अपने संगीत-गुरु बैजू को ही चुनौती दे बैठा था।

---

१. आइने-अकबरी, ग्लेडविन, पृ० १३०।
२. उर्दू आजकल, अगस्त, १९५६, पृ० १०३।
३. द्विवेदी, मानसिंह और मानकुतूहल, पृ० १३५।
४. संगीत, हरिदास अंक, फरवरी १९५९, पृ० ३०।
५. द्वितीय गोपाल, अर्थात् गोपाललाल।

परन्तु मानसिंहकालीन संगीतज्ञों की जगन्नाथ कविराय की सूची पूर्ण नहीं है, उसने केवल वे नाम दिए हैं जिनका गुण इतना उत्कृष्ट था कि संगीत के क्षेत्र में प्रवेश करने वाले को उनके चरण छूना अनिवार्य था। इनके अतिरिक्त भी मान की सभा में अनेक गायक थे जो मानकुतूहल के अनुसार द्वितीय और तृतीय श्रेणी में आते थे।

जगन्नाथ कविराय ने अपने ध्रुपद में जिन भगवंत, रामदास, तानसेन, घोंधी तथा हरिदास डागुर का उल्लेख किया है वे मानसिंह के समय में संगीताचार्यों से संगीत के ज्ञान का लाभ प्राप्त करना प्रारम्भ कर रहे थे। इस अगली पीढ़ी के विषय में फकीरुल्ला ने जो कुछ लिखा है वह अकबरी दरबार और मान की राजसभा के संगीत की तुलना के लिए परम उपयोगी है—

"उस समय (मानसिंह के समय) नायक (गायनाचार्य) थे, परन्तु अकबर के काल में कोई भी संगीत शास्त्र के सिद्धान्त में राजा मान के काल के गायकों को नहीं पाता। दूसरे, सम्राट् अकबर के समय में 'आताई' व्यक्ति थे, जिन्हें गायन का व्यावहारिक ज्ञान तो था, परन्तु वे गायन के सिद्धान्त से अपरिचित थे।"

फकीरुल्ला के अनुसार तानसेन, सुभानखाँ, चांदखाँ, सूरजखाँ, चंद, तानतरंग, विलासखाँ, रामदास, मुड़िया ढाडी सब आताई श्रेणी में आते थे। बाजबहादुर, नायक चर्चू, नायक भगवान, सूरतसेन, लाला, देवी और आकिलखाँ के विषय में फकीरुल्ला का मत है कि वे किसी-न-किसी मात्रा में संगीत के सिद्धान्तों से परिचित थे, परन्तु फिर भी नायक बैजू, नायक पांडे और बक्शू के समान संगीत के आचार्य नहीं थे।

केवल पदों की रचना करने वाले भी 'नायक' नहीं माने जाते थे। ज्ञात होता है कि सूरदास (पुष्टिमार्गी) तथा आंतरी के गोविन्द स्वामी पदकार भी थे और गायक भी, तथापि वे संगीताचार्य (नायक) नहीं थे।

नायक का सम्मान

अमीर खुसरो का महत्व सुल्तानों के दरबारों में इस कारण नहीं था कि वह संगीता-चार्य था, उसके सम्मान का आधार उसकी सैनिक निपुणता तथा राजनीतिज्ञता थी। केवल गायक या गायनाचार्य होने के कारण किसी सुल्तान ने किसी व्यक्ति को अपने दरबार में सम्मानपूर्ण स्थान नहीं दिया। मध्यकाल में यह परम्परा मानसिंह तोमर ने ही प्रारम्भ की थी कि गायनाचार्यों को राजसभा में सम्मानपूर्ण स्थान दिया जाए तथा उन्हें पर्याप्त धन भी दिया जाए। इस परम्परा का ही आगे अकबर ने पालन किया और तानसेन को मुगल दर-बार में महत्वपूर्ण स्थान दिया।[1] मानसिंह के समकालीन सिकन्दर लोदी को संगीत से तो प्रेम था, तथापि उसके संगीतज्ञ उसके दास हुआ करते थे। अलाउद्दीन खलजी के विषय में भी यह प्रसिद्ध है कि उसके दरबार में गुणी तो बहुत इकट्ठे हो गए थे पर वह किसी को देता

१. 'जगद्गुरु' तानसेन को भी अकबर के दरबार में खड़े होकर ही गाना पड़ता था।

कुछ नहीं था। मानसिंह की दानशीलता की ख्याति का प्रमुख कारण उसके संगीताचार्य थे जिन्हें वह मुक्तहस्त से धन दिया करता था और इसी कारण खड्गराय ने उसे 'कंचनवकस'—स्वर्ण का दान देने वाला—कहा है।

नायकों द्वारा संगीत शिक्षा

मानसिंहकालीन ये नायक अपने शिष्यों को संगीत की शिक्षा किस प्रकार देते थे, इसका विवरण फकीरुल्ला ने दिया है—"नायक सिंहासन पर बैठता है और वादक (अर्थात् वीणा और मृदंग वादक) सब पीछे बैठते हैं। संगीत की पुस्तक पढ़ी जाती हैं और नायक शिष्यों के समक्ष संगीत के सिद्धान्तों की व्याख्या करता है और उनको कार्यान्वित करके स्पष्ट कर देता है। संगीत शास्त्र का साधारण ज्ञान रखने वाले व्यक्ति जो कुछ पुस्तक में लिखा होता है पढ़ देते हैं किन्तु उसे कार्यान्वित नहीं कर पाते हैं। यदि केवल पुस्तक पढ़ने से कोई नायक हो जाए तो जो व्यक्ति पुस्तक पढ़े वह नायक की उपाधि ग्रहण करे। परन्तु वस्तुतः ऐसा नहीं है। ऐसा व्यक्ति पण्डित तो हो सकता है, नायक नहीं।"[1]

संगीत प्रतियोगिताएँ

अपनी श्रेष्ठता सिद्ध करने के लिए कभी-कभी संगीताचार्यों में प्रतियोगिताएँ भी हो जाती थीं। फकीरुल्ला ने अमीर खुसरो और गोपाल नायक (प्रथम) की प्रतियोगिता का वर्णन किया है। चुनौती देने वाला नायक माथे पर 'डंडी' बाँध कर आता था[2]—

"नायक गोपाल उसका (अमीर खुसरो) का नाम सुनकर डंडी बाँध कर आया। डंडी से मतलब एक लकड़ी से है जो लम्बाई में एक हाथ और दो अंगुल होती है, कुछ लोग कहते हैं एक बालिश्त और दो अंगुल होती है और उसे पगड़ी पर एक गहने की तरह पहनते हैं।" फिर जिस प्रकार प्रतियोगिता हुई, उसका उल्लेख पहले किया जा चुका है।

ऐसी ही एक प्रतियोगिता मानसिंह के समय में भी हुई थी। नायक गोपाल (द्वितीय) अपने संगीत-गुरु बैजू से ही टक्कर लेने आ गया था। ज्ञात यह होता है कि जब गोपाल का गाना सिकन्दर लोदी ने सुना तब उसका अहंकार अत्यधिक बढ़ गया और जिस प्रकार सिकन्दर मानसिंह पर आक्रमण कर उसे पराजित करने का प्रयास कर रहा था, उसी प्रकार गोपाल ने मानसिंह के प्रमुख संगीताचार्य को पराजित करने का निश्चय किया। इस प्रतियोगिता का विवरण अन्यत्र कहीं नहीं मिलता, केवल बैजू के पदों से उसका विवरण मिलता है।

गोपाललाल भी 'डांडी' बाँध कर आया था—

> गुपत सप्त, प्रगट छत्तीस, डांडी बांधि आयो गोपाल
> बैजू के गाये ते सप्त सुर भूल गये, पिघले पाषान, बूढ़े ताल।

---

१. द्विवेदी, मानसिंह और मानकुतूहल, पृ० १३०।
२. द्विवेदी, मानसिंह और मानकुतूहल पृ० १३०।

संभवतः यह विवाद बहुत समय तक चला। बैजू ने अन्त में "तेरी लाख मेरी एक" ध्रुपद सुनाया और पराजित गोपाललाल को उपदेश दिया—

अरहू न कर रे धाय गुनियन के पायन पर रे।

यह महान गायक बैजू जितना बड़ा संगीताचार्य था, उसका हृदय भी उतना ही उदार था। तानसेन भी उसका शिष्य था, परन्तु वह विनम्र शिष्य था; अतएव प्रसंग आने पर बैजू ने यही कहा कि तानसेन मुझसे भी अच्छा गाता है।

स्वामी हरिदास

गंगाधर और चित्रादेवी से सनाढ्य कुल में सन् १४८० ई०, भाद्रपद शुक्ल ८, बुधवार वि० सं० १५३७ को राजपुर ग्राम में हरिदास नामक बालक का जन्म हुआ।[1] पच्चीस वर्ष की वय तक ये डूंगरेन्द्रसिंह के समय में प्रवर्तित विष्णुपद संगीत शैली तथा मानसिंह द्वारा पोषित ध्रुपद गायन शैली का अध्ययन और अभ्यास करते रहे। सन् १५०५ ई० में हरिदास वृन्दावन पहुँचे और वहाँ निधिवन में अपना आश्रम बनाया। वे निम्बार्क सम्प्रदाय में दीक्षित हुए और सन् १५०९ में उन्होंने निधिवन में श्री बिहारीजी की स्थापना की।

यह कथन केवल किंवदन्ती है कि स्वामी हरिदास तानसेन के संगीत-गुरु थे। तानसेन के जन्म के वर्ष के विषय में अत्यधिक विवाद है और उसका पूर्वतम जन्म-समय १५०० ई० माना जाता है। स्वामी हरिदास सन् १५०५ ई० में वृन्दावन में निधिवन में प्रवास कर गए थे। यह संभव है कि अकबर के दरबार में पहुँचने के पूर्व तानसेन कभी स्वामी हरिदास से मिले हों और उनके संगीत-ज्ञान से प्रभावित हुए हों। तानसेन के स्वामी हरिदास के शिष्य होने का आधार किशनगढ़ नरेश महाराज सावंतसिंह (नागरीदास) की 'पदप्रसंगमाला' का यह अवतरण है—

> "एक समै अकबर पातसाह तानसेन सों
> बुझी जु तें कौन सौ गायवो सीखो ? कोऊ
> तोऊ तें अधिक गावे है ? तब वाने कही जु में
> कौन गिनती में हूं। श्री वृन्दाबन में हरिदास जी
> नाम वैष्णव है, तिनको गाइवे को हों शिष्य
> हूँ। यह सुनि पातसाह तानसेन के संग जलधरी
> ले वृन्दावन स्वामी जी पै आयौ।"

इस उद्धरण में शिष्यत्व की बात केवल लघुता प्रदर्शित करने के लिए कही गई है। अकबर सन् १५६६ ई० में वृन्दावन गया था। उस समय तक बैजू और बक्शू का देहान्त हो चुका था। केवल स्वामी हरिदास ही मानकालीन ध्रुपद और विष्णुपद के श्रेष्ठ गायक शेष रह गए थे। केवल यही भाव तानसेन द्वारा उक्त उद्धरण में व्यक्त कराया गया है।

---

१. किशोरीदास. निजमत सिद्धान्त।

स्वामी हरिदास का महत्व तानसेन के गुरु होने में न होकर बैजू, बक्शू, महमूद लोहंग आदि नायकों के पश्चात् ध्रुपद और विष्णुपद के विशुद्ध श्रेष्ठ गायक के रूप में है। स्वामी हरिदास ने जहाँ अनेक ध्रुपदों की रचना की है वहाँ विष्णुपदों की भी रचना की है। 'पदप्रसंगमाला' में नागरीदास ने लिखा है कि तानसेन के आग्रह पर स्वामी हरिदास ने नया विष्णुपद बना कर मलार राग में सुनाया था। "तब नयौ बनाई विष्नपद गायौ।" स्वामी हरिदास ब्रज में ग्वालियरी संगीत की स्वरलहरी सर्वप्रथम प्रवाहित करने वाले साधक थे। उनके द्वारा ही विष्णुपद गायन की परम्परा मथुरा-मण्डल में प्रस्थापित हुई जो फकीरुल्ला के समय तक चलती रही।

विक्रमादित्य तोमर

मानसिंह की मृत्यु के पश्चात् उसका पुत्र विक्रमादित्य ग्वालियर के सिंहासन पर बैठा। मान की संगीत सभा उसे दाय में प्राप्त हुई थी। फज्लअली के अनुसार विक्रमादित्य ने तानसेन को 'तानसिंह' का विरुद दिया था। बैजू और बक्शू भी उसकी राजसभा को सुशोभित कर रहे थे। परन्तु विक्रम का राज्य एक-दो वर्ष ही चला और ग्वालियर गढ़ घिर गया। अन्त में विक्रमादित्य को ग्वालियर गढ़ छोड़ना पड़ा, और उसके साथ ही ग्वालियर के तोमरों की संगीत-सभा बिखर गई। समस्त बड़े-बड़े नायक अन्य सभाओं में चले गए; कृष्ण भक्त मथुरा, वृन्दावन और गोकुल की ओर चले गए।

बक्शू को कालिंजर के राजा कीर्तिसिंह की राजसभा में आश्रय मिला, और बैजू को गुजरात के बहादुरशाह ने शरण दी। बाद में बक्शू को भी गुजरात के सुल्तान बहादुरशाह ने अपने पास बुला लिया। ग्वालियर का ध्रुपद समस्त भारत में फैल गया। बैजू कभी हुमायूं के कब्जे में भी आ गए थे। जब हुमायूं ने बहादुरशाह से माण्डू के गढ़ को जीत कर वहाँ कत्लेआम की आज्ञा दी, तब एक मुगल के हाथ बैजू पड़ गए। एक राजपूत ने बैजू को पहचान लिया और उनकी रक्षा की तथा उनको हुमायूं के पास पहुँचा दिया। बैजू ने हुमायूं को पद सुनाया जिससे वह बहुत प्रसन्न हुआ तथा कत्लेआम बन्द करा कर यह आदेश दिया कि बैजू जिन बन्दियों को छुड़ाना चाहे, छुड़ा ले। बैजू कुछ दिनों हुमायूं के पास रहे और अवसर मिलते ही भाग कर बहादुरशाह के पास पहुँच गए। हुमायूं ने खेदपूर्वक कहा कि यदि वह हमारी सेवा में रह जाता तो सुल्तान बहादुर को भूल जाता।[1] उधर बहादुरशाह बैजू को पाकर बहुत प्रसन्न हुआ और उसने कहा कि मैंने जो कुछ खोया था उसकी पूर्ति बैजू को पाकर हो गई।

ग्वालियरी संगीत का भारतीय संस्कृति पर प्रभाव

तोमरों का ग्वालियर का राज्य समाप्त हुआ, परन्तु उनका संगीत राष्ट्रव्यापी हो गया। तोमर-वीणा छिन्न-भिन्न हो गई, परन्तु उसकी स्वर-लहरी हिन्दू-मुसलमान, सूफी सन्त, पातुर-कनीज, सबके मर्म को स्पर्श करती रही। संगीत के क्षेत्र में न काफिर रहा, न म्लेच्छ; सब

१. डा० रिजवी, मिरआते-सिकन्दरी, हुमायूं, भाग २, पृ० ४३९।

घुलमिल कर भारतीय संगीत के पोषक हो गए। ध्रुपद की गायकी उत्तर-दक्षिण सभी हिन्दू-मुस्लिम दरबारों में फैल गई। संगीत और भाषा के क्षेत्र में हिन्दू-मुस्लिम संस्कृति का समन्वय प्रारम्भ हुआ; बैजू, बक्शू, कर्ण, स्वामी हरिदास तथा महमूद लोहंग की सरस्वती हिन्दू, तुर्क, मुगल, सब की समान रूप से पूजनीया बन गई।

इस्लामशाह के ध्रुपद

ग्वालियर के तोमरों के राज्य के समाप्त हो जाने पर उनकी राजसभा के बड़े-बड़े नायक और कुछ सन्त ही बाहर चले गए थे, तथापि संगीतज्ञों की परम्परा ग्वालियर से नितान्त मिट नहीं गई थी। शेरशाह सूर का छोटा बेटा जलालखाँ इस्लामशाह (सलीम शाह) के नाम से उसका उत्तराधिकारी हुआ। उसने ग्वालियर को ही अपनी राजधानी बना ली। इस्लामशाह विद्वान था और फारसी में कविता भी करता था। वह ग्वालियर के ध्रुपद गायन से इतना प्रभावित हुआ कि उसने स्वयं भी ग्वालियरी ध्रुपदों की रचना की। इस्लामशाह के लिखे हुए कुछ ध्रुपद मिले हैं। ग्वालियर के बाबा रामदास इस्लामशाह के दरबार के गायक थे।[1] बाबा रामदास अपने पुत्र सूरदास सहित बैरामखाँ के आश्रय में पहुँचे थे और फिर अकबर के गायकों में सम्मिलित हो गए।

दौलतखाँ उजियाला

मालवा के सूबेदार शुजातखाँ का बड़ा बेटा दौलतखाँ उजियाला अपने युग का विचित्र व्यक्तित्व था। वह अत्यन्त सुन्दर था तथा इस्लामशाह का प्रेमपात्र था। तारीखे-दाऊदी के अनुसार वह शुजातखाँ का दत्तकपुत्र था और उसका नाम 'उजियाला' इस कारण पड़ गया था कि 'रात्रि के समय उसके और सुल्तान के निवास के मध्य मार्ग पर दोनों ओर मशालें जलती थीं'।[2] सुल्तान इस्लामशाह और दौलतखाँ उजियाला के बीच किस प्रकार का प्रेम था, यह जानना संगीत के इतिहास के प्रयोजन के लिए आवश्यक नहीं है। संगीत के इतिहास के सन्दर्भ में केवल यह तथ्य महत्वपूर्ण है कि तानसेन भी उस पर अनुरक्त थे। साथ ही दौलत-खाँ भी तानसेन को प्रश्रय देता रहा। दौलतखाँ को इस्लामशाह की ओर से प्रतिदिन एक लाख टंके (रुपए) प्राप्त होते थे और इस कारण वह तानसेन जैसे गायक को भी प्रश्रय देने की स्थिति में था। दौलतखाँ के रूप की प्रसंशा में भी दो ध्रुपद मिले हैं। संभव है, उनकी रचना भी तानसेन ने की हो।

'जगद्गुरु' तानसेन

तोमरकालीन संगीत का विवरण तानसेन के विषय में कुछ लिखे बिना अपूर्ण ही रहेगा। तानसेन का संक्षिप्त उल्लेख पहले किया जा चुका है।[3]

---

१. मुन्तखबुत्तवारीख, भाग २, पृ० १७।
२. इलियट एण्ड डाउसन, भाग ४, पृ० ३७६।
३. पीछे पृ० १५० देखें।

तानसेन का जीवनवृत्त और उसके महत्व को लिखने के लिए स्वतंत्र पुस्तक की आवश्यकता है। उनके जीवनवृत्त के साथ, विशेषतः प्रारम्भिक जीवन के विषय में, इतनी किंवदन्तियाँ जोड़ दी गई हैं कि उनके प्रभाव से मुक्ति पाना सरल नहीं है। परन्तु फिर भी समकालीन इतिहास ग्रन्थों में तानसेन के विषय में जो कुछ लिखा मिलता है उसको आधार बनाकर तानसेन का जीवनवृत्त और उनका महत्व जाना जा सकता है।

तानसेन का गायन जिन व्यक्तियों ने सुना था उनके द्वारा प्रस्तुत विवरणों से उस प्रभाव का आभास मिलता है जो भारत के इस महान् गायक ने अपने समकालीन समाज पर छोड़ा था। समकालीन ध्रुपद गायक जगन्नाथ कविराय तानसेन को संगीत के क्षेत्र में 'जगतगुरु' लिखता है। अबुल फजल अकबर का दरबारी भी था और उसके समय का इतिहास लेखक भी। उसने लिखा है[1]—"उसके समान गायक पहले एक हजार वर्ष से कोई नहीं हुआ।" बांधव गढ़ नरेश बघेला राजा रामचन्द्र के सभा-पण्डित माधव ने तानसेन का संगीत *अवश्य सुना होगा। 'वीरभानूदय काव्य'* में किए गए उसके कथन के अनुसार तानसेन जैसा संगीतज्ञ न तो पहले हुआ, न उस समय कोई वर्तमान था और न भविष्य में होने की संभावना है—

> **भूतो भविष्यन्नपि वर्तमानो, न तानसेने सदृशो (नसमो) धरण्याऽम्।**
> **तथाऽप्रसिध्या त्रिदिलेऽपि मन्ये, नैतादृशः कोप्यनवद्यविद्यः॥**
> **दुर्लङ्घ्यशैलोपरिसिन्धुमध्ये, द्वीपान्तरालेऽपि विले वनेच।**
> **श्रीरामचारित्रसुधाभिषक्ता, यस्य ध्रुपज्जीवति सर्वकालम्॥**
> **तत्रैव तत्रैव वचो विलासा, यत्रैव यत्रैव जनाश्चरन्ति।**
> **यत्रैव यत्रैव वचांसि नूनम् सा तानसेनो दिलहदेति तत्र॥**

ऐसे महान् संगीतज्ञ के विषय में किंवदन्तियाँ प्रचलित हो जाना स्वाभाविक है। उनमें से कुछ प्राचीन हैं और कुछ अर्वाचीन भी।[2]

तानसेन का जन्म ग्वालियर से कुछ दूर स्थित बेहट नामक ग्राम में हुआ था। उनका प्रारंभिक नाम 'तन्नू' था। उनका जन्म कब हुआ था, यह केवल अनुमान का विषय है। कुछ मुगुलकालीन चित्रों के आधार पर उनकी वय का अनुमान करना समीचीन नहीं है। कलकत्ता संग्रहालय में अकबर के दरबार का एक चित्र है। उसे विन्सेण्ट स्मिथ ने तानसेन के अकबरी दरबार में आने के उपलक्ष्य में सन् १५६२ ई० का निर्धारित किया है।[3] परन्तु

---

१. आइने-अकबरी, ग्लैडविन, पृ० ६८०।

२. किंवदन्ती को जन्म देने का आधुनिकतम भौंड़ा उदाहरण वह है जिसमें तानसेन की एक समाधि वृन्दावन में खोज निकाली गई है और लिखा गया है—"सन् १९५८ के दिसम्बर मास में स्वामी हरिदास जी का स्मृति-उत्सव वृन्दावन में मनाया गया था। उस समय उपस्थित व्यक्तियों से ज्ञात हुआ कि स्वामी हरिदास के निवास-स्थल निधिवन के एक कोने में तानसेन की समाधि थी, जो अब से १०-१२ वर्ष पूर्व नष्ट हो गई थी। वृन्दावन के अनेक वृद्धजन उस समाधि की विद्यमानता के साक्षी हैं।" श्री प्रभुदयाल मीतल, संगीत सम्राट् तानसेन, पृ० ४४।

३. विन्सेण्ट स्मिथ, इण्डियन पेण्टिंग अण्डर द मुगल्स, पृ० ५६।

उस चित्र से तानसेन की तत्कालीन वय निर्धारित करना उचित नहीं है। वह यांत्रिक फोटो नहीं है, कलाकृति है। तानसेन की आयु निर्धारण के प्रयोजन के लिए कुछ अन्य स्रोतों को देखना होगा।

मौलाना अर्शी ने विभिन्न फारसी इतिहासों की खोज कर यह प्रतिपादित किया है कि नायक बैजू महाराज मानसिंह तोमर से संगीत की शिक्षा लेने आए थे और उन्होंने राजा का शिष्यत्व ग्रहण किया था।[1] बैजू के एक शिष्य थे तानसेन। बैजू का अस्तित्व सन् १५३५ ई० के पश्चात् भी था, यह हुमायूं और गुजरात के सुल्तान बहादुरशाह के इतिहास से सिद्ध है। महाराज मानसिंह का राज्यकाल सन् १४८६ ई० से सन् १५१६ ई० तक सुनिश्चित है। अतएव तानसेन ने बैजू का शिष्यत्व कभी १५१६ ई० के पूर्व ही ग्रहण किया होगा और उनकी वय उस समय १६ वर्ष से १८ वर्ष कुछ भी हो सकती है। तन्न् (तानसेन) का जन्म कभी १४९८ और १५०२ ई० के बीच होना चाहिए।

तानसेन महाराज मानसिंह तोमर की राजसभा में थे, इसका समर्थन उन्हीं के एक पद से होता है जो श्री कृष्णानन्द व्यास के रागकल्पद्रुम में निम्नलिखित रूप में प्राप्त होता है—

छत्रपति मान राजा, तुम चिरंजीव रहौ, जौलौं ध्रुव मेरु तारौ।
चहूँ देस तें गुनीजन आवत, तुम पै धावत,
पावत मन इंछा, सबही कौ जग उजियारौ।
तुम से जो नहीं और कासे जाय कहूँ दौर,
वही आज कीरत करै मोपै रच्छा करन हारौ
देत करोरन, गुनीजन कों अजाचक किये, तानसेन प्रतिपारौ॥

इस 'छत्रपति मान राजा' को कुछ 'सम्पादकों' ने 'छत्रपति राम राजा' बना दिया है,[2] संभवतः इसलिए कि उनके गणित के अनुसार तानसेन राजा मानसिंह के समय में या तो हो नहीं सकते थे या ध्रुपद के बोलों की रचना करने की वय के नहीं हो सकते थे। परन्तु सम्पादन की यह शैली दुर्भाग्यपूर्ण ही मानी जानी चाहिए। ज्ञात यह होता है कि श्री कृष्णानन्द द्वारा दिया गया पाठ ही ठीक है क्योंकि रामचन्द्र बघेला की राजसभा में जाने के पूर्व ही तानसेन स्वयं 'अजाचक' बन गए थे और अद्वितीय गायक माने जाने लगे थे। वे राजा रामचन्द्र से वय में भी बड़े थे और ख्याति में भी। तानसेन राजा रामचन्द्र की मैत्री को अकबरी दरबार में भी नहीं भूले थे और उन्होंने अकबर को सुनाया था—

---

१. उर्दू 'आजकल', अगस्त १९५६, पृ० १३०।

२. डा० सरयू प्रसाद अग्रवाल ने अपने ग्रन्थ 'अकबरी दरबार के हिन्दी कवि' में इस पद को 'मान राजा' के रूप में ही स्वीकार किया है। श्री नर्मदेश्वर चतुर्वेदी ने अपनी कृति 'संगीतज्ञ कवियों की हिन्दी रचनाएँ' में 'राजा मान' माना है, परन्तु 'कवि तानसेन और उसका काव्य' नामक पुस्तक में उन्होंने उसे 'राम राजा' कर दिया है। श्री प्रभुदयाल मीतल यह पद 'मान राजा' के लिए लिखा गया मानते हैं। (संगीत सम्राट् तानसेन, पृ० ८१।)

साके कौं विक्रम, दैवे कौं वलि-करन, वेद सम ब्रह्म ज्ञान।
वल कौं भीम, पैज कौ परसुराम,
बाचा कौं जुधिष्ठिर, तेज प्रताप कौं भान ॥
इन्द्र सम राज कौं, मूरति कौं कामदेव, प्रभा कौं मेरु समान ॥
तानसेन कहैं सुनौ साह अकवर,
राजन में राजा राम नन्दनवीरभान ॥

राजा रामचन्द्र वघेले के सामने तानसेन को 'याचक' वनने की आवश्यकता नहीं थी, उसे वहाँ विना याचना किए ही वहुत मिलता था। याचना की स्थिति महाराज मानसिंह के समय में थी। उपर्युक्त पद से यह स्पष्ट है कि मानसिंह के समय ही तन्नू का नाम 'तानसेन' हो गया था। 'सेन' शब्द के प्रयोग से यह नहीं मानना चाहिए कि यह इस्लाम का प्रतीक है, 'सेन' प्रत्यययुक्त अनेक राजपूत राजाओं के नाम उस समय के इतिहास में मिलते हैं।

तानसेन विक्रमादित्य तोमर की राजसभा भी सुशोभित करते रहे, यह फज्लअली के 'कुल्याते-ग्वालियरी' से सिद्ध है। फज्लअली के अनुसार विक्रमादित्य ने उनको 'तानसेन' के स्थान पर 'तानसिंह' कहना प्रारंभ कर दिया था।

विक्रमादित्य तोमर की पराजय के पश्चात् तानसेन कहाँ रहे, इसका उल्लेख हमें कहीं प्राप्त नहीं होता है। वैजू गुजरात में वहादुरशाह के आश्रय में चले गए थे और वक्शू कालिंजर के राजा कीर्तिसिंह के पास चले गए थे; परन्तु ज्ञात यह होता है कि तानसेन ग्वालियर में ही वने रहे। वावर के समय में ही शेख मुहम्मद गौस ग्वालियर आ गए थे। वावर द्वारा ग्वालियर गढ़ के प्रशासक के रूप में नियुक्त अवुलफतहखाँ (शेख गूरान) संगीत प्रेमी था। संभव है, उस समय तानसेन भी अवुलफतहखाँ और शेख गौस के सम्पर्क में आए हों। यद्यपि हमने वीस वर्ष पूर्व अन्धानुकरण में यह लिख दिया था कि तानसेन ने शेख मुहम्मद गौस से संगीत की शिक्षा प्राप्त की थी,[1] परन्तु उस कथन का कोई आधार नहीं है। यह सुनिश्चित है कि शेख मुहम्मद गौस का संगीत से परिचय नहीं था। संभव है शेख गौस अवुलफतहखाँ की संगीत गोष्ठियों में कभी सम्मिलित हुए हों, परन्तु इसका भी कहीं उल्लेख नहीं मिलता।

विक्रमादित्य के पश्चात् तानसेन के दर्शन फारसी इतिहासों में दौलतखाँ उजियाला के सन्दर्भ में होते हैं। जव इस्लामशाह ने अपनी राजधानी ग्वालियर में वनाली थी तव दौलतखाँ उजियाला भी ग्वालियर आ गया था। तानसेन दौलतखाँ पर अनुरक्त हो गए और उसने इन्हें प्रश्रय दिया था।[2] इसी समय तानसेन वावा रामदास के सम्पर्क में आए होंगे क्योंकि वावा रामदास उस समय इस्लामशाह के दरवारी गायक थे।[3]

---

१. मध्यदेशीय भाषा (ग्वालियरी), पृ० ८६।
२. उर्दू 'आजकल', १९५६, पृ० ९३।
३. मुन्तखवुत्तवारीख, भाग २, पृ० १७।

इस्लामशाह सूर के पश्चात् उसका साला आदिलशाह (अदली) अपने भानेज की हत्या कर सुल्तान बना। अदली स्वयं बहुत बड़ा संगीतज्ञ था। मुल्ला अब्दुल कादिर बदायूंनी के अनुसार तानसेन और शुजातखाँ का पुत्र मियाँ बायजीद (बाजबहादुर) दोनों अदली को उस्ताद मानते थे।[1]

आदिलशाह के राज्यकाल में उसके अमीरों ने विद्रोह प्रारम्भ किया था। अदली को ग्वालियर छोड़कर बंगाल जाना पड़ा; सम्भवतः उसी समय तानसेन भी बान्धव गढ़ (रीवा) के राजा रामचन्द्र के पास चले गए। अकबर ने तानसेन के संगीत की ख्याति, संभवतः, शेख मुहम्मद गौस के माध्यम से सुनी थी। उसे यह पसन्द न आया कि इतना बड़ा गायक उसकी अधीनता स्वीकार करने वाले राजा के पास रहे। सन् १५६२ ई० में अकबर ने रामचन्द्र बघेला को विवश किया कि वह तानसेन को उसके पास भेज दे। रामचन्द्र बघेला ने दुखी हृदय से तानसेन को आगरा भेज दिया क्योंकि तानसेन की माँग करने के लिए अकबर का एक सेनापति जलालुद्दीन कुरची सेना सहित भेजा गया था।[2]

अकबर के साथ तानसेन वृन्दावन में स्वामी हरिदास से भी मिले और उनका सम्पर्क पुष्टिमार्गियों से भी हुआ। अबुल फजल के अनुसार २६ अप्रैल १५८९ ई० को तानसेन की मृत्यु हो गई।[3] ऊपर की घटनाएँ यह प्रकट करती हैं कि उस समय तानसेन की वय ९० वर्ष के आसपास थी। यह न असम्भव है, न अप्राकृतिक। तानसेन राजा रामचन्द्र के प्रश्रय के समय में ही लगभग विरक्त हो गए थे और दरबारी जीवन से अलग हो जाना चाहते थे।

अबुल फजल के कथन से यह ज्ञात होता है कि अकबर ने यह आदेश दिया था कि तानसेन के अन्तिम संस्कार के लिए समस्त गायक उसके शव के साथ जाएँ; और उसकी शव-यात्रा विवाहोत्सव के समान गायन-वादन के साथ हुई थी। परन्तु अबुल फजल ने यह स्पष्ट थानहीं किया है कि तानसेन की मृत्यु कहाँ हुई थी। तथापि उसने यह भी लिखा है कि २६ अप्रैल १५८९ के दो दिन पूर्व अकबर कश्मीर यात्रा के लिए चल दिया था। उस यात्रा में ही लाहौर में तानसेन की मृत्यु हो गई। उनका अन्तिम संस्कार लाहौर में ही किया गया था। बाद में अकबर के आदेश से तानसेन का शव ग्वालियर लाया गया, जहाँ उसे शेख मुहम्मद गौस के मकबरे के पास दफना दिया गया तथा एक छोटा-सा मकबरा भी बनवा दिया गया।[4]

तानसेन कभी औपचारिक रूप से मुसलमान अवश्य हो गए थे। परन्तु उन्होंने कभी अपने मूलधर्म को नितान्त छोड़ दिया हो, ऐसा ज्ञात नहीं होता। वास्तव में उस समय संगीतज्ञों के धर्म को महत्व नहीं दिया जाता था, उनका गुण परखा जाता था। महाराज

---

१. मुन्तखबुत्तवारीख, खण्ड १, पृ० ५५ तथा ५५७।
२. आईने-अकबरी, ग्लैडविन, पृ० ४४५। आगे पृ० ३१५ भी देखें।
३ अकबरनामा, बैवरिज, पृ० ८८०।
४. डा० आशीर्वादीलाल, अकबर द ग्रेट, पृ० ३६०-६१।

मानसिंह अथवा कल्याणमल्ल के समय से ही, कला और व्यक्तिगत धर्म, दो भिन्न तत्व माने जाते थे। फिर भी जब अकबर ने तानसेन के शव को दफनाने का आदेश दिया था, तब तानसेन निश्चित ही किसी समय मुसलमान हो गए होंगे। संभव है, शेख मुहम्मद गौस शत्तारी ने उन्हें इस्लाम ग्रहण करा दिया हो; या संभव है, दौलतखाँ उजियाला के सम्पर्क के कारण ब्राह्मणों ने उन्हें जातिच्युत कर दिया हो; अथवा संभव है, अकबर के समय उन्होंने इस्लाम पर आस्था दिखाई हो। अन्तिम बात ही अधिक संभव ज्ञात होती है। तानसेन ने मानसिंह तोमर, विक्रमादित्य तोमर, शेख गूरान, इस्लामशाह (दौलतखाँ उजियाला), आदिलशाह, राजा रामचन्द्र बघेला और सम्राट् अकबर, सब की राजसभाओं को विभूषित किया और सब में समादर पाया था। तानसेन के माध्यम से तोमर-संगीत राष्ट्रव्यापी हुआ। जब तक भारत के इतिहास में अकबर का नाम स्मरण रहेगा, तब तक तानसेन भी भुलाए न जा सकेंगे और उस समय तक अबुल फजल के ये शब्द भी स्मरण रखे जाएँगे—

"मियाँ तानसेन ग्वालियरवाले—जिसके समान कोई गायक पिछले एक हजार वर्ष से भारतवर्ष में नहीं हुआ।"

जब अबुल फजल तानसेन को 'ग्वालियरवाले' लिखता है, तब वह निस्सन्देह रूप से तोमरकालीन ग्वालियरी संगीत की अभ्यर्थना करता है।

बाजबहादुर और रूपमती के ध्रुपद

शुजातखाँ का दूसरा पुत्र मियाँ बायजीद (बाजबहादुर) मालवा का सुल्तान बना। उसने सारंगपुर को अपनी राजधानी बनाया। यहीं उसका अप्रतिम रूपसी रूपमती से प्रेम हुआ। अकबर के संगीत-प्रेम और सौन्दर्य-प्रेम के कारण रूपमती को आत्महत्या करना पड़ी थी। बाजबहादुर को अन्ततोगत्वा अकबर की मन्सबदारी स्वीकार करनी पड़ी। अकबर के गायकों की सूची में अबुल फजल ने बाजबहादुर को नौवाँ स्थान दिया है।[1] बाजबहादुर और रूपमती, दोनों ध्रुपद संगीत के सिद्धहस्त गायक थे। उनके लिखे हुए अनेक ध्रुपद प्राप्त होते हैं।

आदिलशाह और किताबे-नौरस

ग्वालियरी संगीत ने दक्षिण भारत में भारतीय संगीत और हिन्दी भाषा के विकास के लिए जो कुछ किया है उसका कुछ स्वरूप बीजापुर के सुल्तान इबराहीम आदिलशाह (सन् १५८०-१६२७ ई०) की प्रवृत्तियों से प्राप्त होता है। बीजापुर के सुल्तानों की राजभाषा फारसी थी और जनभाषा मराठी। इबराहीम आदिलशाह का दरबार फारसी के प्रसिद्ध कवियों को आकर्षित कर रहा था; परन्तु उसने स्वयं अपनी रचना किताबे-नौरस का मंगलाचरण इन शब्दों में लिखा[2]—

नवरस स्वर जुग जग जोति आणी सर्वगुनी
यो सत् सरसुती माता इबराहीम प्रसाद भई दुनी।

---

१. आईने-अकबरी, ग्लैडविन, पृ० ६८१।

२. किताबे-नौरस, नजीर अहमद, पृ० ९५।

इबराहीम आदिलशाह ने अपना समस्त जीवन ध्रुपद की साधना में बिताया। अपने प्रारंभिक जीवन में इबराहीम इसी ध्रुपद साधना के प्रभाव में इस्लाम को त्याग हिन्दू बन जाने के मार्ग पर चल निकला था।[१] यह समाचार पाकर मदीना से मौलाना सिबगतुल्लाह हुसैनी सुल्तान को समझाने के लिए बीजापुर गए। सुल्तान ने मौलाना को समझाया कि वह सरस्वती की आराधना केवल अपना कण्ठ-स्वर आकर्षक बनाने के लिए करता है, उसका इस्लाम के प्रति विश्वास अडिग है। इस पर मौलाना ने सुल्तान को आशीर्वाद दिया और उसका स्वर और भी मधुर हो गया।

अपनी स्वर-साधना की सफलता के लिए इबराहीम आदिलशाह मौलाना के आशीर्वाद पर ही निर्भर न रहा और उसने वाग्देवी सरस्वती की आराधना आगे बढ़ाई; वह सरस्वती और गणेश की वन्दना करता ही रहा। ग्वालियरी ध्रुपद संगीत शैली के साथ आदिलशाह ने ध्रुपद के पदों की भाषा ग्वालियरी को भी बीजापुर में प्रस्थापित किया। वह ध्रुपद के नौरस में निमग्न हुआ, उसने नवरस के नाम से नवीन नगर बसाया, नवरस महल बनवाया और अपने हाथी का नाम भी नवरस रखा तथा 'किताबे-नौरस' की रचना की। नवरस महल में ईदे-नौरस मनाई जाने लगी।

इबराहीम आदिलशाह ने संगीत को लोकप्रिय बनाने का भी पूर्ण प्रयास किया। वह तानसेन से बहुत अधिक प्रभावित था और उसे ध्रुपद संगीत शैली का ज्ञान तानसेन और उसके समकालीन गायकों के माध्यम से ही प्राप्त हुआ था। नायकों (संगीताचार्यों) का युग समाप्त हो चुका था और अब संगीतज्ञों की तीन श्रेणियाँ रह गई थीं—आताई, ढाड़ी और गुणीजन। ये सब कंचनिया या कलावंत कहे जाते थे। आदिलशाह ने बहुत अधिक पुरस्कार और संरक्षण का वचन देकर हजारों कलावन्त अपनी राजसभा में एकत्रित किए थे। उसने संगीतज्ञों के तीन वर्ग बनाए—हुजूरी, दरबारी और शहरी। इन सबको राज्य से वृत्ति दी जाती थी।

इबराहीम आदिलशाह मानसिंह के संगीत-वैभव से पूर्णतः परिचित ज्ञात होता है। वह प्रत्येक दिशा में तोमर राजा को मात देना चाहता था। परिस्थितियाँ भी उसके अनुकूल अधिक थीं। उसने मानकुतूहल के अनुकरण में हिन्दी में ही किताबे-नौरस लिखी तथा संगीतज्ञों की बहुत बड़ी भीड़ एकत्रित की। साथ ही वह प्रयासपूर्वक अपने आपको मौलिकता के गुण से भी अलंकृत करना चाहता था। उसने ध्रुपद गायन शैली में भी अनेक परिवर्तन किए। जब इबराहीम आदिलशाह को ध्रुपद संगीत सिखाने वाला बख्तारखाँ कलावन्त जहाँगीर के दरबार में आया तब जहाँगीर ने उससे 'किताबे-नौरस' का ध्रुपद सुनाने का आग्रह किया। जहाँगीर अपनी आत्मकथा में लिखता है कि ध्रुपद गायन की यह शैली विशिष्टतायुक्त थी।[२]

---

१. किताबे-नौरस, नजीर अहमद, पृ० ४६।

२. तुजुक, कैंमरिज, पृ० १३४।

मुगुल दरबार में ग्वालियरी संगीत

अपने समकालीन संसार में मुगुल दरबार समृद्धतम था और उसका वैभव भी अपार था। बाबर द्वारा प्रस्थापित यह साम्राज्य बैरामखाँ की तलवार द्वारा अत्यधिक सुदृढ़ बना, अकबर ने अपनी कूटनीति से उसका विस्तार किया और आगे वह लगभग समस्त भारत पर छा गया। इस दरबार की तड़क-भड़क में अनेक कलावन्तों का एकत्रित होना अवश्यम्भावी था, तथापि उस युग के सर्वश्रेष्ठ भारतीय नायक और गायक स्वेच्छा से मुगुल दरबार में गए हों, ऐसा प्रकट नहीं होता। अपने नगर को विध्वंस से बचाने के लिए बैजू हुमायूं के पास गया या ले जाया गया था, परन्तु उसका मन हुमायूं के दरबार में रम न सका और वह अवसर मिलते ही गुजरात भाग गया। तानसेन भी अकबरी दरबार में तलवार की नोक पर लाए गए थे, वहाँ वे स्वेच्छा से नहीं गए थे।

अकबरी दरबार में अनेक गायक एकत्रित हो गए थे। उनमें भारत के अतिरिक्त ईरान तथा तूरान के संगीतज्ञ भी थे। अबुलफजल ने आईने-अकबरी में ३६ प्रमुख गायकों की सूची दी है जिनमें से निम्नलिखित ग्वालियर के हैं:—

(१) तानसेन, (२) बाबा रामदास, (३) सुभानखाँ, (४) श्रीज्ञानखाँ, (५) मियाँ चाँद, (६) विचित्रखाँ (सुभानखाँ का भाई), (७) वीरमण्डलखाँ, (८) सिहावखाँ, (९) सरोदखाँ, (१०) मियाँ लाल, (११) तानतरंगखाँ (तानसेन का पुत्र), (१२) नानक जर्जू, (१३) प्रवीनखाँ (नानक जर्जू का पुत्र), (१४) सूरदास (बाबा रामदास का पुत्र), (१५) चाँदखाँ।

तानसेन मुगुल-दरबार में आने के पूर्व बान्धव गढ़ के राजा रामचन्द्र की राजसभा में थे। राजा रामचन्द्र ने तानसेन को एक बार एक करोड़ टंके (टका) उपहार में दिए थे। तानसेन की कला की ख्याति अकबर तक पहुँची और उसने उन्हें आगरा बुलाने का प्रयास किया। अपने राज्य के सातवें वर्ष (सन् १५६३ ई०) में अकबर ने जलालुद्दीन कुरची को सेना सहित तानसेन को लेने के लिए बान्धव गढ़ भेजा। रामचन्द्र बघेला के समक्ष कोई अन्य विकल्प नहीं रह गया। विवश होकर उसने तानसेन को उसके वाद्यों और उपहारों सहित आगरा भेज दिया।

संगीतज्ञ यदि रूपवती महिला हो, तब अकबर उसे प्राप्त करने के लिए कुछ भी कर सकता था। बुन्देला इन्द्रजीत की पातुर प्रवीणराय और मालवा के बाजबहादुर की प्रेयसी रूपमती के उदाहरण इतिहास-प्रसिद्ध हैं। बडनगर (गुजरात) की ताना और रीरी को भी अकबर के इस भयंकर संगीत-प्रेम के कारण अपनी आत्माहुति देना पड़ी थी। ताना और रीरी ने संभवत: बक्शू से संगीत शिक्षा प्राप्त की थी और वे मेघ मलार के गायन मे पारंगत थीं। जब अकबर बडनगर पहुँचा तब उसने इन नागर बालाओं को अपने दरबार की गायिकाएँ बनने का आग्रह किया। बडनगर के नागरों ने इसे अपना घोर अपमान माना। इस संघर्ष में हजारों नागरों ने अपने प्राण दिए और अन्त में ताना और रीरी ने भी

आत्मघात कर लिया। उनके स्मारक आज भी वडनगर के महाकालेश्वर श्मशान में बने हुए हैं।

अकबर के संगीत प्रेम और संगीत मर्मज्ञता की बात को यहाँ अप्रासंगिक मान कर छोड़ देना ही उचित है। सर्वश्रेष्ठ संगीतज्ञों को मुगल दरबार में इकट्ठे कर लेने की उसकी प्रवृत्ति का एक शुभ परिणाम अवश्य हुआ। भारत के इस महान् राज-दरबार में ग्वालियरी संगीत—ध्रुपद—का ही बोलबाला रहा और ईरान और तूरान का संगीत अपना प्रभाव न जमा सका। मुगुल-दरबार में प्रतिष्ठा प्राप्त होने के कारण ग्वालियरी ध्रुपद और उसके ग्वालियरी बोल राष्ट्रव्यापी प्रचार पा सके।

गुजरात में ध्रुपद

गुजरात के सुल्तान साहित्य और संगीत के पोषक रहे हैं। सुल्तान मुजफ्फरशाह (द्वितीय) (१५११-१५२६ ई०) स्वयं बहुत श्रेष्ठ गायक था तथा प्रत्येक वाद्य बजाने में निपुण था। उसने भारतीय संगीत-शास्त्र का भी अध्ययन किया था। उसने एक बार कहा था—"हिन्दुओं के ग्रन्थ में लिखा है कि सर्वश्रेष्ठ कवियित्री, उत्कृष्ट स्वर वाली गायिका, प्रत्येक वादन में दक्ष, चपल नर्तकी सरस्वती का रूप धारण कर सकती है। इसके अतिरिक्त उसके लिए अत्यधिक रूपवती भी होना आवश्यक है।" इन गुणों से युक्त उसके दरबार में चम्पाबाई नामक पातुर थी। उसके सरस्वती-नृत्य के लिए सुल्तान मुजफ्फर ने अनेक रत्नों से जटित स्वर्ण-हंस का निर्माण कराया था। चम्पा ने काव्य-पाठ, संगीत और नृत्य का अत्यन्त उत्कृष्ट प्रदर्शन किया था। जिस-किसी ने भी देखा, वह चकित रह गया और कहने लगा, "संसार में किसी ने भी इस प्रकार का प्रदर्शन न किया होगा।"[1]

मुजफ्फरशाह का उत्तराधिकारी बहादुरशाह (१५२६-१५३७ ई०) भी संगीत का प्रश्रय-दाता था। उसने अत्यधिक धनराशि देकर अनेक कलावन्तों को अपने दरबार में रखा था।[2] यह भी उल्लेखनीय है कि मानसिंह तोमर के सर्वश्रेष्ठ संगीताचार्य बैजू गुजरात से ही ग्वालियर आए थे। विक्रमादित्य की पराजय के पश्चात् वे बक्शू सहित गुजरात में बहादुरशाह के पास पहुँच गए थे। इन दोनों ने गुजरात में ग्वालियरी ध्रुपद-संगीत-शैली का पूर्ण विकास किया। इनके माध्यम से ग्वालियरी संगीत ही नहीं, हिन्दी-पद भी गुजरात में लोकप्रिय हुए। नरसी मेहता और दयाराम ने हिन्दी में हजारों पद इसी परम्परा में लिखे थे।

ब्रज में ध्रुपद

बिहार और बंगाल में बौद्ध धर्म के रूप-परिवर्तन के परिणामस्वरूप सिद्ध योगियों का एक सम्प्रदाय चल निकला था। पालवंशीय राजा धर्मपाल (सन् ७६८-८०९ ई०) के

१. डा० रिजवी, उत्तर तैमूर कालीन भारत, भाग २, पृ० ३७९।
२. डा० रिजवी, हुमायूं, भाग २, पृ० ४२३।

समकालीन सरहपा थे, जिन्होंने चौरासी सिद्धों की परम्परा चलाई। इनके द्वारा लोकभाषा में लिखे गए गीतों के आधार पर संगीत की सृष्टि की गई। इसी परम्परा में गोरक्षनाथ का नाथपंथ प्रवर्तित हुआ। नाथपंथी योगी संगीत के प्रबल पोषक थे और उनका मत समस्त भारतवर्ष में फैला। परन्तु पूर्वी भारत में राधाकृष्ण के माध्यम से रससिक्त संगीत की निर्झरणी का स्रोत जयदेव के गीतगोविन्द में है। बंगाल के सेनवंशी लक्ष्मणसेन के आश्रित महान् कवि-गायक जयदेव (सन् ११७९-१२०५ ई०) के आविर्भाव ने भारत के संगीत और साहित्य को बहुत अधिक प्रभावित किया। चैतन्य महाप्रभु का संगीत गीतगोविन्द से अत्यधिक प्रभावित था, यद्यपि उस पर सूफी 'समा' का प्रभाव भी स्पष्ट है। चैतन्य महाप्रभु कीर्तन करते-करते उसी प्रकार विह्वल, अश्रुपूर्ण और बेहोश हो जाते थे, जिस प्रकार सूफी सन्त अपनी संगीत सभाओं में फूट-फूट कर रोने लगते थे। चैतन्य महाप्रभु ब्रज भूमि में भी आए थे और उन्होंने वहाँ बहुत समय तक निवास किया था। चैतन्य सन् १५१० ई० में वृन्दावन पहुँचे थे। कहा तो यह भी जाता है कि वल्लभाचार्य की कन्या का विवाह चैतन्य महाप्रभु से हुआ था।[1] वृन्दावन छोड़ने के उपरान्त चैतन्य ने लोकनाथ गोस्वामी को वृन्दावन के उद्धार के लिए वहाँ भेजा था।

परन्तु ब्रज में चैतन्य महाप्रभु द्वारा प्रवर्तित संगीत-शैली स्थायी न रह सकी। सन् १५०५ ई० में वृन्दावन में निधिवन में स्वामी हरिदास पहुँच गए थे। और उनके द्वारा ग्वालियरी विष्णुपद और ध्रुपद गायन की प्रतिष्ठा हुई। उधर गोकुल में पुष्टिमार्ग के प्रवर्तक महाप्रभु वल्लभाचार्य ने सन् १५०१ ई० में श्रीनाथजी के मन्दिर की स्थापना की और ग्वालियर के तोमर राज्य के पतन के पश्चात् ग्वालियर के अनेक गायक, विशेषत: जो धार्मिक वृत्ति के कृष्णभक्त थे, गोकुल चले गए। श्रीनाथजी के मन्दिर में उन्हें प्रश्रय मिला। वल्लभाचार्य के पश्चात् गोस्वामी विट्ठलनाथ पुष्टिमार्ग के आचार्य हुए। उनके समय में श्रीनाथजी की वाङ्मयी पूजा का आधार ध्रुपद संगीत बना। पुष्टिमार्ग का सम्प्रदाय-संगीत बन जाने के कारण ग्वालियर का ध्रुपद ब्रज में गहरा जम गया। वल्लभ-कुल द्वारा अपनाए जाने के कारण मानसिंह का ध्रुपद-गायन न केवल गोकुल और वृन्दावन में फैल सका, वरन् जहाँ-जहाँ पुष्टिमार्ग के मन्दिर बने वहाँ-वहाँ उसे प्रमुखता मिली। ग्वालियरी ध्रुपद गायन शैली की परम्परा आज भी जीवित है इसका बहुत बड़ा श्रेय स्वामी हरिदास और पुष्टि-मार्ग के कृष्ण-मन्दिरों को है।

तोमरों के ग्वालियर की संगीत-साधना का मूल्यांकन

ग्वालियर की संगीत-परम्परा तोमरों के पूर्व ही अत्यन्त समृद्धिशाली रही है। ग्वालियर के तोमरों ने उसे गतिशील बनाया। डूंगरेन्द्रसिंह तोमर ने उसे अत्यन्त प्रांजल और परिष्कृत रूप दिया। मानसिंह तोमर ने उसे इतना प्रभावशाली और गतिशील बना दिया कि वह संप्रदाय, काल और प्रदेश की सीमाएँ तोड़कर भारतव्यापी हो गया तथा अनेक

---

१. डा० सत्येन्द्र द्वारा सम्पादित ब्रज-लोक-संस्कृति, पृ० १७० ।

शताब्दियों तक अपनी मंजुल प्रतिध्वनि गुंजरित करता रहा। हिन्दू राजाओं की राजसभाएं, मुगुल दरबार और अन्य मुस्लिम दरबार, सगुण और निर्गुण सन्त, सूफी-दरवेश, पातुरें और कनीजें, सभी ध्रुपद के रंग में शताब्दियों तक सराबोर रहे। ग्वालियरी ध्रुपद भारत के नागरिक के लिए संस्कृति और सभ्यता का प्रतीक बन गया। शताब्दियों से लड़ते आ रहे हिन्दू और तुर्क, राजपूत-पठान और मुगुल, ग्वालियरी ध्रुपद की अलौकिक स्वर-लहरी से पुनीत होकर वीणापाणि सरस्वती और नृत्य-गणेश की वन्दना में ग्वालियरी ध्रुपद की वाणी में समवेत स्वर से गाने लगे, पाशविकता स्निग्ध मानवता की ओर बढ़ने लगी, महमूद के वंशजों ने मदीना के मुल्लाओं के उपदेश को ठुकरा कर मृदंग की थाप और वीणा की स्वरसंगति पर भरी सभा में मान के ध्रुपद की ग्वालियरी के तुतले अनुकरण में वन्दना की—

विद्या पंथ सूजत नहीं या कारन सरसुती,
गनेस रवि ससि भय परकास
वाक विनायक जुगल तुम्बड़बीन भयो रे,
दुःख हरन को सुख करन भोग विलास
सारदा गनेस माता पिता तुम मानो निर्मल,
बीव फटिक सीसी तास
इबराहीम गुप्त घेसो अपन बाज प्रगट,
कीनौ धन्य मेरो रास।[1]

(विद्या का पथ सूझ नहीं रहा, इस कारण सरस्वती और गणेश रवि-शशि के समान उदित हुए। विनायक की वाणी और सरस्वती की वीणा ने संताप को मिटा दिया और सुख तथा आनन्द विलास का मार्ग अनवरुद्ध कर दिया।

हे शारदा और गणेश, आप मेरे माता-पिता के समान हो, मानो पारसमणि ही हो, जिनके स्पर्श से इबराहीम भी गुप्त से प्रकट (प्रकाशमान) हो गया। मैं धन्य हो गया।)

संगीत की साधना में मानसिंह ने कुछ अतिरेक कर दिया। ग्वालियर की तत्कालीन वित्तीय स्थिति की अपेक्षा उसने इस दिशा में अधिक व्यय किया। ग्वालियर के तोमर राजा को इस संगीत साधना का भारी मूल्य चुकाना पड़ा। मान की मृत्यु के पश्चात् ही अफगान अमीर और कुछ राजा ग्वालियर गढ़ पर चढ़ दौड़े। परन्तु भारतीय संस्कृति को मान का ग्वालियर जो दे गया वह अजेय रहा। भारतीय सामासिक संस्कृति के निर्माण में जो अंशदान इन तोमरों ने किया है उसे देखते हुए सौदा कुछ महँगा नहीं कहा जा सकता। राज्य तो अचल और अटल किसी राजवंश का नहीं रहा, मानव की कोई कृति यावच्चन्द्र-दिवाकरौ न चली है, न चलेगी। राष्ट्र की उन्नति की उपलब्धि के लिए किया गया कोई भी बलिदान अधिक नहीं है। आगे की पीढ़ियाँ यदि उसका मूल्य समझें तब वह उनकी कृतज्ञता की पावन भावना का ही प्रतीक होगा, वे यदि उस उपकार को न भी मानें तब, उस कृतघ्नता के होते हुए भी, साधक की साधना और उसके उदात्त परिणामों की महत्ता में कोई न्यूनता नहीं आती।

---

१. किताबे-नौरस, नजीर अहमद, पृ० ११६।

परिच्छेद २१

चित्रकला

अनिकेत मानव ने पार्वत्य गुहाओं को अपना आवास बनाया था। उसे वनों में गेरू, रामरज और हिरमिजी जैसे पदार्थ भी मिले जो शिलाओं पर लगाने पर विविध रंगों में रेखाएँ अंकित कर देते थे और जिनमें कुछ स्थायित्व भी था। उस गुहागृही आदिम मनुष्य ने अपनी गुहाओं में अपने जीवन की कुछ घटनाओं को तथा अपने सहचर वन्य पशुओं को अंकित किया। मानव की चित्रकला का प्रारम्भ हुआ, जिसकी आधार गुहावासों की शिलाएँ थी। वर्तमान मध्यप्रदेश के सरगुजा जिले के अन्तर्गत प्राप्त जोगीमारा गुफा के भित्तिचित्र इसी श्रेणी में आते हैं। भारत की चित्रकला के इतिहास में ये भित्तिचित्र प्राचीनतम हैं। यह भी निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि उसी आदिम मानव ने उन धूलिचित्रों की परम्परा को प्रारम्भ किया होगा जिसे आज भी भारत रांगोली और सांझी के रूप में जीवित रखे हुए है।

मानव मस्तिष्क के विकास के साथ-साथ चित्रों के माध्यम से विविध मनोभावों की अभिव्यक्ति के प्रयास विकसित हुए। चित्रों के अंकन के प्रयोजन भी बढ़ते और बदलते गए। अपने बर्तन-भांडों को रंगों के विविध संयोजनों से तथा अनेक प्रकार के आलंकारिक अंकन से सुसज्जित करने के लिए भी चित्र उरेहे गए। आर्यों की संस्कृति के विस्तार के पूर्व मूल भारतीयों के नगरों में सरल रेखाओं, कोणों, वृत्तों और वृत्तांशों के अलंकरणों और फूल-पत्तियों तथा पशु-पक्षियों की आकृतियों से सज्जित मृत्तिका-भाण्ड उत्खनन में प्राप्त होते हैं। आर्यों ने अग्नि के महत्व को समझा और परम आराध्य के रूप में उसकी पूजा प्रारम्भ की। ऋग्वेद में चमड़े के पट पर बने अग्नि के चित्रों की चर्चा है।

क्रमशः यह लोककला वरिष्ठ या अभिजात कला के रूप में प्रतिष्ठित हुई। उसके प्रयोजन भी अनेक हो गए और उसकी रचनाविधा के भी शास्त्रीय विवेचन किए जाने लगे। भारत के चित्र बहुधा भित्तियों पर भित्तिचित्र के रूप में, कपड़े और चमड़े के पटों पर चित्रपटों के रूप में तथा लकड़ी, पत्थर या हाथीदांत पर चित्रफलक के रूप में बनाए जाते थे। चित्रों का प्रयोजन केवल वातावरण को अधिक सुन्दर बनाना ही नहीं रह गया, उनका उपयोग अन्य प्रकार से भी किया जाने लगा। एक ओर तो चित्रकला साहित्य की सहचरी बनकर विभिन्न रसों और भावों की अभिव्यक्ति करती है, संगीत की सहचरी बनकर राग-मालाओं के रूप में दिखाई देती है, भवनों और मन्दिरों को अलंकृत करती है; दूसरी ओर वर-वधू के चयन करने में भी सहायक होती है। वासवदत्ता की कथा के अनुसार, जब वासवदत्ता

उदयन के साथ भाग गई तब चण्डमहासेन ने वासवदत्ता और उदयन के चित्रफलक रख कर उनका विवाह करा दिया। चित्रकला का एक उपयोग औरंगजेब ने भी किया था। उसने अपने भाई को ग्वालियर गढ़ में बन्द करा दिया और उसे मार डालने के लिए विष देना प्रारंभ कर दिया। विष का प्रभाव किस सीमा तक हो चुका था, यह जानने के लिए समय-समय पर उसका चित्र औरंगजेब के पास भेजा जाता था।

तोमरों के इतिहास में हमारा सम्बन्ध केवल उस चित्रकला से है जो विभिन्न माध्यमों द्वारा भित्तिचित्र, चित्रपट अथवा चित्रफलक के रूप में सौन्दर्यबोध की दृष्टि से विकसित हुई थी तथा जिसके कारण भारतीय संस्कृति को संसार के मानव-समाजों में सम्मानीय स्थान प्राप्त है।

प्राचीन भारत की चित्र-साधना का सर्वोत्कृष्ट स्वरूप अजण्ठा और बाघ के भित्तिचित्रों के रूप में प्राप्त हैं। भारत का प्राकृतिक वैभव उन चित्रों में अपने चरम सौन्दर्य के साथ अंकित हुआ है। मानव आकृतियों के चित्रों में उनके समस्त मनोभाव अभिव्यक्त हुए हैं। कालक्रम में ये चित्र छठवीं अथवा सातवीं शताब्दी के पश्चात् के नहीं है।

ईसवीं नौवीं, दसवीं और ग्यारहवीं शताब्दी में उत्तर भारत के साहित्य में चित्रांकन के उल्लेख मिलते हैं और उसके शास्त्रीय विवेचन भी किए गए हैं; तथापि, उस समय के भित्तिचित्र अथवा चित्रपट प्राप्त नहीं हो सके हैं। कालगति और तुर्कों द्वारा उस युग के सांस्कृतिक केन्द्रों का इस सीमा तक विनाश किया गया है कि उस समय के चित्रों का प्राप्त होना संभव नहीं रहा।

ईसवी बारहवीं शताब्दी के कुछ चित्र अवश्य प्राप्त हुए हैं, परन्तु उनमें अजण्ठा की परम्परा के दर्शन नहीं होते। बारहवीं शताब्दी में निर्मित मदनपुर में चन्देलों के मन्दिर की छत में कुछ भित्तिचित्र प्राप्त हुए हैं।[1] उनकी शैली अजण्ठा की परम्परा की नहीं है। वह उस शैली के हैं जिन्हें भारतीय चित्रकला के इतिहासों में अपभ्रंश शैली कहा जाता है। इन भित्तिचित्रों में पंचतंत्र के आख्यान अंकित किए गए हैं।

यह अनुमान किया जा सकता है कि दिल्ली के तोमरों के महलों और मन्दिरों में अवश्य ही भित्तिचित्र बनाए गए होंगे। परन्तु उनमें से अब कुछ भी शेष नहीं है। शेष रह भी नहीं सकते थे। उनके समस्त निर्माणों का उपयोग अनेक राजवंशों ने किया और फिर वे कालगति से नष्ट हो गए या परवर्ती राजवंशों के निर्माण माने जाने लगे।

दिल्ली के तोमरों के चित्रों के उपलब्ध न होने से भारतीय सांस्कृतिक इतिहास की बहुत बड़ी हानि हुई है। दिल्ली के तोमर कभी बंगाल के पाल सम्राटों के अधीन रह चुके थे। यह अधीनता लगभग एक शताब्दी तक चली थी। बंगाल में पालों के समय में अत्यन्त उत्कृष्ट चित्रकला का विकास हुआ था। उसका प्रभाव कुरुक्षेत्र के इन तोमरों की

---

१. स्टेला, क्रेमरिश : ए पेन्टेड सीलिंग, जर्नल ऑफ दि इण्डियन सोसाइटी ऑफ ओरिएण्टल आर्ट, भाग ७ (१९३९), पृ० १७५।

कलासृष्टि पर भी पड़ा होगा। परन्तु जो उपलब्ध नहीं है उसकी ऊहापोह बहुत उपयोगी नहीं है।

तुर्कों के समय में भारतीय चित्रकला को पुनः धक्का लगा था। इस्लाम मानव-आकृतियों के अंकन का निषेध करता है। फीरोज तुगलुक यद्यपि चित्रकला का प्रेमी था, तथापि उसने दिल्ली के प्रासादों में जो प्राणियों के चित्र थे उन्हें धार्मिक कर्तव्यवश पुतवा दिया था और उनके स्थान पर बगीचों के दृश्य अंकित करा दिए थे। ये प्रासाद तोमरों के ही थे, और जो पोती गई थी वह तोमरों की ही चित्रकला थी। परन्तु इस युग के कुछ भारतीय चित्र प्राप्त होते हैं। श्वेताम्बर सम्प्रदाय का एक ग्रन्थ 'सावग-पडिक्कमण-सुत्त-चुण्णि' चित्रों युक्त प्राप्त हुआ है। यह ग्रन्थ सन् १२६० ई० में गुहिल तेजसिंह के राज्य-काल में उदयपुर के पास आघाट (वर्तमान अहार) नामक स्थान में लिखा गया था।[1]

तैमूर के आक्रमण के पश्चात् तुर्की सल्तनत के विच्छिन्न होने पर अन्य सांस्कृतिक क्षेत्रों के समान चित्रकला में भी नवीन उभार दिखाई देता है। ईसवी पन्द्रहवीं शताब्दी के विशुद्ध भारतीय परम्परा के चित्र भी बहुत प्राप्त होते हैं और कुछ सुल्तानों द्वारा बनवाए ईरानी शैली से प्रभावित चित्र भी प्राप्त होते हैं।

तोमरों के समकालीन मालवा के खलजियों द्वारा चित्रकला को पर्याप्त प्रोत्साहन दिया गया था। उनके समय में भित्तिचित्र भी बनवाए गए और कुछ फारसी के ग्रन्थों की चित्रयुक्त प्रतियाँ भी तैयार कराई गईं। मालवा के इन सुल्तानों के चित्रपटों को देखने से यह ज्ञात होता है कि उनके दरबार में कुछ ईरानी शैली के सिद्धहस्त चित्रकार भी बुलाए गए थे। गयासुद्दीन खलजी ने नियामतनामा की सचित्र प्रति बनवाई थी। उसमें स्थानीय भारतीय शैली का भी प्रभाव है, परन्तु बोस्तां के चित्र विशुद्ध ईरानी शैली में अंकित किए गए हैं। कश्मीर का जैनुल-आबेदीन भी अन्य कलाओं के समान चित्रकला का प्रश्रयदाता था। उसके प्रोत्साहन से अत्यन्त सजीव और मनोहारी चित्रशैली का विकास हुआ था।

हिन्दू राजाओं में, ग्वालियर के तोमरों के अतिरिक्त, चित्रकला का विकास मेवाड़ में हुआ। महाराणा मोकल के राज्यकाल में सन् १४२२ ई० में मेदपाट के देवकुलवाटक नामक स्थान पर सुपासनाहचरियम् (पार्श्वनाथ चरित) की चित्रों युक्त प्रति तैयार की गई थी। महाराणा कुम्भा के समय में भी चित्रकला का विकास हुआ होगा, इसमें सन्देह नहीं है। उनके राज्यकाल का कोई चित्रपट प्राप्त नहीं हुआ है; परन्तु उनके द्वारा कश्मीर के जैनुल-आबेदीन को जो भेंट भेजी गई थी उससे ज्ञात होता है कि उनके समय में अत्यन्त सुन्दर चित्रपट तैयार किए जाते थे। श्रीवर ने राजतरंगिणी में लिखा है—

वस्त्रं नारीकुंजराख्यं कुंभराजो विसर्जयन्।
अहरद्धृदि तच्छेव नारी कुंजर कौतुकम् ।४।१३॥

---

१. आनन्द के० कुमारस्वामी : एन इलस्ट्रेटेड जैन मैनुस्क्रिप्ट ऑफ ए० डी० १२६०, ईस्टर्न आर्ट, भाग २ (१९३०), पृ० १३७-२४०।

ज्ञात होता है कि जो वस्त्र राणा कुम्भा ने भेजा था उस पर नारीकुंजर, अर्थात्, अनेक नारियों के संयोजन से बनाई गई हाथी की आकृति चित्रित की गई थी।[1]

पीपलनेर में चित्रित की गई सन् १४८७ ई० की दुर्गापाठ की प्रति संभवतः मेवाड़ के राणाओं के ही किसी चित्रकार ने बनाई थी।

चित्रकला के विकास के लिए जिस प्रकार के वातावरण की आवश्यकता होती है उसका निर्माण तोमरों के समय में ग्वालियर में हो गया था। परवर्ती मध्ययुग में चित्रों के विषय नायिका भेद, बारहमासा, रागमालाएँ, कृष्ण, राम, नल-दमयन्ती तथा अन्य पौराणिक व्यक्तियों के आख्यान मिलते हैं। नायिकाभेद, कामशास्त्र और संगीतशास्त्र, दोनों का अंग है; जिन पर ग्वालियर के तोमरों ने ग्रन्थ लिखे थे। रागमाला के राग-रागिनियों के ध्यानों की, उनके मानवीकरण की परिकल्पना वीरसिंहदेव तोमर के समय में ही कर दी गई थी। राग-रागिनियों का परिवार आगे अधिक स्पष्ट किया किया जाता रहा और मानकुतूहल में वह पूर्णतः मूर्तिमान हो गया। रागमाला चित्रों का यही मूलाधार है।

मानमन्दिर के पार्श्व में स्थित कीर्तिमन्दिर (जिसे अब कर्ण मन्दिर कहा जाता है) महाराज कीर्तिसिंह तोमर (१४५९-१४८० ई०) ने बनवाया था। उसका विवरण देते हुए मेजर जनरल कनिंघम ने लिखा है[2]—"कीर्तिमहल दो मंजिल का लम्बा सकड़ा भवन है, जिसमें केवल एक बड़ा कमरा ४३ फुट लम्बा तथा २८ फुट चौड़ा है, और उसकी छत खम्भों की दो पंक्तियों पर आधारित है। इस कमरे के दोनों ओर एक एक कमरा है, एक २८ फुट लम्बा और १५ फुट चौड़ा है और दूसरा २८ फुट लम्बा और १२ फुट चौड़ा है। इस महल का दक्षिणी छोर अष्टकोण है और उसमें अनेक स्नानगृह ठण्डे तथा गरम पानी के हैं, परन्तु अब उनका उपयोग नहीं होता तथा वे बेमरम्मत पड़े हैं। इन स्नानगृहों में से कुछ में चित्रों के चिह्न दिखाई देते हैं, परन्तु बड़े कमरों की सज्जा चूने के अनेक स्तरों के नीचे ढक गई है। इस महल का बाहरी भाग अत्यन्त सादा है, जिससे मेरा अनुमान है कि, वह चित्रोंयुक्त गच (stucco) से आवृत था।"

बाबर ने मानमन्दिर के विषय में लिखा है कि उसके सामने के भाग पर सफेद गच (stucco) है। ज्ञात यह होता है कि इस पलस्तर के ऊपर भी अनेक चित्र बने हुए थे, परन्तु अब वे अनुपलब्ध हैं; कहीं-कहीं पत्थरों के कोनों में पलस्तर के अवशेष दिखाई देते हैं। मेजर जनरल कनिंघम ने इस पलस्तर के गिर जाने को सौभाग्य माना, परन्तु भारतीय चित्रकला के विकास से इतिहास के सन्दर्भ में यह वास्तविक दुर्घटना है।

इन उल्लेखों से यह अवश्य सिद्ध होता है कि कीर्तिसिंह के समय के पहले से ही ग्वालियर के तोमरों ने अपने प्रासादों को सुन्दर भित्तिचित्रों से अलंकृत कराना प्रारम्भ कर दिया था। मानमन्दिर का तो नाम ही 'चित्रमहल' था। उसमें नानोत्पलखचित कदली

---

१. नारीकुंजर का एक सुन्दर भित्तिचित्र नरवर के गढ़ में कचेरी में बनाया गया था।

२. आर्कों० सर्वे रि०, भाग २, पृ० ३४६-३४७।

आदि के चटक रंगों के चित्र आज भी उपलब्ध हैं, तथापि अन्य समस्त भित्तिचित्र मानव और काल ने समाप्त कर दिए हैं। इनमें से कुछ भित्तिचित्र पचास वर्ष पूर्व उपलब्ध थे और उनके चित्र प्रसिद्ध कलामर्मज्ञ राय कृष्णदास ने लिए थे। उनका सदुपयोग उनके योग्य पुत्र डा० राय आनन्दकृष्ण ने अपनी पुस्तक 'मालवा पेण्टिंग्स' में किया है और उनके रेखा-चित्र भी दिए हैं।

इन भित्तिचित्रों में एक चामरधारियों का युग्म है जो वातायन के दोनों ओर बना हुआ था। इनमें हरे, नीले, पीले, काले तथा सफेद रंगों का प्रयोग किया गया था। दूसरा भित्ति चित्र मान मन्दिर की दक्षिणी बुर्ज की छत में बना मिला था। वास्तव में यह मान-मन्दिर की नृत्यशाला की जाली में की गई कटाई का रंगीन चित्र है। जिस प्रकार के बेल-बूटों के बीच उस रंगशाला की जाली में नर्तकियों और वाद्य बजाने वाली स्त्रियों के आकार कटे हुए हैं उसी प्रकार के बेलबूटों के बीच एक नर्तकी तथा एक मृदंगवादिका इस भित्ति-चित्र में अंकित थी। इस भित्तिचित्र में पीले, नारंगी, चटक हरे, काले तथा सफेद रंगों का प्रयोग किया गया था। इन चित्रों पर अपभ्रंश शैली का प्रभाव बिल्कुल नहीं है, न उनकी डेढ़ आंख[1] बनाने की परम्परा को अपनाया गया है। नर्तकी और मृदंगवादिका में गति और तन्मयता का जितना संजीव अंकन इस भित्तिचित्र में किया गया है वैसा पूर्ववर्ती अपभ्रंश शैली के प्राप्त चित्रों में नहीं है।

१. प्रसिद्ध कलामर्मज्ञ रायकृष्णदास ने इसे 'सवा चश्म' कहा है।
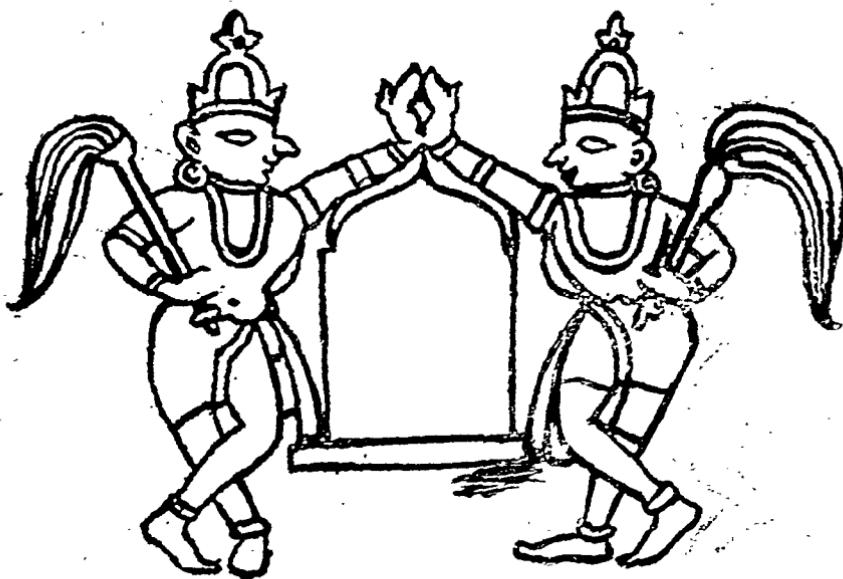
मानमन्दिर (चित्रमहल) के वातायान में प्राप्त चामरधारी युग्म के चित्र का रेखाचित्र।
(डा० राय आनन्दकृष्ण के 'मालवा पेण्टिंग्स' से साभार।)

मानमन्दिर (चित्रमहल) की दक्षिणी बुर्ज की छत में प्राप्त हुआ नर्तकी और मृदंगवादिका के चित्र का रेखाचित्र। (डा० राय आनन्दकृष्ण के 'मालवा पेन्टिंग्स' के साभार।)

सन् १५१७ ई० में अंकित एक सचित्र महाभारत कथा भी प्राप्त हुई है। संभव है, उसके चित्र भी ग्वालियर में बनाए गए हों। डा० आनन्दकृष्ण उसके चित्रों की शैली मानमन्दिर के भित्तिचित्रों के समान होना लिखते हैं।[1]

यह स्मरणीय है कि मानमन्दिर के भित्तिचित्रों में से जो कुछ उपलब्ध हुआ है, वह उस युग की ग्वालियरी कलम का श्रेष्ठतम प्रतिनिधि नहीं कहा जा सकता। मानमन्दिर के श्रेष्ठतम भित्तिचित्र उसकी रंगशाला और प्रधान प्रकोष्ठों में बनाए गए होंगे। परन्तु जो कुछ मिल सका है उसके आधार पर यह कहा जा सकता है कि भारतीय चित्रकला की अपभ्रंश या अपभ्रष्ट शैली को परिमार्जित तथा विकसित कर तोमरकालीन ग्वालियर ने मध्ययुगीन तथाकथित राजपूत शैली का सूत्रपात किया था। भारतीय चित्रकला के इतिहासकारों में से अनेक ने यह स्थापना की है कि मुगुल चित्रकला ने ही परवर्ती राजपूत चित्रशैली को जन्म दिया है। यह कथन नितान्त भ्रमपूर्ण है। मध्ययुगीन भारतीय चित्रकला का उत्स मेवाड़ और ग्वालियर में है। वह परम्परा निरन्तर चलती रही और उसने मुगुल चित्रकला को भी प्रभावित किया था। इस सन्दर्भ में कुछ तथ्यों को ध्यान में रखना आवश्यक है।

नारायणदास कल्याणमल्ल का राजकवि था। उसने अपना छिताईचरित ग्वालियर में ही लिखा था। ग्वालियर के तोमरों के समय में चित्रकला उपकरण, विषयवस्तु और सौन्दर्यबोध की दृष्टि से उत्कृष्ट थी इसके प्रमाण में नारायणदास के छिताईचरित का उद्धरण पर्याप्त होगा[2]—

मांगि राई बानी पंच बरना। लाग्यो चित्र चितेरौ करना।
सुमिर गणेश गही लेखनी। लागिउ बुधि रचन आपुनी।
प्रथमहि लिखिउ सरस्वती रूपा। उकति चित्रु जिहँ होई अनूपा।
रेखा धुनिरिति लिखिउ संजागू। नलदमयन्ती तनो वियोगू।
भारथु रामायन चितरीयो। मृगया मांझ मनोहर करीयो।
लिखिउ कोक चौरासी भाँती। ओ चारौ अस्त्रीन्ह की जाती।
हस्तनि चित्रनि पदुमनि संखनी। चित्री तहां मनोहर बनी।
चारि पुरुष चउहूं आकारी। अस गज नर पुर खरौ सुठारी।

नारायणदास के अनुसार, उस समय के चितेरे सरस्वती, संयोग और वियोग शृंगार, नल-दमयन्ती आख्यान, महाभारत और रामायण के आख्यान, मृगया, आदि का तो अंकन करते ही थे, कामशास्त्र सम्बन्धी चित्रों का भी अंकन करते थे। खजुराहो की यह परम्परा पन्द्रहवीं शताब्दी के चित्रपटों पर भी उतरी थी—

देखइ चित्र कोकु जहँ कीन्हा। कामुकथा जो देखइ लीन्हा।
आसन चित्रे विविध प्रकारा। सुभजे परी तरंग की सारा।
देखउ चित्र सु भुजविपरीता।

---

१. मालवा पेण्टिंग्स: पृ० ८ (भारत कला भवन प्रकाशन)।
२. द्विवेदी, छिताईचरित, पाठ भाग, पृ० १७।

ग्वालियर के तोमरों का राज्य समाप्त होने के पश्चात् संगीतज्ञों और कवियों के समान ग्वालियर के चितेरे भी आश्रय की खोज में इधर-उधर चले गए। अकबरी दरबार में कुछ चितेरे ग्वालियर से भी गए थे। इनके विषय में अबुल फजल ने आईने-अकबरी में लिखा है—

"हिन्दू चित्रकारों के चित्र हम लोगों की भावना से कहीं ऊँचे होते है। सारे संसार में ऐसे कम कलाकार हैं।"[1]

अबुल फजल ने यह भी लिखा है कि अकबर के ये हिन्दू चितेरे रामायण, पंचतंत्र (कालील: दमन:) और नल-दमयन्ती जैसे आख्यानों पर चित्र बनाते थे।[2] नारायणदास के छिताईचरित में इन आख्यानों के आधार पर चित्र बनाने के उल्लेख करने मात्र से यह स्थापना नहीं की जा सकती कि अकबरी दरबार के समस्त हिन्दू चितेरे ग्वालियर-कलम का ही प्रतिनिधित्व करते थे, परन्तु इतना अवश्य कहा जा सकता है कि तोमरों के ग्वालियर की 'लेखनी' और 'पंचवर्णों'[3] की मनोहारी योजना ने अकबरकालीन चित्रकला को पर्याप्त प्रभावित किया था और परवर्ती 'राजपूत शैली' के नाम से प्रख्यात भारतीय चित्रकला के विकास में अपना महत्वपूर्ण योगदान किया था।

मध्ययुग का प्रसिद्ध चित्रकार मोलाराम 'तोमर' था। उसके चित्र-संग्रह में ऐसे चित्र प्राप्त हुए हैं जो एक ही व्यक्ति या एक ही पीढ़ी के बनाए हुए नहीं कहे जा सकते।[4] उन चित्रों में तोमरों के ग्वालियर की चित्र-साधना का प्रसाद है या नहीं, यह कहना अभी संभव नहीं है। नयनपुर से तोमरों ने भी चित्रकला को प्रोत्साहन दिया था। परन्तु उनका सम्बन्ध दिल्ली के तोमरों की चित्रकला से था या ग्वालियर के तोमरों की चित्रकला से, यह जानने का हमारे पास कोई साधन नहीं है। सामान्य रूप से यह अवश्य कहा जा सकता है कि तोमरों के समय के ग्वालियर, तोमरों के समय के नयनपुर और तोमर मोलाराम का चित्र-कला के क्षेत्र में भारतीय संस्कृति की महान् धारा में विशिष्ट योगदान है।

कलाकारों की सामाजिक स्थिति

मध्ययुग की संगीत-साधना में संतों ने बहुत बड़ा योगदान किया था। राजसभाओं में जिन संगीतज्ञों को प्रतिष्ठा प्राप्त हुई थी वे समाज के उच्च वर्गों से आते थे, इस कारण संगीतज्ञ को समाज में सम्मानीय स्थान मिला था। संगीताचार्य 'नायक' कहे जाते थे और वे पद-रचना भी करते थे। उनकी शिष्य-मण्डली उनकी पालकियों को अपने कन्धों पर उठा कर चलती थी। ग्वालियर के तोमरों ने संगीतज्ञों का अत्यधिक सम्मान किया और उनके

---

१. आईने-अकबरी, भाग १, पृ० ११४।

२. वही, पृ० ११५।

३. नारायणदास ने छिताईचरित में चित्रकार की तूलिका के लिए 'लेखनी' शब्द का प्रयोग किया है और चित्रांकन के लिए पाँच रंगों को प्रमुख माना है। मानमंदिर के भित्तिचित्रों में भी पाँच रंगों का उपयोग किया गया है।

४. राय कृष्णदास : भारत की चित्रकला, पृ० १००।

समय से ही वह परम्परा चली, जिसमें गायकों को लाखों रुपये पुरस्कार में दिए जाते थे। इस कारण इस युग ने अनेक प्रतिभाशाली संगीतज्ञों को उत्पन्न किया।

साहित्यकार का भी पर्याप्त सम्मान था। राजपुरोहित वर्ग में से ही बहुधा राजकवि होते थे; भाटों का तो व्यवसाय ही पद्यों द्वारा अपने आश्रयदाताओं की स्तुति करना था। उन्हें भी वृत्तियाँ मिलती थीं। साहित्यकारों की रचनाएँ समारोहों पर गाकर सुनाई जाती थी। सामूहिक रंजन के साधन होने के कारण उनका सम्मान भी था।

मूर्तिकला स्थापत्य का ही अंग मानी जाती थी; तथापि, मूर्तिकार की स्थिति कुछ भिन्न थी। खजुराहो के चन्देल मन्दिरों के लिए मूर्तियाँ बनाने वाले प्रधान शिल्पियों का पर्याप्त सम्मान था। वे केवल मन्दिरों और महलों के स्थापत्य से संयुक्त मूर्तियों के अतिरिक्त स्वतंत्र मूर्तियों का भी निर्माण करते थे और उनकी मूर्तियों की माँग अच्छी थी। गोपाचल गढ़ पर इतने विशाल मूर्ति-वैभव के निर्माताओं की स्थिति क्या थी, इसे जानने का कोई साधन नहीं है। खजुराहो के उदाहरण से उसका अनुमान मात्र किया सकता है।

परन्तु यह निश्चयपूर्वक कहा जा सकता है कि चित्रकार या चितेरे की सामाजिक स्थिति अच्छी नहीं थी। भित्तिचित्र बनाने वाले कुशल चितेरे भी समाज में प्रतिष्ठा नहीं पाते थे। अजण्टा और बाघ के भित्तिचित्र उत्कृष्ट धार्मिक भावना से प्रेरित बौद्ध भिक्षुओं की कृतियाँ हैं, उन्हें प्रतिष्ठा और व्यक्ति के रूप में सम्मान की आकांक्षा नहीं थी। वह परम्परा आगे न चल सकी। इस कारण भारतीय चित्रकला का पतन प्रारम्भ हुआ।

पूर्व मध्ययुग के जितने चित्र उपलब्ध हैं वे अपठित चितेरों के बनाए हुए हैं, और इसी कारण उनमें से अधिकांश में मौलिक कल्पना और विकास के प्रयास का सर्वथा अभाव है। वे रूढ़िगत आकृतियों का आलेखन मात्र करते हैं। अपने चित्रों के पात्रों द्वारा भावाभिव्यक्ति कराने की क्षमता उनमें नहीं रह गई थी। ज्ञात होता है कि अजण्टा और बाघ के चितेरों की परम्परा भारत में कभी पूर्णतः विलुप्त हो गई थी।

इसका प्रधान कारण यह ज्ञात होता है कि पूर्व मध्ययुग से ही चितेरे का कार्य प्रतिभाशाली व्यक्तियों ने हाथ में नहीं लिया और यह कार्य पूर्णतः उन व्यक्तियों पर छोड़ दिया गया जो उस समय के समाज में निम्न वर्ग के समझे जाते थे। क्रमशः, चित्रकारी को निम्न वर्ग का व्यवसाय माना जाने लगा। यह परम्परा सत्रहवीं और अठारहवीं शताब्दी तक चलती रही। मोलाराम तोमर क्षत्रिय था और अत्यन्त प्रसिद्ध चित्रकार भी था। परन्तु वह अपने आपको 'कवि' लिखता था, न कि चित्रकार। केवल एक चित्र में उसने अपने आपको 'मुसव्विर' लिखा है। परन्तु उसमें भी वह अपने आपको 'कवि' लिखना नहीं भूला—'कवि मोलाराम मुसव्वर खेंची यह तसवीर रिझांनि में।'[1] इसका कारण यह था कि उस समय के मुसव्विर बहुधा सुनार होते थे।

---

१. मुकुन्दीलाल : गढ़वाल पेंण्टिंग, पृ० २०, तथा फलक ८।

चित्रकारों की सामाजिक स्थिति तुर्क और मुग़लों के समय में उन्नत हुई। इस्लाम चित्रकला को प्रोत्साहन नहीं देता; हज़रत मुहम्मद ने वृक्ष, फूल और मकानों के चित्र छोड़ कर अन्य चित्रों का आलेखन निषिद्ध ठहराया था। परन्तु इस निषेध पर अधिक ध्यान नहीं दिया गया। तैमूर चित्रकला का प्रेमी था और लूट के माल के साथ अनेक चित्रकार अपनी राजधानी समरकंद में भेज देता था। भारत के भी श्रेष्ठ चित्रकार उसने समरकंद भेज दिए। तैमूर के पुत्र शाह रुख ने भी चित्रकला को अत्यधिक प्रोत्साहन दिया। उसने अपनी राजधानी हिरात नामक नगर में बनाई। चीन, ईरानी और कतिपय भारतीय प्रभाव से युक्त चित्रकला का विकास शाह रुख के वंशजों के प्रश्रय में हुआ और उसका नाम 'हिरात-शैली' पड़ा। ईसवी पन्द्रहवीं शताब्दी के उत्तरार्ध में उस्ताद विहज़ाद का नाम समस्त इस्लामी राज्यों में फैल गया। इस प्रकार, चित्रकार को भी अत्यन्त प्रतिष्ठा का स्थान देने की परम्परा चली। इसी परम्परा को मालवा के खलजियों, जौनपुर के शर्कियों तथा आगे चल कर मुग़लों ने अपनाया। संगीतज्ञ नायक के समान इन मुस्लिम दरबारों में तूलिका के धनी चित्रकारों को भी सम्माननीय 'उस्ताद' का स्थान प्राप्त हुआ। यद्यपि रूढ़ि से चिपके रहने वाले परवर्ती हिन्दू राजाओं ने चितेरों को सम्मान देने की इस परम्परा को नहीं अपनाया, तथापि हिन्दू चित्रकार अपने व्यक्तित्व को समझने लगा। अकबर के सम-कालीन चित्रकारों के समान परवर्ती अनेक हिन्दू चित्रकार अपनी कृतियों पर अपने नाम देने लगे। कवियों की कृतियों के दृश्य-अनुवादक से कुछ अधिक, वे अपने आपको स्वतंत्र कलासृष्टा मानने लगे। यद्यपि विहारीलाल ने अपनी नायिका के शब्द-चित्र को अत्यधिक महत्व दिया और चितेरे को इस दिशा में असमर्थ बतलाया —

लिखन बैठि जाकी सबिहि गहि-गहि गरब गरूर।
भए न केते जगत में चतुर चितेरे कूर॥

चितेरों ने इस चुनौती को स्वीकार किया, और परवर्ती मध्ययुग में विहारी की नायिकाओं के गर्व को खर्व करने वाली असंख्य अँगड़ाती, इठलाती, मदमाती नायिकाएँ चित्रित कर डालीं।

परिच्छेद २२

मूर्तिकला

स्थापत्य को सुन्दर बनाने के प्रयोजन से तथा स्वतंत्र रूप में मूर्तियों का निर्माण भारत में सर्वाधिक हुआ है। मध्ययुग में किसी मूर्तिहीन प्रासाद (महल या मन्दिर) की कल्पना ही नहीं की जा सकती थी। इतनी अधिक और इतने प्रकार की मूर्तियाँ उत्तर भारत में बनाई गईं कि अनेक शताब्दियों तक निरन्तर तोड़े जाने के उपरान्त भी लगभग प्रत्येक शताब्दी की मूर्तियाँ कहीं-न-कहीं टूटी, अध-टूटी या बिना टूटी मिल ही जाती हैं। प्रधान पूज्य मूर्ति के मन्दिर में प्रत्येक स्तंभ और छत पर मूर्तिकार ने अनेक प्रकार की मूर्तियों को उकेरा था। काल और मनुष्य, दोनों के प्रहार से उनका कुछ अंश बच ही निकला है।

दिल्ली के तोमरों के समय का मूर्ति-वैभव आज के युग में भी प्राप्त है, यह भारतीय इतिहास की अद्भुत घटना है। जिसे आज कुव्वतुल-इस्लाम या दिल्ली की जामी मस्जिद कहते हैं वह अनंगपाल (द्वितीय) द्वारा निर्मित कराया गया विष्णु-मन्दिर है। कुत्बुद्दीन ऐबक, इल्तुतमिश और अलाउद्दीन खलजी ने उसे 'अस्ल मस्जिद' का स्वरूप देने का घोर प्रयास किया, परन्तु महाकालदेव ने उनके प्रयास को पूर्णतः विफल कर दिया तथा इस मस्जिद में हजारों मूर्तियाँ झाँकने लगीं और झाँक रही हैं। सन् १८६२ ई० के आसपास मेजर जनरल कनिंघम ने इन मूर्तियों में से कुछ के विषय में लिखा था[1]—"मैं यह पहले ही सूचित कर चुका हूँ कि इन दालानों के हिन्दू स्तम्भों को मूर्तियों से घृणा करने वाले मुसलमानों ने निष्ठावानों की दृष्टि से उन्हें ओझल कर देने के सुगमतम साधन के रूप में उन्हें चूने से लीप दिया था। इसका स्पष्ट प्रमाण प्रांगण के उत्तर की ओर के दो प्रस्तरों पर देखा जा सकता है, एक भीतरी दीवार के उत्तर-पूर्व कोण में स्तम्भों के ऊपर फँसा है, और दूसरा उत्तरी द्वार तथा उत्तर-पूर्व के कोने की बाहरी दीवार में फँसा है। भीतर के मूर्ति-समूह में अनेक प्रख्यात हिन्दू देवता उकेरे गए हैं—पहली मूर्ति विष्णु की है, जो शय्या पर लेटे हुए हैं। उनकी नाभि से कमल निकल रहा है। एक परिचारक सिरहाने खड़ा है और दूसरा पैरों के पास बैठा है।[2] दूसरी मूर्ति पहचानी नहीं जा सकी। तीसरे, ऐरावत गज पर इन्द्र हैं। चौथे ब्रह्मा हैं, जिनके तीन मुख हैं और वे हंस पर बैठे हैं। पाँचवें, नन्दी पर आरूढ़ शिव हैं। छठवीं मूर्ति किसी अज्ञात देवता की है, जो कमल लिए हुए है और किसी पशु पर सवार है। बाहर का मूर्ति-समूह अन्य प्रकार का है। उसमें जो दृश्य दिखाया गया है उसमें दो प्रकोष्ठ हैं, जिनके बीच में एक अधखुला द्वार है। प्रत्येक कमरे में एक-एक महिला पर्यंक पर लेटी है,

१. आर्की० सर्वे० रि०, भाग १, पृ० १८६।
२. विष्णु के चरणों के पास लक्ष्मी की मूर्ति है। लक्ष्मी विष्णु के पैर दबा रही हैं। (चित्रफलक देखें।)

ऊपर छत्र है तथा पैरों की ओर एक-एक परिचारिका है। बाईं ओर के कमरे में दो महिलाएँ बच्चे लेकर द्वार की ओर जाती हुई दिखाई गई हैं, और दाहिनी ओर के कमरों में भी दो महिलाएँ यही कर रही हैं। ये चारों महिलाएँ उस प्रमुख व्यक्ति की ओर द्रुत गति से जा रही हैं जो दाहिनी ओर के कमरे में हैं।"[1]

आज जिस स्थिति में यह 'मस्जिद' खड़ी है उसमें संभवतः ऐसा कोई भाग नहीं मिलेगा जिसमें कोई मूर्ति-समूह या अलंकरण उत्कीर्ण न हो। एक प्रस्तर-खण्ड में विष्णु की चतुर्भुजी प्रतिमा है और उसके दोनों ओर की परिचारिकाएँ विशेष ध्यान आकर्षित करती हैं। इस मूर्ति-समूह के बाईं ओर मिथुन उत्कीर्ण किए गए हैं।[2] स्तम्भों के ऊपर तथा नीचे सहस्रदल कमल, पूर्णघट और छत को धारण करने का आभास देने वाले कीचक बने हुए हैं।[3] घण्टिकाओं और शृंखलाओं के संयोजन से बने अलंकरण भी ध्यान आकर्षित करते हैं।

अनंगपाल (द्वितीय) के इस विष्णु-मंदिर का निर्माणकाल उस पर प्राप्त कारीगरों के लेखों से ईसवी ग्यारहवीं शताब्दी निश्चित है। संभव है, कुछ मूर्तियाँ इसके पहले की हों।

कुव्वतुल-इस्लाम के पास की गई खुदाई में स्लेट पत्थर पर निर्मित लक्ष्मी की दो प्रतिमाएँ प्राप्त हुई थीं।[4] ईसवी ग्यारहवीं शताब्दी की तोमर मूर्तिकला की ये मूर्तियाँ अत्यन्त उत्कृष्ट उदाहरण हैं।

इन सब मूर्तियों के साथ कीर्तिस्तम्भ (कुतुब मीनार) के पास मलवे में प्राप्त दो प्रस्तर खण्ड दिल्ली के तोमरों द्वारा पोषित मूर्तिकला के सुन्दर उदाहरण हैं। छोटे प्रस्तर खण्ड पर संभवतः योगी की खड़ी प्रतिमा है। दूसरा प्रस्तर लम्बाई में कुछ बड़ा है। उसके बीच में पद्मासन में बैठे ब्रह्मा को अंकित किया गया है।[5] इन दोनों पत्थरों के पीछे फारसी के कुछ अक्षर खुदे हुए हैं। कीर्तिस्तम्भ (कुतुब मीनार) की विभिन्न पट्टियों के आवरण पर इसी प्रकार की मूर्तियाँ बनी हुई थीं। उन्हें हटाकर उनका उपयोग अरबी-फारसी शिला-लेखों के अंशों को उत्कीर्ण करने के लिए किया गया है। संभवतः यह प्रयोग सफल न हुआ और उन पत्थरों को फेंक दिया गया।

कुव्वतुल-इस्लाम से कुछ दूर महीपालपुर में महीपाल तोमर (११०५-११३० ई०) द्वारा निर्मित कराया गया शिव-मन्दिर है। वह आजकल सुल्तान गारी का मकबरा कहा जाता है। उसके निर्माण का श्रेय इल्तुतमिश को दिया जाता है; वास्तव में यह अत्यन्त भ्रामक कथन है। यह मकबरा कुछ थोड़े से परिवर्तनों सहित ज्यों-का-त्यों शिव-मन्दिर है।

---

१. यह दृश्य कंस के शिशुवध का ज्ञात होता है।
२. चित्र-फलक देखें।
३. चित्र-फलक देखें।
४. आर्को० सर्वे० रि०, भाग ४, पृ० ३०।
५. पेज, मैमॉयर्स, चित्र-फलक ९।

मेजर जनरल कनिंघम को इसमें संगमरमर की शिव-विग्रह की योनि भी प्राप्त हुई थी।[1] इस शिव-विग्रह के ऊपर अष्टकोण मन्दिर बना हुआ था। इस अष्टकोण मन्दिर के ऊपर के तीरों का मूर्ति-वैभव अत्यन्त आकर्षक तथा विशिष्ट है। यहाँ एक मूर्ति समूह का उल्लेख पर्याप्त है। इसमें आमने-सामने सपक्ष गौ और वराह की मूर्तियाँ बनी हुई हैं।[2] सपक्ष सिंह की मूर्तियाँ अशोककालीन भी प्राप्त हुई हैं। उसी परम्परा में ये सपक्ष मूर्तियाँ हैं। मान्यता यह है कि सपक्ष पशुओं की आकृतियाँ भारत को पश्चिमी देशों से प्राप्त हुई थीं। उनका उद्गम कहीं रहा हो, दिल्ली-हरियाने के शिल्पियों ने इस कौतूहलपूर्ण कला-सृष्टि को पूर्णतः आत्मसात् कर लिया था। पृथ्वी की प्रतीक गौ, और पृथ्वी के उद्धार करने वाले वराह का एक ही स्थल पर अंकन अद्भुत कल्पना है।

दिल्ली के तोमरकालीन मूर्ति-शिल्पियों के कला-कौशल का मूल्यांकन करने के लिए ये टूटे, अध-टूटे और संदिग्ध बना दिए गए अवशेष ही उपलब्ध हैं। इस मूर्ति-वैभव के निर्माता कुत्बुद्दीन ऐबक या इल्तुतमिश थे, यह क्रान्तिकारी स्थापना करने का साहस अभी नहीं किया जा सका हैं। कुव्वतुल-इस्लाम, महीपाल का शिवमन्दिर और कीर्तिस्तम्भ, सभी को तुर्कों का निर्माण घोषित किया गया है। उन पर चिपकाए गए अरबी और फारसी के शिलालेख भी यही दावा करते हैं। यह दावा कितना सच-झूठ है, इसका विवेचन मूर्तिकला के इतिहास में सुसंगत नहीं है। जिन मूर्तियों का यहाँ उल्लेख किया गया है वे दिल्ली के तोमरों के शिल्पियों की कृतियाँ है, यह अवश्य निर्विवाद रूप से कहा जा सकता है।

इन मूर्तियों को नागकालीन और गुप्तकालीन भारतीय मूर्तिकला तथा फिर मध्य-युगीन मूर्तिकला के बीच की संयोजक कड़ी माना जा सकता है। इनके साथ धार की मालवमणि भोज की भोजशाला (कमालमौला मस्जिद) तथा अजमेर के विग्रहराज के सरस्वती मन्दिर (अढ़ाई-दिन का झोपड़ा मस्जिद) की मूर्तियों की कला का मूल्यांकन भारत की ईसवी दसवीं और ग्यारहवीं शताब्दियों की मूर्तिकला का मूल्यांकन होगा। इस मर्ति-वैभव का कुछ स्वरूप समकालीन खजुराहो की मूर्तियों से जाना जा सकता है। संभव यह है कि तोमरों के समय का दिल्ली और हरियाने का मूर्ति-वैभव खजुराहो की अपेक्षा श्रेष्ठतर ही हो। शताब्दियों की विनाशलीला के उपरान्त भी जो कुछ बच सका है, वह अत्यन्त उत्कृष्ट है। यह वास्तविक ग्लानि का विषय है कि इस अवशिष्ट कला-वैभव का अभी तक विस्तृत अध्ययन एवं मूल्यांकन नहीं हो सका है। संभव है थानेश्वर, हिसार, मथुरा, पृथूदक के आसपास अन्य तोमरकालीन अवशेष प्राप्त हो सकें। उनकी खोज और परख होना चाहिए।

कुव्वतुल-इस्लाम के पास खुदाई करते समय रंगीन चिकनी टाइलों का भी विशाल भण्डार मिला था।[3] वे हरे और नीले रंग की हैं। उनका उपयोग मन्दिर की भित्तियों को

---

१. आर्की० सर्वे० रि०, भाग १, पृ० १५५, पादटिप्पणी।

२. चित्र-फलक देखें।

३. आर्की० सर्वे० रि०, भाग ४, पृ० २८।

अलंकृत करने के लिए किया गया होगा ।[1] महमूद अपने साथ या तो भारत से बनी बनाई रंगीन टाइलें ले गया या उन्हें बनाने वाले कारीगर गजनी ले गया। गजनी में भी इसी प्रकार की टाइलें प्राप्त हुई हैं।

दिल्ली के तोमरों के पश्चात् मूर्तिकला के विवेचन के लिए ग्वालियर के तोमरों पर आकर ही रुकना पड़ेगा। ग्वालियर के तोमरों के राज्य की स्थापना के पूर्व इस प्रदेश में मूर्तिकला का अत्यधिक विकास हो चुका था। कच्छपघातों द्वारा निर्मित सुहानिया का ककनमढ़ और ग्वालियर गढ़ का पद्मनाभ का मन्दिर मूर्तिशिल्प की पुष्ट प्रदर्शनियाँ प्रस्तुत करते हैं।

ग्वालियर के तोमरों के समय की मूर्तिकला के विवेचन के लिए एकमात्र उपलब्ध सामग्री जैन मूर्तियाँ हैं। कुछ हिन्दू मूर्तियाँ गोपाचल गढ़ की गणेशपौर के पास बनी हुई हैं, जो प्रधानतः शिव-परिवार की हैं। गूजरीमहल संग्रहालय में मध्ययुगीन अनेक मूर्तियाँ सुरक्षित हैं परन्तु उनमें से किसी पर भी तोमरकालीन मूर्तिलेख नहीं है; अतएव, यह कहना कठिन है कि उनमें से कितनी ग्वालियर के तोमरों द्वारा अथवा उनके समकालीन नागरिकों ने बनवाई हैं। परन्तु एक स्तंभ के विषय में कुछ निश्चयपूर्वक कहा जा सकता है कि वह तोमरकालीन किसी मन्दिर का स्तंभ है। उसमें कृष्ण की समस्त लीलाएँ माला के रूप में अंकित की जाकर गूँथी गई हैं। कृष्णभक्ति की परम्परा, साहित्य में, डूंगरेन्द्रसिंह के राज्यकाल से प्राप्त होती हैं और मानसिंह तोमर के समय में वह चरम सीमा पर पहुँची थी। एक बात और ध्यान आकर्षित करती है। डूंगरेन्द्रसिंह के समय का कृष्ण का स्वरूप रुक्मिणीवल्लभ महाभारत के राजनीतिज्ञ नायक का है; मानसिंह के समय में उनकी अभ्यर्थना गोपीवल्लभ, भागवत के रसिक कृष्ण के रूप में भी की गई थी। अपने इसी रूप में वे आगे व्रज में, विशेषतः पुष्टिमार्ग में, प्रतिष्ठित हुए थे। मानसिंहकालीन ध्रुपद के पदों में कृष्ण की माधुर्यभाव युक्त लीलाओं का स्वर अधिक है। ऐसी परिस्थितियों में ज्ञात यह होता है कि कृष्णलीला के अंकनयुक्त यह स्तंभ मानसिंह तोमर के राज्यकाल में बना होगा।

मानमंदिर और गूजरीमहल को देखने से यह अवश्य प्रकट होता है कि राजाओं के निवास के भवन मूर्तियों से अलंकृत नहीं किए जाते थे, मूर्तियों का निर्माण केवल मन्दिरों या सार्वजनिक स्थानों में किया जाता था। तथापि केवल तोमरकालीन स्थिति के आधार पर कोई व्यापक स्थापना नहीं की जा सकती।

ग्वालियर के तोमरों के इतिहास में दो मूर्तियों का विशेष रूप से उल्लेख मिलता है। हाथियापौर के सामने जो हाथी और सवार की मूर्ति थी वह वास्तविक हाथी के आकार की थी। परन्तु यह मूर्ति निश्चित ही तोमरों के पहले ही हाथियापौर पर बनाई जा चुकी थी। उसे इब्नबतूता ने भी देखा था।[2]

---

१. रंगीन चिकनी टाइलों का अत्यन्त सुन्दर उपयोग मानमन्दिर में भी हुआ है।

२. मेजर जनरल कनिंघम ने यह कथन किया है कि यह हाथी मानसिंह तोमर ने बनवाया था और उस पर स्वयं राजा मानसिंह तथा एक महावत की मूर्तियाँ बनी हुई थीं। परन्तु इब्नबतूता के विवरण से यह स्पष्ट है कि हाथी की इस विशाल मूर्ति को उसने मानसिंह तोमर के बहुत पूर्व देखा था। सन् १६१० ई० में इसे अंगरेज यात्री विलियम फिंच ने भी देखा था। संभवतः औरंगजेब के सूबेदार मोतमिदखाँ ने इसे नष्ट करा दिया। (आर्को० सर्वे० रि०, भाग २, पृ० ३३७।)

एक और महत्वपूर्ण मूर्ति का उल्लेख फारसी इतिहास ग्रन्थों में विक्रमादित्य तोमर के सन्दर्भ में मिलता है। धातु का एक बहुत विशाल नन्दी बादलगढ़ के शिवमन्दिर में स्थापित था। वह इतना विशाल था कि उसमें से अनेक तोपें और शाही भोजनालय के वर्तन ढाले जा सके थे। उसकी एक विशेषता यह भी उल्लेख की गई है कि उसकी पूँछ को फूँकने से उसके मुख से नन्दी के दहाड़ने की ध्वनि होती थी। धातु की इतनी बड़ी मूर्ति ढाल सकने वाले कारीगर भी उस समय विद्यमान थे। यह मूर्ति मानसिंह या उसके पहले डूंगरेन्द्रसिंह ने ही ढलवाई थी।

इब्नबत्तूता ने सन् १३४० ई० के अपने यात्रा विवरण में हाथी का तो उल्लेख किया है, तथापि इस कौतूहलपूर्ण नन्दी का उल्लेख नहीं किया है। यह संभव ज्ञात नहीं होता कि इतनी बड़ी और कौतूहलपूर्ण मूर्ति इब्नबत्तूता का ध्यान आकर्षित न करती। उस समय गोपाचल गढ़ तुर्कों के अधीन था। इस कारण यह अनुमान किया जा सकता है कि इसे डूंगरेन्द्रसिंह, कीर्तिसिंह या मानसिंह तोमर ने ही ढलवाया था।

जो मूर्तियाँ उपलब्ध हैं उनके आधार पर यह कहा जा सकता है कि पन्द्रहवीं शताब्दी का कारीगर नाग और गुप्त कालीन मूर्ति-निर्माण के कौशल को भूला नहीं था। उस परम्परा को जैन सम्प्रदाय की मूर्तियों के निर्माताओं ने अक्षुण्ण रखा। ईसवी आठवीं शताब्दी से ग्वालियर के तोमरों के राज्य की स्थापना तक के इस क्षेत्र के जैन सम्प्रदाय के विकास का इतिहास हम पहले दे चुके हैं।[1] तोमरों के समय में ग्वालियर में बनी जैन मूर्तियाँ वास्तव में स्थापत्य की अंग हैं, अतएव उनका विवरण आगे के परिच्छेद में दिया गया है।

१. पृष्ठ ६५-६७ देखें। इन पृष्ठों में हम यह तथ्य लिखना भूल गए हैं कि कच्छपघात वज्रदामन ने भी जैन सम्प्रदाय को प्रश्रय दिया था। वि० सं० १०३४ (सन् ९७७ ई०) में वज्रदामन के राज्य-काल में ग्वालियर में जैन मूर्तियों की स्थापना की गई थी (ग्वा० रा० अ०, क्र० २०)। पद्मनाभ (सास-बहू) मन्दिर के लम्बे शिलालेख का पाठ दिगम्बर यशोदेव द्वारा विरचित है। इससे प्रकट होता है कि महीपाल कच्छपघात के समय में भी ग्वालियर में जैन सम्प्रदाय की पूर्ण प्रतिष्ठा थी। मूलदेव के समय कुछ राज्याधिकारी जैनों का विरोध करने लगे थे। वह विरोध भी अभयदेव सूरि के हस्तक्षेप के उपरान्त मिट गया। (पीछे पृ० ६६ देखें।)

परिच्छेद २३

वास्तुकला

भारत की वास्तुकला का शास्त्रीय विवेचन अनेक प्राचीन संस्कृत ग्रन्थों में किया गया है। उसके वर्गीकरण भारत के विभिन्न भौगोलिक भागों के आधारों पर किए गए हैं। भारतीय संस्कृति के सभी अंगों के समान ही उसका वास्तु भी, मौलिक भावनाओं में, सार्वदेशिक था। शिल्पियों की वंश-परम्पराओं ने उसे विकसित किया था और उनका आपसी सम्पर्क भी सार्वदेशिक था; केवल स्थानीय जलवायु, निर्माण सामग्री के प्रकार तथा किसी सीमा तक स्थानीय रुचि-वैचित्र्य के कारण भारतीय वास्तुकला के अनेक वर्ग दिखाई देते हैं। ईसवी बारहवीं शताब्दी के बहुत पूर्व ही ईरान और भारत के स्थापत्य के बीच अभिव्यक्तियों एवं रचनाविधाओं का आदान-प्रदान हुआ था और ईरान के स्थापत्य पर भारतीय प्रभाव पड़ा था। भारत के स्थापत्य पर भी ईरान, मिस्र तथा अन्य पश्चिमी देशों की छाप दृष्टिगोचर होती है। परन्तु यह आदान-प्रदान केवल बाह्य उपकरणों तथा कुछ नवीन कल्पनाओं को आत्मसात् करने तक ही सीमित था। भारत ने अपनी वास्तुकला को स्वतंत्र रूप में विकसित किया था।

मानव-जीवन में स्थापत्य का उपयोग अनेक प्रकार से किया गया है। अत्यन्त प्राथमिक आवश्यकता निवास की है। उसी की पूर्ति के लिए मनुष्य ने सबसे पहले निर्माण किया होगा। इन निवास-स्थलों का प्रधान उद्देश्य ऋतुओं के प्रभाव से एवं वन्य जीवों से सुरक्षित रहना था। धीरे-धीरे मानव की शत्रुता मानव से भी हुई और उससे सुरक्षित रहने के लिए इन भवनों के आकार बदलने लगे तथा बड़े-बड़े गढ़ अस्तित्व में आए। जीवन और कृषि की आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए कुए, बावड़ी, तालाब और बाँध भी बाँधे जाने लगे। यातायात की सुविधा के लिए मार्ग बनाने पड़े और मार्ग में नदियाँ आने पर उन पर पुल भी डालना आवश्यक हुआ। देवी-देवताओं की व्यक्तिगत और सामूहिक आराधना के मन्दिरों का निर्माण किया जाने लगा। एक-साथ बस्ती बनाकर रहने की आवश्यकता और इच्छा ने नगरों को जन्म दिया और ये नगर किस प्रकार बसाए एवं विकसित किए जाएँ, इस पर भी ध्यान देना आवश्यक हुआ। इन सब निर्माणों में उपयोगिता और स्थायित्व के साथ-साथ सौन्दर्य का भी विधान होने लगा; स्थापत्य कोरा स्थापत्य न रह कर स्थापत्यकला बन गया, जिसमें कारीगर ने अपने सौंदर्य-बोध की अभिव्यंजना प्रारम्भ की। भारत के स्थापत्य में उपयोगिता और स्थायित्व के साथ-साथ सौंदर्य को सदा महत्व दिया जाता रहा। नगर, भवन तथा अन्य स्थापत्य उसके निर्माताओं के लिए कल्याणकारी हों इसके लिए मंत्र-विधान तथा शुभाशुभ के लक्षण और विवेचन भी किए गए।

प्राचीन संस्कृतियों के केन्द्र प्रत्येक देश ने अपनी-अपनी रुचि, सामर्थ्य और कल्पना-शक्ति के आधार पर अपनी-अपनी प्राचीन स्थापत्यकला को विकसित किया था। भारत, ईरान और मिस्र के प्राचीन निर्माणों को अलग-अलग तुरन्त पहचाना जा सकता है। कुछ विशिष्ट स्थापत्य इस प्रकार के हैं जो भारत में मध्ययुग तक भी प्राप्त नहीं होते और पश्चिमी देशों में बहुत बड़ी संख्या में प्राप्त होते हैं। मानव की मृत्यु के पश्चात् भारत में उसे जला दिया जाता था और उसके पार्थिव अस्तित्व को समाप्त मान लिया जाता था। भारतीय विश्वास के अनुसार शरीर नष्ट होने के पश्चात् भी शरीरी, आत्मा, की यात्रा निर्बाध रूप में चलती रहती है। पश्चिमी देशों में इसके विपरीत शरीर और शरीरी, दोनों का ही मृत्यु के पश्चात् अन्त हो जाता है। कुछ विचारधाराओं के अनुसार, 'शरीरी' अथवा जीवात्मा (रूह) निरन्तर स्थिर अस्तित्व बनाए रहती है और महाप्रलय के उपरान्त परमात्मा के समक्ष अपने पाप-पुण्यों का लेखा-जोखा देने के लिए अपनी कबर या समाधि से निकल पड़ती है। इस विश्वास के कारण मृत्यु के पश्चात्, सामर्थ्यानुसार, मानवोंके मृत शरीर भूमि में दफ़ना कर उनके ऊपर स्मारक बनाए जाते थे। भारत में यह नहीं किया जाता था। अमरत्व और अमृत के आराधक भारत में मृत्यु की पूजा का विधान नहीं था।

भारतीय स्थापत्य की एक विशेषता और है। भारत की जलवायु भारतवासी को प्रकृति के साहचर्य के लिए प्रेरित करती है। भवनों का प्रयोग वह न्यूनतम परिमाण में करता रहा है और जैसे ही सुविधा मिलती है वह छत के नीचे से खुले की ओर अग्रसर होता है। भारत के समस्त समारोह प्रकृति की गोद में मनाए जाते हैं। परिणाम यह हुआ कि देव-मन्दिरों के निर्माण तो अत्यन्त विशाल होते गए, मानव के निवास के भवन उस अनुपात में विशाल नहीं बने। इसके अतिरिक्त राज-प्रासाद, देव-प्रासाद और साधारण नागरिकों के भवनों में भी अत्यधिक अन्तर बना रहा।

दिल्ली के तोमरों के निर्माण

मध्ययुग के तोमरों के इतिहास में भारत की प्राचीन वास्तुकला के इतिहास की खोज आवश्यक नहीं है। दिल्ली के तोमरों के निर्माणों का विस्तृत विवेचन संभव नहीं है। उनके भवन, मन्दिर, स्तम्भ नष्ट भी हुए हैं और रूप-परिवर्तित भी। प्रारम्भिक तुर्क सुल्तानों ने दिल्ली के सभी भागों पर पुराने मन्दिर-महलों में कभी थोड़ा और कभी अधिक फेर-बदल कर उन्हें नवीन भवनों के रूप में आत्मसात् कर लिया है। दिल्ली का विकास इस सीमा तक होता गया है कि जो भवन टूट कर गिर पड़ा, उसका मलवा तुरन्त अन्य भवनों की निर्माण सामग्री बन गया। फिर भी जो कुछ अवशिष्ट हैं, अथवा कभी देखा जा चुका है, उसके आधार पर दिल्ली के तोमरों के निर्माणों की रूपरेखा प्रस्तुत की जा सकती है।

इन निर्माणों में से कुछ का उल्लेख पहले किया जा चुका है।[1] दिल्ली के तोमरों के

---

१. दिल्ली के तोमर, परिच्छेद ३ देखें।

मन्दिरों का स्वरूप कैसा था और फिर वह कैसा हो गया, इसका विवरण भी मूर्तिकला के सन्दर्भ में दिया जा चुका है।[1]

लालकोट

सन् १७६२ ई० (वि० सं० १८१६) में साहिबराय टाक ने 'दिल्लीनामा' लिखा था।[2] उसने उसमें लिखा है—

संवत छैसे अठत्तर दिल्ली बसाई ठाम।
अनंगपाल तुंवर भयौ प्रथम भूप अभिराम।
बरस तिहत्तर राजियौ फिरी अखंडत आन।
कीली गाढ़ी कुतुब में लाट बनाई जाम॥

साहिबराय टाक के इस कथन से यह ज्ञात होता है कि आज से दो सौ वर्ष पूर्व दिल्ली के प्रबुद्ध निवासियों को किस प्रकार की अनुश्रुतियाँ प्राप्त हुई थीं। जिस स्थल पर आजकल कुव्वतुल-इस्लाम मस्जिद (या मन्दिर) बनी हुई है, वह क्षेत्र सन् १७६२ ई० में 'कुतुब' क्षेत्र कहा जाता था। वह इस कारण कि वहाँ कुतुबुद्दीन काकी नामक सन्त का मजार था। परन्तु साहिबराय टाक ने निश्चिय ही अनंगपाल प्रथम और अनंगपाल द्वितीय के इतिहास को एक में मिला दिया है। साहिबराय के समय में मान्यता यह थी कि कुतुब क्षेत्र में स्थित कीली अर्थात् लौहस्तम्भ किसी अनंगपाल ने गाड़ी थी और उसीने 'लाट' बनवाई थी, जो कुतुब क्षेत्र में होने के कारण कुतुब की लाट या मीनार कही जाने लगी। कुतुब मीनार या लाट का कृतित्व संदिग्ध बना दिया गया है, और साहिबराय के कथन की पुष्टि के लिए बहुत कुछ लिखना पड़ेगा;[3] तथापि यहाँ अनंगपाल (द्वितीय) के विवादहीन निर्माणों पर प्रकाश डालना ही अभीष्ट है। यह निर्विवाद है कि अनंगपाल द्वितीय ने दिल्ली के लालकोट का निर्माण कराया था।

अनंगपाल (द्वितीय) के निर्माण

दिल्ली के तोमरों का जितना इतिहास अब तक ज्ञात हो सका है, उसके अनुसार अनंगपाल द्वितीय (१०५१-१०८१ ई०) इस राजवंश में महानतम निर्माता था। कुमारपालदेव तोमर (१०२१-१०५१ ई०) की मृत्यु नगरकोट में नुश्तिगीन से युद्ध करते समय हुई थी। उसके पश्चात् ही अनंगपाल ने दिल्ली के विशाल साम्राज्य की बागडोर सँभाली थी। उसका राज्य चम्बल के दक्षिण से पूर्वी पंजाब तक फैला हुआ था; जिसमें मथुरा, दिल्ली, थानेश्वर, हाँसी, हिसार, रूपाल (नूरपूर), त्रिभुवनगढ़, सिरसा, नागौर, तारागढ़ (अजमेर) जैसे नगर थे।

---

१. पीछे पृ० ३२९-३३१ देखें।
२. दिल्ली के तोमर, पृ० ३२२ देखें।
३. वह 'कीर्तिस्तम्भ (कुतुब मीनार)' में लिखा भी गया है।

राज्य प्राप्ति के पश्चात् ही अनंगपाल की प्रथम चिन्ता तुर्कों के साथ चलने वाले निरन्तर संघर्षों से अपनी राजधानी को सुरक्षित बनाने की थी। इसी कारण उसने सर्व प्रथम लालकोट गढ़ का निर्माण प्रारम्भ किया था। अनंगपाल के इस लालकोट को उन्नीसवीं शताब्दी के इतिहासकार और पुरातत्ववेत्ता भुला चुके थे। उसकी सर्व प्रथम सुनिश्चित खोज करने का श्रेय मेजर जनरल कनिंघम को है।[1] कनिंघम ने उसकी जो सीमा निर्धारित की थी; उसमें कुछ अशुद्धि थी, उसे श्री बेग्लर ने ठीक किया था।[2]

लालकोट की परिधि सवा दो मील थी। इब्नबतूता के वर्णन के अनुसार इसका कोट ११ हाथ चौड़ा था। उसके अवशेषों की नीचे की चौड़ाई ३० फुट है तथा ऊपर १५ फुट है। यह कोट ६० फुट ऊँचा था जिसके बाहर की ओर परिखा (खाई) थी जिसमें पानी भरा रहता था। कोट में स्थान-स्थान पर ६० से १०० फुट व्यास की बुर्जियाँ (मीनारें) बनाई गई थीं। इनमें उत्तर की ओर की दो बुर्जें अत्यन्त विशाल थीं और उन्हें कनिंघम की खोज के समय, फतह बुर्ज तथा सोहन बुर्ज कहा जाता था। इन बुर्जों के बीच-बीच में अस्सी-अस्सी फुट की दूरी पर ४५ फुट व्यास के स्तम्भ थे। इस कोट की सहायक दीवार (पुश्ते) के रूप में एक और दीवार बनाई गई थी।

पश्चिम का प्रधान द्वार 'रणजीत द्वार' कहा जाता था, इसका नाम तुर्कों ने 'गजनी द्वार' कर दिया था। यह द्वार १७ फुट चौड़ा था। इस विशाल दुर्ग के अनेक द्वार थे। इस विशाल गढ़ के मध्य में ४० फुट गहरा तालाब बनवाया गया था जो उत्तर-दक्षिण में १६९ फुट लम्बा तथा पूर्व-पश्चिम में १५२ फुट चौड़ा था। इसे अनंगताल कहा जाता था। अलाउद्दीन खलजी के समय तक यह पूर्णतः जल-पूरित रहता था। अनंगपाल ने लालकोट का निर्माण सन् १०६० ई० में पूरा कर लिया था। इसके पश्चात् उस विष्णु मन्दिर का निर्माण किया गया जो अब कुव्वतुल-इस्लाम या जामी मस्जिद कहा जाता है। उसी के प्रांगण में लौह स्तम्भ गाड़ा गया था, जिसे साहिबराय टाक ने 'कीली' कहा है। साहिबराय का यह कथन भी पूर्णतः सत्य है कि इसी अनंगपाल ने अपने देव-मन्दिर में उस 'लाट' का निर्माण प्रारम्भ किया था जिसे अब कुतुब मीनार कहा जाता है।

अनंगपाल ने अपने निवास के लिए नवीन राजप्रासाद भी बनवाया था। उसके अब अवशेष भी प्राप्त नहीं हैं।

अनंगपाल के पश्चात् यह स्थल दिल्ली के तोमरों के पास एक शताब्दी से अधिक समय तक रहा। पृथ्वीपाल तोमर ने लालकोट को आगे बढ़ाया और जिसे आजकल 'राय पिथौरा का किला' कहा जाता है वह पृथ्वीपाल तोमर का ही निर्माण है। इस समस्त रचना में चाहड़पालदेव तोमर ने भी बहुत जोड़ा और उसी के समय में कीर्तिस्तम्भ (कुतुब मीनार) की रचना पूर्ण हुई।

१ आर्कों० सर्वे० रि०, भाग ४, पृ० ६-३० ।

२. आर्कों० सर्वे० रि०, भाग १, पृ० १८०-१८२ ।

इस सब निर्माण-समूह का स्वरूप कैसा था, इसका समकालीन विवरण भी प्राप्त होता है। कुत्वुद्दीन ऐवक का समकालीन इतिहास लेखक हसन निजामी ताजुल-मआसिर में लिखता है—"अजमेर के मामले निपटा कर विजेता (शाहवुद्दीन गौरी) ने दिल्ली की ओर कूच किया जो हिन्द के प्रमुख नगरों में है। जब वह दिल्ली आया तब उसने एक ऐसा गढ़ देखा जिसकी ऊँचाई और दृढ़ता के बराबर अथवा उसके दूसरे क्रम पर भी सातों लोक के विस्तार में कोई अन्य गढ़ नहीं है।"[1]

तोमरों का यह गढ़ और उसके भवन अमीर खुसरो ने भी देखे थे। वह उनकी ऊँचाई और भव्यता से बहुत प्रभावित हुआ था। उनकी अटारियों की ओर देखने से, अमीर खुसरो के अनुसार, पगड़ी गिर जाती थी। अमीर खुसरो ने लिखा है[2]—"दिल्ली के किले की वय (अवस्था) जोकि कावे का नायब है, पूरी हो चुकी थी।[3] वह किसी समय इतना ऊँचा था कि यदि कोई उसकी अटारियों की ओर देखने का प्रयत्न करता था तो सिर की पगड़ी गिर जाती थी। जब अलाई राज्यकाल (अर्थात् अलाउद्दीन खलजी के राज्यकाल) में भवनों का निर्माण प्रारंभ हुआ तो सुल्तान ने आदेश दिया कि खजाने से सोने की ईंटें दुर्ग के निर्माण के लिए प्रयोग की जाएँ। योग्य भवन का निर्माण करने वालों ने नया किला शीघ्रातिशीघ्र बना दिया। नये भवनों में रक्त दिया जाना आवश्यक होता है, इस कारण हजारों मुगुलों के सिर बकरों के सिर की तरह काट डाले गए।"

पता नहीं, अलाउद्दीन ने अनंगपाल के लालकोट में सोने की ईंटें लगाई थीं या नहीं; परन्तु उसने जो अमानुषिक गृहप्रवेश समारोह किया था उसमें भारतीय वास्तुशास्त्र की पावन परम्परा भी डूब गई और दिल्ली के तोमरों का स्थापत्य भी ढह गया।

यह तो हुई लालकोट और 'राय पिथौरा' यानी पृथ्वीपाल तोमर के गढ़ की कहानी! लालकोट हुआ नूरकिला और फिर उसे मानवरक्त से स्नान कराया गया; वह रक्त भी युद्ध में नहीं बहाया गया था, नृशंस नरहत्या द्वारा बहाया गया था।

अनंगपाल के विष्णुमन्दिर के साथ कुत्बुद्दीन ऐबक खिलवाड़ कर चुका था। उसने उसे तुर्त-फुर्त मस्जिद बना डाला; उसका गर्भगृह तोड़ दिया, समस्त मूर्तियों पर चूना थोप दिया और आसपास के २७ मन्दिर तुड़वा कर उनके मसाले से एक महराबदार विशाल दीवार बनवा दी और उस पर अपना शिलालेख भी जड़वा दिया।

मन्दिरों के सामने गरुड़ध्वज, मीनध्वज, मानस्तम्भ, कीर्तिस्तम्भ, भारत में बहुत प्राचीन काल से बनवाए जाते रहे हैं। अनंगपाल ने भी एक ऐसा ही स्तम्भ बनवाया था।

---

१. इलियट एण्ड डाउसन, भाग २, पृ० २१६।

२. डा० रिजवी, खलजी कालीन भारत, पृ० १००।

३. ज्ञात यह होता है कि कुत्बुद्दीन ऐबक से अलाउद्दीन खलजी के समय तक तुर्कों ने लालकोट की मरम्मत भी नहीं करवाई। उसे 'नूरकिला' नाम देकर वे उसका उपयोग तो करते रहे, परन्तु उसकी मरम्मत न करा सके। 'बहुत बड़े' निर्माता थे वे!

अनंगपाल (द्वितीय) के विष्णुमन्दिर के प्रस्तर (पृष्ठ ३२९ तथा ३३० देखें)

—भारतीय पुरातत्त्व विभाग के सौजन्य से
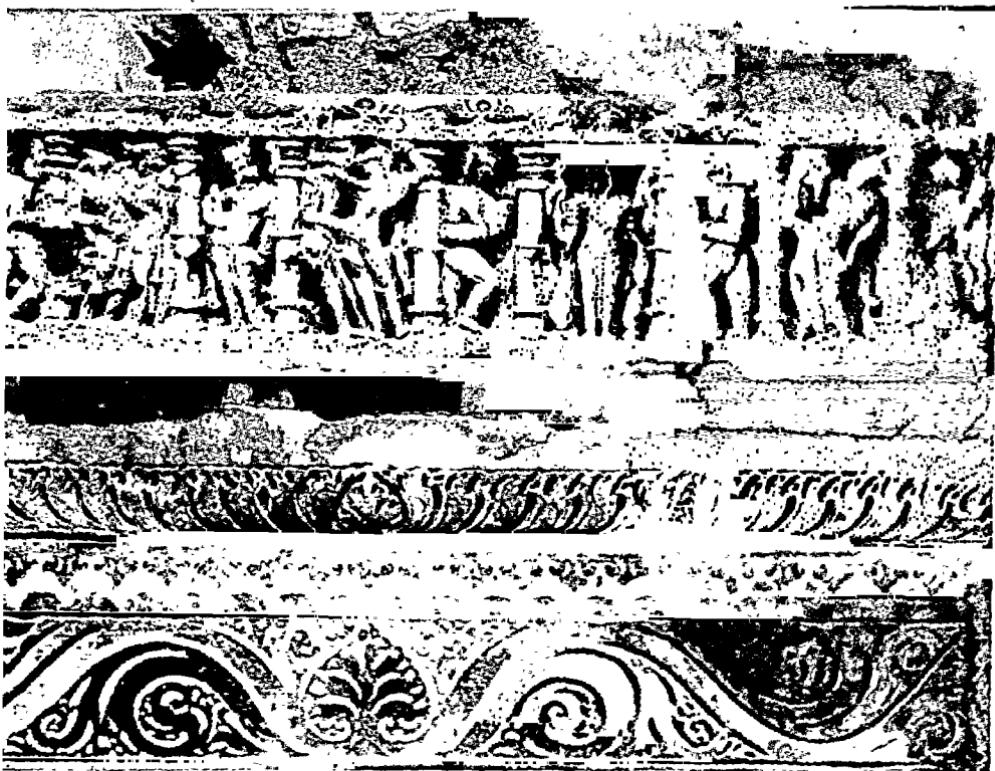
उसे चाहड़पालदेव ने पूरा किया। कुत्बुद्दीन ने उसकी मूर्तियों की पट्टियों को हटवा दिया और उनके स्थान पर अरबी के शिलालेख का आवरण जड़वा दिया। इतिहासकारों का एक प्रबल दल उसे ऐबक या इल्तुतमिश का निर्माण बतलाता है और उसे मस्जिद की मीनार (अजान देने के लिए) निर्मित बतलाता है। उस विवाद में हम यहाँ नहीं पड़ना चाहते। एक यात्री सन् १३३४ ई० के लगभग दिल्ली में आया था, उसका नाम था इब्नबत्तूता। उसने इस मीनार, लाट या स्तम्भ को देखा था; वह लिखता है—"यह लाल पत्थर का बना हुआ है.........इस मीनार पर खुदाई का काम है। इसके ऊपर छत्र शुद्ध संगमरमर का है और सेब (घण्टिकाएँ) शुद्ध सोने के हैं।"

संसार में प्राप्त प्राचीन मस्जिदों में ऐसे मीनारों की खोज अभी होना है जिनमें ऊपर छत्र (शिखर) हो और जिसमें सोने की घण्टिकाएँ लटकाई गई हों। यह वर्णन मन्दिरों में प्राप्त कीर्तिस्तम्भों से मेल खाता है न कि मस्जिदों की मीनारों से।

इब्नबत्तूता के भारत आगमन के पहले ही इस कीर्तिस्तम्भ की कीर्ति पश्चिमी देशों में पहुँच चुकी थी। सीरिया के राजकुमार अबुल फिदा ने भी यात्रियों से इसके विषय में सुना था और लिखा था—"इस स्तम्भ में ३६० सीढ़ियाँ हैं और वह नीचे से ऊपर तक समस्त लाल पत्थर का बना हुआ है।"

सुना तो कुछ अरब लेखक शिहाबुद्दीन-अल-उमरी ने भी था जो लिखते हैं[1]—"देहली में एक मस्जिद है जो अपने मीनार के कारण बड़ी प्रसिद्ध है। ऊँचाई तथा कुरसी को देखते हुए संसार में कोई अन्य इमारत ऐसी नहीं है। शेख बुरहान का कथन है कि उसकी ऊँचाई ३०० गज है।"

शेख बुरहान का गज या तो घिस कर बहुत छोटा हो गया होगा या उन्होंने गप्प लगा दी होगी।

इन आँखों-देखे और सुने-सुनाए विवरणों के अनुसार कीर्तिस्तम्भ (यानी कुतुब मीनार) में ३६० सीढ़ियाँ थीं। वर्तमान सीढ़ियों की ऊँचाई को देखते हुए ३६० सीढ़ियों की ऊँचाई २२५ फुट हो जाती है। इब्नबत्तूता के अनुसार, इसके ऊपर का संगमरमर का 'छत्र' था। यह छत्र मीनार या गुम्बद नहीं हो सकता, ठीक उसी प्रकार का होगा जैसा ईसवी दसवीं शताब्दी में निर्मित चित्तौड़ के जैनस्तम्भ के ऊपर था।[2] उस पर सोने की घण्टिकाएँ लटकी हुई थीं।

इस प्रकार के निर्माण से 'अजान' नहीं दी जा सकती, उस पर खड़े होकर विष्णु-सहस्रनाम अवश्य पढ़ा जा सकता है। परन्तु हुआ यह कि फीरोज तुगलुक के समय में इस कीर्तिस्तम्भ की ऊपर की मंजिलें उल्कापात से गिर गईं, केवल नीचे की तीन मंजिलें बच सकीं। फीरोज तुगलुक ने ऊपर की कुछ मंजिलें फिर बनवाईं। संभवतः

१. डा० रिजवी, तुगलुक कालीन भारत, पृ० ३१४।

२. अब यह शिखर बदल दिया गया है। इसके स्थान पर नवीन शिखर बनवा दिया गया है। मूल शिखर का स्वरूप फरगुसन द्वारा दिए गए चित्र से जाना जा सकता है।

फिर कुछ क्षति हुई और अंगरेजों के समय में ऊपर एक कटघरा बना दिया गया और नीचे एक पट्टी लगवा दी कि इसका निर्माता कुत्बुद्दीन ऐबक या इल्तुतमिश था। कुत्बुद्दीन ऐबक या इल्तुतमिश निर्माता नहीं थे। इस कीर्तिस्तम्भ के निर्माण की क्षमता उन तोमर राजाओं में थी जिन्होंने लालकोट, कस्रे-सफेद तथा जामी मस्जिद (विष्णु-मन्दिर) बनवाए थे।

दिल्ली की तुर्क-वास्तुकला का स्वरूप

दिल्ली के तोमरों के निर्माणों के अवशेषों पर जिस नवीन तुर्क-स्थापत्य शैली का विकास हुआ था उसका स्वरूप कुछ विचित्र ही था। आरम्भ में उसका जो स्वरूप था उसे नौ-मुस्लिम शैली अभिधान दिया जा सकता है। अधेड़ हिन्दू को मारपीट कर इस्लाम ग्रहण कराने पर उसका जैसा सांस्कृतिक स्वरूप होता है, वैसा ही स्वरूप इस नवोदित भारतीय-तुर्क-निर्माण-शैली का था।

प्रारम्भिक तुर्क भारत में अपनी मस्जिदों, मकबरों आदि का 'निर्माण' किस प्रकार करते थे इसके कुछ उदाहरण अवशिष्ट हैं। अनंगपाल के मन्दिर और उसके कीर्तिस्तम्भ को इसी तुर्क-निर्माण-शैली से मस्जिद और मीनार बनाया गया था।[1]

मन्दिर और उसके स्तम्भ का रूप परिवर्तन करने की यह रीति बहुत प्रचलित हो गई थी। इसका एक उदाहरण बयाना के ऊषा-मन्दिर तथा ऊषा-स्तम्भ हैं। मन्दिर को मस्जिद बना दिया गया और ऊषा-स्तम्भ को कहा जाने लगा 'मीनार'। परन्तु जनता आज भी इस 'मीनार' को "ऊषा-मीनार" के नाम से सम्बोधित करती है। इसके विषय में मेजर जनरल कनिंघम ने लिखा है, "यह 'ऊषा मीनार' कही जाती है और ऊषा मन्दिर के उत्तर-पूर्व कोने के उत्तर में ३२ फुट पर स्थित है।" यह ऊषा मंदिर अब मस्जिद है। इस 'मस्जिद' में प्राप्त संस्कृत शिलालेख के अनुसार इसका निर्माण ईसवी सन् १०२७ अथवा १०३२ में (मन्दिर के रूप में) किया गया था।

इस मन्दिर को मस्जिद कब बनाया गया यह ज्ञात नहीं, तथापि उस पर मुबारकशाह का हिजरी सन् ७२० (सन् १३१४ ई०) का शिलालेख लगा हुआ है।[2] ऊषा-स्तम्भ पर हिजरी सन् ९२६ (सन् १५१९ ई०) का एक शिलालेख मिला है जिसमें इब्राहीम लोदी का नाम पढ़ा गया है। जिस प्रकार तथा जिस प्रारम्भिक तुर्क-निर्माण-शैली द्वारा ऊषा-मन्दिर और ऊषा-स्तम्भ मस्जिद और मीनार बन गए, ठीक उसी निर्माण-शैली द्वारा अनंगपाल का मन्दिर और उसका कीर्तिस्तम्भ मस्जिद और मीनार बना दिए गए थे। यह निर्माण-शैली बाबर के समय तक चली। बाबर ने भी अनेक मन्दिरों को इसी निर्माण-कला से मस्जिद बनाया था।

---

१. पीछे पृ० ३२९-३३० देखें। प्रस्तुत लेखक की पुस्तक "कीर्तिस्तम्भ (कुतुब मीनार)" भी देखें।

२. आर्को० सर्वे रि०, भाग ६, पृ० ६७।
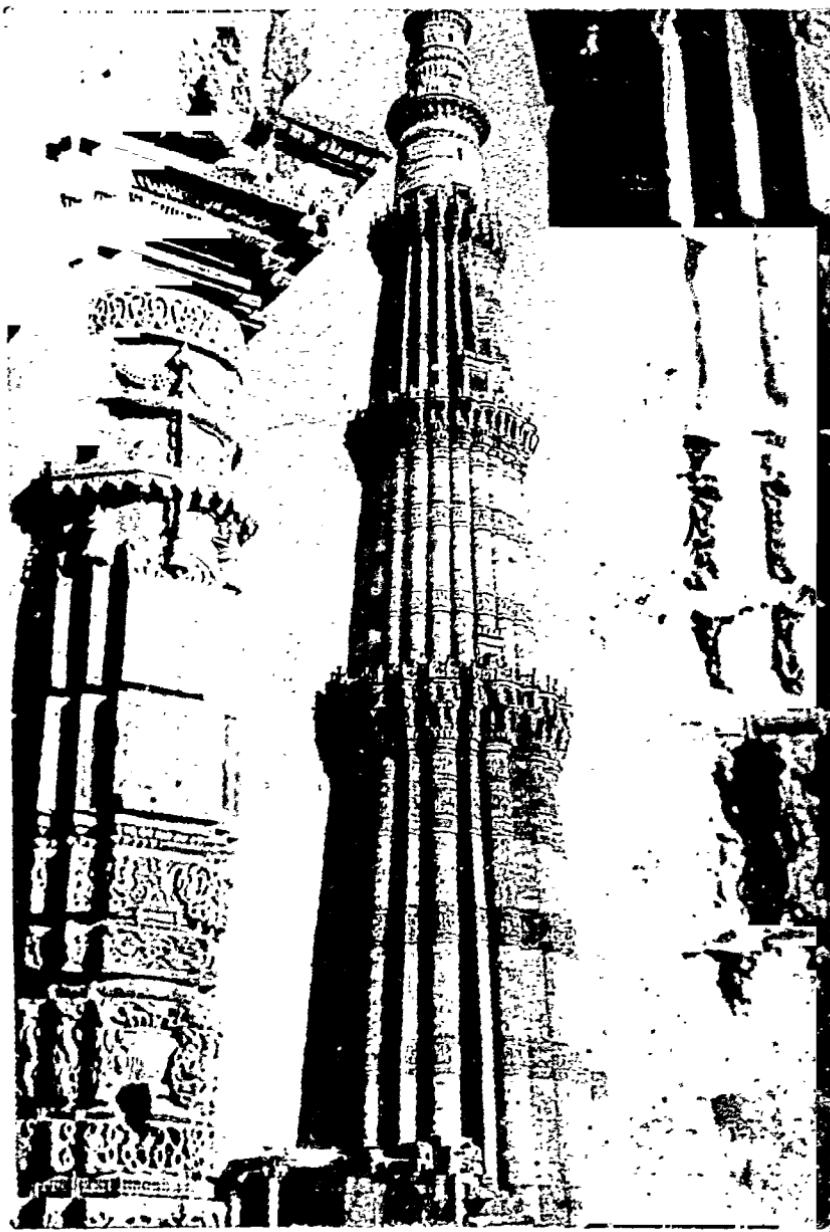
कीर्तिस्तम्भ (कुतुब मीनार) पृष्ठ ३३६ देखें

"यह लाल पत्थर का बना हुआ है—इस मीनार पर खुदाई का काम है। इसके ऊपर छत्त शुद्ध संगमरमर का है और घण्टिकाएं शुद्ध सोने की हैं।"—इब्नबत्तूता

—भारतीय पुरातत्त्व विभाग के सौजन्य से

कुत्बुद्दीन ऐबक ने चाहड़पालदेव तोमर के राजमहल में निवास करना प्रारम्भ कर दिया था। संभवतः उसमें उसे अधिक तोड़-फोड़ नहीं करना पड़ी होगी, केवल उसका नया नाम 'कस्रे सफेद' रख दिया। कुत्बुद्दीन ने इसी महल के प्रांगण में तेजपाल का सिर काट कर सन् ११६३ ई० में लटका दिया था। यह महल तुर्क सल्तनत के लिए अत्यन्त शुभ माना जाता था और मुहम्मद तुगलुक तक सुल्तानों की तख्तपोशी इसी महल में होती थी। उसके बाद इस महल का मलवा, संभवतः, मुगुलों के किसी निर्माण में लग गया।

कुत्बुद्दीन ऐबक के पश्चात् तोमरों की दिल्ली के अवशेषों पर इल्तुतमिश ने कुछ भवन खड़े किए। परन्तु उसकी शैली कुत्बुद्दीन के समान ही नौमुस्लिम ही रही। कुतुब से तीन मील दूर पश्चिम में महीपालपुर (अब मल्कापुर) में इल्तुतमिश ने सन् १२३१ ई० में अपने पुत्र नासिरुद्दीन महमूद का मकबरा बनवाया, जो सुल्तान गारी के मकबरे के नाम से प्रसिद्ध है। यह मक़बरा भी महीपाल तोमर के शिव मन्दिर का किंचित स्वरूप बदल कर बनाया गया है। उसके स्तम्भ, टोड़ियाँ तथा गुमटी, सभी हिन्दू शैली की हैं। गारी के मकबरे के पास ही इल्तुतमिश के दो अन्य पुत्रों के मक़बरे हैं। ये भी हिन्दू मन्दिरों के परिवर्तित रूप हैं।

इसी क्षेत्र में आगे रजिया सुल्तान, बलबन आदि के मकबरे बने। परन्तु वास्तुकला के क्षेत्र में अलाउद्दीन खलजी के समय में एक नया मोड़ आया। अलाउद्दीन ने संभवतः पश्चिम से मस्जिद निर्माणकला के विशेषज्ञ बुलाए थे और उनकी देख-रेख में कुतुब के पास एक विशाल जामा मस्जिद का निर्माण प्रारंभ कराया था। वह मस्जिद पूरी न हो सकी और केवल उसका एक भाग सन् १३१० ई० में पूरा किया जा सका, जिसे आजकल 'अलाई दरवाजा' कहा जाता है। अलाई दरवाजा ईरानी अथवा मुस्लिम मस्जिद-निर्माण कला का भारत में पहला उदाहरण है। परन्तु पर्सी ब्राउन के अनुसार, इसमें भी कुछ भारतीय प्रभाव परिलक्षित होता है।[1] संगीत संबंधी परिच्छेद में पहले यह लिखा जा चुका है कि संगीत के क्षेत्र में अलाउद्दीन के समय में ईरानी संगीत को भारत में प्रतिष्ठित करने का प्रबल प्रयास किया गया था। यह प्रयास चतुर्मुखी था, स्थापत्य के क्षेत्र में भी किया गया। अलाउद्दीन के राज्यकाल में ही जमातखाना मस्जिद बनाई गई थी। अलाउद्दीन ने इस मस्जिद को पूर्णतः इस्लामी शास्त्रीय ढंग से बनवाया था। इसके निर्माण में किसी मन्दिर के मलबे का प्रयोग नहीं किया गया था। सर जॉन मार्शल के अनुसार, यह मस्जिद पूर्णतः इस्लामी सिद्धान्तों के अनुरूप बनाई जाने वाली भारत की पहली मस्जिद है।[2]

तुगलुक सुल्तानों के समय के निर्माणों में अलाउद्दीन खलजी के समय में प्रारंभ की गई ईरानी स्थापत्य के अनुकरण की भावना कार्य करती रही, परन्तु उनके निर्माणों में वह सौन्दर्य और भव्यता न आ सकी। ज्ञात यह होता है कि इस समय विशुद्धता की ओर भी अधिक ध्यान न रहा और गयासुद्दीन तुगलुक के मजार के गुम्बद पर उसके कारीगर ने

१. इण्डियन आर्किटेक्चर (इस्लामिक पीरियड), पृ० १४।
२. मानूमेण्ट्स ऑफ मुस्लिम इण्डिया, कैम्ब्रिज हिस्ट्री ऑफ इण्डिया, भाग ३, पृ० ५८२।

हिन्दू मन्दिरों के आमलक और कलश स्थापित कर दिए। फीरोजशाह तुगलुक बहुत बड़ा निर्माता था। उसने महल, मस्जिद, पुल, बाँध आदि बनवाए और यथासंभव अलाउद्दीन की ईरानी शैली के अनुकरण को जारी रखा। परन्तु फीरोजशाह तुगलुक का जो मकबरा बनाया गया, उसका द्वार शैली से 'हिन्दू' अधिक है।

सुल्तानों के समय की मस्जिदें और मकबरे ईरानी या इस्लामी शैली में निर्मित होते रहे, यद्यपि उन पर भी हिन्दू शैली का प्रभाव परिलक्षित होता था। इस युग के सुल्तानों के निवास के महल अब अधिकांश नष्ट हो गए हैं।

ग्वालियर के तोमरों के उद्भव के साथ-साथ दो सल्तनतें ऐसी अस्तित्व में आई थीं, जहाँ ईरानी स्थापत्य अपना पूर्ण प्रभाव जमा सका। जौनपुर के शर्कियों का राजदरबार फारसी के कवियों और इस्लाम के विद्वानों का प्रमुख केन्द्र था। इबराहीम शर्की की अटाला मस्जिद यद्यपि प्राचीन मन्दिर को तोड़कर बनाई गई है, तथापि उस पर हिन्दू स्थापत्य का प्रभाव नहीं है। शर्कियों ने आगे जो मस्जिदें बनाईं उनमें इसी मस्जिद के स्थापत्य का अनुकरण किया गया है।

जौनपुर के शर्की सुल्तानों के साथ ही मालवा के खलजी सुल्तानों ने अपनी स्वतंत्र सत्ता स्थापित करली थी। मालवा की राजधानी धार में थी और वहाँ पर ही भोज परमार का प्रसिद्ध सरस्वती-मन्दिर था। प्रारम्भ में खलजी सुल्तानों ने कुत्बुद्दीन ऐबक की निर्माण-शैली को अपनाया था और इस सरस्वती-मन्दिर को ही थोड़ा-सा परिवर्तन कर, मस्जिद बना दिया था। परन्तु माण्डू में इन सुल्तानों द्वारा अत्यन्त विशाल और सुन्दर निर्माण कराए गए। गयासुद्दीन खलजी के राजदरबार में ईरान के अनेक कलाकार एकत्रित हुए थे। उन्होंने खलजी सुल्तानों की चित्रकला को भी प्रभावित किया और स्थापत्य को भी। खलजियों के माण्डू के महल, मस्जिद, मकबरे, सभी ईरानी मुस्लिम शैली में निर्मित हुए हैं।

ग्वालियर के पश्चिमोत्तर में मेवाड़ के राणा विशुद्ध हिन्दू शैली के निर्माण कर रहे थे। महाराणा कुम्भा ने सन् १४४० ई० में चित्तौड़ में जिस कीर्तिस्तम्भ का निर्माण करवाया था वह चित्तौड़ के पूर्ववर्ती जैनस्तम्भ की और तोमरों के दिल्ली के कीर्तिस्तम्भ (कुतुब-मीनार) की परम्परा में था। राणा कुम्भा द्वारा बनवाया गया रानपुर का चौखम्भा मन्दिर अभी तक विद्यमान है। परन्तु मेवाड़ के राणाओं के इस युग के महलों में से अब कोई शेष नहीं है।

इस वातावरण में ग्वालियर के तोमरों के भवन निर्मित होना प्रारम्भ हुए।

तुर्क सल्तनत के पतन के उपरान्त ग्वालियर के तोमरों का अभ्युत्थान हुआ था। उनके अनेक निर्माण आज भी अवशिष्ट हैं। अलाउद्दीन खलजी के समय में भारत में प्रवेश करने वाली पाश्चात्य इस्लामी निर्माण-पद्धति और मध्ययुग की भारतीय निर्माण-पद्धति उस युग में अलग-अलग धाराओं में प्रवाहित रह कर फिर मुग़लों के समय में एक सामासिक

भारतीय स्थापत्य कला के रूप में दिखाई दी। यदि ग्वालियर के तोमरों ने अपने निर्माणों द्वारा प्राचीन भारतीय निर्माण-शैली के अत्यन्त श्रेष्ठ प्रतिमान स्थापित न किए होते तब अकबर और शाहजहाँ के भवन किसी और ही रूप में बनाए जाते। जिस प्रकार संगीत और चित्रकला के क्षेत्र में ग्वालियर के तोमरों ने मुगल दरबार को प्रभावित किया था और भारतीय कला परम्परा को समाप्त होने से बचाया था, उसी प्रकार स्थापत्य के क्षेत्र में भी ग्वालियर के तोमरों ने मुगल स्थापत्य को भारतीयता की ओर उन्मुख किया था।

मन्दिर-स्थापत्य

गोपाचल गढ़ और गोपाचल नगर, दो भिन्न स्थल हैं। गढ़ के नीचे विशाल गोपाचल नगर बसा हुआ है। यह अत्यन्त विचित्र बात है कि गोपाचल गढ़ पर अथवा गोपाचल नगर में आज कोई भी तोमरकालीन हिन्दू या जैन मन्दिर अस्तित्व में नहीं है। जैन मन्दिरों का एक वर्ग, गुहा मन्दिर अवश्य गोपाचल गढ़ पर बना हुआ है; तथापि अन्य समस्त मंदिर नष्ट कर दिए गए हैं। गोपाचल गढ़ और गोपाचल नगर, दोनों में ही ये मंदिर थे, ऐसे उल्लेख मिलते हैं। गोपाचल नगर के हिन्दू मन्दिरों का वर्णन बाबर ने अपनी आत्मकथा में किया है। बाबर के अनुसार, "इन मन्दिरों में दो-दो और कुछ में तीन-तीन मंजिलें थीं। प्रत्येक मंजिल प्राचीन प्रथा के अनुसार नीची-नीची थी। उनके प्रस्तर-स्तम्भ के नीचे की चौकी पर पत्थर की मूर्तियाँ रखी थीं। कुछ मन्दिर मदरसों के समान थे। उनमें दालान तथा ऊँचे गुम्बद एवं मदरसों के कमरों के समान कमरे थे। प्रत्येक कमरे के ऊपर पत्थर के तराशे हुए सकरे गुम्बद थे। नीचे की कोठरियों में चट्टानों से तराशी हुई मूर्तियाँ थीं।" परन्तु वे अनेक मंजिलों के मन्दिर गए कहाँ ? बाबर ने तो उन्हें नहीं तुड़वाया था। उन मन्दिरों का स्वरूप अब बाबर की आत्मकथा से ही जाना जा सकता है। जो विनाश आजम हुमायूं और इबराहीम लोदी न कर सके वह परवर्ती मुगलों ने कर दिया।

सुहानियाँ के अम्बिका देवी के मन्दिर में वीरम तोमर ने वि० सं० १४६२ (सन् १४०५ ई०) में सभामण्डप का निर्माण कराया था, इसका उल्लेख पहले किया जा चुका है। अम्बिकादेवी का मन्दिर कान्तिपुरी के नागों के समय का है। उसका सभामण्डप ही वीरमदेव ने निर्मित कराया था। इस सभामण्डप के स्तम्भों और गुम्बद में परवर्ती तोमर राजाओं के स्थापत्य की सभी विशेषताएँ परिलक्षित होती हैं।

गोपाचल गढ़ पर तोमरों द्वारा निर्मित कोई हिन्दू मन्दिर नहीं बचा है। इस बात का उल्लेख प्राप्त होता है कि गढ़ के नीचे बादलगढ़ में कोई विशाल शिवमन्दिर था जिसके सामने धातु-निर्मित नन्दी स्थित था। यह नन्दी ही इतना भीमकाय था कि अकबर उससे अनेक तोपें और बर्तन ढलवा सका था। निश्चय ही यह शिवमन्दिर बहुत बड़ा होगा, आज बादलगढ़ के स्थल पर उस मन्दिर के आमलक पड़े हुए हैं, जिनसे उसके आकार-प्रकार का अनुमान मात्र किया जा सकता है। यह शिवमन्दिर पहले तो टूटा विक्रमादित्य के समय में बादलगढ़ के युद्ध में और जो कुछ शेष बचा वह औरंगजेब के सूबेदार मौतमिदखाँ

ने समाप्त कर दिया और उसी के पास उसी के अवशेषों से, विशाल मोतीमस्जिद खड़ी कर दी।

मानमन्दिर के सामने बायीं ओर कोई बहुत बड़ा मन्दिर था। बाबर के गोपाचल गढ़ के सूबेदार रहीमदादखाँ ने उसका अग्रभाग तुड़वा कर वहाँ मेहराबदार द्वार बनवा दिया और उसका नाम "रहीमदाद का मदरसा" रख दिया। वहाँ कुरआन शरीफ पढ़ाया जाने लगा। यह मन्दिर संभवतः डूंगरेन्द्रसिंह के समय में बना था। गढ़ के दक्षिणी भाग की ओर एक जैन मन्दिर और था जो तोमरों के पूर्व ही बन चुका था। उसका उल्लेख कच्छपघात राजाओं के समय का प्राप्त होता है।

एक अर्थ में गोपाचल गढ़ के चारों ओर उकेरी गई जिन प्रतिमाओं के स्थान भी उनके मन्दिर ही हैं। यह अवश्य है कि जितने जैन मन्दिर गोपाचल नगर में थे वे सब के सब नष्ट कर दिए गए हैं। रइधू के वर्णन से यह स्पष्ट है कि डूंगरेन्द्रसिंह और कीर्तिसिंह के समय में गढ़ के नीचे नगर में ही बहुत बड़े-बड़े जैन मन्दिर बने हुए थे—"नगर जैन मन्दिरों से विभूषित था और श्रावक दान-पूजा में निरत रहते थे।" रइधू के अनुसार नगर में ही नेमिनाथ और वर्धमान के जिन-मन्दिर थे और उनके ही पास विहार भी बना हुआ था। उसी विहार में रइधू स्वयं रहता था। अलवर और चौरासी (मथुरा) के जैन मन्दिरों में ग्वालियर के तोमर राजाओं के उल्लेख युक्त जो जिन मूर्तिया हैं वे इन्हीं मन्दिरों की हैं।

चन्द्रप्रभु के एक मन्दिर का उल्लेख खड्गराय ने अपने गोपाचल-आख्यान में भी किया है। इस मन्दिर में आगे शेख मुहम्मद गौस आ बसे थे—

चन्द्रप्रभु के धौहरें रहे शेख सुखमानि

चन्द्रप्रभु के इस मन्दिर के स्थान पर आज शेख मुहम्मद गौस का मकबरा बना हुआ है। उसमें से कितना अंश चन्द्रप्रभु के मन्दिर का है और कितना मुग़ल स्थापत्य का उदाहरण है यह उसे देखने से जाना जा सकता है।

ग्वालियर के तोमरों के समय में गोपाचल पर नाथपंथ की सिद्ध पीठ थी। साधारणतः नाथपंथी शिव के मन्दिरों को ही अपना साधन-स्थल बनाते रहे हैं, परन्तु गोपाचल की नाथपंथी पीठ की एक विशेषता थी। वहाँ सिद्ध ग्वालिया या ग्वालिपा का भी मन्दिर बना हुआ था और वहाँ नित्य आराधना की जाती थी। ग्वालिया का यह मन्दिर सन् १६६४ ईसवीं तक बना रहा। औरंगजेब के समय में मौतमिदखाँ ने उसे तुड़वा डाला और उसके स्थान पर मस्जिद बना दी। संभवतः जाटों या मराठों के राज्य में किसी ने ग्वालिया का छोटा सा मन्दिर फिर बनवा दिया है, परन्तु वह मूल स्थान से दूर बनाया गया है।

गुहा-मन्दिर

गोपाचल गढ़ के तोमर कालीन स्थापत्य का सबसे अधिक आकर्षक उदाहरण उसके चारों ओर निर्मित गुहा-मन्दिर हैं। वे सभी जैन मन्दिर नहीं है, एक-दो ऐसे भी है जिनमें जिन प्रतिमाएँ नहीं है। ये गुहा-मन्दिर संख्या और आकार की दृष्टि से उत्तर भारत में अद्वितीय है। गढ़ के प्राकार के नीचे से पर्वत के ढ़लानों में असंख्य छोटे-बड़े मन्दिर खोद दिए गए हैं। कुछ स्थलों पर सुन्दर प्रकोष्ठ भी चट्टानों में खोदे गए है और उनके भीतर मूर्तियाँ उत्कीर्ण की गई हैं। कुछ स्थलों पर मूर्ति प्रमुख हैं और उनके चारों ओर मन्दिर का आकार खोद दिया गया हैं। मूर्तिकला और मन्दिर स्थापत्य दोनों इनमें एक दूसरे के अभिन्न अंग और पूरक ज्ञात होते हैं। ये समस्त जैन गुहा-मन्दिर वि० सं० १४९७ से वि० सं० १५३० तक के ३३ वर्ष के समय में बने हैं। इन गुहा-मन्दिरों का निर्माण राजाओं ने नहीं कराया है, तत्कालीन जैन व्यापारियों ने कराया है। अनेक जैन महिलाओं ने भी इनके निर्माण के लिए दान दिए थे। इन गुहा-मन्दिरों और मूर्तियों के निर्माण के लिए बहुत बड़ी संख्या में मूर्तिकार तथा कारीगर कार्य करते रहे होंगे। लगभग १॥ मील लम्बे गोपाचल गढ़ के पार्श्वों का उत्कीर्ण करने योग्य प्रत्येक कोना उनके द्वारा सुसज्जित कर दिया गया।

ग्वालियर गढ़ की इन प्रतिमाओं को पाँच भागों में विभाजित किया जा सकता है—(१) उरवाही समूह, (२) दक्षिण-पश्चिम समूह, (३) उत्तर-पश्चिम समूह, (४) उत्तर-पूर्व समूह तथा (५) दक्षिण-पूर्व समूह। उरवाही-समूह अपनी विशालता से तथा दक्षिण-पूर्व समूह अपनी अलंकृत कला द्वारा आकर्षित करता है।

उरवाही-समूह के गुहा-मन्दिरों का निर्माण डूंगरेन्द्रसिंह के समय में हुआ था। इसमें २२ मूर्तियाँ हैं जिनमें से छह पर वि० सं० १४९७ के मूर्तिलेख खुदे हुए हैं। इनमें सबसे बड़ी प्रतियाँ आदिनाथ की है जो ५७ फुट ऊँची है। इसी अनुपात में नेमिनाथ की बैठी प्रतिमाँ उत्कीर्ण की गई है जो ३० फुट ऊँची है।

दूसरा दक्षिण-पश्चिम का समूह एक-खंभा ताल के नीचे उरवाही द्वार के बाहर शिला पर है। इस समूह में पाँच मूर्तियाँ प्रधान है। इनमें एक लेटी हुई स्त्री की मूर्ति है जो ८ फुट लम्बी हैं। इस मूर्ति पर ओप किया हुआ है। एक मूर्ति-समूह में एक पुरुष, एक स्त्री तथा एक बालक है। संभवतः यह चौबीसवें तीर्थंकर वर्धमान महावीर का अंकन है। ज्ञात यह होता है कि यह समूह भी डूंगरेन्द्रसिंह के राज्यकाल में ही निर्मित हुआ था।

उत्तर-पश्चिम समूह में केवल आदिनाथ की प्रतिमा पर वि० सं० १५२७ का कीर्तिसिंह के राज्यकाल का मूर्तिलेख खुदा हुआ है। कला की दृष्टि से यह समूह महत्व-हीन है। मूर्तियाँ भी अपेक्षाकृत छोटी हैं।

दक्षिण-पूर्व समूह कला की दृष्टि से महत्वपूर्ण है। वर्तमान फूलबाग दरवाजे से निकलते ही लगभग आधे मील तक चट्टानों पर इस समूह के गुहा-मन्दिर खुदे हुए हैं। इनमें लगभग

१८ मूर्तियाँ २० फुट से ३० फुट तक ऊँची हैं और इतनी ही प्रतिमाएँ ८ से १५ फुट तक ऊँची हैं।

यद्यपि तुर्कों के समय में भारतीय मूर्तिकला का ह्रास हो गया था; तथापि इन गुहा-मन्दिरों की मूर्तियों में अंगों के सौष्ठव और अनुपात में कोई न्यूनता ज्ञात नहीं होती। छोटी मूर्तियों के समान ही विशालकाय मूर्तियों में भी यह विशेषता पाई जाती है;

इन समस्त मूर्तियों के निर्माण के लगभग ६० वर्ष के भीतर ही मुगल सम्राट् बाबर की वक्र दृष्टि इन पर पड़ी थी। सन् १५२८ ई० में वह गोपाचल गढ़ पर आया था। उसने अपनी आत्मकथा में उरवाही की मूर्तियों का उल्लेख किया है और यह भी लिखा है कि उसने इन्हें नष्ट करने का आदेश दिया था। उसके आदेश के पालन में इनके मुख तोड़ दिए गए थे जो आगे चलकर फिर चूने से बनवा दिए गए।

गोपाचल गढ़ के सुदृढ़ता के लिए निर्माण

जब सन् १३९४ ई० में वीरसिंहदेव तोमर ने गोपाचलगढ़ पर आधिपत्य किया था, उसी समय उनकी प्रमुख चिन्ता उसे सामरिक दृष्टि से अधिक सुदृढ़ करने की हुई होगी।

वीरसिंह देव के बीस पुत्र थे, ऐसी अनुश्रुति है। उनमें से दो का नाम लक्ष्मणसेन तथा दुर्लभराय (ढोला शाह) था।[1] गोपाचल गढ़ के लक्ष्मण द्वार तथा ढोंढा (या ढोला) द्वार का नामकरण इन्हीं दो राजकुमारों के नाम पर से किया गया ज्ञात होता है। लक्ष्मणसेन को पहाड़ गढ़ का सामन्त बनाया गया था और उसे गढ़ के पूर्वी द्वार की रक्षा का भार सौंपा गया था। यद्यपि प्रधान प्रवेश द्वार हाथियापौर पहले से बना हुआ था, तथापि अतिरिक्त सुरक्षा के लिए उसके आगे लक्ष्मण द्वार का निर्माण कराया गया। लक्ष्मण द्वार से हाथिया पौर तक के भाग में शिव, तथा शिव परिवार की अनेक मूर्तियां उत्कीर्ण करायी गयी। सबसे विशाल प्रतिमा १५ फीट ऊँची गजचर्म-धारी शिव की थी, जिसे नष्ट कर दिया गया है।

गढ़ के उत्तर-पश्चिम के द्वार का नाम ढोंढा (ढोला) पौर रखा गया था। ज्ञात यह होता है कि वीरसिंह के पुत्र ढोलाशाह को इस द्वार की रक्षा का भार सौंपा गया था। इस द्वार के रक्षक देवता के रूप में शिव का मन्दिर भी निर्मित किया था जिसे आजकल ढोंढा देव का मन्दिर कहा जाता है। आगे मानसिंह तोमर के समय में यहां पुनः निर्माण किए गए। वि० सं० १५५२ (सन् १४९५ ई०) के शिलालेख से ज्ञात होता है कि मानसिंह तोमर ने भी यहाँ कुछ निर्माण कराए थे।

गणपति देव या डूंगरेन्द्रसिंह के राज्यकाल में लक्ष्मण पौर के आगे गणेश पौर का निर्माण किया गया था। संभावना यह है कि गढ़ को और अधिक सुरक्षित करने के लिये इस द्वार का निर्माण डूंगरेन्द्रसिंह ने कराया और अपने पिता के नाम पर उसका नामकरण कर दिया।

---

1. ढोलाशाह को वीरसिंहदेव ने धौलपुर का सामन्त बना दिया था (पीछे पृ० ६३ देखें।)

गोपाचलगढ़ की एक जैन प्रतिमा
(पृष्ठ ३४५ देखें)

गोपाद्री देवपत्तने

—पुरातत्त्व विभाग के सौजन्य से

गोपाचलगढ़ की जैन प्रतिमा समूह

इसी के पास ६० फुट लम्बा ३६ फुट चौड़ा तथा २५ फुट गहरा एक तालाब है जिसे आजकल नूरसागर कहा जाता है । यह नामकरण तो मोतमिद खाँ (नूरुद्दीन) द्वारा किया गया था, परन्तु इसका वास्तविक निर्माता डूंगरेन्द्रसिंह तोमर था ।

कीर्तिसिंह अथवा कल्याणमल्ल तोमर के समय में सामरिक सुरक्षा के लिए गढ़ पर कोई निर्माण हुआ हो, ऐसी अनुश्रुति प्राप्त नहीं हुई है, न किसी शिलालेख में ही इस विषय में कोई जानकारी प्राप्त होती है ।

मानसिंह तोमर के समय में गोपाचल गढ़ की सुदृढ़ता के लिए अत्यधिक निर्माण हुए । उसने हाथियापौर का जीर्णोद्धार कराया था परन्तु यह कार्य मानमन्दिर के निर्माण के सिलसिले में किया गया था ।

हाथिया पौर का नामकरण उस हाथी की मूर्ति के कारण किया गया था जो इस द्वार के निकट बनी हुई थी । कनिंघम ने यह विचार व्यक्त किया था कि इस हाथी पर जो मानव मूर्ति बनी थी, वह मानसिंह तोमर की थी ।[1] परन्तु वास्तव में यह प्रतिमा मानसिंह के बहुत पहले बनायी गयी थी। सन् १३४२ ई० में जब इब्नबतूता आया था तब उसने इस प्रतिमा को देखा था ।[2] हाथिया पौर अपने मूल रूप में भोज प्रतिहार का निर्माण ज्ञात होता है । यह हाथी की मूर्ति संभव है कच्छपघात राजाओं ने बनवाई हो ।

मानसिंह ने गढ़ की सुदृढ़ता की दृष्टि से बादलगढ़ का निर्माण किया था । गणेश पौर के नीचे भैरव पौर है और उसके नीचे ही है हिण्डोला पौर । ये दोनों द्वार, गूजरी महल तथा उसके उत्तर में विस्तृत भू-भाग पर किए गए निर्माण बादलगढ़ के अंश थे ।[3] बादलगढ़ के हिण्डोला पौर और गूजरी महल ही अब बच रहे हैं । गूजरी महल के उत्तर में भूमि के नीचे कुछ प्रकोष्ठ तथा सभा-भवन भी बच रहे हैं । शेष सब नष्ट हो गया ।

सन् १४९६ ई० (वि० सं० १५५३) में उरवाही द्वार पर नवीन उरवाही पौर का निर्माण भी मानसिंह ने किया था (परिशिष्ट-चार देखें ।)

तालाब, बांध आदि

ग्वालियर के तोमरों ने गढ़ पर भी अनेक तालाब बनवाये थे और अपनी राज्य सीमा में सिंचाई के लिए भी अनेक तालाब-बांध बनवाए थे ।

गढ़ पर तालाबों के निर्माण की विधा यह ज्ञात होती है कि जब कोई नवीन भवन बनाया जाता था तब उसके लिए पत्थर उस स्थल से निकाला जाता था जहाँ तालाब बनाना हो। मानसिंह तोमर के समय के मानसरोवर, रानीताल और चेरीताल इसी प्रकार बने ज्ञात होते हैं । त्रिकोनिया ताल वीरमदेव ने बनवाया था, ऐसा उसके पास प्राप्त शिलालेख से ज्ञात होता है । उससे निकाला गया पत्थर किस भवन में प्रयुक्त हुआ था यह ज्ञात नही

1. आर्को० सर्वे० रि०, भाग २, पृ० ३३८ ।
2. पीछे पृ० १५ देखें ।
3. पीछे पृ० १७० देखें ।

हो सका है। डूंगरेन्द्रसिंह ने गणेश पौर के निर्माण के लिए 'नूरसागर' से पत्थर निकलवाया होगा। यह 'नूरसागर' नाम इस तालाब को मोतमिद खाँ ने दिया था।

कीर्तिसिंह तोमर ने गोपाचल के पास ही एक विशाल झील का निर्माण कराया था। यह झील शंकरपुर (२६°-१४ उत्तर, ७८°-११ पूर्व) तथा अकबरपुर (२६°-१५' उत्तर, ७८°-१०' पूर्व) से अदली-बदली और बाला राजा पहाड़ियों तक फैली हुई थी। अब यह झील नष्ट हो गई है।

खड्गराय के गोपाचल आख्यान से यह भी ज्ञात होता है कि मानसिंह तोमर के समय में अनेक बाँध बनाए गए थे।

गढ़ के मध्य में स्थित गंगोलाताल था। यह तालाब निश्चय ही बहुत प्राचीन है। ज्ञात यह होता है कि तेली का मंदिर और सास-बहू के मन्दिरों के निर्माण में इसी स्थल का पत्थर निकाल कर लगाया गया है। गोपाचल गढ़ के अधिपति के लिए यह तालाब सदा आकर्षण का केन्द्र रहा है। जब भी कोई विशेष समारोह या घटना हुई है उसके उपलक्ष्य में इस तालाब की सफाई कराई जाती थी और शिलालेख भी उत्कीर्ण करा दिए जाते थे। इस तालाब में कुछ प्रतीहार राजाओं के और तोमर राजाओं में से वीरसिंहदेव, उद्धरणदेव तथा मानसिंह तोमर के शिलालेख प्राप्त हुए हैं, इसका उल्लेख पहले किया जा चुका है।

भवन-निर्माण

गोपाचल गढ़ पर अनेक राजवंशों ने राज्य किया है। उनके निवास के महल भी उस पर अवश्य बनाये गए होंगे। प्रतीहार भोज प्रथम ने अपने अन्तःपुर का निर्माण गोपाचल गढ़ पर कराया था यह विष्णु-मन्दिर के शिलालेख से प्रकट होता है।[1] यह महल उसी स्थान पर था जहाँ आजकल मानमन्दिर है। तोमरों के पूर्व के ये समस्त महल और भवन नष्ट हो चुके हैं। इस समय केवल कीर्तिसिंह का कीर्तिमन्दिर और मानसिंह द्वारा निर्मित मान मन्दिर, विक्रम मन्दिर तथा गूजरी महल अवशिष्ट हैं। तोमरों के पश्चात् गोपाचल पर अनेक आवास-भवन या महल बनवाए गए परन्तु उनसे इस इतिहास का सम्बन्ध नहीं है।

कीर्तिमन्दिर को आजकल कर्ण मन्दिर कहा जाता है। फारसी इतिहास लेखक कीर्तिसिंह का नाम बहुधा 'राय करन' लिखते हैं। और इस कारण इस महल को भी उनके द्वारा 'करन मन्दिर' कहा गया है। गोपाचल गढ़ के उत्तरी सिरे पर ढोंढा पौर के सामने यह महल स्थित है। यह २०० फुट लम्बा और ३५ फुट चौड़ा है। दो मंजिल की इस इमारत में सबसे बड़ा प्रकोष्ठ ४३ फुट लम्बा और २८ फुट चौड़ा है। इसके कुछ भागों में चित्र भी बने हुए थे, परन्तु अब वे नष्ट हो गए हैं। स्थापत्य रह गया, कला नष्ट हो गई।

मानमन्दिर

ग्वालियर के तोमरों की स्थापत्य-कला का चरम उत्कर्ष मानमन्दिर में दिखाई देता है।[2] इस महल की रूपरेखा बनाने वाले कमठान (शिल्पी) के समक्ष प्रधान समस्या यह रही

---

१. एपी० इण्डि०, भाग १, पृ० १५६।
२. मेजर जनरल कनिंघम ने लिखा है 'मैंने जितने भी हिन्दू स्थापत्य देखे हैं उनमें मानमन्दिर सर्वश्रेष्ठ है'। (आर्को० सर्वे० रि०, भाग २, पृ० ३४७।)

होगी कि जो कुछ निर्माण उस स्थल पर पहले से मौजूद है उसे नवीन निर्माण में इस प्रकार आत्मसात् कर लिया जाए कि वह उसी का अंश ज्ञात हो। हथियापौर और उसके पास का हाथी पहले से बना हुआ था। हथियापौर के ऊपर जो प्रकोष्ठ है उसके स्तंभों पर उत्कीर्ण कलश और घण्टियों के अलंकरण निश्चित ही ईसवी आठवीं-नौवीं शताब्दी के हैं और प्रतीहार कला के सुन्दर उदाहरण हैं। अत्यन्त कौशल के साथ इन प्राचीन निर्माणों को नवीन निर्माण का अंग बना दिया गया है।

समस्त मानमन्दिर गढ़ के पूर्वी प्राचीर के रूप में ३०० फुट लम्बा तथा १६० फुट चौड़ा है। गढ़ के बाहरी पार्श्व पर इसकी ऊँचाई १०० फुट है। इस ३०० फुट की चौड़ाई को छह मीनारों द्वारा विभाजित कर दिया गया है। मीनारों में स्वर्णमण्डित ताम्र-पत्र जड़ा हुआ था। मीनारों के बीच में चार झरोखे भी बना दिए गए हैं। सामने इस पार्श्व की ऊँचाई को मेहराबदार द्वाराभासों में नानोत्पलखचित कदली के चित्रों की पट्टी से सजाया गया है। अनेक स्थलों पर सूर्य के प्रतीक चक्र भी बनाए गए थे।

आज से चार शताब्दी पूर्व किसी प्रभात वेला में जब किसी सुदूर यात्री ने पूर्व की ओर से मरीचिमाली का प्रथम किरणजाल ग्वालियर गढ़ के मस्तक पर गिरता हुआ देखा होगा, और मानमन्दिर की पृथ्वीतल से ३०० फुट ऊँची छह दीर्घ मीनारों की सुनहरी गुम्वदों के प्रकाश के नीचे इन्द्रधनुष के रंगों से रंजित कदली तथा अन्य आकर्षक रूपों में जगमगाती हुई ३०० फुट लम्बी आभा देखी होगी तब वह वास्तव में सहसा इस भ्रम में पड़ गया होगा कि गिरिराज गोपाद्रि को स्वयं मायापति ने यह अलौकिक मणि-मुकुट पहनाया है। आज चार शताब्दियों के क्रूर प्रहार ने मानमन्दिर का रंग बहुत कुछ छीन लिया है, अनेक नानोत्पलखचित आकार झड़ चले हैं, गुम्वदों का स्वर्णिम ताम्र-आवरण लुब्ध मानव हटा ले गया है; परन्तु उस भव्य प्रासाद का जो कुछ शेष है वह अपनी स्थिति, सौन्दर्य एवं विशालता के कारण अद्वितीय है। हिन्दू स्थापत्य के जो भी अवशेष आजकल प्राप्त हैं, वे बहुधा देव मन्दिरों से सम्बन्धित हैं। साधारण आवास अथवा मठों के अवशेष मुगुलकाल के पश्चात् के ही मिलते हैं। ग्वालियर गढ़ के मानमन्दिर और गूजरीमहल, दो ऐसे भवन हैं जो मुगुलों के आगमन के बहुत पूर्व निर्मित किए गए थे और विशुद्ध भारतीय स्थापत्य के उदाहरण हैं। इन भवनों की निर्माण-शैली का प्रभाव फतहपुर सीकरी[1] और आगरा के मुगुल भवनों पर भी स्पष्ट दिखाई देता है और इस कारण इनका स्थान भारतीय कला के इतिहास में अत्यन्त महत्वपूर्ण है। मानसिंह तोमर ने अपने संगीत द्वारा ही हिन्दू-मुस्लिम संस्कृतियों को समन्वित कर भावी भारतीय संस्कृति के सामासिक स्वरूप का रूप निरूपण नहीं किया था, वरन् उसके स्थापत्य का भी इस दिशा में महत्वपूर्ण योगदान रहा है।

हथियापौर इस महल की ओर से गढ़ का प्रवेश द्वार है। मानमन्दिर के निर्माण के पश्चात् वह उसी का अंग बन गया है। परन्तु वह स्वयं एक स्वतंत्र निर्माण है। बाहर से

१. फतहपुर सीकरी के अनेक भवन मुगुलों के भारत आगमन के पूर्व के हैं, इसमें सन्देह नहीं।

देखने पर वह मानमन्दिर के क्रम में बना ही ज्ञात होता है। इस विशाल द्वार में सौन्दर्य और उपयोगिता, दोनों पर दृष्टि रखी गई है। चार सुन्दर स्तंभों पर तोरणद्वार आधारित हैं और उसके ऊपर सामन्तों-सैनिकों के लिए प्रकोष्ठ हैं। तोरण की डाट में विशाल मालाओं के रूपक बनाए गए हैं। ऊपर झिलमिली की जाली युक्त एक और प्रकोष्ठ है, जहाँ से रानियाँ गढ़ में आने वाले या गढ़ से जाने वाले आयोजनों का दृष्य देख सकती थीं। हथियापौर के दोनों ओर की विशाल मीनारों पर आज भी नाना-रंगों के उत्पल खण्ड अपने मूल रूप में अन्य मीनारों की अपेक्षा अधिक सुरक्षित हैं।

इस द्वार के तोरण के भीतरी भाग में सुन्दर भित्तिचित्र बने हुए थे। उनके चिह्न अभी २५-३० वर्ष पहले तक दिखाई देते थे।

हथियापौर में प्रवेश करते ही मानमन्दिर की १६० फुट लम्बी दक्षिणी दीवार दिखाई देती है। ६० फुट ऊँची इस दीवार को कारीगरों ने अपनी कला से भर दिया है। नीचे का कुछ भाग खाली छोड़ कर पहले एक मकर पंक्ति बनाई गई है जिनके मुखों के समीप कमल पुष्प बने हुए हैं। इस पंक्ति के ऊपर हंसों की पंक्ति है। उनके ऊपर खुदाई के काम के बीच सिंह, गज एवं कदली की आकृतियाँ बनी हुई हैं। और भी ऊपर जालियों में अनेक अलंकरण काटे गए हैं। सबसे ऊपर आगे को बढ़े हुए तीन जालीदार झरोखे हैं जिनके ऊपर गुमटियाँ बनी हैं। यह सम्पूर्ण पार्श्व कला-कौशल का रमणीय उदाहरण है। गहरे नीले, पीले, लाल और हरे रंगीन पत्थरों के संयोजन से खुदाई और कटाई के द्वारा अत्यंत आकर्षक आकृतियों से इसे सजाया गया है। ज्ञात होता है कि १६० फुट लम्बे और ६० फुट चौड़े चित्र-पट पर किसी चतुर चितेरे ने मनोयोग और साधना से चित्र अंकित किए हों। रंगीन पत्थरों के रंग आज चार शताब्दियों के पश्चात् भी चटक और गहरे बने हुए हैं।

इस पार्श्व को पार करने के पश्चात् दाहिनी ओर मुड़ने पर मानमन्दिर का प्रधान प्रवेश द्वार आता है। प्रवेश की अनेक व्यवस्थाएँ हैं। हाथी पर सवार राजा या सामन्तों के प्रवेश का स्थान पृथक् है। पदातियों के लिए उससे थोड़ी दूर हटकर दूसरा मार्ग है, जिसमें सीढ़ियाँ बनी हुई हैं। उससे भी आगे अश्वारोहियों के प्रवेश के लिए मार्ग है। यह मार्ग उस भाग के निकट है जो सैनिकों का आवास रहा होगा। इस प्रकार प्रवेश करने पर दाहिनी ओर मानमन्दिर का मुख्य प्रवेश-द्वार है। सामने आगे जाने पर विक्रममन्दिर का मार्ग है।

मानमन्दिर में दो चौक और लगभग ४० प्रकोष्ठ हैं। मूल महल दो खण्डों में है, परन्तु पूर्व की ओर दीवार के सहारे नीचे दो खण्ड और बने हैं। सबसे नीचे के खण्ड में केशरकुण्ड है जो सम्भवतः कोषागार था। सबसे ऊपर के खण्ड पर एक खण्ड उन गुमटियों का है जो पूर्व और दक्षिण पार्श्व की मीनारों के ऊपर बनी हैं। ज्ञात यह होता है कि छत के ऊपर लकड़ी के भवन भी बनाए गए थे। समकालीन साहित्यिक वर्णनों से भी इसकी पुष्टि होती है।
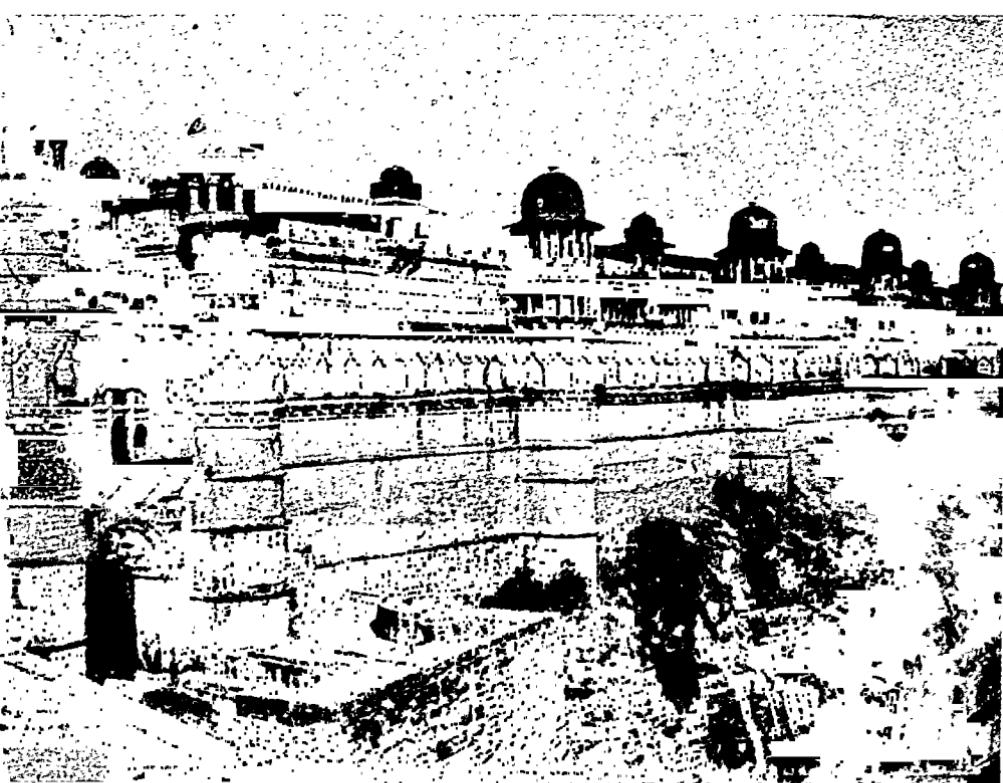
मानमन्दिर (पृष्ठ ३४१ देखें)

—भारतीय पुरातत्व विभाग भोपाल के सौजन्य से

मानमन्दिर के भीतर के चौकों और प्रकोष्ठों में कारीगरों ने किसी पत्थर को अछूता नहीं छोड़ा है। पहले चौक में बायीं ओर रंगशाला है जिसमें ऊपर जाली के पीछे रमाणियों के बैठने का स्थल है। इसमें जो जाली लगाई गई है उसमें नर्तकियों का नृत्य-मुद्रा में अंकन किया गया है।

पूर्व की ओर दोनों मंजिलों में राजा की बैठक है। उसकी झिलमिली और झरोखों से सम्पूर्ण ग्वालियर नगर दिखाई देता है और उस समय भी वहाँ बैठकर बहुत दूर तक की हलचलों का निरीक्षण किया जा सकता होगा।

मानमन्दिर में दो प्रकार की छतें बनी हैं। कुछ छतों पर सीधे लम्बे पटिए डाले गए हैं, परन्तु कुछ को अष्टकोण गुम्बद के रूप में पत्थरों के संयोजन से बनाया गया है। जितने प्रमुख प्रकोष्ठ हैं उनकी छतें इसी प्रकार बनी हैं। इन शिखराकार छतों के पत्थरों पर बारीक खुदाई का काम है और झूलों के लिए कुन्दे बनाए गए हैं। ज्ञात होता कि ये शयनकक्ष हैं जिन पर पलंग इन्हीं कुन्दों में झूले के रूप में लटकाए जाते थे। गूजरीमहल के उत्तर की ओर भूमि के भीतर जो एक प्रकोष्ठ सुरक्षित है उसकी छत भी इसी प्रकार बनाई गई है। फतहपुर-सीकरी और आगरा के मुगुल महलों के शयनागारों को देखकर सहसा यह विचार उत्पन्न होता है कि ये निर्माण मानमन्दिर के निर्माता कारीगरों के वंशजों (या पूर्वजों) के हाथ के हैं। वे अनुपात में अवश्य उतने बड़े हैं जितना मानसिंह तोमर और अकबर तथा जहाँगीर के वैभव में अन्तर था। परन्तु मूल स्वर, शैली और हथौटी वही है जो मानमंदिर के प्रकोष्ठों की है।

यद्यपि मानमन्दिर अभी बहुत-कुछ सुरक्षित है, तथापि वह अपने मूल रूप में नहीं है। मानसिंह ने इसका नाम 'चित्रमहल' रखा था। पत्थरों में कटे हुए और रंगीन प्रस्तर खण्डों से बने हुए चित्र तो कुछ बच रहे हैं, परन्तु उसके भित्ति-चित्र सब समाप्त हो गए हैं।

मानमन्दिर की सर्वाधिक कौतूहलपूर्ण रचना उसके मार्ग हैं। वे सही अर्थों में 'भूलभुलैयाँ' हैं। मानमन्दिर का शब्द-चित्र प्रस्तुत करने का प्रयास व्यर्थ है। वह केवल देखा जा सकता है। मानमन्दिर के सन्दर्भ में तुलसी की यह उक्ति सार्थक है—'गिरा अनयन नयन बिनु बानी।'

विक्रममन्दिर मानमन्दिर का ही भाग है और निश्चित ही उसके साथ ही निर्मित हुआ है। विक्रममन्दिर और मानमन्दिर में आने-जाने के लिए बाहरी मार्ग भी है और दीवार के भीतर गुप्त मार्ग भी बने हुए हैं। विक्रममन्दिर का सभा-भवन ३६ × ३६ फुट है जो मानमन्दिर के बड़े-से-बड़े प्रकोष्ठ से दुगुना है। ज्ञात यह होता है कि मानसिंह के जीवनकाल में ही विक्रमादित्य राजकाज में पर्याप्त सहायता करने लगे थे।

गूजरीमहल या गूजरीमन्दिर नाम से आज जो प्रासाद जाना जाता है उसका मूल नाम क्या था यह ज्ञात नहीं। उसकी स्थिति यह प्रकट करती है कि वह बादलगढ़ की

सैन्य-सज्जा का संचालन करने के लिए एवं सार्वजनिक समारोहों के लिए मानसिंह का दूसरा निवास था। यह संभव है कि आगे उसमें मानसिंह ने गूजरी को रख दिया हो और उस महल को गूजरीमन्दिर के नाम से पुकारा जाने लगा हो।

गूजरीमहल ३०० फुट लम्बा और २३० फुट चौड़ा निर्माण है। खुले आँगन के चारों ओर छोटे-छोटे अनेक कमरे बने हुए हैं, जिनके तोड़ों और छज्जों में नाना भाँति के कटाव हैं। आँगन के बीच में दु-खण्डा तलघर है। इस तलघर के मध्य में एक सभा भवन है जिसमें चारों ओर झरोखे बने हुए हैं। गूजरीमहल के प्रवेश द्वार के ऊपर की खिड़की के ऊपर रंगीन प्रस्तर खण्डों से अरबी अक्षर में इस्लाम का कलमा लिखा है और उसके नीचे 'राजा मानसिंह-बिन राजा (कल्याणमल्ल ?)' लिखा हुआ है (परिशिष्ट-चार देखें)।

गूजरीमहल के हाथी

मानमन्दिर और गूजरीमहल के स्थापत्य में सौन्दर्य वर्धन के लिए टोड़ों में मयूर, हंस, व्याघ्र आदि के आकार उत्कीर्ण किए गए हैं। गूजरीमहल में हाथियों की मूर्तियाँ अत्यन्त सुन्दर और भव्य बनाई गई हैं। प्रवेश द्वार के दोनों ओर छोटे छोटे दो हाथी बनाए गए हैं। प्रवेश द्वार के बायीं ओर के झरोखे में विशाल हाथी का आकार बना है। भीतर की ओर से वह आले का काम देता है। गूजरीमहल के पीछे की ओर सबसे ऊपर एक विशाल हाथी बनाया गया है। वह बहुत दूर से दिखाई देता है। प्रतीत ऐसा होता है कि गूजरीमहल के लिए मानसिंह ने ऐरावत को राजचिह्न के रूप में अंगीकार किया था।

गूजरीमहल के बाहर एक कुआ है, जिसका पानी समस्त खण्डों में नालियों के द्वारा ले जाया जाता था। गूजरीमहल से एक भीतरी मार्ग उत्तर की ओर बने हुए भूमिगत भवनों में जाता है। ये भवन भी अत्यंत विस्तृत तथा बहुसंख्यक थे। संभावना यह है कि यह शस्त्रागार था। उसके आगे उस शिवमन्दिर के अवशेष पड़े हुए हैं, जिसमें धातु का विशाल नन्दी स्थापित था।

नारायणदास का प्रासाद-निर्माण वर्णन

छिताईचरित का रचयिता नारायणदास कल्याणमल्ल और मानसिंह का राजकवि था। उसने अपने काव्य में प्रासाद-निर्माण का अत्यन्त सुन्दर वर्णन किया है। उसकी पंक्तियों से ऐसा ज्ञात होता है कि मानमन्दिर और गूजरीमहल का निर्माण उसके द्वारा प्रस्तुत आदर्श पर हुआ था।[1]

> जे प्रवीन पाहन सुतधारा। बीरा दीनौ राइ हकारा।
> कसठाने कहं आयसु भयो। अगनत दर्व काम लगि दयो॥
> गुनी लंकु गोगौ गुन दासू। जानहि सिल्प ले बहुत अभ्यासू।
> बोलि जोतिषी साधी लग्ना। रची नींव सुभ नीके सगुना।

1. छिताईचरित, पाठ भाग, पृष्ठ १५-१६। इन पंक्तियों के अर्थ के लिए उसी पुस्तक के पृष्ठ १७६-१७८ देखें।

खेत्रपालु पूजिउ करि भाऊ। अविचल होंउ ग्रेह द्रिढ राऊ।
गहो नीव झारी चौराई। पुहिप सात कइ मेरि भराई।
चौवारे चउखंडि चौडौरा। कलिचा बने कांच के भौरा।
एकते काठन पाहन पाटे। नव नाटक नव साला ठाटे।
नवनि रंग कुरि अति रवनीका। ठांव ठांव सोने के टीका।
वादल महल (घनह) उठी घन घटा। रचे अनूप अटारी अटा।
छाजे झरोखा रचे अनूपा। जिन्हहि उझकिते रहे जे भूपा।
कठछपर सतखने अवासा। कंचन कलश मनहु कविलासा।
रची केरि कांच की कड़ारी। रहहिं भूलि भ्रम चतुर विचारी।
वावन वस्तु मिलइ कइ वानी। अति अनूप आरसी समानी।
रची चित्रसारी चितलाई। देखत ही मनु रहिउ सिहाई।
मानिकु चौक ते मन मोहनी। रची अनूप चोर मिहचनी।
किये भौंहरे अन-अन भांती। तिननहि जनि अंधियारी राती।
वने हिंडोरे कंचन खंभा। मानहु उपजे उकति सयभा।
करि सिंगारु जे अधिक विचारी। मनहु भरत की भरी सुनारी।
सभा जोरि जहं वइसइ राऊ। फटिक पीठ वंध्यो सौ ठाऊं।
चकई चकवा किये कड़ारी। जलकूकरी मटामरियारी।
तिहठां और जिते जल जीवा। भरे भरति कौ साजति नींवा।
मच्छ कच्छ लघु दीरध घने। ते सव चलहिं द्रिष्ट कर वने।
सभा सरोवर सोभइ तइसो। हथिनापुर पांडव कउ जइसो।
और राइ जे देखहि आई। वस न सकहि रहहि भरमाई।
चन्दन काठ कठाइल आना। ते ग्रीषम रितु हेम समाना।
चउवारे चउपखा सुदेसा। वरिखा विरसइ तहां नरेसा।
सौने के पीपरि पचासा। वरिखा वरखइं वारह मासा।
गोमट खरवूजा आकारा। तिन्हहि पवांरी जरे किवारा।
चहुंधा खुंटी कांच की भली। रहइ परेवा तहं जंगली।
तिहंठां सूवा सारो साखा। खुमरी वोलहिं अन अन भाखा।
एक महल नीर कौ दुराउ। दीसइं तह वइसन को ठांउ।
देखति वुधि न होइ सरीरा। चलति वूडियइ गहर गंभीरा।
हिलवी कांच भांति कइ करी। दीसइ जनु कालंद्री भरी।
जिहठां राइ तणी जिउनारा। दीसइ जमुना जल आकारा।
जिनस जिनस मंदिरि गिन सारा। अरु सव ग्रेह वने इकसारा।

वास्तु के जितने उपकरण और रूढ़ियां इस वर्णन में हैं वे सब मानमन्दिर, गजरी-महल और वादलगढ़ में प्राप्त होती हैं।

रची केरि कांच की कड़ारी

नारायणदास ने महल के निर्माण में 'रची केरि कांच की कड़ारी' शब्दों का भी प्रयोग किया है, जिनका आशय है कि पत्थर उत्कीर्ण कर उनमें काँच जड़ कर केलों के वृक्ष बनाए गए। आगे नारायणदास लिखता है, 'बावन वस्तु मलइ कइ बानी, अति अनूप आरसी समानी', अर्थात्, बावन वस्तुओं को उचित परिमाण में मिलाकर (बनाए गए लेप को घोंट कर दीवारों को) दर्पण के समान चमकीला बना दिया गया।

वास्तव में नारायणदास उस प्रकार की रंगीन टाइलों (खर्परों) के निर्माण का उल्लेख कर रहा है जो दिल्ली में अनंगपाल के विष्णु-मन्दिर में भी प्रचुर संख्या में प्राप्त हुई हैं[1] और जिनका अत्यन्त मंजुल उपयोग मानमन्दिर तथा गूजरीमहल में भी किया गया है। इस प्रकार के चिकने रंगीन प्रस्तर-खण्ड बनाने की विधि भारत का कारीगर बहुत प्राचीन समय से जानता था। मानसिंह तोमर के समय में भी वह कला अपने पूर्ण उत्कर्ष पर थी। सैंकड़ों वर्ष बीत जाने पर भी इन रंगीन और चिकने प्रस्तर-खण्डों से निर्मित कदली आदि के अलंकरणों के रंग ज्यों-के-त्यों बने हुए हैं। दुर्भाग्य से मानमन्दिर का पलस्तर हटा दिया गया है, अतएव 'दर्पण के समान चमकीले' पलस्तर के अब दर्शन नहीं होते। परन्तु वह किस प्रकार का होगा इसका स्वरूप नरवर के किले की कचहरी में आज भी देखा जा सकता है।

मानमन्दिर और गूजरीमहल में लगाई गई रंगीन चिकनी टाइलें कैसे बनाई गई थीं और उनके रंग किस पदार्थ के मिश्रण से बनाए गए थे यह आज तक ज्ञात नहीं हो सका है। मानमन्दिर की एक बुर्ज गिर गई थी। सिन्धियाओं ने उसका पुनर्निर्माण पिछली शताब्दी में कराया था। प्रयास यह किया गया था कि पत्थर पर उसी प्रकार की खुदाई की जाए जैसी मूल बुर्जों पर है। परन्तु यह प्रयास सफल न हो सका और इस नवीन बुर्ज की खुदाई का काम उत्कृष्टता में मूल मानमन्दिर की खुदाई के काम की समता न कर सका। प्रयास यह भी किया गया था कि रंगीन टाइलें भी तयार की जाकर जड़वा दी जाएँ। यह प्रयास भी पूर्ण असफल रहा। मानमन्दिर के निर्माण के तीन सौ वर्ष पश्चात् ग्वालियर से गहरे स्थायी रंग की टाइलें बनाने की कला पूर्णतः विलुप्त हो गई।

---

१. पीछे पृष्ठ ३३१-३३२ देखें।
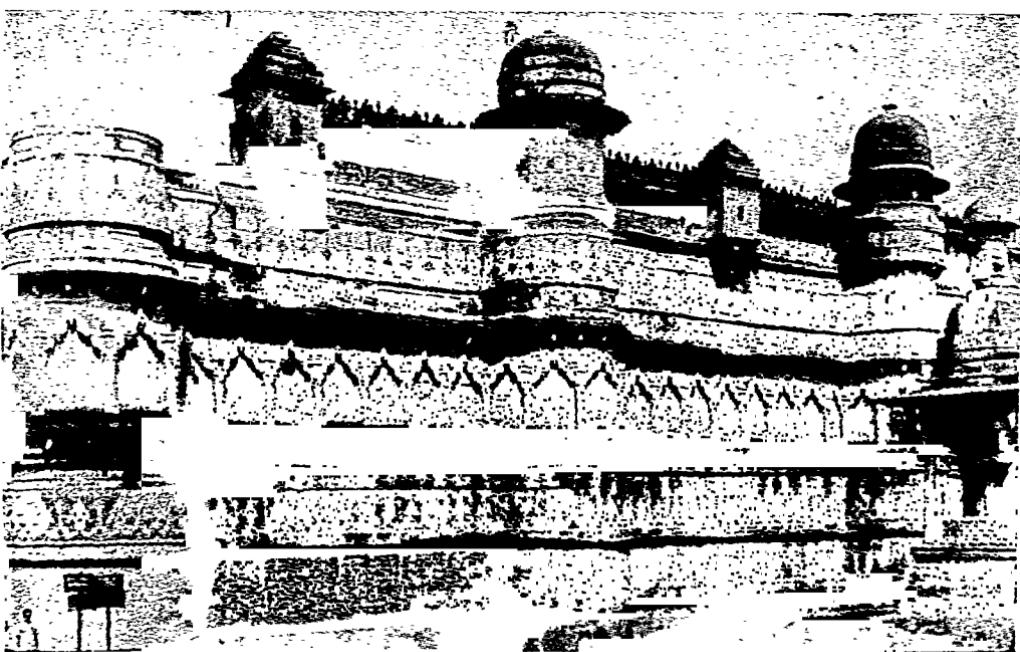
मानमन्दिर का पार्श्व (पृष्ठ ३५० देखें)
(बायीं ओर की अधूरी बुर्जी आधुनिक है)
—भारतीय पुरातत्त्व विभाग, भोपाल, के सौजन्य से

परिशिष्ट—एक

बाबर का ग्वालियर-वर्णन

मानसिंह के भवनों का निर्माण सन् १४६६ ई० में हो चुका था, यह स्थापना हम पहले कर चुके हैं। उस समय तक बादलगढ़ तथा गूजरीमहल भी बन चुके थे। जिसे आजकल विक्रममन्दिर कहा जाता है वह भी मानमन्दिर का ही भाग है और उसे मानसिंह ने ही अपने युवराज विक्रमादित्य के लिए बनवाया था।[1] सन् १५२३ में विक्रमादित्य की पराजय के साथ ही यह समस्त कला-वैभव ग्वालियर के तोमरों के हाथ से निकल गया। इन महलों में तोमर केवल २७ वर्ष रह सके। नारायणदास ने गृह को दृढ़ करने के लिए क्षेत्रपाल की पूजा के विधान की व्यवस्था कराई थी; गृह वास्तव में दृढ़ बन गया, परन्तु गृही उसमें अधिक समय तक टिक न सके। पहले उसमें लोदियों के सूबेदार बसे, फिर आ गए अफगान और मुगल। सन् १५२८ ई० में बाबर ने विजेता के रूप में इन महलों का निरीक्षण किया था और अपनी आत्मकथा में उनका विस्तृत वर्णन भी किया है। मानमन्दिर आदि के निर्माण के ३२ वर्ष पश्चात् लिखा गया यह वर्णन अनेक दृष्टियों से महत्वपूर्ण है। वह चम्बल क्षेत्र और गोपाचल गढ़ तथा गोपाचल नगर का, ग्वालियर के तोमरों के राज्य के समाप्त होने के उपरान्त का पूर्वतम उपलब्ध विवरण है।

सन् १५२८ ई० में लिखित यह विवरण आज चार सौ वर्ष पश्चात् भी इस कारण बहुत उपयोगी हो गया है कि इन शताब्दियों में मानमन्दिर और गढ़ की दशा बहुत बदल गई है। बाबर ने लिखा है —

(२४ सितम्बर, १५२८ ई०) वृहस्पतिवार को हमने प्रस्थान किया। चम्बल नदी पारकर हमने मध्याह्नोत्तर की नमाज नदी-तट पर पढ़ी। मध्याह्नोत्तर एवं सायंकाल के पूर्व की दिन की नमाज के बीच के समय में हम लोगों ने वहाँ से प्रस्थान किया और क्वांरी नदी पार करके सायंकाल तथा सोने के समय की नमाज के मध्य में पड़ाव किया। वर्षा के कारण क्वांरी मे बहुत अधिक जल आ गया था, अतः घोड़ों को तैरवा कर हमने नदी नौका द्वारा पार की।

दूसरे दिन शुक्रवार असूरे के दिन हम लोग प्रातःकाल रवाना हुए। मार्ग में एक ग्राम में मध्याह्न व्यतीत किया। सोने के समय की नमाज के वक्त हम लोग ग्वालियर के उत्तर में एक कोस पर एक चारबाग में, जिसके निर्माण का हमने पिछले वर्ष आदेश दिया था,[2] उतरे।

१. पीछे पृ० ३५१ देखें।
२. संभवतः बाबर ने यहाँ कोई भूल की है। साल-भर पहले उसने किसी उद्यान के निर्माण का आदेश नहीं दिया था। संभव यह है कि वह तोमरों के किसी उद्यान में ठहरा हो और उसे अपना मान लिया हो। खड्गराय के अनुसार ग्वालियर आने के पश्चात् ही बाबर ने 'बागायत' बनाने का आदेश दिया था।

दूसरे दिन मध्याह्नोत्तर की नमाज के उपरान्त हमने प्रस्थान किया और ग्वालियर के उत्तर की ओर की नीची पहाड़ियों एवं नमाजगाह[1] की सैर की। वहाँ से हटकर हम हाथीपुल (हथियापौर) नामक फाटक से क़िले में प्रविष्ट हुए। इस द्वार से मिले हुए राजा मान के महल हैं। हम लोगों ने मध्याह्नोत्तर की दूसरी नमाज़ के समय राजा विक्रमाजीत (विक्रमादित्य) के भवनों के समीप जहाँ रहीमदाद ठहरा हुआ था, पड़ाव किया।

इस रात में कान की पीड़ा के कारण[2] एवं चन्द्रमा के प्रकाश से प्रेरित होकर हमने अफीम का सेवन किया।

(२७ सितम्बर, १५२८) दूसरे दिन अफीम के खुमार के कारण मुझे बड़ा कष्ट रहा। मैंने अत्यधिक वमन किया। खुमार के बावजूद मैंने मानसिंह तथा विक्रमाजीत के महलों का भलीभाँति निरीक्षण किया। ये भवन बड़े ही विचित्र हैं। ये भवन अनुपात से शून्य[3] भारी-भारी तराशे हुए पत्थरों के बने हैं।

समस्त राजाओं के भवनों की अपेक्षा मानसिंह के भवन बड़े ही उत्तम तथा भव्य हैं। मानसिंह के महल की उत्तरी दिशा के भाग में अन्य दिशाओं की अपेक्षा अत्यधिक काम बना हुआ है। यह लगभग ४०-५० करी (गज) ऊँचा होगा और पूरे का पूरा तराशे हुए पत्थर का बना है। उसके ऊपर सफेद पलस्तर है। कहीं-कहीं इसमें चार-चार मंजिलें हैं। नीचे की दो मंजिलों में बड़ा अँधेरा रहता है। हम उनमें मोमबत्तियों की सहायता से प्रविष्ट हुए। इस भवन के एक ओर ५ गुम्बद हैं।

इन गुम्बदों के मध्य में हिन्दुस्तान की प्रथा के अनुसार चौकार छोटे-छोटे गुम्बद हैं। बड़े गुम्बदों पर मुलम्मा किया हुआ तांबा चढ़ा है।[4] दीवार के बाहरी भाग पर रंगीन टाइल का काम है। हरी टायलों के चारों ओर केले के वृक्ष दिखाए गए हैं। पूर्वी कोण के वुर्ज की ओर हाथी पुल (हथियापौर) है। पील को यहाँ हाथी कहा जाता है और द्वार को

---

१. वह नमाजगाह इल्तुतमिश ने बनवाई थी और आज भी 'बिना पौर का दरवाजा' के रूप में खड़ी है।

२. बाबर ने अधूरी बात लिखी है। गढ़ के नीचे शेख मुहम्मद गौस ठहरे हुए थे। कान की पीड़ा का संवाद उन तक पहुँचाया गया। शेख ने इस अवसर का लाभ उठाया। अनेक तंत्र-मंत्र के आशीर्वाद उसने बाबर को पहुँचाए और कान की पीड़ा का इलाज करने के लिए नगर के प्रतिष्ठित वैद्य गंगू भगत को गढ़ पर भेजा जिसने बाबर से कान का दर्द ठीक कर दिया। बाबर ने न तो गंगू के प्रति कृतज्ञता प्रकट की है, न अपनी आत्मकथा में शेख का ही उल्लेख किया है।

३. बाबर के इस कथन को बहुत गंभीरता से नहीं लेना चाहिए। बाबर कला-पारखी नहीं था, न उसमें यह योग्यता थी कि वह मानमन्दिर जैसी कलाकृति के विषय में कोई अभिमत दे सकता। उसने कोई स्तुत्य कलाकृति बनवाई हो, ऐसा ज्ञात नहीं होता। सौभाग्य से मानमन्दिर आज भी खड़ा है और बाबर की कला-मर्मज्ञता को चुनौती दे रहा है।

४. यह स्वर्णरंजित तांबा या तो बाबर ने ही उतरवा लिया या फिर उसे आगे किसी अन्य ने उतरवा लिया।

मानमन्दिर का आंगन (पृष्ठ ३४१ देखें)
—भारतीय पुरातत्व विभाग, भोपाल, के सौजन्य से

पुल (पौर)। इसके फाटक पर एक हाथी की दो महावतों सहित मूर्ति रखी हुई है।[1] हाथी की मूर्ति हाथी के समान ही दृष्टिगत होती है। इसके कारण इस द्वार को हाती पुल (हथिया-पौर) कहा जाता है। इस चौमंजिले भवन के सवसे नीचे की मंजिल एक खिड़की है जो इस हाथी की ओर है; वहाँ से इसका निकटतम दृश्य मिलता है। जिन गुम्वदों का उल्लेख किया जा चुका है वे भवन के उच्चतम भाग में हैं। वैठने के कमरे दूसरी मंजिल में एक प्रकार से धँसे हुए हैं। यद्यपि इनमें हिन्दुस्तानी आडम्वर का प्रदर्शन किया गया है किन्तु इस स्थान पर वायु नहीं पहुँचती।

मानसिंह के पुत्र विक्रमाजीत के भवन किले के उत्तर में केन्द्रीय स्थान पर स्थित हैं। पुत्र के भवन पिता के भवन का मुकावला नहीं कर सकते। उसने एक वहुत वड़ी हवेली का निर्माण कराया है जो कि वड़ी अँधेरी है किन्तु यदि उसमें कोई थोड़ी देर तक ठहरे तो इसमें कुछ-कुछ प्रकाश आने लगता है। इसके नीचे एक छोटा भवन है जिसमें किसी भी दिशा से प्रकाश नहीं आता। जव रहीमदाद विक्रमाजीत के भवनों में निवास करने लगा तो उसने इस हवेली के ऊपर एक छोटे-से हाल का निर्माण कर या। विक्रमाजीत के भवनों से उसके पिता के भवनों तक एक गुप्त मार्ग का निर्माण किया गया है। वाहर से इस मार्ग का कोई पता नहीं चलता और न भीतर से ही कहीं इसके विपय में कुछ ज्ञात होता है। यह एक प्रकार की सुरंग है।

इन भवनों की सैर के उपरान्त हम लोग रहीमदाद द्वारा तैयार कराए गए मदरसे में पहुँचे। उसे उसने एक वड़े हौज[2] के किनारे वनवाया था। वहीं उसने एक वाग भी लगवाया था। हम उस वाग की सैर के उपरान्त चारवाग में जहाँ शिविर था, अत्यधिक रात्रि व्यतीत हो जाने पर पहुँचे।

रहीमदाद ने अपने वगीचे में अत्यधिक संख्या में फूल लगवाए थे। इनमें से वहुत-से वड़े सुन्दर लाल रंग के कनेर के फूल थे। यहाँ कनेर सत्तालू के फूलों के समान होता है। ग्वालियर के कनेर वड़े सुन्दर तथा गहरे लाल रंग के होते हैं। मैंने ग्वालियर के कुछ सुन्दर कनेर ले जाकर आगरा के वागों में लगवाए।

वगीचे के दक्षिण में एक वहुत वड़ी झील है। इसमें वर्षा का जल एकत्र हो जाता है। इसके पश्चिम में एक वहुत वड़ा मन्दिर है।[3] सुल्तान शम्सुद्दीन इल्तुतमिश ने इस मन्दिर की वगल में एक जामा मस्जिद का निर्माण कराया था। यह मन्दिर वड़ा ही भव्य है और किले में इससे वड़ा कोई अन्य भवन नहीं है। धौलपुर की पहाड़ियों से यह मन्दिर

---

१ यह मूर्ति सन् १३४२ ई० में इब्नवत्तूता ने भी देखी थी। औरंगजेब के सूवेदार मोतमिद खाँ ने इसे तुड़वा दिया।

२. यह हौज नहीं, वावड़ी है। पूरा निर्माण भी रहीमदाद ने नहीं कराया था। पुराने मन्दिर के सामने उसने दरवाजा मात्र वनाया था।

३. यह मंदिर आजकल 'तेली का मन्दिर' कहा जाता है।

तथा किला दिखाई पड़ते हैं। लोगों का कथन है कि इस मन्दिर के लिए उस बड़ी झील[1] में से जिसका उल्लेख हो चुका है, पत्थर काटकर निकाले गए थे।

रहीमदाद ने इस बगीचे में एक लकड़ी का तालार (भवन या कमरा) बनवाया था। इसके द्वारों के सामने उसने हिन्दुस्तानी नमूने के कुछ नीचे एवं भद्दे दालान बनवाए थे।

(२८ सितम्बर)—दूसरे दिन (१३ मुहर्रम को) हम लोग मध्याह्न की नमाज के समय ग्वालियर के उन स्थानों के निरीक्षण हेतु रवाना हुए, जिनकी सैर हमने अभी तक न की थी। हमने बादल गर (बादलगढ़) नामक भवनों का निरीक्षण किया। ये भवन मानसिंह के किले का एक भाग है। वहाँ से हम हाती पुल (हथियापौर) नामक द्वार से किले को पार करके उरवा नामक स्थान पर पहुँचे। यह किले की पश्चिमी दिशा में घाटी की तलहटी है। यद्यपि उरवा, किले की दीवार के, जो पहाड़ी की चोटी के साथ-साथ बनी है, बाहर है किन्तु इसके दहाने पर दो खण्डों की ऊँची-ऊँची दीवारें हैं। इनमें से सबसे ऊँची दीवार ३०-३० कारी (गज) ऊँची होगी। यह सबसे अधिक लम्बी है। इसके प्रत्येक सिरे किले की दीवार से मिलते हैं। दूसरी दीवार कुछ घूम कर पहली के मध्य भाग से मिल जाती है। यह दोनों की अपेक्षा नीची तथा छोटी है। दीवार का मोड़ आब दुज्द (जल संग्रह) के लिए बनवाया गया होगा। इसमें एक वाई है जिसमें जल तक पहुँचने के लिए १० अथवा १५ जीने बने हैं। उस फाटक पर जहाँ से होकर घाटी से वाई में प्रविष्ट होते हैं, सुल्तान शम्सुद्दीन इल्तुतमिश का नाम तथा ६३० हि० (१२३३ ई०) तारीख़ खुदी है।[2]

इस बाहरी दीवार के नीचे तथा किले के बाहर एक बहुत बड़ी झील है। यह (कभी-कभी) इतनी सूख जाती है कि झील नहीं रह पाती। इसमें से आब दुज्द (जल संग्रह) में जल जाता है। उरवा के भीतर दो अन्य झीलें हैं। किले के निवासी इनके जल को सबसे अधिक उत्तम समझते हैं।

उरवा के तीन ओर ठोस चट्टानें हैं। इनका रंग बयाना की चट्टानों के समान लाल नहीं है, अपितु फीका-फीका है। इन दिशाओं में लोगों ने पत्थर की मूर्तियाँ कटवा रखी हैं। वे छोटी-बड़ी, सभी प्रकार की हैं। एक बहुत बड़ी मूर्ति, जो कि दक्षिण की ओर है, संभवतः २० कारी ऊँची होगी। यह मूर्तियाँ पूर्णतः नग्न हैं और गुप्त अंग भी ढँके हुए नहीं हैं। उरवा की इन दोनों बड़ी झीलों के चारों ओर २०-३० कुएँ खुदे हैं। इनके जल से काम की तरकारियाँ, फूल तथा वृक्ष लगाए जाते हैं।

उरवा बुरा स्थान नहीं है। यह बन्द स्थान है। मूर्तियाँ ही इस स्थान का सबसे बड़ा दोष है। मैंने उनके नष्ट करने का आदेश दे दिया।

उरवा से निकल कर हम पुनः किले में प्रविष्ट हुए। हमने सुल्तानी पुल की खिड़की से सैर की। यह काफिरों के समय से अब तक बन्द रही होगी। हम लोग सायंकाल

---

१. गंगोलाताल।

२. यह शिलालेख अब किसी ने निकाल लिया है।

मानमन्दिर के भीतरी चौक का एक पार्श्व
(पृष्ठ २४९ देखें)

की नमाज के समय रहीमदाद के वगीचे में पहुँचे। वहीं ठहर कर हम सो गए।........ हम लोगों ने इस बगीचे से प्रस्थान करके ग्वालियर के मन्दिरों की सैर की। कुछ मन्दिरों में दो दो और कुछ में तीन-तीन मंजिलें थीं। प्रत्येक मंजिल प्राचीन प्रथानुसार नीची-नीची थी। उनके पत्थर के स्तम्भ के नीचे की चौकी पर पत्थर की मूर्तियाँ रखी थीं। कुछ मन्दिर मदरसों के समान थे। उनमें दालान तथा ऊँचे गुम्वद एवं मदरसों के कमरों के समान कमरे थे। प्रत्येक कमरे के ऊपर पत्थर के तराशे हुए सकरे गुम्वद थे। नीचे की कोठरियों में चट्टान से तराशी हुई मूर्तियाँ थीं।[1]

इन भवनों की सैर के उपरान्त हम लोग दक्षिणी द्वार से किले के वाहर निकले और दक्षिण की ओर के स्थानों की सैर करके उस चारवाग में पहुँचे जिसका निर्माण रहीमदाद ने हाती पुल के सामने कराया था। उसने वहाँ हमारी दावत का प्रवन्ध किया था और वड़ा ही उत्तम भोजन कराने के उपरान्त उसने ४ लाख के मूल्य के अत्यधिक सामान तथा नकद धन भेंट किए। इस चारवाग से प्रस्थान करके मैं अपने चारवाग में चला गया।

(३० सितम्बर)—बुधवार १५ मुहर्रम को मैं ग्वालियर से दक्षिण-पूर्व की ओर ६ कुरोह (१२ मील) पर स्थित एक झरने का निरीक्षण करने गया। ६ कुरोह से कम की यात्रा पर मध्याह्नोत्तर की नमाज के समय हम एक झरने पर पहुँचे जहाँ एक पनचक्की के योग्य जल एक ढाल से, एक अरगमची (लगभग २० हाथ) की ऊँचाई से आ रहा था। झरने के नीचे एक वहुत वड़ी झील थी। इसके ऊपर से जल ठोस चट्टान की ओर से वहता हुआ आता है। झरने के नीचे भी एक ठोस चट्टान है। जहाँ-कहीं जल गिरता है वहाँ एक झील वन जाती है। जल के तट पर चट्टानों के वहुत वड़े-वड़े टुकड़े हैं, मानो वे वैठने के लिए वने हों; किन्तु कहा जाता है कि जल सर्वदा वहाँ तक नहीं रहता है।

हम झरने के ऊपर वैठ गए और माजून का सेवन किया। हम जलधारा के ऊपर उसके उद्गम स्थान का निरीक्षण करने गए। वहाँ से लौटकर हम एक ऊँचे स्थान पर वहाँ कुछ समय तक वैठे रहे। वादकों ने वाजे वजाए और गायकों ने कुछ गाया। आवनूस का वृक्ष, जिसे हिन्दुस्तान वाले तेंदू कहते हैं, उन लोगों को, जिन्होंने इससे पूर्व न देखा था, दिखाया गया। वहाँ से हम पहाड़ी के नीचे उतर आए। सायंकाल तथा सोने के समय की नमाज के मध्य में हमने प्रस्थान किया। आधी रात के समय एक स्थान पर पहुँच कर हम लोग सो गए। एक पहर दिन चढ़ जाने के उपरान्त हम चारवाग पहुँच कर वहाँ ठहर गए।

(२ अक्टूवर)—शुक्रवार १७ मुहर्रम को मैंने नीवू तथा सदाफल के वागों की सैर की। ये वाग एक घाटी की तलहटी में पहाड़ियों के मध्य सूखजाना नामक ग्राम के ऊपर स्थित हैं। यह स्थान सलाहुद्दीन का जन्म स्थान है। एक पहर दिन उपरान्त चारवाग पहुँच कर हम वहाँ ठहर गए।

---

१. ज्ञात होता है कि ये मन्दिर आजम हुमायूं के घेरे के समय अपूज्य और भ्रष्ट कर दिए गए थे; और फिर वावर के वंशजों के अधिकारियों ने इन्हें तुड़वा दिया।

(४ अक्टूबर)–रविवार १९ मुहर्रम को सूर्योदय के पूर्व हमने चारबाग से प्रस्थान किया और क्वांरी नदी पार करके एक स्थान पर मध्याह्न व्यतीत की। मध्याह्नोत्तर की नमाज़ के उपरान्त हम लोग वहाँ से रवाना हुए और सूर्यास्त के समीप हम लोगों ने चम्बल नदी पार की और सायंकाल एवं सोने के समय की नमाज के बीच हम दोलपुर के किले में प्रविष्ट हुए। दीपक के प्रकाश की सहायता से हमने एक हम्माम का, जिसका निर्माण अबुल फतह ने कराया था, निरीक्षण किया। वहाँ से प्रस्थान करके हम बाँध के ऊपर, जहाँ नये चारबाग का निर्माण हो रहा था, पहुँचे।"[1]

---

१. बाबरनामे का यह उद्धरण डा० रिजवी के हिन्दी अनुवाद से लिया गया है। इसकी पाद-टिप्पणियाँ लेखक ने जोड़ी हैं।
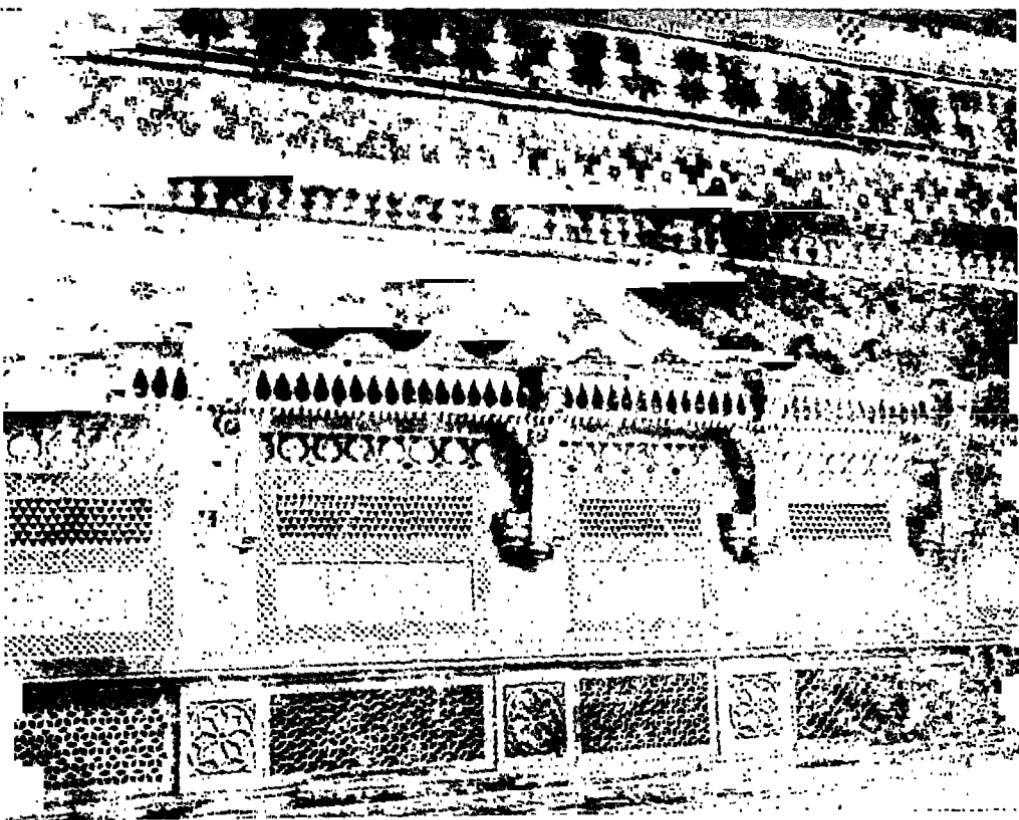
मानमन्दिर के भीतर की सज्जा

(पृष्ठ ३५१)

"This place, while on the one hand a representative example of decorative architecture, is, on the other hand, also an exceptional type of architectural decoration, and its fault lies in the fact that its designers attempted too much in their effort to fulfil both objects".

—Percy Brown

परिशिष्ट-दो

गोपाचल के प्राचीन इतिहास

गोपाचल का इतिहास मध्ययुग से ही कुछ लेखकों का अत्यन्त प्रिय विषय रहा है। संभवतः इनमें सबसे प्राचीन किसी 'घनश्याम पण्डित' का 'तारीखेनामा ग्वालियर' है; क्योंकि शाहजहाँकालीन सैयिद फज्लअली शाह कादिरी ने अपने ग्रन्थ 'कुल्याते-ग्वालियरी' में यह उल्लेख किया है कि उसने अपने ग्रन्थ को घनश्याम पण्डित की रचना के आधार पर लिखा है। परन्तु 'घनश्याम पण्डित' की कृति किसी को अब तक प्राप्त नहीं हो सकी है।

कालक्रम में दूसरी कृति खड्गराय का गोपाचल-आख्यान है। खड्गराय ने इसे शाहजहाँ के राज्यकाल में कृष्णसिंह तोमर को सुनाने के लिए लिखा था। खड्गराय की कृति वास्तव में ग्वालियर के तोमरों का इतिहास है। उसने जितना विस्तृत और प्रामाणिक इतिहास तोमरों का दिया है उतना अन्य राजवंशों का नहीं दिया है। विक्रमादित्य तोमर की पराजय के पश्चात्, उसका गोपाचल-आख्यान फिर गोपाचल के इतिहास पर केन्द्रित न रहकर विक्रमादित्य के वंशजों का इतिहास बन गया है।

खड्गराय की कृति को दो अन्य लेखकों ने ज्यों-का-त्यों आत्मसात् कर लिया है और उसमें शाहजहाँ के पश्चात् का ग्वालियर का इतिहास जोड़ दिया है। किसी 'नाना कवि' ने खड्गराय के ग्रन्थ में 'खर्ग' नाम हटाकर 'वर्ग' कर दिया है और वह इस ग्रन्थ को महादजी सिन्धिया के समय तक ले आया।[1] इसी प्रकार दूसरा प्रयास बादलीदास का है। इसने खड्गराय के विवरण को दौलतराव सिन्धिया के राज्यकाल तक बढ़ा दिया है।[2]

सैयिद फज्लअली शाह कादिरी ने 'कुल्याते-ग्वालियरी' में ग्वालियर गढ़ का शाहजहाँ के राज्यकाल तक का इतिहास दिया है।[3] तोमरों के इतिहास के पश्चात् का उसका अंशदान बहुत महत्वपूर्ण है। सूर वंश के ग्वालियर के आधिपत्य का प्रामाणिक वर्णन फज्लअली की कृति से ही प्राप्त होता है। फज्लअली ने खड्गराय के गोपाचल-आख्यान को आधार न बना कर किसी घनश्याम पण्डित के ग्रन्थ को आधार बनाया था। यह भी सुनिश्चित है कि तोमरों के पूर्व का इतिहास लिखने के लिए फज्लअली ने अन्य फारसी इतिहास भी देखे थे।

---

१. नाना कवि का ग्रन्थ सिन्धिया ओरिएण्टल रिसर्च इन्स्टीट्यूट, उज्जैन में सुरक्षित है।

२. खड्गराय का गोपाचल-आख्यान तथा बादलीदास की कृति स्वर्गीय श्री भालेराव के संग्रह में थी। उन्होंने इन दो ग्रन्थों को सम्पादित कर प्रस्तावना सहित पाण्डुलिपि तैयार की थी। परन्तु उनकी मृत्यु के पश्चात् वह समस्त सामग्री न जाने कहाँ चली गई।

३. इस ग्रन्थ की एक प्रति ग्वालियर के भूतपूर्व जागीरदार श्री हजरतजी के पुस्तकालय में है। (पीछे पृष्ठ २७ की पाद टिप्पणी देखें।)

औरंगजेब के समय में ग्वालियर गढ़ के प्रशासक मौतमिदखाँ के मुंशी 'हीरामन' ने भी एक 'ग्वालियरनामा' लिखा था। हीरामन का 'ग्वालियरनामा' हमें प्राप्त नहीं हो सका। उसका उपयोग मेजर जनरल कनिंघम ने किया है।

डा० सैयिद अतहर अब्बास रिजवी ने अपने ग्रन्थ 'बाबर' में किसी 'जलाल हिसारी' की 'तारीखे-ग्वालियर' का भी उल्लेख किया है। परन्तु उक्त विद्वान ने कहीं भी यह उल्लेख नहीं किया कि यह ग्रन्थ कब लिखा गया है और उसकी प्रति कहाँ पर है। संभव है, वह अलीगढ़ विश्वविद्यालय में हो।

डा० सन्तलाल कटारे ने गोपाचल के कुछ अन्य इतिहासों की सूचना दी है।[1] जब जनरल पोफम ने ग्वालियर गढ़ को जीत लिया, उसके पश्चात् कैप्टन विलियम ब्रूस के आग्रह पर मोतीराम और खुशाल ने एक 'ग्वालियरनामा' लिखा था। किसी खाने-जहाँ द्वारा लिखित 'ग्वालियरनामा' का उल्लेख भी डा० कटारे ने किया है।

इस दिशा में अन्तिम प्रयास ग्वालियर नरेश माधवराव सिन्धिया के वैमात्रेय भाई बलवन्तराव भैयासाहब का ग्वालियरनामा है। यह छोटी पुस्तक अंगरेजी में है और फज़्ल-अली की कृति पर आधारित है।[2]

तोमरों का इतिहासकार-खड्गराय

तोमरों के पुरोहित सनाढ्य ब्राह्मण रहे हैं। सनाढ्य, पण्डित और कवि भी होते थे; साथ ही परम समर-शूर भी। आज तँवरघार में जितना प्रभाव तोमरों का है, उससे कम प्रभाव सनाढ्यों का नहीं है। इनमें से यहाँ हमारा सम्बन्ध उस सनाढ्य ब्राह्मण से है जो बड़े विस्तार से तोमर वंश का इतिहास अंकित कर गया है। गोपाचल का इतिहास लिखने का प्रयास अनेक व्यक्तियों ने किया है, हिन्दी में भी और फारसी में भी। परन्तु, तोमरों का समग्र इतिहास केवल खड्गराय ने ही लिखा है। उसके इतिहास में दिल्ली के तोमरों का विवरण है, ग्वालियर के तोमर राजाओं का विवरण है और मुग़लों के सामन्त तोमरों का भी। मालव के तोमर राजा सलहदी का उल्लेख खड्गराय ने नहीं किया है।

खड्गराय ने अपना परिचय गोपाचल-आख्यान में ही दिया है—

तातें राजकथा कवि करी, गुरु प्रसाद सहाई हरी।
गोत अगस्त सनावढ़ जात, द्वादस घर बंदेल संघात ॥
राइ सुजानि महाकवि भयौ, लघु सुत देव विधाता ठयौ।
ता सुत खगराइ परगास, किंचित बुधि कविन कौ दास ॥

---

१. डॉ. गंगोलाताल, ग्वालियर इन्स्क्रिप्सन्स आफ द तोमर किंग्स ऑफ ग्वालियर, जर्नल ऑफ द ओरिएण्टल इन्स्टीट्यूट, भाग २३, जून १९७४।

२. इस पुस्तक की एक प्रति पुरातत्व संग्रहालय, गूजरी महल, ग्वालियर में है।

ब्रह्म ज्ञान राखै जो रहे, तुछ कछू आगम ते कहै।
गुन की गरव न मन में धरै, चारौ वरन मया ता करै ॥
ग्वालिया सपने में कहौ, ता परसाद कवित वरनयौ।
जो यह कथा सुनै धरि भाउ, होइ सुबुधि धरम पर चाउ ॥

इन पंक्तियों के अनुसार खड्गराय अगस्त्य गोत्रीय सनाढ्य ब्राह्मण थे। इनके पिता के पिता का नाम 'सुजानराय' था, जो स्वयं महाकवि था। सुजानराय का छोटा पुत्र था देवराय और देवराय के पुत्र थे खड्गराय। संभव यह है कि सुन्दरश्रृंगार के रचयिता महाकविराय सुन्दरदास सुजानराय के वड़े पुत्र थे। वे ग्वालियर निवासी थे और आगरा में शाहजहाँ के पास चले गए थे जिसने उन्हें 'महाकविराय' की पदवी दी थी।

खड्गराय ने लिखा हैं कि उसे ग्वालिया सन्त ने स्वप्न में यह निदेश दिया था कि वह गोपाचल-आख्यान लिखे, तब उसने यह 'राजकथा' लिखी थी। स्वप्न में ग्रन्थ लिखने का आदेश मिलने की कथा-रूढ़ि बहुत पुरानी है। नयचन्द्र सूरि ने हम्मीरमहाकाव्य में भी यह लिखा हैं कि उसे हम्मीरदेव ने स्वप्न में 'हम्मीरमहाकाव्य' लिखने की प्रेरणा दी थी। परन्तु, यह केवल श्रोताओं पर प्रभाव डालने का प्रयास मात्र है। नयचन्द्र सूरि ने हम्मीर-महाकाव्य वीरमदेव तोमर के आग्रह पर लिखा था और खड्गराय ने गोपाचल-आख्यान कृष्णसिंह तोमर[1] के आग्रह पर लिखा था।

गोपहार, गोपगिरि, ग्वालियर

गोपाचल गढ़ और गोपाचल नगर या ग्वालियर का इतिहास विशेष खोज की अपेक्षा रखता है।

गोपाचल गढ़ के तोमरों के अधीन होने के पहले का जो इतिहास खड्गराय ने दिया है, उसे किंवदन्ती ही माना जा सकता है।

खड्गराय के अनुसार, गोपाचल गढ़ की नींव सूर्य वंशी राजा सूर्यपाल ने द्वापर के समाप्त होने और कलियुग के प्रारम्भ होने के समय डाली थी। मेजर जनरल कनिंघम ने कलियुग का प्रारम्भ ईसा से पूर्व ३१०१ में माना है। खड्गराय के अनुसार, सूर्यपाल के उपरान्त उसकी ८४ पीढ़ियों ने गोपाचल गढ़ पर राज्य किया। इन्हें खड्गराय ने 'पाल' राजा कहा है।

खड्गराय के अनुसार, अन्तिम 'पाल' राजा तेजपाल ने आमेर के कछवाहा राजा की राजकुमारी से विवाह करने का निश्चय किया। वह अपने भानेज को गढ़ सौंप कर आमेर चला गया। भानेज परिहार था। उसने ग्वालियर गढ़ फिर तेजपाल को न लौटाया और इस प्रकार यह गढ़ परिहारों के हाथ में आ गया।

---

१. पीछे पृ० २६३ तथा २६५ देखें।

खड्गराय ने परिहारों का इतिहास पर्याप्त रूप में इतिहास-संमत दिया है। उसका विवरण ऊपर दिया जा चुका है।[1]

खड्गराय ने इल्तुतमिश और सारंगदेव के युद्ध और उस समय हुए जौहर का अत्यन्त विस्तृत विवरण दिया है।[2]

इसके पश्चात् खड्गराय ने गोपाचल गढ़ के 'तुरकाने' का अत्यन्त संक्षिप्त इतिहास दिया है। इल्तुतमिश ने ग्वालियर गढ़ पर कुछ निर्माण कराए और वह उस गढ़ को बहादुरखाँ को सौंप कर चला गया।

उसके पश्चात् प्रारम्भ होता है, खड्गराय का ग्वालियर के तोमरों का इतिहास। यह इतिहास सुनिश्चित रूप से प्रामाणिक है।

खड्गराय का इल्तुतमिश के आक्रमण के पहले का इतिहास

इल्तुतमिश के आक्रमण के पहले ग्वालियर के इतिहास को अनेक अन्य स्रोतों से भी जाना जा सकता है और उसे सुपुष्ट रूप से प्रस्तुत किया जा सकता है। कुछ शिलालेख भी उपलब्ध हैं, कुछ साहित्यिक उल्लेख भी मिलते हैं तथा कुछ स्थापत्य भी प्राचीन इतिहास की ओर इंगित करते हैं। उनसे ज्ञात होता है कि खड्गराय के समय तक ग्वालियर गढ़ का प्राचीन इतिहास भुलाया जा चुका था और उसकी कुछ धुँधली-सी स्मृति ही शेष बची थी।

सबसे पहले इस गढ़ और इस प्रदेश के नामों से कुछ परिणाम निकाले जा सकते हैं। गढ़ का नाम अनेक रूपों में मिलता है—गोपाचल, गोपगिरि, गोपाद्रि, गोव्वागिरि, गोवागिरि, गोपालगिरि और ग्वालियर। गढ़ के पास नगर को ग्वालियर भी कहा गया है, गोहारि भी और गोपालगिरि नगर तथा गोपालपुर भी। 'ग्वालियर' का उद्गम 'गोपहार' में है। इन सभी नामों से यह ज्ञात होता है कि मूलतः यह गढ़ और उसके चारों ओर का प्रदेश गोप संस्कृति का केन्द्र था। इसी कारण मानसिंह तोमर के शिलालेख में गोपगिरि को 'गोवर्धन गिरिवर' भी कहा है।

भारत की गोप संस्कृति ने लोक भाषा और लोक संगीत को विकसित एवं समृद्ध किया है। इसी कारण अहीरों को भारतीय देशी संगीत और लोक भाषा का जनक माना जाता है। प्राचीन गोपहार और गोपगिरि सदा मंजुल लोक संगीत से प्रतिध्वनित होता रहा है।

खड्गराय ने लिखा है कि ग्वालिया सन्त ने कलियुग के प्रारम्भ में सूर्यवंशी राजा सूर्यपाल से कहा था कि इस गढ़ का नाम ग्वालियर रखना। यह केवल कवि-कल्पना ज्ञात होती है।

---

१. पीछे पृ० ७-८ देखें।

२. फज्लअली और हीरामन ने गोपाचल को 'गोमन्त' लिखा है। यह वास्तव में 'गोमत' होगा जिसका आशय गोधन से परिपुरित प्रदेश है। जो आशय गोपहार या गोपगिरि से है वही आशय 'गोमत' से है।

ज्ञात यह होता है कि ग्वालिया सिद्ध ने यह नाम इस कारण प्राप्त किया होगा कि वे गोपों द्वारा पूजनीय महात्मा थे अथवा गोपहार उसकी साधना-स्थली थी। खड्गराय ने ग्वालिया को सिद्ध कहा है। मध्ययुग में बौद्ध सम्प्रदाय के वज्रयान का प्रादुर्भाव हुआ था जो प्रारम्भ में मंत्रयान कहा जाता था, और ईसवी ८०० ई० के पश्चात् वज्रयान माना जाने लगा। इसके प्रमुख तत्व मद्य, मन्त्र, हठयोग और मैथुन थे।[1] इसी मत-परम्परा में ८४ सिद्ध हुए थे। प्रथम सिद्ध का नाम सरहपा था जो बंगाल के पाल सम्राट् धर्मपाल (सन् ७६८-८०९ ई०) के समकालीन थे। महापण्डित राहुल सांकृत्यायन ने तिब्बत के ग्रन्थों के आधार पर ८४ सिद्धों की सूची दी है। उनमें कहीं भी 'ग्वालिया' या 'ग्वालिपा' नाम नहीं है।[2] राहुलजी ने यह की स्थापना की है कि काशी के गहड़वार सम्राट् जयचन्द्र के समय तक ८४ सिद्धों की संख्या पूरी हो गई थी।

यद्यपि गोरक्षनाथ का भी नाम इन ८४ सिद्धों में गोरक्षपा के रूप में मिलता है, तथापि गोरक्षनाथ बौद्धों के वज्रयान से बहुत दूर थे। वे मुख्यतः शैव योगतंत्र के प्रवर्तक थे। उनकी शिष्य-परम्परा समस्त भारत में फैल गई थी। नाथ योगी भी सिद्ध कहे जाते थे, क्योंकि वे भी सिद्धि का चमत्कार प्रदर्शित करने की शक्ति का दावा करते थे।

खड्गराय ने ग्वालिया की जो प्रशस्ति दी है, उससे यह स्पष्ट है कि ग्वालिया सन्त नाथपंथी योगी थे, न कि वज्रयानी सिद्ध। खड्गराय ने लिखा है—

आदि थान तपसी कौ रहै, नाम ग्वालिया सिद्ध जु कहै।

छप्पै

नन्दीगन मैं सुन्यो, सुन्यौ भ्रंगीगन भारी।
सहजनाथ मैं सुन्यौ, सुन्यौ जोगेन्दु विचारी॥
नागनाथ सिवनाथ नाथ सुन्दर गनि लीनौ।
कान्हीपा कलिनाथ दान खटदर्सन दीनौ।
कवि खर्ग ब्रह्मनंदन भनै, झिलमिलानंद गोरख निकट।
मुक्ति सिद्धि नव निधि कौ, सु ग्वालीया कलि में प्रगट॥

इस छप्पय में कान्हीपा और योगेन्द्र वज्रयानी सिद्धों के नाम हैं, तथापि ग्वालिया नाथपंथी योगी ही ज्ञात होते हैं। इस छप्पय में 'नन्दीगन' और 'भ्रंगीगन' शिव के गण हैं जिन्हें नाथपंथी अपने मत के प्रवर्तक मानते हैं। सहजनाथ और सुन्दरनाथ ग्वालियर की नाथपंथी पीठ पर डूंगरेन्द्रसिंह के समय में या उसके कुछ पूर्व थे। यह बहुत संभव है कि गोपगिरि की नाथपंथी पीठ के आदि प्रवर्तक ग्वालिया हों। परन्तु उनका समय किसी भी दशा में ईसवी बारहवीं शताब्दी के पहले का नहीं हो सकता।

---

१. राहुल सांकृत्यायन, पुरातत्व निबन्धावली, पृ० १४३।
२. वही, पृ० १४८ से १५४।

हमारा अनुमान यह है कि जो अनुश्रुति खड्गराय को प्राप्त हुई थी उसमें अनेक तथ्यों का घोलमेल हो गया था। मातृचेट का सूर्य-मन्दिर और उसके परिणामस्वरूप बने सूर्यकुण्ड ने सूर्यवंश के राजा सूर्यपाल की कल्पना को जन्म दिया। कभी ८४ सिद्ध अत्यधिक विश्रुत थे, अतएव सूर्यपाल के सूर्यवंश के ८४ राजा माने गए। गोपहार से उद्भूत 'ग्वालियर' नाम के जन्म की कथा भी फिर सिद्ध ग्वालिया के वरदान से जोड़ दी गई। वास्तविकता यह है कि 'ग्वालियर' नाम का मूल गोप या ग्वाल 'हार' में है। शाहजहाँ-कालीन खड्गराय के समय तक गोपगिरि का प्राचीन इतिहास पूर्णतः भुला दिया गया था। कुछ घटनाओं की स्मृति के समन्वय के परिणामस्वरूप जो अनुश्रुति प्रचलित थी वह खड्गराय ने लिख दी।

गोपगिरि का सूर्य-मन्दिर और उसके साथ का सूर्यकुण्ड कैसे और कब बना यह एक शिलालेख से सिद्ध है।

मिहिरकुल के राज्य के पन्द्रहवें वर्ष में मातृचेट ने गोपगिरि पर सूर्य का मन्दिर बनवाया था, यह तथ्य शिलालेख की साक्षी से सिद्ध है।[1] यह प्रथम शिलालेख है जो गोपगिरि पर किए गए निर्माण का निर्विवाद साक्षी है। इसका समर्थन स्थापत्य के साक्ष्य से भी होता है।

आज गढ़ पर सूर्यकुण्ड नामक जलाशय बना हुआ है। यह सुनिश्चित है कि उसके पास बने हुए मन्दिर अपने प्राचीन रूप में नहीं हैं और वे बाद के निर्माण हैं, परन्तु सूर्यकुण्ड निश्चित ही उसी स्थल पर है और वह मातृचेट के सूर्य-मन्दिर के साथ ही बना था।[2] सूर्यकुण्ड के पीछे एक मातादेवी का मन्दिर है। इसका आगे का भाग परवर्ती है और पीछे का भाग बहुत प्राचीन ज्ञात होता है। इस पर उत्कीर्ण मूर्तियाँ अत्यन्त सुन्दर है। कुछ विद्वानों का अभिमत है कि यही मातृचेट का सूर्य-मन्दिर है। परन्तु यह कथन ठीक ज्ञात नहीं होता। इस मन्दिर के पीछे के भाग पर जो मूर्तियाँ बनी हैं वे ईसवी छठवीं शताब्दी की कदापि नहीं है। संभव यह है कि यह मन्दिर भोज प्रतीहार के समय का हो।

मातृचेट के शिलालेख में गोपाचल गढ़ का नाम और वर्णन भी संक्षिप्त रूप में दिया गया है—'गोप नाम का भूधर जिस पर विभिन्न धातुएँ प्राप्त होती है।'[3]

मिहिरकुल हूण के साम्राज्य के विरुद्ध मालवा का यशोधर्मन[4] तथा अन्य भारतीय शक्तियाँ उठ खड़ी हुईं और मिहिरकुल के साथ ही भारत में हूणों का प्रभुत्व समाप्त हो

---

१. ग्वालियर राज्य के अभिलेख, क्रमांक ६१६।

२. गढ़ के ऊपर कोई बड़ा निर्माण करते समय उसके पास, तालाब अनायास ही बन जाता था। निर्माण के लिए पत्थर निकालते समय यह ध्यान रखा जाता था कि उसके कारण सुन्दर जलाशय का निर्माण हो जाए; गंगोलाताल भी इसी प्रकार बना है। तेली के मंदिर के निर्माण के लिए यहीं से पत्थर लिया गया था।

३. चन्देल यशोवर्मन के शिलालेख वि० सं० १०११ (सन् ९५४ ई०) में गोपाचल गढ़ को 'विस्मयैकनिलय गोप नामक गिरि' कहा गया है। एपीग्राफिका इण्डिका, भाग १, पृ० १२९।

४. ग्वालियर राज्य के अभिलेख, पृ० १।

गया। उसके पश्चात् गोपगिरि का लगभग एक शताब्दी का इतिहास अज्ञात ही है। ईसवी सातवीं-आठवीं शताब्दी में उत्तर भारत राष्ट्रकूट, गुर्जर प्रतीहार और बंगाल के पालों का युद्धक्षेत्र बन गया था। इन सब की दृष्टि कन्नौज के साम्राज्य पर रहती थी। बंगाल के पालों के अतिरिक्त गुर्जर प्रतीहार और राष्ट्रकूट, दोनों के ही मार्ग में गोपाचलगिरि पड़ता था और ज्ञात यह होता है कि कभी राष्ट्रकूटों ने भी गोपाचल गढ़ पर आधिपत्य कर लिया था।

प्रबन्धकोश के अनुसार, गोपालगिरिदुर्ग-नगर कान्यकुब्ज देश में था[1] और उसे कन्नौज के प्रतापी सम्राट् यशोवर्मन के पुत्र 'आम' ने अपनी राजधानी बनाया था। इस आम ने वप्पभट्टि सूरि का शिष्यत्व ग्रहण किया और गोपगिरि पर एकसौएक हाथ लम्बा मन्दिर बनवाया और उसमें वर्धमान महावीर की विशाल मूर्ति स्थापित की। वप्पभट्टिचरित तथा प्रभावकचरित से भी इस अनुश्रुति की पुष्टि होती है। 'आम' के पुत्र का नाम प्रभावकचरित में 'दुंदुक' दिया गया है। दुंदुक का पुत्र भोज कहा गया है जो अपने पिता को मारकर राजसिंहासन पर बैठा था।[2] 'आम' और उसके वंशजों का जैन ग्रंथों का यह विवरण सत्य है या नहीं, इसकी परीक्षा करने का अन्य कोई साधन नहीं है। कुछ विद्वानों का अभिमत है कि 'आम' यशोवर्मन का पुत्र था[3] तथा कुछ विद्वानों का अभिमत है कि आम प्रतीहार वंश के नागाभलोक (नागभट्ट द्वितीय) या वत्सराज से अभिन्न है।[4] 'आम' यदि यशोवर्मन का पुत्र है तब उसका समय लगभग ७५० ईसवी होगा और यदि उसे प्रतीहार वत्सराज या नागाभलोक (नागभट्ट द्वितीय) से अभिन्न माना जाए तब उसका समय ७८० या ८३० ई० के लगभग होगा।

इस संदर्भ में यहाँ उस उत्तुंग मन्दिर का उल्लेख करना आवश्यक है जिसे 'तेली का मन्दिर' कहा जाता है। इसके पास ही विशाल गंगोलाताल है। बाबर के समय में अनुश्रुति यह थी कि इस मन्दिर के निर्माण के लिए जहाँ से पत्थर लिया गया वहाँ तालाब बन गया और उसे गंगोलाताल कहा जाने लगा। इस मन्दिर के निर्माता के विषय में अनेक अनुमान किए गए हैं। एक विद्वान का अभिमत है कि यह राष्ट्रकूटों का निर्माण है। एक अन्य विद्वान ने अभिमत प्रकट किया है कि इस निर्माण भोज प्रतीहार ने कराया होगा।

हमारा अनुमान है कि इसका सम्बन्ध दक्षिण के चालुक्यों से है जिनमें तैलप नामक राजा हुए हैं। 'तेली के मन्दिर' का 'तेली' 'तैलप' है और 'गंगोलाताल' का 'गंगोला' कोई 'गांगेय' है। परन्तु अभी इस विषय में निर्विवाद रूप से कुछ कह सकना संभव नहीं

---

१. प्रबन्धकोश में गोपाचल का नाम 'गोपगिरि' भी दिया गया है। पृ० २९।
२. प्रभावकचरित, सिंघी जैन ग्रन्थमाला, पृ० १०९।
३. एस० पी० पंडित, गौडवहो, प्रस्तावना पृ० १५९।
४. द एज आफ इम्पीरियल कन्नौज, पृ० २९० (भारतीय विद्याभवन प्रकाशन) तथा डा० आर० एस० त्रिपाठी, हिस्ट्री आफ कन्नौज, पृ० २११।

है। मूल रूप में यह शिव-मन्दिर था। परन्तु इसमें बाद में बहुत कुछ जोड़ा गया है। इसका तोरणद्वार परवर्ती है। इसके मूल भवन में भी आगे का ऊपरी भाग परवर्ती है।

अभी हाल ही में श्री आर्थर ह्यूज् ने शिव-पार्वती की खण्डित प्रतिमा का अंश खोजा है। उसमें अत्यन्त सुन्दर ओप किया गया है। उस मूर्ति की शैली तेली के मन्दिर की मूर्तियों के समान ही है। उसके ऊपर एक पंक्ति का एक लेख भी है। यह तेली के मन्दिर की शिव-प्रतिमा ज्ञात होती है। संभव है, उस लेख के पढ़े जाने के पश्चात् तेली के मन्दिर के निर्माता की गुत्थी सुलझ सके और ग्वालियर गढ़ के इतिहास के एक अज्ञात परिच्छेद पर प्रकाश पड़ सके। अभी तो मोटे रूप से यह कहा जा सकता है कि तेली का मन्दिर आठवीं और दसवीं शताब्दी के बीच कभी बना है और इस पर दक्षिण के मन्दिरों की निर्माण शैली का प्रभाव है। तेली के मन्दिर का सम्बन्ध नरेसर के मन्दिर-समूह से है। जिस समय नरेसर के मन्दिर बने हैं उसी समय तेली का मन्दिर बना है।

प्रतीहारों द्वारा राष्ट्रकूटों को पराजित कर देने के उपरान्त गोपाचल का इतिहास कुछ स्पष्ट हो जाता है। हथियापौर के नीचे चतुर्भुज विष्णु के मन्दिर में प्राप्त शिलालेख से[1] तथा एक अन्य तिथि-रहित शिलालेख[2] से यह सिद्ध है कि रामदेव प्रतीहार के समय से ही कन्नौज के सम्राटों ने गोपाचल गढ़ को अपनी दूसरी राजधानी बना लिया था। रामदेव ने गोपाचल गढ़ पर स्वामिकार्तिकेय के मन्दिर का निर्माण कराया था और आनन्दपुर (गुजरात) के वाइल्लभट्ट को 'मर्यादाधुर्य' (सीमाओं का रक्षक) नियुक्त किया था। वि० सं० ९३२ (सन् ८७५ ई०) के चतुर्भुज मन्दिर के शिलालेख से ज्ञात होता है कि वहाँ आजकल मान-मन्दिर बना हुआ है वहीं कहीं भोज प्रतीहार का महल था[1] और उसमें उनका रनिवास रहता था। भोजदेव ने वाइल्लभट्ट के पुत्र 'अल्ल' को 'त्रैलोक्य को जीतने की इच्छा से' गोपगिरि का कोट्टपाल नियुक्त किया था। अल्ल ने ही यह विष्णु-मन्दिर बनवाया था और उसका नाम अपने पिता की स्मृति में 'वाइल्लभट्टस्वामिन्' रखा था।

यद्यपि प्रतीहारों का यह राज्य लगभग १००० ईसवी तक चला परन्तु भोजदेव के उपरान्त किसी प्रतीहार सम्राट् या राजा का कोई शिलालेख कच्छपघातों के पहले का प्राप्त नहीं हुआ है। सन् ९५० ई० के लगभग लक्ष्मण के पुत्र वज्रदामन कच्छपघात ने नगाड़े बजाते हुए कन्नौज के राजा से गोपाद्रि छीन लिया था।[3]

---

१. ग्वालियर राज्य के अभिलेख, क्र० ८।
२. वही, क्र० ४१५।
३. वही, क्र० ५५ तथा ५६।

वज्रदामन का यह कच्छपघात वंश सन् ११०४ ई० तक गोपाचल गढ़ पर राज्य करता रहा।[1] इस राजवंश के निर्माणों से प्रमुख पद्मनाम विष्णु का मन्दिर है, जिसे सास-बहू का बड़ा मन्दिर कहा जाता है।[2]

सन् ११०४ ईसवी के पश्चात् कितने समय तक गोपाचल पर कच्छपघातों का राज्य रहा, यह सुनिश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता।

खड्गराय द्वारा गोपाचल-आख्यान के कच्छपघातों के समय तक का जो इतिहास दिया गया है, वह तथ्य और कल्पना का सम्मिश्रण है। उसके अनुसार ८४ पालों के अन्तिम राजा तेजकरण या दुल्हाराजा ने गोपाचल गढ़ अपने भानजे परमार्दि प्रतीहार (परिहार) को सौंप दिया और परमार्दि (परमाल) ने फिर उसे न लौटाया।

ग्वालियर गढ़ प्रतीहारों के अधिकार में कैसे आया, इस विषय में शिलालेखों का कोई साक्ष्य प्राप्त नहीं होता, तथापि यह सुनिश्चित है कि जब ग्वालियर गढ़ पर सन् ११९६ ई० में शाहबुद्दीन गौरी ने आक्रमण किया था उस समय यहाँ प्रतीहार राज्य कर रहे थे।[1]

कुत्बुद्दीन ऐबक के पुत्र आरामशाह से विग्रहराज प्रतीहार ने गोपाचल गढ़ छीना था। यह विचित्र बात है कि इस विषय में खड्गराय पूर्णतः मौन है। उसके इतिहास में न तो शाहबुद्दीन गौरी के आक्रमण का उल्लेख है और न ही कुत्बुद्दीन द्वारा गढ़ प्राप्त करने का।

खड्गराय का इतिहास फिर इल्तुतमिश के आक्रमण से ही प्रारम्भ होता है।

इल्तुतमिश का थोड़ा-सा विवरण देने के उपरान्त खड्गराय ग्वालियर के तोमरों का इतिहास प्रारंभ करता है। इसमें कोई सन्देह नहीं है कि खड्गराय का तोमरों का इतिहास अप्रामाणिक नहीं कहा जा सकता।

विस्मयैकनिलय गोपगिरि का इतिहास अत्यन्त प्राचीन है। इस चट्टान को डा० विद्यासागर दुबे ने बहुत पुराना सिद्ध किया है। यहाँ मानव का निवास भी अत्यन्त प्राचीनकाल से है। यहाँ प्राचीन गोप संस्कृति विकसित हुई थी। उस समय से आज तक के गोपगिरि, गोव्यागिरि, गोपाचल, गोपालगिरि, गोवर्धन, गोहारि आदि अभिधानधारी इस भूखण्ड का इतिहास विशेष खोज की अपेक्षा करता है। उसके एक-एक पत्थर पर इतिहास की सामग्री अंकित है। उसे पढ़ना, देखना और समझना आवश्यक है। इस ग्रन्थ में उसका केवल एक सौ उन्नीस वर्ष का इतिहास दिया गया है, शेष लगभग अछूता है, पर अछूत नहीं है।

---

१. पीछे पृ० ६ पर देखें।

२. कुछ विद्वान सास-बहू के मन्दिरों का शुद्धिकरण 'सहस्रबाहु का मन्दिर' कर देते हैं। इन दोनों मन्दिरों में से कोई भी 'सहस्रबाहु' का मन्दिर नहीं है। दोनों ही विष्णु-मन्दिर हैं। जहाँ कोई भी दो निर्माण पास-पास बने होते हैं उनमें से बड़े को सास का और छोटे को बहू का मानने की मध्ययुग में परम्परा-सी थी। इस प्रकार की सास-बहू की बावड़ियाँ अनेक हैं।

परिशिष्ट-तीन

नरवरगढ़ का इतिहास

नरवरगढ़ का प्राचीन इतिहास लिखना यहाँ अभीष्ट और प्रासंगिक नहीं है। परन्तु इस सम्वन्ध में कुछ सामग्री उपलब्ध हुई है, उसको यहाँ दे देना उचित होगा। नरवरगढ़ का विस्तृत इतिहास लिखते समय, संभव है, इस सामग्री से कुछ सहायता मिल सके।

पोहरी के श्री लक्ष्मीचन्द्र ने हमें किसी पुरानी पोथी के दो पत्र दिखाए थे। उनके कागद, लिपि तथा स्याही को देखते हुए वे सौ वर्ष से पहले के नहीं हो सकते। यह इतिहास किसी पुरोहित या जगा की वही से उतारा गया ज्ञात होता है। इन दोनों पत्रों में ६३ राजाओं की वंशावली है और यह लिखा है कि नरवरगढ़ की नींव राजा नल ने वि० सं० ८ में डाली थी। इन ६३ राजाओं में से अनेक नाम जाने-पहचाने हैं, परन्तु उनका समय इस वंशावली से मेल नहीं खाता। ये दोनों पत्र नीचे लिखे अनुसार हैं—

श्री

नरवरगढ़ की नींव दई सम्वत् राजा विक्रमादितो ८ अठ की साल में बन्यौ। कछवायेन की गादी म्हाराज की बंसावली भई। ते बरनन्य।

प्रथम राजा नल जी भये १ तिनिकै राजा ढोला जी भये २ तिनिकै राजा लछीमीसैन जी भये ३ तिनिकै राजा व्रजदास जी भयें ४ तिनिकै राजा मंगलराजी भये ५ तिनिकै राजा कीरतराज जी भये ६ तिनिकै राजा मूवनपाल जी भये ७ तिनिकै राजा देउपाल जी भये ८ तिनिकै राजा पदमपाल जी भये ९ तिनिकै राजा महीपाल[1] जी भये १० तिनिकै राजा श्रीपाल जी भये ११ तिनिकै राजा अनिलपाल जी भयै १२ तिनिकै राजा धरमपाल जी भयें १३ तिनिकै राजा धनपाल जी भये १४ तिनिकै राजा कामपाल जी भये १५ तिनिकै राजा शिवपाल जी भये १६ तिनिकै राजा बलपाल जी भये १७ तिनिकै राजा सूरपाल जी भये १८ तिनिकै राजा हरपाल जी भये १९ तिनिकै राजा नेहपाल जी भये २० तिनिकै राजा गंधपाल जी भये २१ तिनिकै राजा लोकपाल जी भये २२ तिनिकै राजा जनकपाल जी भये २३ तिनिकै राजा भीमपाल जी भये २४ तिनिकै राजा सूरपाल जी भये २५ तिनिकै राजा विजयपाल जी भये २६ तिनिकै राजा जैतपाल जी भये २७ तिनिकै राजा कान्हदेव जी भये २८ तिनिकै राजा ईश्वरीसिंह जी भये २९ तिनिकै राजा दत्तसींघ जी भये ३० तिनिकै राजा सोंठद्रेव जी

१. इसी सूची के क्र० ५, ६, ७, ८, ९ तथा १० उस सूची से मिलते-जुलते हैं जो ग्वालियर गढ़ के महीपाल के शिलालेख में दिए गए हैं (पीछे पृ० ६ देखें)। उनका समय सुनिश्चित रूप से १०९३ ई० है।

चित्र-फलक २५
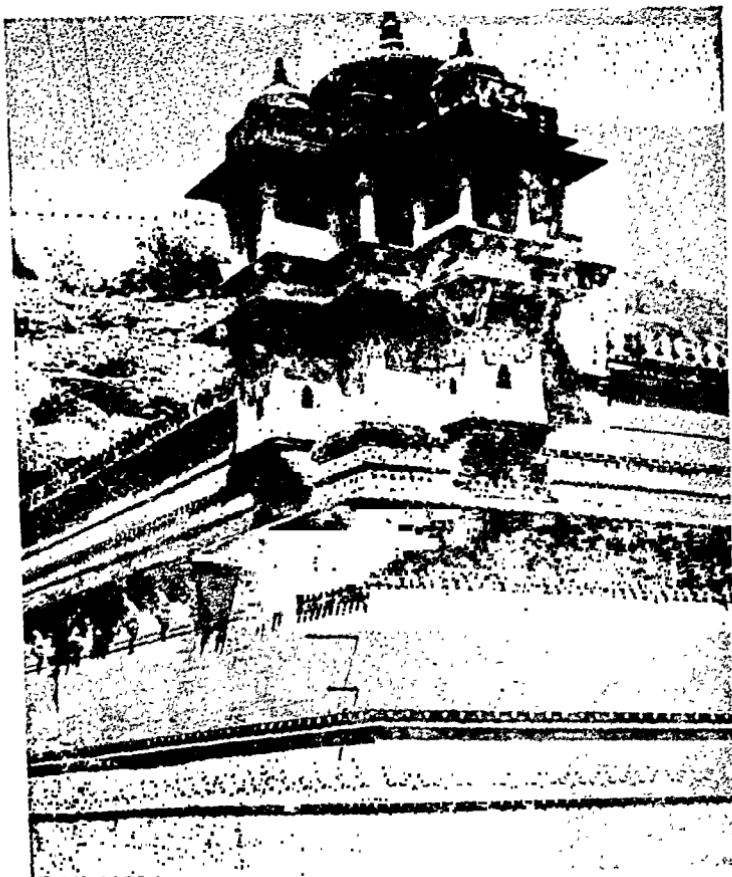
गूजरी महल की एक गोख

—पुरातत्व विभाग के सौजन्य से

भये ३१ तिनिकै राजा दूल्हदेव जी भये ३२ तिनिकै राजा हनूमान जी भये ३३ तिनिकै राजा काकदेव जी भये ३४ तिनिकै राजा चतुरदेव जी भये ३५ तिनिकै राजा पंचमदेव जी भये ३६ तिनिकै राजा भलेसाह जी भये ३७ तवसे मारीस ब्राह्मण की पुरोहताई भई तिनिकै राजा विजूलदेव जी भये ३८ तिनिकै राजा राजदेव जी भये ३९ तिनिकै राजा कल्हनदेव जी भये ४० तिनिकै राजा कूतनसींग जी भये ४१ तिनिकै राजा जैतसिंह जी भये ४२ तिनिकै राजा उदयकरन जी भये ४३ तिनिकै राजा नरसींग जी भये ४४ तिनिकै राजा जावनवीर जी भये ४५ तिनिकै राजा उपरंजन जी भये ४६ तिनिकै राजा चन्द्रसैन जी भये ४७ तिनिकै राजा पृथवीराज जी भये ४८ तिनिकै वेटा भये जेठे भीम नरवर में रहे। ४९ छोटे भाई भरमल[1] जैपुर गये, भीम के अश्वकरन जी भये ५० तिनिकै राजा राजसींग जी भये ५१ तिनिकै राजा रामदास जी भये ५२ तिनिकै राजा फतेसींग जी भये ५३ तिनिकै राजा अमरसींग जी भये ५४ तिनिकै राजा जगतसींग जी भये वे गादी के मालिक भये ५५ छोटे भाई गरथुनी[2] वारे भये ५६ जगतसींग जी के अनूपसींग जी भये ५७ तिनिकै राजा गजसींग जी भये ५८ तिनिकै भाई जसवन्तसींग जी तो नरवदा की लड़ाई में मारे गये तिनसे छोटे किसनसींग जी, तिनके साहव सुमेरसींग जी तिनके वेटे बड़े विसनसींग जी तिनिकै साहव जी भवानीसिंह जी तिनिके सूरतसींग जी छोटे गोविन्दसींग तिनिकै ईश्वरीसींग तिनके गनेजी और अजीतसींग जी भये राजा गजसींग[3] जी के वेटा धनसींग जी भये ५८ तिनिकै राजा रामसींग जी भये ५९ तिनिकै राजा हरीसींग जी भयै ६० तिनिकै राजा देवीसींग जी भये ६१ तिनिकै राजा देवसींग जी भये ६२ तिनिकै राजा माधौसींग[4] जी भये ६३।

इस वंशावली में कुछ नाम ही इतिहास में मिलते हैं। कुछ नाम जो सुनिश्चित रूप स ज्ञात है, वे इस सूची में नहीं हैं।

जहाँ तक ठोस इतिहास का सम्बन्ध है, नरवर पर सन् ११२० ई० में सुनिश्चित रूप से कच्छपघात राजाओं का राज्य था। वि० सं० ११७७ (सन् ११२० ई०) के नरवर के ताम्रपत्र[5] से यह ज्ञात होता है कि उस वर्ष नरवर में वीरसिंह कच्छपघात राज्य कर रहा था। उसके पिता का नाम शरदसिंह तथा पिता के पिता का नाम गगनसिंह था। ऊपर दी गई वंशावली में इन तीनों राजाओं का नाम कहीं नहीं है। खड्गराय, वादलीदास तथा

१. अकवर के समकालीन।

२. गरथुनी पोहरी के पास एक छोटा सा ठिकाना था। इसे मराठाओं ने जीता था। गरथुनी के ठाकुर पोहरी के मराठा जागीरदार के अधीन कर दिए गए थे।

३. गजसिंह सन् १७२५ ई० में दक्षिण के युद्ध में मारे गए थे।

४. माधोसिंह सिन्धियाओं से युद्ध करते रहे। उनके पश्चात् ही सिन्धियाओं ने नरवरगढ़ जीत लिया।

५. ग्वालियर राज्य के अभिलेख, क्र० ६५।

फज्लअली के अनुसार इस शाखा का अन्तिम राजा तेजकरन था। इससे प्रतीहारों ने नरवर-गढ़ भी छीन लिया होगा। परन्तु यह केवल अनुमान है। तेजकरन के पश्चात् नरवर पर जज्जपेल्ल वंश के चाहड़पाल का राज्य था, यह सुनिश्चितरूपेण कहा जा सकता है। चाहड़ के पूर्व परमार्दिदेव का उल्लेख शिलालेखों से मिलता है। यदि यह परमार्दिदेव वह भानैज परमाल प्रतीहार है जिसने तेजकरन से गोपाचल गढ़ लिया था तब जज्जपेल्ल सुनिश्चित रूप से प्रतिहारों की ही एक शाखा थे।[1] चाहड़देव का वंशवृक्ष शिलालेखों से नीचे लिखे अनुसार है—

जयपाल (मूल पुरुष)–रत्नगिरि गिरीन्द्र का स्वामी परमार्दिदेव (१२०० ई०) चाहड़-देव, नरवर्मनदेव, आसल्लदेव, गोपालदेव, गणपतिदेव। गणपतिदेव का अस्तित्व सन् १२९८ ई० में था।

ज्ञात होता है कि गणपतिदेव को अलाउद्दीन खलजी ने पराजित कर उससे नरवर गढ़ छीन लिया।

सन् १३४२ ई० में जब इब्नबतूता नरवर आया था तब वहाँ का हाकिम मुहम्मद-बिन-बैरम था।

सन् १४३७ ई० में नरवर का हाकिम बहरखाँ था जो नाममात्र को दिल्ली की अधीनता स्वीकार करता था। डूंगरेन्द्रसिंह ने इस पर ही आक्रमण किया था। इस आक्रमण के पश्चात् नरवर के हाकिम ने मालवा के खलजियों की अधीनता स्वीकार कर ली। नरवर के हाकिम फिर मालवा और ग्वालियर, दोनों को ही अपने अधिपति मानते रहे। सन् १५०७ ई० में नरवर पर सिकन्दर लोदी ने आक्रमण किया और उसके मन्दिरों को नष्ट-भ्रष्ट कर डाला। उसने वहाँ आलिमों और इस्लाम के विद्यार्थियों को बसाया एवं उन्हें वजीफे तथा भूमि प्रदान की। सिकन्दर लोदी छह मास तक नरवर में रुका रहा।

ज्ञात यह होता है कि सिकन्दर की विजय के उपरान्त मुगलों की भारत-विजय तक नरवर अफगानों के कब्जे में ही रहा।

तुर्क और अफ़गान प्रशासकों के समय स्थानीय जनता को क्या-क्या भुगतना पड़ा था, इसका एक मनोरंजक उदाहरण उपलब्ध हुआ है।

सन् १९२६ ई० में दो बैल लड़ रहे थे। उस समय उनमें से एक का पैर पत्थर में फँस गया। जब उसे छुड़ाया गया तब ज्ञात हुआ कि वहाँ कोई तलघर है। जब उस तलघर को खोला गया तब उसमें सैंकड़ों जैन मूर्तियाँ प्राप्त हुईं। यहीं पर वि० सं० १३१९ (१२६२ ई०) का एक शिलालेख भी मिला जिसे चाहड़देव और आसल्लदेव के पदाधिकारी जैत्रसिंह ने खुदवाया था। इस तलघर में वि० स० १५१७ (सन् १४६० ई०) का भी एक शिलालेख मिला है। ज्ञात होता है कि सन् १४६० ई० से पूर्व ही समस्त जैन मूर्तियाँ तुर्क

---

१. पीछे पृ० १२ देखें।

हाकिमों से सुरक्षित रखने के लिए तलघर में रखवा दी गई थीं और वहीं उनकी पूजा की जाने लगी थी। इनमें से अधिकांश मूर्तियाँ अब शिवपुरी के संग्रहालय में भेज दी गई हैं। इन पर वि० सं० १३१४ (सन् १२५७ ई०) से वि० सं० १३४० (सन् १२८३ ई०) तक के लेख हैं। नरवरगढ़ के उरवाही द्वार पर जो जैन मूर्तियाँ हैं उन पर वि० सं० १३१३, १३१६, १३४० तथा १३४८ के लेख प्राप्त हुए हैं। ये समस्त मूर्तियाँ जज्जपेल्ल राजाओं के समय की हैं।

लोदियों का राज्य समाप्त होने के पश्चात् नरवर पर कौन राज्य करता रहा, इसका कोई प्रमाण नहीं मिलता। अकबर के समय में जयपुर के कछवाहों को ग्वालियर तथा नरवर का प्रशासक नियुक्त कर दिया गया था। मेजर जनरल कनिंघम के अनुसार सिकन्दर लोदी के समय जयपुर का राजा राजसिंह था, जो भीमसिंह का पुत्र तथा पृथ्वीसिंह[1] का पुत्र था। ऊपर उद्धृत वंशावली यह कहती है कि भीमसिंह 'नरवर में ही रहे'। परन्तु यह कथन काल्पनिक ज्ञात होता है। कनिंघम के अनुसार राजसिंह के पश्चात् रामदास हुए जिनका उल्लेख गोपाचल गढ़ के सन् १६०६ ई० के शिलालेख पर प्राप्त होता है। रामदास के पश्चात् नरवर फतहसिंह को मिला। उसके पश्चात् अमरसिंह से नरवरगढ़ छीन लिया गया तथा संग्रामसिंह तोमर को वहाँ का सूबेदार बना दिया गया।[2] परन्तु कुछ समय पश्चात् कछवाहों (को) मुगलों द्वारा नरवरगढ़ पुनः दे दिया गया। इसी वंश-परम्परा में सवाई मानसिंह हुए जिन्हें मराठाओं ने सन् १८४४ ई० में पराजित कर ग्वालियर गढ़ में कैद कर दिया। अंगरेजों के हस्तक्षेप से वे मुक्त हुए और सन् १८५७ ई० में तात्या टोपे से मिल गए। कुछ इतिहासकारों का मत है कि अन्ततोगत्वा इन्होंने ही तात्या टोपे को अंगरेजों के हवाले कर दिया था और उसे शिवपुरी में फाँसी दिलाने के उत्तरदायी हुए। कुछ इतिहासकारों का अभिमत है कि जिसे अंगरेजों को पकड़वाया गया था वह कोई नकली तात्या टोपे था।

आमेर और नरवर के कच्छपघातों को एक में मिला देने के कारण सम्भवतः नरवर का इतिहास प्रामाणिक रूप से लिखा जाना यदि असम्भव नहीं तब बहुत कठिन अवश्य हो गया है।

यह भी सुनिश्चित है कि आसकरन कछवाहा भी अकबर के समय में नरवर और ग्वालियर के मन्सबदार हो गए थे। सवाई जयसिंह का भी कभी नरवर पर अधिकार रहा था, जैसा कि उस तोप से ज्ञात होता है जो नरवरगढ़ पर रखी हुई है और जिस पर वि० सं० १७५३ (सन् १६९६ ई०) पड़ा हुआ है।

---

१. वंशावली के क्र० ४८ देखें।

२. पीछे पृष्ठ २६१ देखें।

परिशिष्ट—चार

जैन ग्रन्थों की कुछ प्रशस्तियाँ

इस पुस्तक के मुद्रण के उपरान्त द्वै-मासिक अनेकान्त (अप्रैल १९६७) में श्री परमानन्द जैन शास्त्री का लेख 'ग्वालियर के तोमर राजवंश के समय जैन धर्म' प्राप्त हो सका। उसमें ग्वालियर के तोमरों के विषय में कुछ ऐसी सामग्री दी गई है जिसका उपयोग यथास्थान नहीं किया जा सका है। यहाँ उस सामग्री को साभार दिया जा रहा है।

वीरमदेव

वीरमदेव के राज्यकाल में उसके मंत्री कुशराज ने पद्मनाथ कायस्थ से यशोधर चरित की रचना कराई थी, यह उल्लेख किया जा चुका है।[1] वीरमदेव के राज्यकाल में गोपाचल दुर्ग पर चार जैन ग्रंथों की प्रतिलिपियाँ कराई गई थीं।[2]

(१) वि० सं० १४६० (सन् १४०३ ई०) में साहु वरदेव के चैत्यालय में भट्टारक हेम-कीर्ति के शिष्य मुनि धर्मचन्द्र ने माघवदि १० मंगलवार के दिन सम्यकत्व कौमुदी की प्रति आत्मपठनार्थ लिखी थी। यह ग्रंथ जयपुर के तेरापंथी मन्दिर के शास्त्र भण्डार में सुरक्षित है। इस प्रतिलिपि की पुष्पिका इस प्रकार है—"संवत १४६० शके १३२५ षष्ठाब्दयोर्मध्ये विरोधीनाम संवत्सरे प्रवर्तत गोपाचलदुर्गस्थाने राजा वीरमदेव राज्य प्रवर्तमाने साहु वरदेव चैत्यालये भट्टारक श्री हेमकीर्तिदेव तत्शिष्य मुनि धर्मचन्द्रेण आत्म पठनार्थ पुस्तकं लिखितं माघवदि १० भौमदिने।"

(२) वि० सं० १४६८ (सन् १४११ ई०) में सिंघई महाराज की वधू साहु मरदेव की पुत्री देवसिरि ने 'पंचास्तिकाय' टीका की प्रतिलिपि करवाई थी जो इस समय कारंजा के शास्त्र भण्डार में है—"संवत्सरेस्मिन विक्रमादित्य गताब्द १४६८ वर्षे आषाढ़ वदि २ शुक्र दिने श्री गोपाचले राजा वीरमदेव विजयराज्य प्रवर्तमाने श्री काष्ठा संघे माथुरान्वये पुष्करगणे आचार्य श्री भावसेन देवाः तत्पट्टे श्री सहस्रकीर्ति देवाः तत्पट्टे भट्टारक श्री गुण-कीर्ति देवास्तेषायाम्नाये संघई महाराज वधू मरदेव पुत्री देवसिरि तया इदं पंचास्ति काय-सार ग्रंथे लिखापितम्।"

(३) वि० सं० १४६९ (सन् १४१२ ई०) में आचार्य अमृतचन्द्रकृत प्रवचनसार की 'तत्वदीपिका' टीका लिखी गई। इसकी पद्यबद्ध पुष्पिका बहुत महत्वपूर्ण है—

---

१ पीछे पृ० ४९ तथा ७३ देखें।

२. इनमें से दो का उल्लेख पृ० ५१ पर किया जा चुका है।
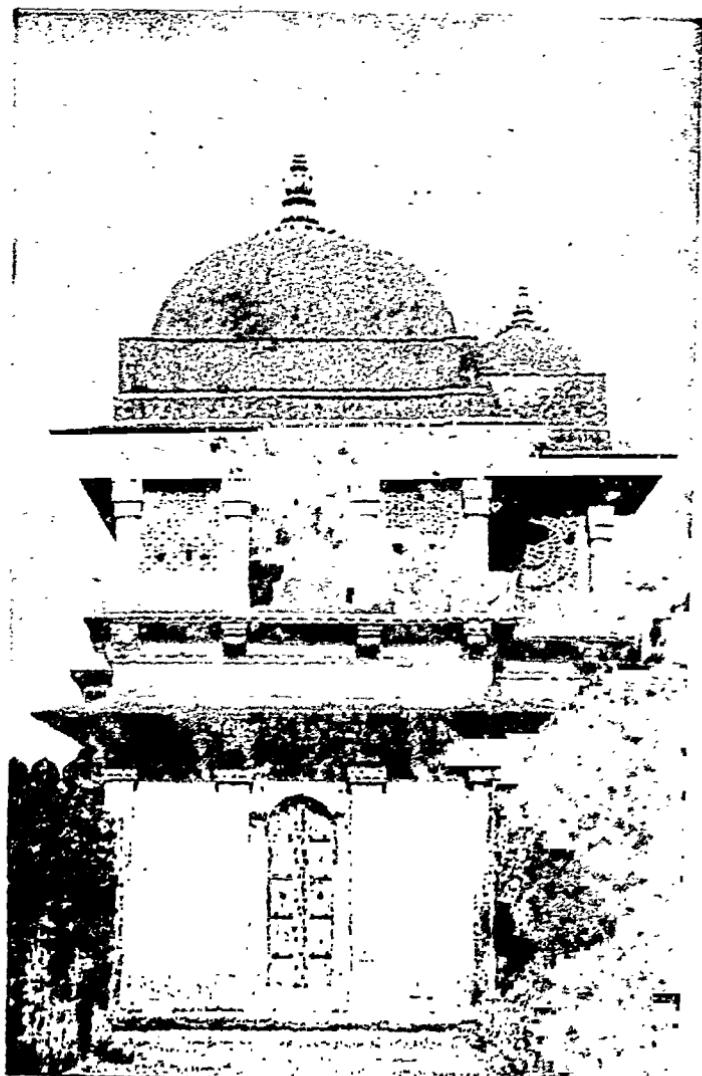
गूजरी महल की एक गोख की गुम्वद

(पृष्ठ ३८० तथा ४६९ देखें)

विक्रमादित्य राज्येऽस्मिश्चतुर्दशपरेशते ।
नवषष्ठ्या युते किंनु गोपाद्रौ देवपत्तने ॥ ३ ॥

अनेक भूभुक्पद-पद्म लग्नस्तस्मिन्निवासी ननु पारुरूपः ।
शृंगार हारो भुवि कामनीनां भूभुक् प्रसिद्धः श्री वीरमेन्द्रः ॥ ४ ॥

इन पंक्तियों में गोपाद्रि के लिए 'देवपत्तन' कहा गया है तथा वीरम के चरित्र पर भी प्रकाश डाला गया है । नयचन्द्र सूरि ने रम्भामंजरी में निश्चय ही वीरमदेव का ही वर्णन किया है ।[1]

(४) वि० सं० १४७९ (सन् १४२२) ई० में आषाढ़ सुदि ५ बुधवार के दिन वीरमदेव के राज्यकाल में गढोत्पुर के नेमिनाथ चैत्यालय में षटकर्मोपदेश की प्रतिलिपि साहु जीतु की पत्नी सरो ने जैत श्री की शिष्या विमलमति को पूजा विधान महोत्सव के साथ समर्पित की थी, जिसे पण्डित रायचन्द्र ने लिखा था । यह प्रति आमेर भण्डार में है ।

डूंगरेन्द्रसिंह

डूंगरेन्द्रसिंह के राज्यकाल में जिन जैन ग्रन्थों की प्रतिलिपियाँ उतारी गईं उनमें से कुछ का उल्लेख किया जा चुका है ।[2] श्री परमानन्द जैन शास्त्री ने अपने लेख में निम्नलिखित प्रतिलिपियों की सूचना और दी है—

(१) वि० सं० १४९७ (सन् १४४० ई०) में परमात्मप्रकाश की प्रतिलिपि उतारी गई, जो इस समय जयपुर के ढोलियों के मन्दिर के शास्त्र भण्डार में सुरक्षित है ।

(२) वि० सं० १५०६ (सन् १४४९ ई०) में धनपाल की भविष्य दत्त पंचमी कथा की प्रतिलिपि की गई जो कारंजा के शास्त्र भंडार में सुरक्षित है ।

(३) वि० सं० १५१० (सन् १४५३ ई०) में समयसार की प्रतिलिपि की गई जो कारंजा के सेनगण भण्डार में मौजूद है ।

रइधू के ग्रन्थ सम्पत गुण निधान में उल्लेख है कि साहु खेमसिंह के पुत्र कमलसिंह ने ११ हाथ ऊँची आदिनाथ की एक विशाल मूर्ति का निर्माण कराया था । वि० सं० १४९२ (सन् १४३५ ई०) में कमलसिंह ने राजा डूंगरेन्द्रसिंह से इस प्रतिमा के प्रतिष्ठोत्सव के लिए आज्ञा माँगी थी । रइधू के अनुसार राजा ने स्वीकृति देते हुए कहा था कि आप इस धार्मिक कार्य को सम्पन्न कीजिए, मुझसे आप जो माँगेंगे वही दूँगा । ऐसा कह कर राजा ने ताम्बूल आदि ने उनका सम्मान किया ।[3]

---

१. पीछे पृ० ७२ देखें ।
२. पीछे पृ० ७८ देखें ।
३. जैन-ग्रन्थ-प्रशस्ति-संग्रह, द्वितीय भाग, पृ० ८५-८६ ।

कीर्तिसिंह

कीर्तिसिंह के राज्यकाल में पुष्पदन्त के आदिपुराण की प्रतिलिपि वि० सं० १५२१ (सन् १४६४ ई०) में की गई थी। इसमें गोपाचल का नाम 'गोवग्गिरि' लिखा गया है—

गोवग्गिरि णयरि णिउ डूंगरिन्दु
हुय पय पाडिय सामंत बिंदु।
तहो सुउ सकित्ति धवलिय दियंतु,
सिरिकित्तिसिंहु णिव लच्छिकंतु।

इस प्रतिलिपि की प्रशस्ति में यह भी लिखा है कि गोपाचल के पद्मसिंह ने अपनी चंचला लक्ष्मी का सदुपयोग करने के लिए २४ जिनालयों का निर्माण कराया और एक लाख ग्रन्थ लिखवा कर भेंट किए—

विज्जुल चंचलु लच्छीसहाउ,
आलोइविहुउ जिण धम्म भाउ।
जिण गंथु लिहावउ लक्खु एकु,
सावय लक्खा हारीति रिक्खु।
मुणि भोजण भुंजाविय सहासु,
चउवीस जिणालय किउ सुभासु।

मानसिंह

मानसिंह के राज्यकाल में प्रतिलिपि कराए गए एक जैन ग्रंथ की सूचना श्री परमानन्द जैन शास्त्री के उपर्युक्त लेख से प्राप्त होती है।

वि० सं० १५५८ (सन् १५०१ ई०) में षटकर्मोपदेश की प्रतिलिपि की गई थी जिसकी पुष्पिका में लिखा है—"अथ नृपति विक्रमादित्य संवत् १५५८ वर्षे चैत्र सुदी १० सोमवासरे आश्लेषा नक्षत्रे गोपाचल गढ़ दुर्गे महाराजाधिराज श्री मानसिंह राज्ये प्रवर्त्तमाने श्री काष्ठा संघे विद्यागणे श्री सोमकीर्ति देवास्तत्पट्टे भट्टारक श्री विजयसेन देवास्तत् शिष्य ब्रह्मकाला इदं षट्कर्मोपदेश शास्त्रं लिखाप्यं आत्म पठनार्थं।"[1]

इस प्रशस्ति से यह स्पष्ट है कि मानसिंह तोमर के समय में भी काष्ठासंघ के भट्टारकों का पट्ट विद्यमान था और उस समय श्री भट्टारक विजयसेन पट्टासीन थे।[2]

मानसिंह के राज्यकाल में 'जैन साधु और श्रावक' शीर्षक से जो टिप्पणी दी गई है,

---

१. जैन-ग्रन्थ-प्रशस्ति-संग्रह, भाग २, पृ० १४४। यह ग्रन्थ बाराबंकी के शास्त्र भंडार में है।

२. पीछे पृ० ११९ पर हमने लिखा है कि कल्याणमल्ल के समय में ग्वालियर से जैन भट्टारकों का पट्ट हट गया था। यह कथन षटकर्मोपदेश की प्रतिलिपि की पुष्पिका से अशुद्ध सिद्ध होता है। इस पुष्पिका में जिन 'सोमकीर्तिदेव' का उल्लेख है, वे कल्याणमल्ल के समय में ही ग्वालियर के पट्ट पर आसीन होंगे।

उसमें हमने लिखा है[1] कि मानसिंह के राज्यकाल की जैन सम्प्रदाय की किसी रचना का उल्लेख हमें प्राप्त नहीं हो सका है ।" सौभाग्य से उपर्युक्त लेख में वह भी प्राप्त हो गया है ।

वि० सं० १५६९ (सन् १५१२ ई०) में गोपाचल के श्रावक सिरीमल के पुत्र चतरू ने 'नेमीश्वर गीत' की रचना की थी। इसमें ४४ पद्य हैं। यह ग्रन्थ आमेर भंडार में सुरक्षित है। इसमें चतरू ने चार पंक्तियों में मानसिंह और उसके ग्वालियर का भी वर्णन किया है—

एक सोवन की लंका जिसी, तौवरु राउ सवल वरवीर ।
भुयवल आपुनु साहस धीर, मानसिंह जग जानिये ॥
ताके राज सुखी सब लोग, राज समान करहि दिन भोग ।
जैन धर्म बहु विधि चलैं, श्रावग दिन जु करैं षट्कर्म ॥

मानसिंह के समय में ग्वालियर का जन समूह समृद्ध था, इसमें सन्देह नहीं । चतरू ने यह भी बतला दिया कि राजा जैन सम्प्रदाय को भी पूर्ण प्रश्रय देता था ।

१. पीछे पृ० १४० देखें ।

परिशिष्ट-पाँच

मानसिंह तोमर के कुछ अन्य शिलालेख

यह पुस्तक जब लगभग मुद्रित हो चुकी थी तब सिन्धिया स्कूल के इतिहास के प्राध्यापक श्री आर्थर ह्यूज् (अवकाश प्राप्त आई० सी० एस० तथा ओ० बी० ई०) ने मानसिंह तोमर के तीन नवीन शिलालेखों की ओर हमारा ध्यान आकर्षित किया। ग्वालियर के तोमरों के सांस्कृतिक इतिहास में इन तीनों शिलालेखों का विशेष महत्व है।

हिन्दी गद्य का स्वरूप

गोपाचल गढ़ पर उरवाही द्वार से चढ़ते समय बावनफुटी जैन प्रतिमा के पास खड़े होकर बाई ओर देखने पर कुछ सीढ़ियाँ और पत्थरों से बन्द एक बड़ा द्वार दिखाई देता है। इस द्वार के पीछे दालान है और आगे चल कर मानसरोवर तालाव है। द्वार की दालान में दीवार में जड़े भूमि से छत तक जाने वाले एक तीर पर सत्रह पंक्तियों का शिलालेख खुदा हुआ है। पत्थर पर पढ़ने पर हम उसकी पहली, आठवीं और नौवीं पंक्तियाँ पढ़ने में असमर्थ रहे। अन्य पंक्तियों के कुछ अक्षर हम नहीं पढ़ सके। इस शिलालेख की कागद पर छाप लेने पर इसे पूरा पढ़ सकना संभव होगा। तथापि अभी हम जितना पढ़ सके हैं वह हमारे प्रयोजन के लिए पर्याप्त है। प्रथम पन्द्रह पंक्तियों में जो कुछ पढ़ा जा सका है वह निम्नरूप में है:—

....	१
सिध श्री इष्ट देवता प्रशादात	२
महाराजाधिराज राजा श्री	३
मानस्यंघदेव चिरंजीवो	४
तस्य अज्ञाकारी	५
....उरवाड़ी की पौरि	६
बडी करिवाई ॥	७
....	८
....	९
सूत्रधारि महेसु ॥ गढ़	१०
स्यंघ वर्मा वंद ॥ सुभम	११
.... संवत १५५३	१२
वर्षे आषाढ़ सुदि १३	१३
गुरवासरे ॥ अनु	१४
राधा नक्षत्र ॥	१५

इसके पश्चात् कुछ जगह छोड़ कर दो पंक्तियाँ और हैं-

षेडू सूत्रधारि ॥ १६
ग्वालियरी झिलमिली १७

इस द्वार के आगे दायीं ओर को एक तिवारा और है जिसमें वि० सं० १६११ (सन् १५५४ ई०) का एक १० पंक्तियों का शिलालेख है, परन्तु वह मानसिंह तोमर के बाद का है और उसमें केवल कुछ कारीगरों के नाम हैं।

पंद्रह पंक्ति का ऊपर दिया गया शिलालेख हिन्दी भाषा के गद्य के विकास के निरूपण की दृष्टि से महत्वपूर्ण है। वि० सं० १४६२ (सन् १४०५ ई०) के वीरमदेव के अम्बिकादेवी के मन्दिर के शिलालेख में 'श्री अंविका को मंडपु करवायो' वाक्य प्राप्त हुआ था[1] और वि० सं० १५५३ (सन् १४९६ ई०) के इस शिलालेख में 'उरवाड़ी की पौरि वडी करवाई' वाक्य प्राप्त होता हैं। दोनों ही शिलालेख जन प्रचलित लोकभाषा में लिखे गए हैं और ईसवी पन्द्रहवीं शताब्दी के हिन्दी गद्य के स्वरूप को प्रस्तुत करते हैं। उनमें हिन्दी के साथ-साथ संस्कृत व्याकरण के प्रति झुकाव भी स्पष्ट दिखाई देता है। 'प्रशादात (प्रसादात)', 'सुभम (शुभं)' 'दिनं' जैसे प्रयोग संस्कृत के व्याकरण के प्रति मोह तथापि उसकी अनभिज्ञता की ओर इंगित करते हैं।

उरवाही पौर

वि० सं० १५५३ (सन् १४९६ ई०) के उपर्युक्त शिलालेख से यह ज्ञात होता है कि मानमंदिर, गूजरी महल और बादलगढ़ के निर्माण के उपरान्त मानसिंह ने ग्वालियर गढ़ के इस भाग के पुनर्निर्माण की ओर ध्यान दिया था। 'महाराजाधिराज राजा श्री मानसिंहदेव' के (किसी) आज्ञाकारी सेवक ने उरवाड़ी (उरवाही) पौर को बड़ा किया। हिण्डोलापौर के समान वह अलंकृत तो न बनाई जा सकी, तथापि वह सुदृढ़ अवश्य बनाई गई होगी। आसपास के अवशेषों को देखने से यह प्रकट होता है कि यहाँ कोई बड़ा निर्माण-समूह बनाया गया था। उसके लिए जो पत्थर आवश्यक हुआ या वह जिस स्थल से खोदा गया था वहाँ मानसरोवर बन गया। इस पौर का निर्माण महेश नामक कारीगर ने किया था।

खेडू सूत्रधार ग्वालियरी झिलमिली

इस शिलालेख की सोलहवीं और सत्रहवीं पंक्तियाँ कुछ विशेष महत्वपूर्ण ज्ञात होती हैं। 'खेडू सूत्रधार' अपने आपको ग्वालियरी क्यों लिखता है ? ग्वालियर में ही अपने आपको 'ग्वालियरी'' लिखने का क्या प्रयोजन हो सकता है ? फिर उसने केवल 'ग्वालियरी' लिखकर संतोष नहीं कर लिया, आगे 'झिलमिली' विरुद भी जोड़ दिया।

मानमन्दिर तथा गूजरी महल की झिलमिली के पत्थरों को देखने से यह रहस्य स्पष्ट हो जाता है। बिना आरपार छेद किए भी अनेक झिलमिली के पत्थर बनाए गए हैं जिनमें

1. पीछे पृ० ७४ देखें।

लधैड़ी की लादखाँ की मस्जिद का द्वार तथा कुतवार से प्राप्त द्वार अप्रतिम हैं। पत्थर पर बिना तूलिका और रंगों के आकर्षक चित्र-वैभव निर्माण करने के वे भव्य उदाहरण हैं। ईसवी पन्द्रहवीं शताब्दी में ग्वालियर के कारीगर ने पत्थर पर झिलमिली बनाने की कला को चरम उत्कर्ष पर पहुँचा दिया था। आगरा और फतहपुर सीकरी में पत्थर काट कर जो झिलमिली बनाई गई है वह ग्वालियर के कारीगरों की ही हथौटी है। झिलमिली बनाने की कला ग्वालियर में पिछली शताब्दी तक अक्षुण्ण रूप से चलती रही। ग्वालियर और लश्कर में एक शताब्दी पूर्व के अनेक भवन खड़े हुए हैं। उनमें कटी हुई पत्थर की सुन्दर जालियाँ देखी जा सकती हैं। ये जालियाँ खेडू सूत्रधार के वंशजों ने ही उकेरी हैं। पन्द्रहवीं शताब्दी में झिलमिली (जाली) उकेरने की कला में ग्वालियर के कारीगर की समानता करने वाले कारीगर उत्तर भारत में अन्य किसी स्थल पर नहीं थे। 'ग्वालियरी संगीत', 'ग्वालियरी भाषा' तथा 'ग्वालियरी चित्रकला' के समान ही तोमरकालीन ग्वालियर ने 'ग्वालियरी झिलमिली' को भारत में अद्वितीय स्थान प्राप्त कराया था। खेडू सूत्रधार ने इसी कारण अपने आपको 'ग्वालियरी' लिखने में गौरव का अनुभव किया तथा साथ ही यह भी बतला दिया कि वह 'ग्वालियरी झिलमिली' के निर्माण में पारंगत था।

शेरमन्दिर का प्रस्तर खण्ड

हीरामन ने 'ग्वालियरनामा' में लिखा है कि जब शेरशाह 'ग्वालियर में आया तब उसने गढ़ पर शेरमन्दिर तथा तालाब बनवाया। यही शेरमन्दिर आगे चलकर जहाँगीरमन्दिर या जहाँगीरी महल कहा जाने लगा। ज्ञात होता है कि न तो यह भवन शेरशाह ने बनवाया है न जहाँगीर ने; उसका निर्माता मानसिंह तोमर है। संभव है उसमें कुछ अदला-बदली की गई हो। जिस राजा ने उसमें कुछ जोड़ा-तोड़ा और उसमें दस-पाँच दिन निवास किया, वह उसी का मन्दिर कहा जाने लगा। पहले उसमें शेरशाह रहा, तो वह हो गया; 'शेरमन्दिर' फिर उसमें कुछ दिन जहाँगीर ने बिताए, अतएव वह कहा जाने लगा 'जहाँगीरमन्दिर'। वास्तविकता यह ज्ञात होती है कि वह मानमन्दिर की ही एक भुजा है। उसके मध्य में एक तालाब तथा एक देवमन्दिर भी है। उस महल में एक शिलालेख है जिसमें महाराजाधिराज राजा मानसिंह का नाम स्पष्ट पढ़ा जाता है। दुर्भाग्य से वह ऐसी स्थिति पर है कि बिना छाप लिए उसे पूरा पढ़ना संभव नहीं है और जब तक वह पूरा न पढ़ा जा सके, अन्तिम निष्कर्ष पर पहुँचना कठिन है।

अरबी में कलमा

जिस तीसरे शिलालेख की ओर श्री ह्यूज ने हमारा ध्यान आकर्षित किया है, वह कुछ चौंका देने वाला है। गूजरीमहल के प्रवेश द्वार के ऊपर विशाल वातायन है। उसकी बरसाती ने नीचे वातायन की पूरी चौड़ाई के बराबर लम्बाई में हरी टाइलों की पृष्ठ-भूमि में गहरे नीले रंग के पत्थरों के संयोजन से अरबी अक्षरों में मुसलमानों का धर्म-मंत्र

गूजरी महल के प्रवेश-द्वार पर अरबी तथा फारसी लेख

(पृष्ठ ३८० तथा ४३६ देखें)

रबी

बिस्मिल्लाहिर्रहमानिर्रहीम अल्मुल्कोलिल्लाह मालिकुल मुल्के ज़ुल जलाल ।

ारम्भ करता हूँ अल्लाह के नाम से जो बड़ा कृपालु और दयालु है । राज्य अल्लाह के लिए है, राज्य का मालिक सर्वशक्तिमान है ।)

सी

ईं दुआए मददीनिए राजा मान बिन राजा कल्यानमल

[यह दुआ है राजा कल्याणमल के पुत्र राजा मानसिंह की (दैवी) सहायता के लिए ।]

(कलमा) लिखा हुआ है। उसके नीचे अपेक्षाकृत छोटे अक्षरों में एक पंक्ति और है। कलमा के नीचे जो कुछ पढ़ा जाता है उसका आशय है—राजा मानसिंह बिन राजा (कल्याणमल्ल)[1] ने यह भवन बनाया।

इस लेख को देखकर पहली प्रतिक्रिया यह हो सकती है कि इसे किसी व्यक्ति ने बाद में खुदवा दिया होगा। परन्तु जिस स्थान पर, जिस रूप में और जिस प्रकार यह लेख लिखा गया है उन्हें देखते हुए इस प्रकार के सन्देह के लिए स्थान नहीं रहता। वातायन की बरसाती के नीचे केवल उतना ही स्थल रखा गया है, जिसमें धर्म-मंत्र के अक्षर पूरी लम्बाई और ऊँचाई में आ सकें। उसके नीचे फारसी अक्षरों में राजा मानसिंह के उल्लेख युक्त छोटे अक्षरों की पंक्ति है। अरबी अक्षरों के चारों ओर हरे रंग की टाइलें ठीक उसी प्रकार की हैं जैसी मानमन्दिर और गूजरीमहल में अन्यत्र लगी हुई हैं। अक्षरों के स्थान पर गहरे नीले रंग के चमकीले चिकने टाइल-खण्ड कुशलता पूर्वक फँसे हुए हैं। इस प्रकार की टाइलें तोमरों के पश्चात् कोई अन्य बनवा भी नहीं सका था। परवर्ती प्रयास में न वह योजना आ सकती थी और न सफाई।

फिर, यदि लोदी, अफगान या मुग़लों का कोई सूबेदार कलमा के अक्षर फँसवाने का प्रयास भी करता, तब वह निश्चित ही उसके नीचे उसे मानसिंह का निर्माण बतल ने की उदारता न बरतता और न अपना नाम लिखवाना भूलता।

समस्या यह रह जाती है कि मानसिंह ने इस्लाम का धर्म-मंत्र गूजरीमहल के मस्तक पर क्यों जड़वा दिया? गंगोलाताल का उसका वि० सं० १५५१ का शिलालेख[2] 'ॐ सिधि श्री गणेशायनमः' से प्रारम्भ होता है तथा उसके मध्य में वराहावतार की मूर्ति है। मानसिंह की राजसभा शिरोमणि मिश्र, कल्याणकर चतुर्वेदी, परशुराम मिश्र जैसे धर्मशास्त्र के पण्डितों से सुशोभित थी। निश्चय ही मानसिंह कभी मुसलमान नहीं बनाया जा सका था। फिर भी उसने अपने एक महल पर कलमा खुदवा दिया। इसका कोई समाधान कारक उत्तर होना चाहिए।[3]

---

१. अभी पूरा नहीं पढ़ा जा सका है।
२, पीछे पृ० १३० देखें।
३. परिच्छेद २४ देखें।

परिच्छेद २६

समुद्र-मन्थन और नीलकण्ठ

सृष्टि के प्रारम्भ में समुद्र-मंथन हुआ था, उसकी कथा पुराणों में विस्तार से दी गई है। सुरों और असुरों ने मिलकर सुमेरु पर्वत की मथानी बनाई और वासुकि की रज्जु। एक ओर देव समूह लगा, दूसरी ओर दानव समूह। उस समुद्र-मंथन का लक्ष्य वह अमृत उपलब्ध करना था जिससे समाज को अजर-अमर बनाया जा सके। अमृत की उपलब्धि हो ही नहीं सकती, यदि दारुण विष का सामना करने की शक्ति न हो। पुराणों की कथा के अनुसार, समुद्र-मंथन से सबसे पहले गरल उत्पन्न हुआ था। सुर और असुर दोनों उससे व्याकुल होने लगे। एक दिगंबर योगी सामने आया तथा उस गरल को पी गया। देवासुर, दोनों ने उसे महादेव का विरुद दिया। आगे जो उपलब्धियाँ हुईं उसके लिए सुर और असुर दोनों बहुत झगड़े, तथापि महादेव को दोनों ने वन्दनीय माना। भौतिक रूप से महादेव नंगे ही रहे, तथापि उनकी पूजा दानों दलों द्वारा होती रही।

पुराणों की यह कथा इतिहास है, अर्थात्, तथ्य के रूप में कभी घटित हुई थी, यह बात आज मानना कठिन होगा; परन्तु मानव-समाज में इस प्रकार का समुद्र-मंथन निरन्तर होता रहता है। संघर्षण होते हैं, विष की उत्पत्ति होती है, उसे पान करने वाले भी अवतरित होते हैं, उसके उपरान्त सुरा तथा अमृत की भी उपलब्धि होती है। प्रत्येक काल में तथा प्रत्येक देश में ऐसे समुद्र-मंथन हुए हैं, विश्व का इतिहास इसका साक्षी है।

भारत के इतिहास में भी इस प्रकार के समुद्र-मंथन अनेक बार हुए हैं। सर्वाधिक विषम वह था जब भारतभूमि पर इस्लाम और भारतमूलीय उपासना पद्धतियों के बीच भीषण टकराव हुआ था। प्रारंभ में उस टकराव से जन-जन को विकम्पित कर देने वाले गरल का प्रादुर्भाव हुआ था। उस गरल को पान करने के लिए अनेक शंकर अवतरित हुए थे। वे उस गरल को पी गए। भारत के इस इतिहास में वे महादेव के समान ही पूजनीय होना चाहिए। यद्यपि इस संघर्ष के परिणाम स्वरूप जिस अमृत-कलश की अपेक्षा थी उसकी पूर्ण उपलब्धि अभी तक नहीं हो सकी है, तथापि उसकी उपलब्धि कराने में जिन विभूतियों ने गरलपान किए हैं उनका विस्मरण कदापि उचित नहीं है। समाज-निर्माण के समुद्र-मंथन में ऐसे नीलकण्ठों की खोज आवश्यक है। समाज की स्मृति बहुत क्षीण होती है; उन नीलकण्ठों को भी भुला देने की प्रवृत्ति उसमें होती है। इतिहास लिखने का प्रयोजन उनकी स्मृति को चिरस्थायी बनाना है।

समन्वय का देश—भारत

भारत अनेक साधना-पद्धतियों और विश्वासों तथा अन्ध-विश्वासों का देश रहा है।
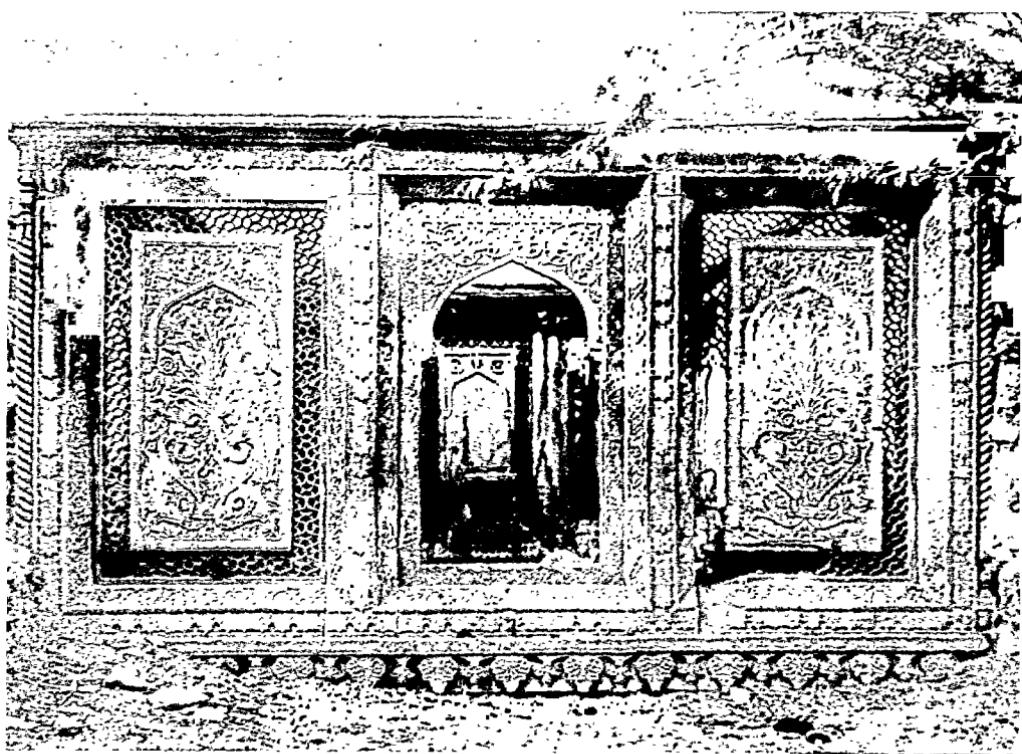
झिलमिली ग्वालियरी
(प्रस्तावना तथा पृष्ठ ३७९)

लदेडी का एक मजार
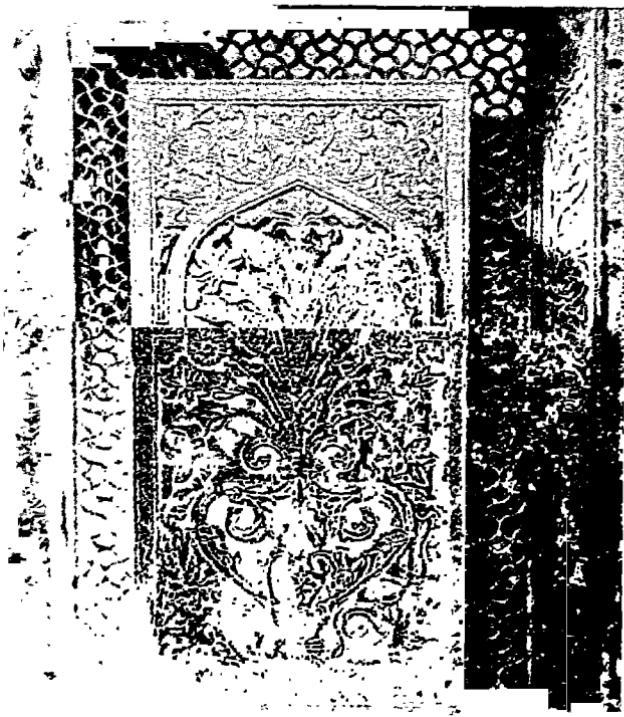
विचार, चिन्तन और अभिव्यक्ति पर इस देश में कभी किसी स्तर पर प्रतिबन्ध नहीं लगाया गया; यदि कभी लगाया गया तब वह विफल रहा हैं। इस कारण धर्म-साधना के क्षेत्र में मौलिक एकता होते हुए भी इस देश में विविधता के दर्शन होते रहे हैं। एक ऐसा युग आया था जब ब्रह्म का रहस्य एक वर्ग विशेष में सिमट गया था, उस वर्ग को ब्रह्मवेत्ता माना जाने लगा और समाज में वह ब्राह्मण नाम से पूजित हुआ। राजसत्ता से प्रतिस्पर्धा करने वाली धर्मसत्ता का प्रादुर्भाव हुआ। भारत में कभी राजसत्ता और धर्मसत्ता का एकीकरण नहीं हुआ, वह समाज के भिन्न-भिन्न वर्गों के हाथ में रही। परन्तु ब्राह्मणों की धर्मसत्ता के विरुद्ध राजसत्ता ने अनेक वार विद्रोह अवश्य किया था। राजकुमार गौतम बुद्ध तथा राजकुमार महावीर ने उसे चुनौती दी और यह सिद्ध कर दिया कि बिना ब्राह्मण के मार्गदर्शन के भी धर्म-साधना की जा सकती है। फिर भी, इस सामाजिक क्रांति में कहीं हिंसा अथवा सामूहिक उत्पीड़न को स्थान नहीं दिया गया। मत-परिवर्तन तर्क और उपदेश के आधार पर होते थे। कभी-कभी कोई राजा या सम्राट् किसी विशेष उपासना-पद्धति का अनुयायी हो जाता था तब उस उपासना-पद्धति को कुछ अधिक सुविधाएँ प्राप्त हो जाती थीं और उनके कारण भी धर्म-परिवर्तन होते थे। तथापि कुछ अपवादों को छोड़कर, भारतीय राजा अपनी प्रजा की समस्त उपासना-पद्धतियों को प्रश्रय देता था। यह भी दिखाई देता है कि बौद्ध और जैन धम अत्यधिक विकसित हो जाने पर भी कभी बहुसंख्यक भारतीयों द्वारा अंगीकृत नहीं किए गए। इन दोनों विचारधाराओं के बाहर जो भारतीय समाज था, वह नाना प्रकार की उपासना-पद्धतियों का अनुसरण करते हुए भी इस कारण एक माना गया कि वह ब्राह्मण की धर्मसत्ता को मानता था।

भारत में तुर्कों के आगमन के पूर्व अनेक विदेशी नृवंशों ने भारत पर आक्रमण किया था। शक, हूण, सीथियन आदि अनेक आक्रामक के रूप में भारत में आए, और जय-पराजय के उपरांत भारत में बस गए। अपने मूल निवास से उनका भौतिक या भावनात्मक, किसी प्रकार का सम्बन्ध नहीं रह गया। वे अपने साथ न कोई 'धर्म' लाए थे, न धर्म-प्रचारक। परिणाम यह हुआ कि परिस्थितियों के अनुसार वे किसी-न-किसी भारतीय मूल की धर्म-साधना के अनुयायी बन गए। ज्ञात यह होता है कि कभी धर्म-साधना के क्षेत्र में समुद्र-मंथन हुआ था। उससे बहुत कुछ निकला; विष भी अमृत भी। ब्राह्मणों के अनुयायियों में कुछ विकृतियां प्रवेश कर गईं, तथापि, उसी समुद्र-मन्थन की प्रक्रिया में गौतम बुद्ध को दशावतार की शृंखला में गूँथ लिया गया और समस्त विदेशी तत्वों को इस सफाई से उस समाज का अंग बना लिया गया कि आज से हजार-बारह सौ वर्ष पहले भी यह जानना कठिन हो गया था कि भारतीय समाज का कौन-सा अंश मूल भारतीय था और कौन-सा अंश उन विदेशियों की संतान। वह इतिहास जान-बूझकर अलिखित रखा गया तथा भुला दिया गया।

ईसवी बारहवीं शताब्दी के पूर्व भारत में अनेक मुसलमान यात्री आए थे और वे अपने विवरण भी छोड़ गए हैं। उन विवरणों की एक बात विशेष ध्यान आकर्षित करती है। भारत

में उस समय भी अनेक धर्म-साधना-पद्धतियाँ फैली हुई थीं, भाषाएँ भी अनेक थीं; तथापि वे समस्त यात्री इस देश के निवासियों को केवल एक नाम 'हिन्दी' से जानते थे। 'हिन्द' के निवासी उनकी दृष्टि में हिन्दू थे। आगे चलकर 'हिन्दू' शब्द का अर्थ बहुत संकुचित कर दिया गया और वह उन व्यक्तियों के लिए प्रयुक्त होने लगा जो न बौद्ध थे, न जैन, न पारसी, न ईसाई, न मुसलमान; अर्थात् जो धर्म के क्षेत्र में ब्राह्मणों का नेतृत्व मानते थे। तथापि प्रारंभिक अरब यात्रियों की दृष्टि में सभी भारतीय 'हिन्दू' थे। भारतीय राष्ट्रीयता और भारतीय धर्म-समूह का यह समान नाम केवल अज्ञान पर ही आधारित नहीं था; उसका प्रधान कारण यह था कि आन्तरिक विभेदों के होते हुए भी भारत का एक राष्ट्रीय स्वरूप भी था, जो विविधता में एकता का आभास देता था।

मुसलमानों के भारत-आक्रमण के इतिहास के स्रोत

भारत में जब मुसलमानों ने आक्रमण करना प्रारम्भ किया तब इस देश को विशेष प्रकार की स्थिति का सामना करना पड़ा। ये मुसलमान भी एक देश अथवा एक समय में भारत में नहीं आए थे। सर्व प्रथम इस्लाम ग्रहण करने वाले अरबों ने आक्रमण किया, उसके पश्चात् इस्लाम ग्रहण करने वाले विभिन्न तुर्क कबीलों ने आक्रमण किया, फिर अफगान क्षेत्रीय मुसलमान आए, तदुपरान्त मुगल आए जिन्होंने सबसे बाद में इस्लाम ग्रहण किया था तथा जो चंगेजखाँ और तैमूर के वंशज तुर्क ही थे। इनके साथ भारतीय समाज का जो भीषण संघर्ष हुआ था उसके विवरण का प्रधान स्रोत उनके साथ आने वाले उन धर्मांध व्यक्तियों के ग्रन्थ हैं जो स्थानीय जनसमूह को हृदय से घृणा करते थे। उन्होंने उन समस्त अत्याचारों का विशद और सविस्तर विवरण लिखकर छोड़ा है जो अरब, तुर्क और अफगान सुल्तानों ने स्थानीय जनता पर किया था। अपने आश्रयदाताओं की विजयों को वे अपने धर्म की विजय मानते थे और विरोधी शक्तियों को अधर्म की प्रतिमूर्ति समझते थे। ऐसी मनोदशा के अधीन लिखे गए मध्ययुगीन इतिहास तत्कालीन धर्म-संघर्ष के स्वरूप को जानने के लिए बहुत विश्वसनीय स्रोत नहीं है। उन्हें पढ़ने से हृदय को ग्लानि ही होती है। वास्तव में, ध्यान से देखने पर तुर्कों और भारतीयों के बीच जो संघर्ष हुआ था, मूलतः वह सत्ता-संघर्ष था; तथापि इन इतिहासकारों ने इसे मूलतः धर्म-संघर्ष बना दिया। फिर भी, इन मध्ययुगीन इतिहास लेखकों के कथन को कितनी भी सतर्कता के साथ पढ़ा जाए, यह बात स्पष्ट ज्ञात होती है कि अनेक तुर्क सुल्तान अपनी प्रजापीड़क नीति के ऊपर 'धर्म' का आवरण चढ़ाते थे; उनका राज्य स्थायी हो सके उसके लिए वे बहुजन को इस्लाम का अनुयायी बना लेना चाहते थे; मूर्तियों को वे इस्लाम के विरुद्ध मानते थे, अतएव उन्हें तोड़ना भी उनका प्रिय खेल बन गया था; साथ ही, मन्दिरों में संचित धनराशि भी उन्हें मिल जाती थी, अतएव उन्हें भी लूटा जाता था। यह इतिहास बहुत विषादकारी है, आज के हिन्दू के लिए भी और मुसलमान के लिए भी। उसे जानने का यह उद्देश्य कदापि नहीं होना चाहिए कि एक बार पुनः उस अतीत में पहुँच जाया

ग्वालियर का यवनपुर—लदेड़ी का एक द्वार
(पृष्ठ ४३१ देखें)

जाए, अथवा उसका हिसाब-किताब आज चुकता करने की चेष्टा की जाए; वरन् उस इतिहास के अध्ययन का लक्ष्य यह होना चाहिए कि उससे सबक लेकर वर्तमान और भविष्य के लिए कल्याणकारी मार्ग सुनिश्चित किया जाए; उन 'महादेवों' की खोज की जाए जिन्होंने इस संघर्ष से उद्भूत विष का शमन किया था।

भारत में मुसलमानों का प्रथम प्रवेश

भारत में मुसलमानों का प्रथम प्रवेश विजेताओं के रूप में नहीं हुआ था। अरबों द्वारा सिन्ध-विजय अथवा तुर्कों द्वारा काबुल-जाबुल और दिल्ली-विजय के बहुत पहले भारत के विभिन्न नगरों में व्यापार या व्यवसाय के लिए मुसलमान आ बसे थे। अनेक मुसलमान यात्री भी भारत-भ्रमण के लिए आए थे। यह खोज करना अत्यन्त ज्ञानवर्धक विषय है कि तत्कालीन भारतीयों ने इन मुसलमानों के साथ किस प्रकार का व्यवहार किया था। प्रारम्भ में जो मुसलमान भारत में आए थे वे अरब देश के निवासी थे। अल् इदरीसी नामक अरब यात्री ने लिखा है कि 'नहरवारा' नगर में बहुत बड़ी संख्या में मुसलमान व्यापारी व्यवसाय के लिए आते हैं। राजा और उसके मन्त्री उनका सम्मान के साथ स्वागत करते हैं; उन्हें संरक्षण तथा सुरक्षा प्राप्त है।[१] अरब यात्री इब्न हॉकल ने लिखा है,[२] "वल्लभी का राज्य अविश्वासियों (गैर मुस्लिमों) का देश है, तथापि नगरों में मुसलमान भी हैं। उन पर, वल्लभी नरेश की ओर से, मुसलमान ही शासन करते हैं।" इब्न हॉकल का आशय संभवत: यह है कि उन मुसलमानों को स्वशासन के अधिकार प्राप्त थे तथा वे अपना प्रशासन शरीअत के अनुसार ही चलाते थे। इब्न हॉकल ने यह भी लिखा है कि इन स्थानों में अनेक मस्जिदें हैं जिनमें मुसलमान उपासना के लिए एकत्रित होते हैं। डॉ० हबीब ने इस स्थिति का बहुत सुन्दर प्रस्तुतीकरण किया है[३] "राजा अपने व्यापार को बढ़ाने के लिए उस समय के सभ्य संसार के व्यापार-मार्गों पर अधिकार रखने वाले इन व्यक्तियों के प्रति उदार व्यवहार करते थे। लम्बे लबादे और दाढ़ी वाले ऐसे व्यक्ति जो नियत समयों पर बिना मूर्तियों वाले चौकोर भवनों में उपासना के लिए एकत्रित होते थे, कौतूहल की वस्तु थे। जैसे-जैसे समय बीतता गया, यह कौतूहल भी कम हो गया। जब उन्होंने अपनी बस्तियाँ बसा लीं तथा उनमें बढ़ने लगे तब वे स्थानीय जन-समूह के अंग बन गए।" प्राध्यापक निज़ामी के अनुसार,[४] "ये ताजिक बस्तियाँ रायों की सहमति से अनेक नगरों के पास बस गई थीं। उन रायों ने इन मुसलमानों को अपने भवन, मस्जिदें, मदरसे, कोठार, दूकानें आदि बनाने की अनुमति भी दी और कब्रिस्तान के लिए स्थान भी दिए। ये बस्तियाँ आकार में बढ़ने लगीं और मुसलमान शान्तिपूर्वक रोटी-रोजी कमाने

---

१. इलियट एण्ड डाउसन, भाग १, पृ० ८८।
२. वही, पृ० ३४।
३. ए कम्प्रेहेन्सिव हिस्ट्री ऑफ इण्डिया, भाग ५, पृ० १३९ पर उद्धृत।
४. वही, पृ० १४०।

लगे। कुछ ऐसे उदाहरण भी प्राप्त हुए हैं जिनसे ज्ञात होता है कि इन वस्तियों का सांस्कृतिक स्तर वहुत ऊँचा था। पाठ्य पुस्तकें अरबी में थी, अध्यापन संभवतः फारसी में होता था, तथापि मातृभाषा स्थानीय वोली होती थी।" ये वस्तियाँ विहार तक फैल गई थीं।

कुछ अरव मुसलमान असाधारण स्थितियों में भी भारत में आए थे। एक अरव सेनापति अल्लाफी सिन्ध के ब्राह्मण राजा दाहिर की शरण में, अपने ५०० अरव सिपाहियों सहित, आया था।[1] अल्लाफी और उसके सैनिक इस्लाम धर्म ग्रहण कर चुके थे, फिर भी ब्राह्मण राजा दाहिर ने उन्हें शरण दी।

ये सव उदाहरण उन मुसलमानों के हैं जिनके पास इस्लाम भी था और तलवार भी; भारत ने न उनका इस्लाम छीना और न तलवार। इसी प्रकार इन मुसलमानों ने भारत के गले में न तलवार उतारने की कोशिश की, न जबरदस्ती इस्लाम थोपने का प्रयास किया; न अविश्वासियों (हिन्दुओं) को मस्जिदों की उपस्थिति ने भड़काया, न मुसलमानों को मन्दिरों के अस्तित्व ने व्याकुल किया। भारत ने उन मुसलमानों को अपना हृदय-हार वनाया, उन मुसलमानों ने भारत को अपना वतन वना लिया। चित्र अत्यन्त भव्य है—दो महान संस्कृतियों के मधुर सम्मिलन के अनुरूप।

पहला धक्का

इस्लाम में राजसत्ता और धर्मसत्ता प्रारम्भ में एक ही व्यक्ति के हाथ में रही है। अल्लाह की ओर से हजरत मुहम्मद राजतंत्र भी देखते थे और मसीहा के रूप में अल्लाह के धर्म के संदेश-वाहक भी थे। उनके उपरान्त यह कार्य खलीफाओं ने किया। खलीफा के ईराक के अधिकारी हज्जाज के दामाद (भतीजा भी) मुहम्मद-बिन-कासिम ने भारत की विजय के लिए प्रस्थान किया। यह आक्रमण क्यों हुआ, कैसे हुआ, परमवीर दाहिर क्यों पराजित हुआ और मुहम्मद-बिन-कासिम क्यों विजयी हुआ, इन सब तथ्यों का विवेचन यहाँ आवश्यक नहीं है। यहाँ उल्लेखनीय वह दुर्भाग्यपूर्ण परम्परा है जो मुहम्मद-बिन-कासिम ने प्रारम्भ की थी। सिन्ध के वौद्धों ने उसकी विजय को सुगम ही वनाया था, तथापि उसने एक बौद्ध मन्दिर का ही मस्जिद के रूप में उपयोग प्रारम्भ कर दिया।[2] शरीअत में इस प्रकार दूसरे के आराधना-स्थल को भ्रष्ट कर उसे मस्जिद का स्वरूप देने का निषेध है।[3] परवर्ती तुर्कों की अपेक्षा अरव अधिक सुसंस्कृत थे और उनका शरीअत का ज्ञान भी श्रेष्ठ था। जिस भारत ने उदारता पूर्वक अरव मुसलमानों को मस्जिदें, मदरसे, मकवरे आदि वनाने की अनुमति दी थी, उसी देश की भूमि पर यह सब

१. इलियट एण्ड डाउसन, भाग १, पृ० १५६।
२. इलियट एण्ड डाउसन, भाग १, पृ० १५८।
३. प्रो० महुम्मद हबीब का पत्र, विष्णुध्वज, भण्डरकर ओरिएण्टल रिसर्च इन्स्टीट्यूट, भाग ४१ (१९६२ ई०), पृ० १३९।
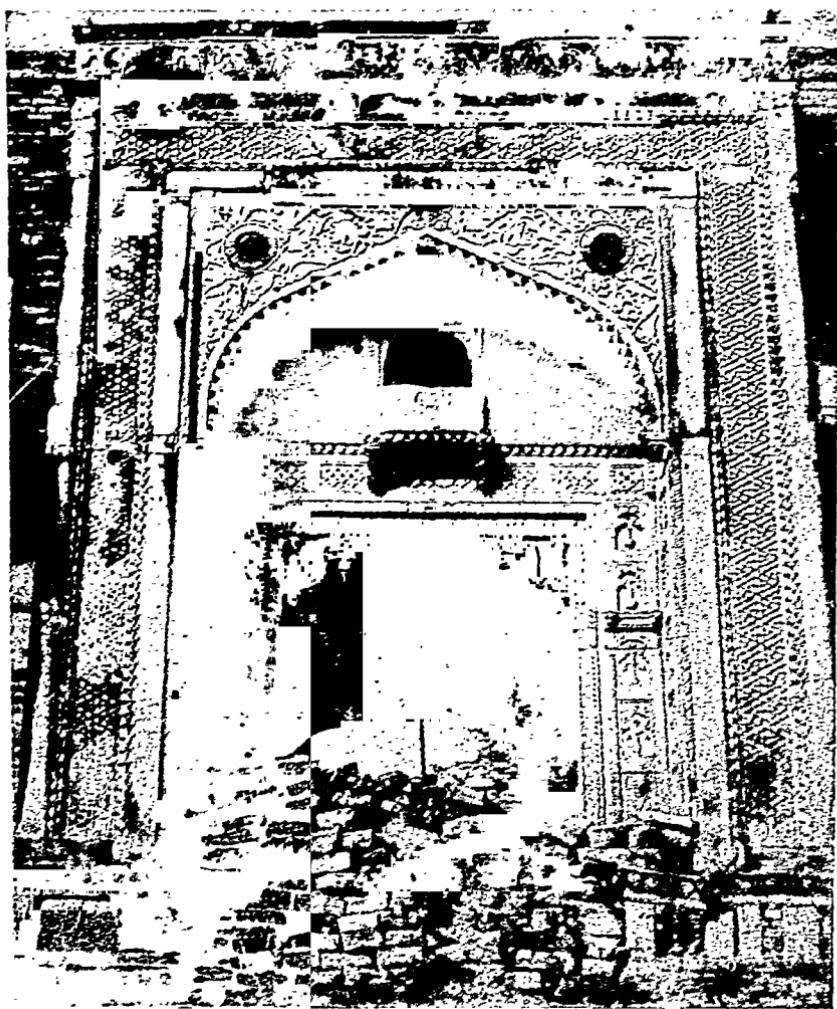
ग्वालियर का यवनपुर—लदेड़ी का एक द्वार
(पृष्ठ ४३१ देखें)

क्यों किया गया ? मुहम्मद ने अनेक मन्दिरों को भी लूटा था, परन्तु उसका कारण उनमें संचित स्वर्ण-राशि थी। मन्दिरों में सम्भवतः राजकोशों की अपेक्षा अधिक धनराशि एकत्रित रहती थी और उनकी सुरक्षा के लिए गढ़ भी नहीं बनाए जाते थे। भारतीय यह समझता था कि वे उपासना-स्थल हैं यही उनकी सबसे बड़ी सुरक्षा-व्यवस्था है। परन्तु यह विचारधारा अरबों के संदर्भ में व्यर्थ सिद्ध हुई है।[1] धार्मिक क्षेत्र में मुहम्मद-बिन-कासिम ने भारत को पहला क्रूर धक्का दिया।

हज्जाज की उदारता

ज्ञात यह होता है कि प्रारम्भिक अरब विजेताओं की नीति यह नहीं थी कि भारत के जिस भाग को जीतकर अपने अधिकार में कर लिया जाए वहाँ इस्लामेतर समस्त उपासना-पद्धतियों को समाप्त कर दिया जाए। उस समय के खलीफा की इस विषय में क्या नीति थी इसकी जानकारी हमें नहीं है, तथापि खलीफा के ईराक के प्रशासक हज्जाज की नीति के विषय में कुछ प्रमाण उपलब्ध हुआ है। ब्राह्मणावाद के बौद्धों ने अपने ध्वस्त मन्दिरों के पुनर्निर्माण की अनुमति मुहम्मद-बिन-कासिम से माँगी। इस विषय में मुहम्मद ने हज्जाज से मार्गदर्शन चाहा। हज्जाज ने उत्तर दिया[2]—"तुम्हारे पत्र से ज्ञात होता है कि ब्राह्मणावाद के कुछ निवासियों ने यह प्रार्थना की है कि उन्हें उनके बुद्ध के मन्दिर की मरम्मत करने की तथा अपने धर्म के अनुसरण करने की अनुमति दी जाए। चूँकि उन्होंने आधीनता स्वीकार करली है और वे कर देने के लिए भी सहमत हैं, ऐसी दशा में उनसे कोई अन्य अपेक्षा उचित रूप से नहीं की जा सकती। उन्हें अपने संरक्षण में ले लिया गया है और हम किसी भी प्रकार उनके जीवन और सम्पत्ति पर हाथ नहीं डाल सकते। उन्हें उनके देवताओं की उपासना की अनुमति दी जाती है। वे अपने घरों में जिस प्रकार चाहें रह सकते हैं।"

इस्लाम का पहला धक्का भारतीय धर्म-साधनाओं के प्रति अत्यन्त क्रूर था, परन्तु हज्जाज ने उसके अनिष्टकारी प्रभाव को पर्याप्त कम कर दिया।

महमूद गजनवी

मध्ययुग हो, या कोई अन्य युग, एक नृवंश दूसरे नृवंश पर अथवा एक देश दूसरे देश पर बहुधा आर्थिक कारणों से ही आक्रमण करता रहा है। यदि पड़ौसी शक्तिहीन हो तब प्रबलतर पड़ौसी उस पर आक्रमण करेगा ही, यह सुनिश्चित राजनीति है। यह आक्रमण किस बहाने से हो, यह आक्रामक के चातुर्य पर निर्भर होता है।

अरबों का भारत आक्रमण भारतीयों द्वारा शीघ्र ही भुला दिया गया। उधर अरबों ने, इस्लाम ग्रहण करने के पश्चात्, जिस साम्राज्य का विस्तार किया था उसमें राजसत्ता तथा धर्मसत्ता दोनों का एक में ही सम्मिश्रण था, यह स्थिति धीरे-धीरे छिन्न भिन्न हो गई। बगदाद के खलीफा राजसत्ता और धर्मसत्ता दोनों के एक मात्र अधिकारी नहीं

---

१. अब तो मूर्तिपूजकों के वंशज भी प्राचीन मूर्तियाँ बेचने का धन्धा करने लगे हैं।
२. इलियट एण्ड डाउसन, भाग १, पृ० १८५।

रह सके। उनके पास कुछ प्रदेशों में राजसत्ता और धर्मसत्ता तथा अधिकांश इस्लामी देशों में केवल धर्मसत्ता रह गई। दसवीं शताब्दी के प्रारंभ में बल्ख के ईरानी मुसलमानों ने अपनी स्वतंत्र राजसत्ता स्थापित कर ली। उनके एक तुर्की गुलाम अलप्तगीन ने गजनी में अपना स्वतंत्र राज्य स्थापित कर लिया। इस प्रकार ईरान और भारत के बीच नव-मुस्लिम तुर्कों की राजसत्ता स्थापित हुई। अपने राज्य की समृद्धि बढ़ाने के लिए उन्हें भारत के मैदानों पर दृष्टि डालना अनिवार्य था। उस समय काबुल में भी हिन्दू और बौद्ध रहते थे तथा वहाँ स्थानीय हिन्दुओं का राज्य था। तुर्कों और काबुल तथा पंजाब के हिन्दुओं की पहली टक्कर ९७२ ई० में हुई थी। जब सन् ९७७ ई० में सुबुक्तगीन ने तुर्क राज्य संभाला तब ये टक्करें द्रुतगति से होने लगीं। सुबुक्तगीन काबुल की हिन्दूशाही से 'धर्म' के लिए नहीं उलझा था, वरन् उसके युद्ध अस्तित्व, राज्य विस्तार और समृद्धि प्राप्ति की भावना से प्रेरित थे। गजनी के इस छोटे-से राजा ने अपने आपको बहुत शक्तिशाली बना लिया। दूसरी ओर उसका प्रतिद्वन्दी काबुल और पंजाब का राजा हिन्दूशाही जयपाल सामरिक रूप में कमजोर सिद्ध होने लगा। उसने सुबुक्तगीन से संधि करना चाही परन्तु सुबुक्तगीन ने अपने बेटे महमूद की सलाह से संधि के प्रस्ताव को अस्वीकार कर दिया। हिन्दूशाही राजा जयपाल ने इसके उपरान्त जो संदेश भेजा था वह तुर्कों और भारतीयों के बीच तत्कालीन संघर्ष के स्वरूप को स्पष्ट करता है[1]—"आपने हिन्दुओं की प्रचण्डता को देखा है, और यह भी देखा है कि वर्तमान समय में जैसा संकट उनके ऊपर आया है उसमें वे मृत्यु के प्रति कितने उदासीन हो जाते हैं। इसलिए, यदि आप लूट, कर, हाथी और बन्दी प्राप्त करने के लोभ से संधि करने से मना कर देंगे तब हमारे सामने इसके अतिरिक्त कोई विकल्प नहीं रह जाएगा कि हम दृढ़ निश्चय कर अपनी संपत्ति नष्ट कर दें, अपने हाथियों को अंधा कर दें, अपने बच्चों को आग में फेंक दें, और एक-दूसरे पर तलवार तथा बर्छे ले कर टूट पड़ें, ताकि आपके लिए केवल कुछ पत्थर और धूल, सड़ते हुए शव तथा हड्डियों के ढेर ही शेष रह जाएँ।" जयपाल के इस संदेश से यह प्रकट तो होता ही है कि वह हृदय से पराजित हो चुका था, तथापि सुबुक्तगीन और उसके उपरान्त महमूद के जो आक्रमण भारत पर हुए थे उनका प्रधान लक्ष्य भी स्पष्ट हो जाता है; भारत से लूट में संपत्ति तथा दास प्राप्त करना उनका प्रधान लक्ष्य था। उनमें धर्म-संघर्ष का कहीं नाम भी नहीं था।

महमूद के द्वारा भारत पर किए गए आक्रमणों का प्रधान लक्ष्य यही लूट तथा दास प्राप्त करना था। उसने उसका साधन भी खोज लिया था। उस समय का भारतीय राजा अपने खजाने में आग लगा सकता था, परन्तु वह मन्दिर में आग नहीं लगा सकता था। अतएव महमूद धन एवं दासों की प्राप्ति के लिए बहुधा भारत के प्राचीन एवं समृद्ध मंदिरों पर ही आक्रमण करता था। राजाओं से तो वह तब टकराता था जब वे

---

१. इलियट एण्ड डाउसन, भाग २, पृ० २१।

इस 'मन्दिर-लूट' के कार्यक्रम में बाधक होते थे। यद्यपि कहा यह जाता है कि जब खलीफा अल् कादिर बिल्लाह ने उसे सुल्तान के रूप में मान्यता प्रदान की थी तभी उसने भारत के विरुद्ध प्रतिवर्ष जिहाद (धर्मयुद्ध) करने का संकल्प किया था, तथापि उसका उद्देश्य धन और दास प्राप्त करना ही था। जिन इतिहासकारों ने महमूद के आक्रमणों का विवरण छोड़ा है उनके सामने समस्या यह थी कि वे महमूद के भारत-आक्रमणों का समर्थन किस प्रकार करें और उसे लुटेरे से भिन्न परमवीर के रूप में किस प्रकार चित्रित करें। इस समस्या का समाधान 'दीन' निकाला गया। परन्तु महमूद को अपने पश्चिमी पड़ौसियों से भी लड़ना पड़ता था जो उसी के 'दीन' के थे। वास्तविकता यह है कि महमूद धन और वैभव का लोभी प्रबल डाकू था। डाकू का जब राज्य स्थापित हो जाता है तब वह सुल्तान या राजा कहा जाता है और असफल होने पर उसे सूली पर लटका दिया जाता है। महमूद के भारत के आक्रमणों का इतिहास यह बतलाता है कि प्रत्येक नवीन आक्रमणों में उसकी सेना की संख्या बढ़ती ही जाती थी। लूट में प्राप्त धन और दासों के लोभ से नये-नये कबीले उसकी सेना में सम्मिलित होते रहते थे। लुटेरों के इस समूह ने 'दीन' की सेवा के लिए रेगिस्तान के संकट उठाकर सोमनाथ पर आक्रमण नहीं किया था, उन्हें सोमनाथ के मंदिर में एकत्रित अपार संपत्ति ने आकर्पित किया था, उसके लिए ही उन्होंने अपने प्राणों की बाजी लगाई थी।[1]

मथुरा के मंदिर के विषय में महमूद ने स्वयं लिखा था, "यदि कोई इतना बड़ा भवन बनवाना चाहे तब दस करोड़ स्वर्ण दीनार व्यय करके ही बनवा सकेगा और उसे बनवाने में बहुत अनुभवी कारीगरों को दो सौ वर्ष लगेंगे।" महमूद ने पहले तो उन

१. महमूद के मन्दिर-मूर्ति-ध्वंस के कार्यक्रम की प्रेरक भावना धन-लिप्सा थी, इसकी पुष्टि में कश्मीर के हिन्दू राजा हर्पदेव (१०८९-११०१ ई०) को प्रस्तुत किया जा सकता है। संभव है हर्पदेव ने महमूद से ही प्रेरणा ली हो। पहले हर्पदेव ने एक प्राचीन मंदिर को भ्रष्ट कर उसकी सम्पत्ति लूटी। जब उसे उसमें बहुत अधिक सम्पत्ति प्राप्त हुई तब उसका लोभ अत्यधिक जाग्रत हुआ। उसने सभी मंदिरों को व्यवस्था पूर्वक भ्रष्ट कर लूटना प्रारम्भ कर दिया। इस कार्य के लिए उदयराज को 'देवोत्पाटन नायक' के पद पर नियुक्त किया गया तथा एक अन्य अधिकारी विजय-मल्ल को 'अर्थ नायक' बनाया गया। कल्हण ने राजतरंगिणी में हर्पदेव द्वारा मन्दिरों को भ्रष्ट कराने का जो विवरण दिया है उसकी तुलना में महमूद के कृत्य भी फीके दिखाई देते हैं। हर्पदेव यदि तुर्क होता और उसका कोई दरबारी इतिहासकार होता तब उसके ये कृत्य भी 'दीन का संवर्धन' तथा 'कुफ्र का विनाश' कहे जाते। परन्तु वह हिन्दू था और उसके दरबारी के पुत्र कल्हण ने गाली के रूप में हर्प को 'तुरुष्क' लिख दिया। कल्हण यह भूल गया कि अतिशय धन-लिप्सा किसी भी संस्कारविहीन व्यक्ति को बर्बर बनाती रही है, वह तुरुष्क हो या ब्राह्मण या क्षत्रिय या कोई अन्य। दुर्भाग्य से कल्हण ने यह नहीं लिखा कि हर्पदेव के इन कृत्यों का तत्का-लीन मूर्तिपूजक हिन्दुओं पर क्या प्रभाव पड़ा था? 'हर्पदेव की हत्या कर दी गई थी, तथापि वह तब की गई जब उसने मन्दिरों की लूट के उपरान्त बड़े जागीरदारों को लूटना प्रारम्भ किया था। कल्हण के विवरण से यह अवश्य ज्ञात होता है कि हर्पदेव के राज्याधिकारी उसकी नीति को दक्षता पूर्वक कार्यान्वित कर रहे थे, और वे समस्त राज्याधिकारी हिन्दू थे।

मंदिरों में उपलब्ध समस्त रत्नराशि, स्वर्ण और चांदी लूट ली, उसके उपरान्त उनमें आग लगा दी। न यह दीनपनाही कही जा सकती है न इसे किसी संस्कृति का अंग माना जा सकता है, इसे केवल संस्कृतिविहीन लुटेरे का कृत्य कहा जा सकता है। मूर्तियाँ इस्लाम की भावना के विरुद्ध मानी जा सकती हैं, तथापि मवनों से शत्रुता किसी उपासना-पद्धति को नहीं रही। यदि महमूद दीन की भावना से ही प्रेरित माना जाए, तब उसकी इस बर्बर धर्म-भावना से समस्त उत्तर भारत पीड़ित हुआ था। उसी की संस्कृति के एक अन्य प्रतिनिधि अलाउद्दीन जहाँसोज (विश्वदाहक) ने महमूद का गजनी नगर भी जला डाला। उसमें मस्जिदें भी थी और मदरसे भी। इस प्रकार के कृत्यों के मूल में 'दीन' नहीं होता, क्रूर बर्बरता होती है।

जब महमूद की टक्करें भारतीय राजाओं से हुईं तब जनता ने उस पर विशेष ध्यान नहीं दिया, क्योंकि मनोवृत्तियाँ ऐसी हो गई थीं कि भारतीय जनता को राजवंशों के विनाश या स्थापना में विशेष रुचि नहीं रह गई थी। राजा कोई भी बनता, उनकी स्थिति में विशेष अंतर आने वाला नहीं था। परन्तु विस्तृत रूप में मन्दिर-मूर्ति ध्वंस का कार्यक्रम अपनाकर महमूद ने भारत की जन-भावना को ठेस पहुंचाई और भारतीय जनता मुसलमानों को राक्षसों का प्रतिरूप मानने लगी तथा उनसे हृदय से घृणा करने लगी। घृणा का यह भाव अनेक शताब्दियों तक प्रभाव दिखाता रहा। महमूद के समय में ही इसका व्यापक प्रभाव दिखाई देने लगा था। महमूद के दरबार के एक विद्वान अबू रिहान अलबेरूनी ने तहकीके-हिन्द में लिखा है—"महमूद ने इस देश की प्रगति को नष्ट-भ्रष्ट कर दिया है·······हिन्दू चूर-चूर होकर धूल के कणों की भाँति चारों ओर बिखर गए, उनके बिखरे हुए टुकड़ों ने मुसलमानों से घृणा करने की ऐसी प्रवृत्ति उत्पन्न कर दी है जो कभी समाप्त न होगी—" महमूद और उसके पादानुगामी सुल्तानों के इन कृत्यों को कुछ भी कहा जाए, इस्लाम की सेवा नहीं कहा जा सकता।

भारत का राजधर्म

महमूद की मृत्यु सन् १०३० ई० में हो गई। परन्तु उसके आक्रमणों के परिणाम-स्वरूप भारत में धार्मिक विद्वेष का सूत्रपात जनता में हो चुका था, उसका शमन कभी न हो सका। उसका पहला दुष्परिणाम खंभात में दिखाई दिया।[1]

सिद्धराज जयसिंह (१०९२-११४३ ई०) के राज्यकाल में खंभात में सुन्नी मुसलमान रहते थे और वहाँ उनकी मस्जिद तथा माजीना भी थे। वहाँ हिन्दू और पारसी भी रहते थे। पारसियों ने हिन्दुओं को भड़काया और उनके द्वारा मस्जिद और माजीना तोड़ दिए गए तथा ८४ मुसलमानों की हत्या कर दी गई। महमूद के 'धर्म-प्रचार' का पहला कुफल भारत-भूमि पर दिखाई दिया। सम्प्रदायिक विष भारतीय तंत्र की धमनियों में अपना प्रभाव दिखाने लगा। परन्तु भारतीय राजा ने अपना राजधर्म नहीं छोड़ा। सिद्ध-राज जयसिंह ने हिन्दू और पारसी मुखियाओं को दण्ड दिया तथा राजकोष से एक लाख

१. इलियट एण्ड डाउसन, भाग २, पृ० १६२-१६३।

मुद्राएँ व्यय कर वह मस्जिद तथा माजीना पुनः बनवा दिए गए। सुन्नी मुसलमानों द्वारा उनमें पुनः उपासना प्रारंभ हुई। इस प्रसंग में इतिहासकार ऊफी ने सिद्धराज जयसिंह के मुख से जो शब्द कहलाए हैं वे सदा ही भारतीय राजतन्त्र के आदर्श रहे हैं—"यह देखना मेरा कर्तव्य है कि मेरी समस्त प्रजा को ऐसी सुरक्षा प्राप्त हो जिससे वे शान्तिपूर्वक जीवन व्यतीत कर सकें।" इस 'प्रजा' में हिन्दू, पारसी, बौद्ध, जैन, मुसलमान आदि का विभेद नहीं माना जाता था। सिद्धराज जयसिंह के राज्य में ही सोमनाथ का मंदिर था। महमूद द्वारा नष्ट किए जाने के पश्चात् सिद्धराज जयसिंह के पुरखों को ही उसकी मरम्मत करानी पड़ी थी। परन्तु जयसिंह ने उस कृत्य को भुला दिया। भारतीय राजतंत्र के आदर्श के अनुरूप उसने भग्न मस्जिद का भी निर्माण करा दिया।

ईसवी तेरहवीं शताब्दी का धर्म-संघर्ष

सन् ११९२ ई० में तराइन के युद्ध में मुईजुद्दीन साम, अर्थात्, शाहबुद्दीन गौरी ने उत्तर-पश्चिमी भारत के राजपूतों पर निर्णायक विजय प्राप्त की थी। मुईजुद्दीन साम के इतिहासकार उसके द्वारा किए गए आक्रमणों का उद्देश्य धर्म-प्रचार नहीं बतलाते हैं। खुरासान के युद्धों ने मुईजुद्दीन की आर्थिक दशा विपन्न बना दी थी और उसकी सेना को धन की आवश्यकता थी। इसी संकट से त्राण पाने के लिए उसे भारत की ओर दौड़ना पड़ा था। वह विशुद्ध धन-प्राप्ति का अभियान था जो पूर्णतः सफल हुआ। भारतीय राजतंत्र इतना जर्जरित सिद्ध हुआ कि उसकी ईंटें ढहती ही गईं और तुर्कों के पैर स्थायी रूप से भारत में जम गए। शाहबुद्दीन की हत्या के पश्चात् उधर गौर में स्थिति ऐसी उत्पन्न हो गई थी कि शाहबुद्दीन के भारत-स्थित गुलाम प्रशासक को वहाँ लौटने के लिए भी स्थान नहीं रह गया था। महमूद गजनवी मंदिरों की संपत्ति लूटने के पश्चात् उन्हें तोड़ता तथा जलाता था, इन नवागंतुक तुर्कों ने उससे कुछ भिन्न रीति अपनाई। वह मंदिर के गर्भगृह को तोड़कर उसका उपयोग मस्जिद के रूप में करने लगे। महमूद जिन व्यक्तियों को युद्ध में पकड़कर दास बनाता था उन्हें वह गजनी ले जाता था, अब ऐसे दास भी मुसलमान बनकर भारत में ही रहने लगे।

शाहबुद्दीन के गुलाम सुल्तान कुत्बुद्दीन ऐबक ने इस्लाम के प्रचार की कोई सुगठित व्यवस्था की हो, ऐसा ज्ञात नहीं होता। उसके सामने लूटने के लिए बहुत खजाने उपलब्ध थे। वह उन्हें लूटने में ही लगा रहा और अपने सह-गुलामों के उपद्रवों से बचने में उलझा रहा, तथापि उसे मंदिरों को मस्जिद बना देने में विशेष गौरव का अनुभव होता था। यह तो सुनिश्चित नहीं है कि यह लेख कुत्बुद्दीन ऐबक से ही जड़वाया है या अन्य किसी ने जड़ दिया है तथापि उसमें बड़े गर्व से कहा गया है—"यह गढ़ हिजरी ५८७ में जीता गया। यह जामा मस्जिद अमीर-उल-उमरे कुत्बुद्दौलावद्दिया ने बनवाई। यह मस्जिद २७ मंदिरों के ध्वंसों से बनवाई गई...खुदा की रहमत उसे प्राप्त होगी जो इस महान निर्माता के लिए प्रार्थना करेगा।"

२७ मंदिर तोड़े अवश्य गए थे, परन्तु उनके मलवे से वह महरावदार दीवार ही वन सकी थी जिस पर यह लेख जड़ा है; मस्जिद तो विष्णु-मंदिर है, ज्यों का त्यों, केवल कुछ मूर्तियों के नाक-कान तोड़कर उन पर चूना लीपा गया था। इस प्रकार 'इस्लाम की कुव्वत' यह मस्जिद वनी थी।[1] इस मंदिर के वगल में खड़े कीर्तिस्तम्भ का भी इस्लामीकरण किया गया। उसकी मूर्तियाँ छिलवाकर उसपर कुर्आन शरीफ की आयतें तथा अल्लाह के ९९ नाम अंकित करवा दिए गए।

सामरिक रूप से पराजित राजागण भी उस समय पूर्णतः पराजित नहीं हो सके थे। अवसर मिलते ही वे भड़क उठते थे। राजाओं की सामरिक पराजय का प्रभाव जनता पर विल्कुल नहीं पड़ा था, वह पूर्णतः अपराजित थी। अपने नवीन शासकों के इस प्रकार के कृत्य देखकर वह उनसे घृणा अवश्य करने लगी थी। शासक और शासितों के बीच गहरी और चौड़ी खाई वन गई। जिन्हें राजतंत्र से कुछ लेना-देना था, वे ही इस खाई को पार करते थे, शेष सब दूर भागने लगे।

ज्ञान-भण्डारों का भस्मीकरण

कुत्वुद्दीन ऐवक के समय में ही उसके एक सेनापति वख्तयार खलजी ने एक और भीषण काण्ड कर डाला। उसने नालन्दा और विक्रमशिला के विश्वविद्यालयों को भून डाला तथा वहाँ के सभी बौद्ध भिक्षुओं को ब्राह्मण समझकर मार डाला। मरने वालों के स्थान पर तो नवीन पीढ़ियाँ आ जाती हैं, परन्तु उन विश्वविद्यालयों में भारत की अनेक शताब्दियों की ज्ञानराशि एकत्रित थी, वह जल कर राख हो गई; उसे पुनः प्राप्त नहीं किया जा सका। जिन ग्रन्थों की प्रतिलिपियाँ श्रद्धापूर्वक तिब्बत, चीन और जापान ले जाई गई थीं वे ग्रन्थ भारत में ही अनुपलब्ध हो गए। वख्तयार का यह कृत्य न इस्लाम की सेवा थी, न मानवता की; वह घोर असांस्कृतिक कार्य था, जिससे भारत का तत्कालीन प्रवुद्धवर्ग अत्यधिक व्याकुल हो गया होगा।

यह सव उपद्रव करने पर भी कुत्वुद्दीन ऐवक के समय में तुर्क सल्तनत की कोई विशेष धर्म-नीति निर्धारित नहीं हुई थी। संभवतः यह विचार करने का उसे अवसर ही नहीं मिला था कि सल्तनत के समस्त नागरिकों को इस्लामधर्म मानने के लिए विवश किया जाए। जो सैनिक, आलिम, शेख, सूफी आदि कुत्वुद्दीन ऐवक के साथ आए थे, यदि वे वाहरी प्रभाव से मुक्त रह कर भारत में एक-दो पीढ़ी रह लेते तव संभव है, भारत में धर्म के नाम पर अधिक उत्पीड़न और संघर्ष न होता। परन्तु कुत्वुद्दीन ऐवक की मृत्यु के उपरान्त ही पश्चिमी एशिया में कुछ ऐसी परिस्थितियाँ उत्पन्न होगई कि भारत को तुर्क सैनिकों की अपेक्षा अधिक भयंकर आक्रान्ताओं का सामना करना पड़ा। चंगेज खां और हलाकू ने पश्चिमी एशिया

---

१. प्राध्यापक हवीव ने इस मन्दिर के विषय में लिखा है—कुत्वुद्दीन ऐवक ने एक मन्दिर को मस्जिद घोषित करने वाला लेख लगवा दिया था। परन्तु वह भवन मंदिर है और सदैव मन्दिर रहा है।

की मुस्लिम सल्तनतों का सफाया कर दिया और उनकी राजसभाओं के अनेक मुल्ला, आलिम और शेख भारत में शरणार्थी के रूप में प्रवेश कर गए।[1]

भारत में आने पर इस विद्वत्समूह के समक्ष समस्या यह थी कि जीवनयापन के लिए वे क्या करें और भारतीय समाज में उच्च स्थान किस प्रकार प्राप्त करें। न वे तलवार के धनी थे, न उन्हें कोई व्यापार या व्यवसाय आता था, उनकी प्रतिष्ठा का आधार केवल 'दीन' हो सकता था। तत्कालीन भारत की जो स्थिति उन्होंने देखी वह भी उनके लिए उत्साहकारी नहीं थी। यद्यपि तुर्कों ने उत्तर भारत के लगभग समस्त राजवंशों को पराजित कर दिया था, कुछ मंदिरों को मस्जिदों के रूप में बदल दिया था, कुछ को तोड़ दिया था; तथापि तुर्क सैनिकों के समूह कुछ बड़े नगरों में ही सिमटे हुए थे। इस्लाम भी तुर्कों और उनके दासों तक ही सीमित था। सैनिक छावनियों के बाहर न सल्तनत का दबदबा था, न इस्लाम की महत्ता थी। सल्तनत का बहुसंख्यक समाज इस्लाम का अनुयायी नहीं था, वह समृद्ध भी था और सामाजिक तथा सांस्कृतिक रूप से अपराजित भी। तुर्क सिपाही युद्ध में लड़ सकता था, तथापि धर्म-विजय और सांस्कृतिक विजय व्यवस्था पूर्वक कैसे की जाए, यह सोचना उसके बूते के बाहर था। वह युद्ध में बंदी बनाए गए दासों को ही इस्लाम कबूल करा सकता था, तथापि यह तुर्क तरीका बहुत थोड़े से जन समूह पर ही कारगर हो सकता था।

आलिमों की प्रथम धर्म-सभा

यह प्रश्न बहुधा उठाया जाता है कि अनेक शताब्दियों तक अत्यन्त क्रूर और धर्मान्ध सुल्तानों के प्रबल असिबल के अधीन रहते हुए भी भारत के समस्त निवासियों को मुसलमान क्यों न बनाया जा सका ? इसका उत्तर सुल्तान इल्तुतमिश के वजीर जुनैदी ने ईसवी बारहवीं शताब्दी के प्रारम्भ में ही दे दिया था। कुछ राजाओं की सामरिक पराजय का तात्पर्य यह नहीं था कि भारत की जनता भी पराजित हो गई थी। मंदिर और मूर्ति-ध्वंस द्वारा दीन-प्रसार के भोंड़े तरीके ने प्रत्येक भारतीय के हृदय को सुदृढ़ गढ़ का रूप दे दिया था, प्रतिक्रिया के रूप में वह अपनी जीवन-पद्धति के प्रति अत्यधिक जागरूक हो गया था।

इस सन्दर्भ में भारतभूमि पर इस्लाम के आलिमों की जो प्रथम धर्म-सभा आयोजित हुई थी इसका विवरण समकालीन इतिहासकार जियाउद्दीन बरनी ने दिया है'—

"जिस समय दिल्ली के राज्य पर विजय प्राप्त हुई दुष्ट चंगेज खां के भय से प्रत्येक स्थान के आलिम दिल्ली पहुँचने लगे। दिल्ली का राज्य सुल्तान इल्तुतमिश को प्राप्त हुआ तो आलिमों ने देखा कि हिन्दुओं में शिर्क और कुफ्र जड़ पकड़ चुका है।

---

१. डा० रिजवी, आदि तुर्क-कालीन भारत, पृ० १०७-१०८।

हिन्दू न तो किताव[1] वाले हैं और न जिम्मी[2]। यदि अपने सिर पर तलवार पाते हैं तो खिराज (कर) अदा कर देते हैं, अन्यथा विरोध करते रहते हैं। कुछ प्रतिष्ठित आलिमों ने इस पर विचार करना प्रारम्भ कर दिया कि हिन्दुओं की हत्या कर दी जाए अथवा उन्हें इस्लाम स्वीकार करने के लिये विवश कर दिया जाए, या उनसे खिराज लेकर जिस प्रकार के सुख और धन-धान्य-संपन्न जीवन व्यतीत करते हैं तथा मूर्तिपूजा करते हैं, कुफ्र और काफिरी के आदेशों का निर्भीक होकर पालन करते रहते हैं, उस पर रोक टोक न की जाए और न्हें आदरपूर्वक जीवन व्यतीत करने दिया जाए। बहुत वादविवाद के पश्चात्, लोगों ने एक दूसरे से कहा कि मुस्तफा अलैहिस्सलाम के सबसे कट्टर शत्रु हिन्दू हैं, क्योंकि मुस्तफा अलैहिस्सलाम के धर्म में आया है कि हिन्दुओं को कत्ल कर दिया जाए, उनकी धन संपत्ति उन्हें अपमानित और तिरस्कृत कर छीन ली जाए। दीने-हनीफी का यह आदेश न तो यहूदियों के लिए है, न ईसाइयों के लिए है और न दूसरे धर्मों के सम्बंध में। हिन्दू ब्राह्मणों के लिए जिनमें शिर्क और कुफ्र फैल चुके हैं, के लिए उपर्युक्त आदेश पहले दिया जा चुका है।[3] प्रत्येक स्थान के हिन्दू, चाहें वे विरोधी हों चाहें आज्ञाकारी, मुस्तफा अलैहिस्सलाम के सबसे बड़े शत्रु हैं, अतः यह उपयुक्त होगा कि आरंभ में ही ऐसे शत्रुओं के विषय में वादविवाद की आज्ञा बादशाह से प्राप्त कर ली जाए। उस समय के कुछ प्रतिष्ठित आलिम सुल्तान शम्शउद्दीन इल्तुतमिश (सन् १२१०-१२३६ ई०) की सेवा में पहुँचे और उपर्युक्त समस्या का बड़े विस्तार से उल्लेख किया। उन्होंने उससे निवेदन किया कि दीने-हनीफी के लिए यह उचित होगा कि या तो हिन्दुओं का कत्ल करा दिया जाए या उन्हें इस्लाम स्वीकार करने के लिए विवश किया जाए। हिन्दुओं से खिराज या जजिया लेकर संतुष्ट न हो जाना चाहिए।"

"सुल्तान इल्तुतमिश ने उनकी बातें सुनने के पश्चात् वजीर को आदेश दिया कि वह आलिमों की बात का उत्तर दे और जो कुछ उचित हो उनसे कह दे। निजामुलमुल्क जुनैदी ने उन आलिमों से, जो सुल्तान के समक्ष उपस्थित थे, सुल्तान के सम्मुख कहा, 'इसमें कोई संदेह या शक नहीं कि आलिमों ने जो कुछ कहा वह ठीक है। हिन्दुओं के विषय में यही होना चाहिए कि या तो उनका वध करा दिया जाए या उन्हें इस्लाम ग्रहण करने के लिए

---

१. 'किताव' से आशय ऐसी धर्म-पुस्तक से है जिसे स्वयं अल्लाह ने अपने किसी नवी को बोलकर लिखाया हो। कुर्आन शरीफ की आयतें अल्लाह ने मुहम्मद साहब को सुनाई थीं। मुसलमान ईसाइयों की धर्म-पुस्तक इंजील और यहूदियों की धर्म पुस्तक जुबूर को भी इसी प्रकार की किताब मानते हैं। हिन्दू, बौद्ध या जैनों के धर्म-ग्रंथ इस कारण 'किताव' नहीं है कि उन्हें ईश्वर ने नहीं लिखाया है, मानवों ने लिखा है।

२. यहूदी और ईसाई ही 'अहले किताव' थे। आदर्श इस्लामी राज्य में जजिया देकर यहूदी और ईसाई ही जीवित रह सकते थे। इनके अतिरिक्त अन्य लोगों के लिए व्यवस्था यह मानी गई थी कि वे या तो इस्लाम अंगीकार कर लें या मर जाएं।

३. यह आदेश पहले कब दिया गया था, यह बरनी ने नहीं बतलाया। ईल्तुतमिश ने सामूहिक हत्याएँ की तो थीं, परन्तु वे सब ब्राह्मणों की थीं, यह स्पष्ट नहीं है।

विवश किया जाए, क्योंकि वे मुस्तफा अलैहिस्सलाम के कट्टर शत्रु हैं। न तो वे जिम्मी हैं, न उनके लिए हिन्दुस्तान में कोई किताब भेजी गयी है और न पैगम्बर।[1] किन्तु हिन्दुस्तान अभी-अभी अधिकार में आया है। हिन्दू बहुत बड़ी संख्या में हैं। मुसलमान उनके मध्य दाल में नमक के समान हैं। कहीं ऐसा नहीं हो कि हम उपर्युक्त आदेश का अनुसरण करें और वे संगठित होकर चारों ओर से उपद्रव और विद्रोह प्रारम्भ कर दें। हम फिर बड़े कष्ट में पड़ जाएँगे। कुछ वर्ष व्यतीत हो जाएँगे और राजधानी के भिन्न-भिन्न प्रदेश और कस्बे मुसलमानों से भर जाएँगे तथा बहुत बड़ी संख्या में सेना एकत्र हो जाएगी, उस समय हम यह आज्ञा दे सकेंगे कि या तो हिन्दुओं को कत्ल करा दिया जाए या उन्हें इस्लाम स्वीकार करने पर विवश कर दिया जाए।"

इस विचार-विमर्श के उपरान्त सुल्तान इल्तुतमिश तथा आलिमों ने सल्तनत की भावी धर्म-नीति इस प्रकार निश्चित की थी—"यदि हिन्दुओं को कत्ल कराने की आज्ञा नहीं दी जा सकती तो सुल्तान को यह चाहिए कि वह उनका अपने दरबार में या राजभवन में आदर-सम्मान न होने दे, हिन्दुओं को मुसलमानों के बीच न बसने दे, मुसलमानों की राजधानी, प्रदेशों और कस्बों मे मूर्तिपूजा तथा कुफ्र के आदेशों का पालन न होने दे।"

तेरहवीं शताब्दी के प्रारम्भ में ही इल्तुतमिश के समक्ष हिन्दुओं के विषय में इस्लाम या मृत्यु की नीति अनुसरण करने का आग्रह किया गया था। इस नीति से भारतवासियों को इस कारण छुटकारा नहीं मिला था कि आलिम या सुल्तान इस विषय में किंचित्मात्र भी उदार थे, वरन् इस कारण मिला था कि भारतीय जनता उस समय भी अजेय थी। तुर्क सल्तनत सदा इस भय से त्रस्त रही कि कहीं बहुसंख्यक हिंदू संगठित न हो जाएँ। ज्ञात यह होता है कि उस समय का भारतीय समाज राजनीतिक पराधीनता और आर्थिक शोषण के विरुद्ध कम ही संगठित होता था, तथापि वह धर्म के नाम पर कट मरने को तैयार था। संभव है जुनैद को भ्रम हो गया हो, धर्म के नाम पर अलग-अलग मरना ही भारतीय श्रेयस्कर समझते, संगठित तो वे इसके लिए भी न होते।

विदेशी प्रशासन

सामाजिक उत्पीड़न और आर्थिक शोषण की नीति को अमल में लाने के लिए भी तत्कालीन भारतीय मुसलमान असमर्थ पाए गए, अतएव इल्तुतमिश ने पश्चिमी देशों से प्रशासक बुलवाए। इस कार्य के लिए बहुत बड़ी संख्या में तुर्क गुलाम क्रय कर मँगवाए गए, उन्हें 'तुरकाने पाक अस्ल' कहा जाता था। कुछ ऊँचे वंशों के विदेशी मुसलमान भी बुलाए जाते थे जो ताजिक कहे जाते थे।[2]

---

१. इस्लाम हजारों पैगम्बरों का अस्तित्व मानता है। दुर्भाग्य से उनमें से किसी ने भारतभूमि पर अवतार नहीं लिया था।

२. ए कम्प्रेहेन्सिव हिस्ट्री आफ इण्डिया, भाग ५, पृ० २२४।

खलीफा का फरमान

सल्तनत की अन्तरात्मा विदेशी बनी रहे इस विचारधारा की पुष्टि के लिए इल्तुतमिश के ही राज्यकाल में ही एक और घटना घटी। अब्बासी खलीफा बिल्लाह ने दिल्ली के सुल्तान इल्तुतमिश के पास राजदूतों के साथ खिलअत तथा आज्ञापत्र भेजे। १९ फरवरी १२२९ ई० को दिल्ली में एक विशाल समारोह मनाया गया, जिसमें खलीफा के दूत-मण्डल का स्वागत किया गया। दरबार आम में, शाहजादों, मलिकों तथा अन्य लोगों के समक्ष खलीफा के फरमान को पढ़ा गया। इसमें सुल्तान को हिन्दुस्तान का राज्य तथा सुल्ताने-आजम की उपाधि दी गई थी।

प्रत्यक्षतः यह फरमान निरर्थक था क्योंकि तुर्कों ने भारत को खलीफा की इच्छा से या उसकी सहायता से नहीं जीता था। परन्तु भारत के राजनीतिक तथा सांस्कृतिक ढांचे के रूप-निर्माण में इस फरमान का बहुत बड़ा हाथ था। तुर्क सुल्तान तथा उसके राजतन्त्र का भारत राष्ट्र के प्रति लगाव समाप्त हो गया, वे अपने आप को विशाल इस्लामी राज्य का अंश मानने लगे।

ईसवी बारहवीं शताब्दी के चतुर्थांश में ही तुर्क सल्तनत विदेशी आलिम, विदेशी राजतन्त्र तथा विदेशी विचारधारा से रंजित हो गई। तुर्कों का शासन भारतीयों के लिए विदेशी शासन बन गया। एक ही राष्ट्र के दो सदस्यों, अर्थात हिन्दू और मुसलमानों के बीच समानता या सह-अस्तित्व का कोई आधार शेष न रह गया। हिन्दू समरक्षेत्र में पराजित हो चुके थे, अतएव उनके समक्ष कोई विकल्प भी न था; और तुर्क राजतन्त्र उनके प्रति उदार हो सके इसका प्रश्न ही नहीं रह गया था। यदि हिंदुओं को हिंदू के रूप में रहना हो तब सुल्तान के राज्य में उन्हें अपमान, तिरस्कार और आर्थिक शोषण के लिए तैयार रहना था। इससे छुटकारा पाने का मार्ग भी अत्यन्त सरल था, केवल इस्लाम स्वीकार कर लेने से सब विपत्तियों से छुटकारा मिल सकता था। परन्तु इस सरल मार्ग को अधिकांश भारतीयों ने नहीं अपनाया। इस सरल मार्ग को अपनाने से बचने के लिए उन्होंने अपने दायरे बहुत संकुचित कर लिए और सतत संघर्ष के लिए तैयार हो गए।

तुर्कों की भारत-विजय के पूर्व ही इस्लाम का धार्मिक दर्शन पूर्णतः प्रस्थापित एवं स्थिर हो चुका था और उसकी अन्तिम तथा अकाट्य व्याख्याएँ हो चुकी थीं। यद्यपि अल्लाह की वार्ता (कुर्आन शरीफ) तथा मोहम्मद साहब की वाणी (हदीस) सर्वोपरि थी; तथापि उनका वही निर्वचन माना जा सकता था जो खलीफाओं ने शरीयत में कर दिया था। कुर्आन शरीफ में ईश्वर ने मुहम्मद साहब से कहा है—"हे मुहम्मद, तुझसे (इस पुस्तक मे) वही कहा गया है जो तुझसे पूर्व पैगम्बरों (ईश्वर के दूतों) से कहा गया है।" इसकी विशद व्याख्या भी कुर्आन शरीफ में की गई है—"हे मुसलमानो, कहो कि हम तो ईमान लाए है अल्लाह पर तथा जो हमारी ओर से उतरा एवं जो इबराहीम पर इस्माईल पर तथा इसहाक पर, याकूब पर एवं उसकी सन्तान पर एवं जो मूसा को, ईसा को तथा सब

पैगम्बरों को उनके परमात्मा की ओर से प्रदान हुआ (सब पर) ईमान लाएँ। हम उनसे किसी में कुछ भेदभाव नहीं करते और हम उसी परमात्मा के आज्ञाकारी हैं।" [1]

कुर्आन शरीफ में तत्कालीन अरब देश की धार्मिक स्थिति पर विचार किया गया है और उसमें उस समय वहाँ प्रचलित साधना-पद्धतियों के प्रति सहिष्णुता का पाठ पढ़ाया गया है। यह संभव नहीं था कि उसमें हिन्दुओं के विषय में भी कुछ विवेचन होता। ऐसी दशा में इल्तुतमिश के आलिम नवीन परिस्थितियों के अनुसार राजधर्म की उदार व्याख्या कर सकते थे और तुर्क सुल्तानों को प्रजापीड़न की नीति से विरत रख सकते थे। परन्तु यह दो कारणों से असंभव हो गया। प्रमुख कारण तो उन आलिमों का स्वार्थ था; उदार-धार्मिक नीति से उनका वर्चस्व ही संकट में पड़ जाता। दूसरा कारण यह था कि कुर्आन शरीफ की नवीन व्याख्याओं का मार्ग बन्द कर दिया गया था और सुन्नी आलिमों के अनुसार समय की आवश्यकताओं के अनुरूप उनमें कोई परिवर्तन संभव नहीं था। सिद्धान्त के रूप में यही स्थिति नवागंतुक आलिमों ने इल्तुतमिश के समक्ष रखी और यही प्रभाव खलीफा के फरमान का हुआ।

बारहवीं शताब्दी के प्रथम चरण में ही भारत की स्थिति बड़ी विचित्र हो गई थी। एक ओर आलिमों और खलीफाओं की इस्लाम की संकुचित व्याख्या से आबद्ध तुर्क थे जो गैर किताबी भारतीयों के समक्ष 'इस्लाम या मृत्यु' का विकल्प रखना चाहते थे; दूसरी ओर समर-क्षेत्र में पराजित तथापि सांस्कृतिक क्षेत्र में श्रेष्ठ, धर्म के क्षेत्र में पूर्णतः अपराजित एवं उसके लिए सर्वस्व न्योछावर करने की अदम्य आकांक्षा रखने वाले 'गैर किताबी' थे। भीषण टकराव, लोमहर्षक उत्पीड़न तथा बलिदान के दृश्य अवश्यंभावी थे।

इल्तुतमिश का धर्मयुद्ध (जिहाद)

अपनी आलिम मण्डली की तुष्टि के लिए तथा धन-प्राप्ति के लिए इल्तुतमिश ने मन्दिर-मूर्ति-ध्वंस के कार्यक्रम को तीव्र किया। सन् १२३३ ई० में विदिशा पर आक्रमण किया गया। मिनहाज सिराज के अनुसार नगर पर अधिकार कर लेने के पश्चात्[2]—"वहाँ के एक मन्दिर को जो ३०० वर्षों में बन कर तैयार हुआ था और जो १०५ गज ऊँचा था, ध्वस्त कर दिया गया।" वहाँ से वह उज्जैन नगरी की ओर गया, और "वहाँ महाकाल देव के मन्दिर को नष्ट-भ्रष्ट कर दिया, उज्जैन नगरी के राजा विक्रमादित्य की मूर्ति जिसके राज्य को आज १३१६ वर्ष व्यतीत हो चुके हैं, और हिन्दवी सन् जिसके राज्य से प्रारम्भ होता है, तथा अन्य पीतल की मूर्तियाँ और महाकालदेव की मूर्ति दिल्ली ले आया।"

---

1. यह हिन्दी अनुवाद डा० रिजवी ने हकायके-हिन्दी में दिया है। श्री नंदकुमार अवस्थी का अनुवाद किंचित भिन्न है (हिन्दी कुर्आन शरीफ, पृ० ५३); तथापि दोनों अनुवादों का भाव एक ही है।
2. डा० रिजवी, आदि तुर्क कालीन भारत, पृ० २८०।

एक ओर ऐसा समाज दिखाई देता है जो तीन शताब्दियों तक ३१५ फुट ऊँचा मन्दिर बनवाने में लगा रहा, दूसरी ओर एक ऐसा राजतंत्र दिखाई देता है जो उसे बात की-बात में तोड़ डालता था। निर्माणकर्ता की निर्माण-बुद्धि भी अधूरी थी, क्योंकि उसने अपने निर्माणों की प्रतिरक्षा की सफल व्यवस्था नहीं की, विध्वंसक का कार्य भी अधूरा रहा क्योंकि वह उस समाज को मिटा न सका जो पुनः निर्माण करने में दक्ष था। मन्दिरों और मूर्तियों में जीवन-पद्धतियाँ नहीं होतीं, वे हृदयों में होती हैं, जो बदले न जा सके। महाकाल तथा देवी-देवताओं की मूर्तियाँ तोड़ने से तुर्कों के राजधर्म के अहं को तुष्टि हुई होगी तथापि शकारि विक्रमादित्य की प्रतिमा को स्थानच्युत करने में इल्तुतमिश का ध्येय यही रहा होगा कि उसके अनुयायी शकारि से प्रेरणा ले कर उसके विदेशी तंत्र के विरुद्ध संगठित न हों। परन्तु भारत विक्रमादित्य को भी भूल न सका। महाकाल की पूजा करने वालों ने *अक्षय* भण्डार खोज निकाला। छोटे-से चबूतरे पर कोई भी गोल पत्थर रखकर वे उसे महाकाल, महादेव, का प्रतीक मानने लगे। जो पूजा विशाल मन्दिरों में सीमित थी वह प्रत्येक ग्राम में फैल गई। राज्य के असिबल और जनता के मनोबल के बीच हुए उस युद्ध का यह अत्यंत मनोरंजक स्वरूप है।

बलबन की वसीयत

गुलाम सुल्तानों में बलबन (१२६६–१२८७ ई०) अन्तिम शक्तिशाली सुल्तान था। हिन्दुओं के साथ उसने क्या किया अथवा वह क्या करना चाहता था यह उसकी वसीअत के एक अंश से ज्ञात होता है[१]—"बादशाही जैसी भगवान की देन के प्रति वही बादशाह अपने कर्तव्यों का पालन करता है जिसके राज्य में उसकी जानकारी में तथा उसकी आज्ञा से एक भी काफिर (गैर मुस्लिम) अथवा मुशरिक किसी कार्य में मुसलमानों से न बढ़ सके; अपमान, दुर्दशा, अविश्वास तथा अनादर के क्षेत्र से बाहर न निकल सके।"

आर्थिक शोषण तथा सामाजिक अपमान

ज्ञात यह होता है कि गुलाम तुर्कों के एक शताब्दी के राज्य के फलस्वरूप भी हिन्दुओं की वैसी दुर्दशा नहीं की जा सकी थी जैसी उन्हें वांछित थी! जियाउद्दीन बरनी ने जलालुद्दीन खलजी (१२९०–१२९६ ई०) के मुख से कुछ ऐसे अनुतापपूर्ण शब्द कह-लवाए हैं जिनसे उस समय के राजधानी के हिन्दुओं की दशा का पता चलता है। जलालुद्दीन खलजी ने अहमद चप से कहा था[२]—"तू नहीं जानता कि प्रतिदिन हिन्दू जो कि खुदा और मुस्तफा के शत्रु हैं, ठाटबाट तथा शान से मेरे महल के नीचे से होकर यमुनातट पर जाते हैं, मूर्तिपूजा करते हैं और शिर्क तथा कुफ्र के आदेशों का हमारे सामने प्रचार करते हैं और हम जैसे निर्लज्ज जो कि अपने आप को मुसलमान बादशाह कहते हैं, कुछ नहीं कर सकते। उन्हें हमारा, हमारे अधिकार तथा बल का कोई भय नहीं...... ।"

---

१. डा० रिजवी, आदि तुर्क कालीन भारत, पृ० १७५।
२. डा० रिजवी, खलजी कालीन भारत, पृ० २६।

जो कार्य गुलाम सुल्तान सौ वर्षों में न कर पाए वह अलाउद्दीन खलजी (१२९६-१३१६ ई०) ने १५-२० वर्षों में कर दिया। बरनी के शब्दों में[1]—"सुल्तान ने बुद्धिमानों को उन अधिनियमों तथा कानूनों को तैयार करने के विषय में आज्ञा दी जिनके द्वारा हिन्दुओं को दबाया जा सके और धन-सम्पत्ति, जो विद्रोह तथा उपद्रव की जड़ हैं, उनके घरों में शेष न रहने पाए।...हिन्दुओं के पास इतना भी शेष न रह जाए कि वे घोड़ों पर सवार हो सकें, हथियार लगा सकें, अच्छे वस्त्र पहन सकें, तथा निश्चिन्त होकर आराम से जीवन व्यतीत कर सकें।"

इन अधिनियमों और कानूनों को बड़ी दक्षता के साथ प्रभावी किया गया था। उनके परिणामों का वर्णन करते हुए बरनी ने बड़े संतोष से लिखा है[2]—"इस कार्य को उसने इतने सुव्यवस्थित ढंग से किया कि चौधरियों, खूतों और मुकद्दमों में विरोध, विद्रोह, घोड़े पर सवार होना, हथियार लगाना, अच्छे वस्त्र पहनना तथा पान खाना पूर्णतया बंद हो गया। खिराज अदा करने में सभी एक आदेश का पालन करते थे। वे इतने आज्ञाकारी हो गए कि दीवान का एक चपरासी कस्बों के बीसियों खूतों, मुकद्दमों तथा चौधरियों को एक रस्सी में बाँधकर खिराज अदा करने के लिए मारता-पीटता था। हिन्दुओं को सिर उठाना संभव न था। हिन्दुओं के घरों में सोने, चांदी, टके और पीतल तथा धन-संपत्ति का, जिसके कारण लोग षडयंत्र और विद्रोह करते हैं, चिह्न तक न रह गया था। दरिद्रता के कारण खूतों तथा मुकद्दमों की स्त्रियाँ मुसलमानों के घर जा-जा कर काम करने लगीं और मजदूरी पाने लगीं।"

बरनी के वर्णन से यह ज्ञात होता है कि अलाउद्दीन के समय में भी मुकद्दम, खूत और चौधरी हिन्दू ही होते थे, तथापि अब वे पूर्णतः विपन्न कर दिए गए थे। बरनी ने यह दशा उन हिन्दुओं की बतलाई है जिनके पास कुछ था; उन बहुसंख्यक हिन्दुओं पर क्या बीत रही होगी जिसके पास कुछ भी नहीं था, यह बतलाना बरनी ने उचित नहीं समझा।

था तो यह मामला प्रजापीड़न का, तथापि बरनी ने उसे 'दीन' का अंश मान लिया था। अलाउद्दीन केवल जन्म से मुसलमान था। उसे इस्लाम पर आस्था नहीं थी, न वह कभी नमाज पढ़ता था न रोजा रखता था। शराब से भी उसे बहुत लगाव था। तथापि मुल्ला लोग उससे इसी कारण प्रसन्न थे कि वह हिन्दुओं को पूर्णतः त्रस्त करने में सफल हुआ था।

हदीसवेत्ता (मुहद्दिस) मौलाना शम्शुद्दीन

उपर्युक्त कथन की पुष्टि में एक घटना का उल्लेख पर्याप्त है। अलाउद्दीन के राज्यकाल में एक बहुत बड़े हदीसवेत्ता मौलाना शम्शुद्दीन ४०० हदीस की किताबें लेकर

१. डॉ० रिजवी खलजी कालीन भारत, पृ० ६९। २. वही, पृ० ६८।

भारत की ओर रवाना हुए।[1] परन्तु जब उन्हें ज्ञात हुआ कि अलाउद्दीन नमाज नहीं पढ़ता तब वे मुल्तान में ही रुक गए। उन्होंने अलाउद्दीन की जो कारगुजारियाँ सुनी उनसे वे संतुष्ट अवश्य हुए, अतएव उन्होंने सुल्तान के एक गुण के विषय में उसे पत्र लिखा— "तेरे गुणों में एक गुण यह है कि तूने हिन्दुओं को लज्जित, पतित, अपमानित और दरिद्र बना दिया है। मैंने सुना है कि हिन्दुओं की स्त्रियां तथा बालक मुसलमानों के द्वार पर भीख माँगा करते हैं। ऐ बादशाहे-इस्लाम ! तेरी यह धर्मनिष्ठा प्रशंसनीय है।"

मौलाना कहना यह चाहते थे कि भले ही रोजा-नमाज त्याग दिया जाए, खूब शराब उड़ेली जाए, तथापि यदि हिन्दुओं का सफलतापूर्वक दमन किया जा सके तब अल्लाह के दरबार में सब गुनाह माफ समझे जाएँगे। पता नहीं मौलाना की ४०० किताबों में क्या ऐसा ही कुछ लिखा था, या 'बादशाहे-इस्लाम' का मौलाना का भाष्य नितान्त दूषित था !

अलाई काजी का फतवा

अलाउद्दीन के एक काजीजी थे, मुगीसुद्दीन। इन काजीजी से अलाउद्दीन ने पूछा— "हिन्दू खिराज-गुजार तथा खिराज-देह के विषय में शरा की क्या आज्ञा है ?" मुगीस ने जो उत्तर दिया था वह उस समय के इस्लाम के भारतीय प्रबुद्ध वर्ग की असंस्कृत धर्म-विकृति का प्रतीक है'— "हिन्दू खिराज-गुजार के विषय में शरा की यह आज्ञा है कि जब दीवान का कर वसूल करने वाला उससे चांदी माँगे तो वह बिना सोचे-विचारे बड़े आदर सम्मान तथा नम्रता से सोना अदा कर दे। यदि कर वसूल करने वाला उसके मुँह में थूकना चाहे तो बिना कोई आपत्ति प्रकट किए मुँह खोल दे जिससे वह उसके मुँह में थूक सके। उस दशा में भी वह कर वसूल करने वाले की आज्ञाओं का पालन करता रहे। इस प्रकार अपमानित करने, कठोरता प्रदर्शित करने तथा थूकने का ध्येय यह है कि इससे जिम्मी का अत्यधिक आज्ञाकारी होना सिद्ध होता रहे। इस्लाम का सम्मान बढ़ाना आवश्यक है...।"

सुल्तान अलाउद्दीन ने उत्तर में बहुत महत्वपूर्ण बात कही थी—"ऐ मौलाना मुगीस तू बड़ा बुद्धिमान है किन्तु तुझे कोई अनुभव नहीं है। मैं पढ़ा-लिखा नहीं हूँ किन्तु मुझे बड़ा अनुभव प्राप्त है। तू समझ ले कि हिन्दू तब तक मुसलमान का आज्ञाकारी नहीं होता जब तक वह पूर्णतया निर्धन तथा दरिद्र नहीं हो जाता। मैंने यह आदेश दे दिया है कि प्रजा के पास केवल इतना ही धन रहने दिया जाए जो उनके लिए प्रत्येक वर्ष कृषि तथा दूध और मट्ठे के लिए पर्याप्त हो सके और वे धन-संपत्ति एकत्र न कर पाएँ[2]"।

अलाउद्दीन का लक्ष्य इस्लाम का प्रसार नहीं था, उसका ध्येय किसी भी साधन से प्रजा का धन छीनकर खजाना भरना था ; यह उसके कथन से स्पष्ट है। यह संभवतः अलाउद्दीन भी जानता था कि उस समय का हिन्दू इतना हठी हो गया था कि उत्पीड़न सहकर भी वह इस्लाम से दूर भाग रहा था। उनमें एक ऐसा वर्ग भी था जो सब कुछ

१. डा० रिजवी, खलजी कालीन भारत, पृष्ठ ७४।
२. डा० रिजवी, खलजी कालीन भारत, पृ० ७०।

छिन जाने के उपरान्त भी दम्भ के साथ अकड़ कर चलना सीख गया था। शेख निजामुद्दीन औलिया ने 'फवायदुल-फवाद' के लेखक अमीर हसन को एक कहानी सुनाई थी[1]— "एक ब्राह्मण बड़ा धनी था। उसके नगर में हाकिम ने उसकी धन-संपत्ति जव्त कर ली और ब्राह्मण निर्धन हो गया। एक दिन जव वह एक मार्ग पर जा रहा था तव उसके मिलने वाले ने उससे पूछा, 'तेरी क्या दशा है।' उसने कहा—'वहुत अच्छी।' उस मिलने वाले ने पूछा, 'तेरा सब कुछ छिन गया, अव प्रसन्नता किस वात की है।' उसने कहा, 'मेरा जनेऊ मेरे पास है'।"

जीवित रहने के लिए और अपनी जीवन-पद्धति को छोड़े विना जीवित रहने के लिए उस समय के वहुसंख्यक भारतीय समाज ने घोर अभावों में भी संतुष्ट रहने का अभ्यास कर लिया था। शेख निजामुद्दीन का 'ब्राह्मण' से आशय उस समाज के प्रवुद्ध वर्ग से है और 'जनेऊ' है उसकी जीवन-पद्धति का प्रतीक।

धर्मसत्ता के लिए संघर्ष

भारत के ब्राह्मणों ने भारतीय समाज का वहुत लम्बे समय तक धर्म के क्षेत्र में नेतृत्व किया था। तुर्कों की राजधानियों में यह धर्मसत्ता आलिमों, शेखों और सूफियों के हाथों में आ चली थी। ब्राह्मणों की अपेक्षा उनका पलड़ा इस कारण भारी था कि उनके पीछे तुर्कों की तलवार थी। ब्राह्मणों के पीछे प्रवल जनमत था। ब्राह्मणों और आलिमों के वीच संघर्ष तलवार और जनमत के संघर्ष के रूप में वदल गया था।

तुर्क सुल्तान और उनके आलिम भारतीय समाज में सर्वाधिक भयभीत ब्राह्मणों से थे। राजपूत की तलवार का वे सफलता पूर्वक सामना कर रहे थे। व्यापारी, कारीगर और कृषकों से भी उन्हें कोई शिकायत नहीं रह गई थी। परन्तु लंवी चोटी और मोटे जनेऊवाला तिलक-छापों से मण्डित ब्राह्मण आलिमों का विशेष कोप-भाजन वना था। जियाउद्दीन वरनी ने दीनपनाही (धर्मरक्षा) के नियमों को निरूपित करते हुए लिखा[2]— "वादशाहों की दीनपनाही का सवसे वड़ा चिह्न यह है कि वे जव किसी हिन्दू को देखें तो उनका मुँह लाल हो जाए और अच्छा हो कि उसे जीवित नष्ट कर दें। ब्राह्मणों का जो कुफ्र के इमाम (नेता) हैं और जिनके कारण कुफ्र की आज्ञाओं का पालन कराया जाता है, समूल उच्छेदन कर दिया जाए।"

धर्म और सम्प्रदायों का उद्भव मानव-कल्याण के लिए हुआ होगा। परन्तु मध्ययुग में मानव-समूहों के वीच जितनी अभेद्य दीवारें धर्म ने खड़ी की थीं, उन्हें देखते हुए यह कहना कठिन है कि धर्मों के उदय से मानव जाति का उपकार अधिक हुआ है या अपकार। राजसत्ता और धन के लिए विश्व में जितना रक्तपात हुआ है, धर्मसत्ता के लिए उससे कम नहीं हुआ है। वरनी ने सम्भव है अपने निजी धर्म-सिद्धान्त की

१. डा० रिजवी, हकायके-हिन्दी, पृष्ठ १८।
२. डा० रिजवी, तुगलुक कालीन भारत, भाग २, पृ० १५३।

अभिव्यक्ति की हो, परन्तु उसकी विचारधारा के बुद्धजीवी आलिम आदि तुर्क सुल्तानों के आस-पास बहुत थे। दिखता यह है कि उनकी महत्वाकांक्षा पूरी नहीं हो सकी। जिस वेग से वे एक वर्ग को दवाना चाहते थे, उसी वेग से वह वर्ग ऊपर की ओर उछल पड़ता था। उस मूर्खतापूर्ण प्रयास में भारतीय समाजतन्त्र जर्जर अवश्य हो गया, वह लक्ष्यहीन सकल्प पूरा नहीं हो सका। ब्राह्मण भी उस समय संख्या में बहुत थे। अनेक मारे गए तथापि उन्होंने अपनी 'कुटेव' न छोड़ी। उन्होंने हठ पूर्वक न केवल हिन्दुओं से मूर्तिपूजा कराई, वरन जियाउद्दीन बरनी की दिल्ली में ही वे मुसलमानों से भी मूर्तिपूजा कराने लगे। समकालीन इतिहास लेखक शम्श सिराज अफीफ ने एक घटना का आँखों देखा हाल लिखा है[1]—"सुल्तान फीरोजशाह (१३५१-१३८८ ई०) को एक समाचार वाहक ने सूचना दी कि प्राचीन दिल्ली में एक दुष्ट जुन्नारदार (जनेऊधारी ब्राह्मण) खुल्लम-खुल्ला मूर्तिपूजा करता है। उस मूर्तिपूजक के घर में मूर्तिपूजा होती है। शहर के सभी लोग मुसलमान तथा हिन्दू उसके घर में मूर्तिपूजा करते हैं। उस जुन्नारदार तथा दुष्ट काफिर ने एक लकड़ी की मुहर बनवाई है। उसके भीतर तथा बाहर देवताओं के चित्र बने हैं। काफिर निश्चित दिन पर उस जुन्नारदार के घर पर एकत्रित होते हैं और मूर्ति पूजा करते हैं। किसी पदाधिकारी को इसकी सूचना नहीं।"

"शाहंशाह को कई बार सूचना दी गई कि इस जुन्नारदार ने एक मुसलमान स्त्री को मुरतेदा (इस्लाम त्याग कर हिन्दू धर्म ग्रहण करने वाली) बना लिया है और कुफ्र के धर्म में कर लिया है। सुल्तान ने गुप्तचरों तथा दरबारियों से कई बार यह बात सुनकर उस जुन्नारदार को मुहर सहित फीरोजाबाद (उस समय की नयी दिल्ली) में लाने का आदेश दिया। जब वह फीरोजाबाद आया तो सुल्तान ने आलिमों, सूफियों तथा मुफ्तियों से समस्त घटना का उल्लेख कर फतवा (निर्णय) माँगा। उन्होंने फतवा दिया कि वह मुसलमान हो जाए अथवा उसे जीवित जला दिया जाए। उससे इस्लाम स्वीकार करने को बहुत कहा गया तथा ईमान का मार्ग दिखाया गया परन्तु उसने सीधा मार्ग स्वीकार नहीं किया और इस्लाम स्वीकार न किया।"

"अन्त में उसे शाहंशाह के आदेशानुसार दरबार के समक्ष लाया गया और लकड़ी ढेर की गई। उसके हाथ-पाँव बाँधे गए और उसे लकड़ी के भीतर डाल दिया गया। लकड़ी के नीचे आग लगा दी गई। यह इतिहासकार शम्स सिराज अफीफ उस दिन सुल्तान फीरोजशाह के दरबार के समक्ष उपस्थित था। संध्या की नमाज के समय मुहर तथा उस जुन्नारदार के दो ओर से आग लगाई गई; एक सिर की ओर दूसरी पाँव की ओर से। लकड़ी सूखी होने के कारण सर्व प्रथम आग उसके पैरों की ओर पहुँची। उसने घबड़ा कर आह भरी और उसी समय सिर की ओर से भी आग दहकने लगी

1. डा० रिजवी, तुगलुक कालीन भारत, भाग २, पृ० १४९।

और जुन्नारदार क्षण भर में जल गया। शरीअत की कठोरता को धन्य है कि शाहंशाह शरा का क्षण भर भी उल्लंघन न करता था।"

इतिहासकार अफीफ ने इस क्रूर काण्ड का विवरण इतना रस ले-ले कर क्यों लिखा था? उसके मत में इससे इस्लाम का हित हुआ होगा। ऐसी कितनी घटनाएँ हुई होंगी? जब सल्तनत की राजधानी में यह हो रहा था तब प्रान्तीय सूबेदार किस प्रकार की 'दीनपनाही' कर रहे होंगे? आलिमों, सूफियों और मुफ्तियों को यह भी स्मरण न रहा कि एक ईसा मसीह को सूली पर चढ़ा देने के कारण उनके द्वारा प्रवर्तित धर्म विश्व भर में फैल गया। उस ब्राह्मण का जीवित दाह संस्कार फीरोजाबाद के दरबार के प्रांगण में कराने के समाचार ने समस्त देश के बहुसंख्यकों पर क्या प्रभाव डाला होगा? संभव यह है कि वे ब्राह्मणों के प्रति अधिक श्रद्धालु हो गए होंगे और उस मृत ब्राह्मण को पुरानी दिल्ली वालों ने शहीद माना होगा। कोई आश्चर्य नहीं है कि 'दीनपनाही' के इन कृत्यों के कारण भारत का बहुसंख्यक समाज तत्कालीन राजधर्म को अंगीकार न कर सका और विद्रोही बना रहा।

फुतूहाते-फीरोजशाही अथवा धर्मान्धता की आत्म-स्वीकृति

जियाउद्दीन बरनी अथवा अफीफ मात्र इतिहास लेखक थे, सुल्तानों के दरबारों के वेतनभोगी। उनके कथनों के विषय में यह माना जा सकता है कि वे सुल्तानों की वास्तविक नीति का आलेखन न कर केवल अपनी निजी भावनाओं की अभिव्यक्ति कर रहे थे। दुर्भाग्य से फीरोजशाह स्वयं भी अपने कारनामे 'फुतूहाते-फिरोजशाही' में आत्मकथा के रूप में छोड़ गया है।[1]

फीरोजशाह ने अपने कारनामों का जो लेखा-जोखा छोड़ा है वह वास्तव में धर्मान्धता की आत्म-स्वीकृति है। वह अशोक के स्तम्भों की बाह्य कला को ही ललचाई दृष्टि से देखता रहा, उन पर उत्कीर्ण समस्त प्रजा-धर्मों की रक्षा के भारतीय सिद्धांत उसकी पहुँच के बाहर ही रहे। फीरोजशाह न केवल हिन्दुओं का उत्पीड़न करता था, वह इस्लाम धर्म के ही अनुयायी शीआ मुसलमानों के प्रति भी असहिष्णु था। उसने लिखा है[2]—

"शीआ धर्म वाले......मैंने उन सबको बन्दी बना लिया....जो लोग बड़े कट्टर थे, उनका मैंने वध करा दिया। अन्य लोगों के प्रति दण्ड देकर, भय दिला कर खुलेआम अनादर कर के, कठोरता दिखाई, उनकी पुस्तकों को खुलेआम जलवा दिया। इस प्रकार ईश्वर की कृपा से इन लोगों का उपद्रव पूर्णतः शान्त हो गया।"

---

१. कहा तो यह भी जाता है कि फीरोजशाह ने फीरोजाबाद की जामा मस्जिद के निकट एक अष्टाकार गुम्बद के आठों ओर इस पुस्तक के आठ अध्याय पत्थरों पर खुदवा दिए थे। यह गुम्बद न जाने कहाँ चली गई; फिर भी इस पुस्तक का कुछ अंश प्राप्त हो सका है।

२. डा० रिजवी, तुगलुक कालीन भारत, भाग २, पृ० ३२६-३२८।

कुछ अन्य मुसलमान दरवेशों के कुफ्र और उनकी हत्या का उल्लेख करने के उपरान्त फीरोजशाह द्वारा हिन्दुओं के प्रति किए गए व्यवहार का सविस्तार उल्लेख किया गया है। हिन्दुओं के धर्म ग्रंथ (संभवतः वे सभी पुस्तकें जो देवनागरी लिपि में लिखी गई थीं) जलवा दिए गए। कुछ हिंदुओं को इस कारण कत्ल कराया गया कि उन्होंने नये मंदिर बनवा लिए थे, कुछ को दुर्गा अष्टमी और दशहरे का त्यौहार मनाने के कारण मार डाला गया। इन बरबादियों से जो उपलब्धि हुई उसके विषय में सुल्तान फीरोजशाह ने लिखा है—"मन्दिर का खण्डन करके उसके स्थान पर मस्जिद का निर्माण कराया। कस्बों को आबाद किया। उसमें से एक का नाम तुगलकपुर और दूसरे का सालारपुर रखा। आजकल जिस स्थान पर इससे पूर्व मरमाक काफिरों ने मूर्तियों के मन्दिर बनवा रखे थे, उस स्थान पर महान ईश्वर की अनुकम्पा से मुसलमान सच्चे खुदा को सिज्दा करते हैं और वहाँ तकबीर, अजान तथा जमाअत स्थापित है। जिस स्थान पर काफिरों का निवास था वहाँ अब मुसलमान निवास करने लगे हैं और 'ला इलाहा इल्ल्लाह मुहम्मदुर्रसूलुल्लाह' का जाप तथा स्मरण किया करते हैं। अल्लाह की इस्लाम धर्म के लिए प्रशंसा है।"

फीरोजशाह बहुत प्रतापी सुल्तान था। उसने बहुत बड़े साम्राज्य पर बहुत लम्बे समय तक राज्य किया था। इतना बड़ा सम्राट् और इतना संकुचित हृदय तथा अविकसित मस्तिष्क भारतीय इतिहास की ग्लानिकारी घटना है। फीरोज को भी खलीफा का फरमान मिला था। भारतीय सम्राट् बनने के स्थान पर वह इस्लामी राज्य का अधिपति रह गया। इस प्रकार की नीति के होते हुए भी अपनी धर्मनीति में वह बहुत सफल नहीं हुआ। उसने लाखों हिन्दुओं को गुलाम के रूप में खरीद कर उन्हें मुसलमान अवश्य बना लिया फिर भी वह इस्लाम को लोकप्रिय न बना सका। भारत में न शीआ सम्प्रदाय समाप्त हुआ न हिन्दू धर्म। धर्म-प्रचार को लक्ष्य बनाकर कोई राजसत्ता भारत में अधिक समय तक टिक नहीं सकी है। फीरोजशाह के मरते ही उसके नौमुस्लिम गुलामों ने उसकी सल्तनत को बरबाद कर दिया। सांस्कृतिक रूप से उत्पन्न जनसमूह उदात्त भावनाओं से विहीन हो जाता है।

दीनपनाही की राजनीति के दुष्परिणाम

सन् ११९२ ई० के पश्चात् जो तुर्क सैनिक और इस्लाम के आलिम, शेख, सूफी आदि भारत में आए थे उनकी संख्या भारत के मूल निवासियों की तुलना में नगण्य थी। वे सब एक साथ भी नहीं आए थे। उनका आगमन निरन्तर होता ही रहा। फिर भी उनकी संख्या अधिक न हो सकी। अधिक संख्या उन मुसलमानों की होने लगी जिन्हें अनेक कारणों से हिन्दू धर्म छोड़कर इस्लाम ग्रहण करना पड़ा था। ऐसे उदाहरण बहुत खोजने पर भी प्राप्त न हो सकेंगे जब भारत के किसी गैरमुस्लिम ने केवल धार्मिक श्रद्धा-विश्वास से प्रेरित होकर इस्लाम अंगीकार किया हो। इस्लाम के तत्कालीन प्रचारकों की यह बहुत बड़ी नैतिक पराजय थी। यद्यपि उनके पास न तो साधनों की कमी थी, न सुविधाओं की, फिर भी वे न तो इस्लाम की महत्ता हिन्दुओं, जैनों, बौद्धों या पारसियों को समझा सके और न उनके हृदयों को जीत सके।

जिन हिन्दुओं ने इस्लाम ग्रहण किया था उनकी धर्म-परिवर्तन की प्रेरक भावना क्या थी, इसके कुछ उदाहरण फारसी इतिहासों में भी प्राप्त होते हैं और अनुश्रुतियों में भी। युद्धों में विजयी होने के उपरान्त तुर्क सेनाएँ विजितों को, विशेषत: उनकी स्त्रियों और बच्चों को, बहुत बड़ी संख्या में दास-दासी बना लेती थीं। उन्हें विवशता पूर्वक इस्लाम ग्रहण करवाया जाता था। फीरोजशाह तुगलुक प्रत्येक प्रान्त के सुन्दर बालक और बालिकाओं को दास-दासी के रूप में क्रय करता था, उनकी अच्छी देखरेख भी करवाता था। लाखों की संख्या में ये दास दिल्ली में ही एकत्रित हो गए थे। इस्लाम प्रचार का यह 'तुर्क तरीका' था।

कुछ वर्ग राजनीतिक कारणों से भी मुसलमान हो गए थे। इसका बहुत मनोरंजक उदाहरण बंगाल का है। पंडुआ के सूफी संत शेख नूर कुत्वेआलम ने राजा गणेश के राज्य को यथावत् रखने के लिए यह शर्त रखी थी कि उसका एक राजकुमार इस्लाम ग्रहण कर ले। इस सौदेबाजी के परिणाम स्वरूप राजकुमार यदु मुसलमान हो गया और फिर वह जलालुद्दीन के नाम से बंगाल का सुल्तान बना। मुसलमान बनाने का यह 'सूफी तरीका' था।

कुछ बुद्धिजीवियों और असिजीवियों ने भी सांसारिक सुविधाओं की उपलब्धि के प्रलोभन से इस्लाम ग्रहण किया था। कुछ लोग राज-सम्मान अथवा आजीविका के लिए भी मुसलमान हो गए थे। इब्नबत्तूता ने लिखा है[1]—"उस समय यह प्रथा थी कि जब कोई हिन्दू मुसलमान होना चाहता था तो सर्व प्रथम बादशाह के सलाम को उपस्थित होता था। बादशाह की ओर से उसे खिलअत, सोने के आभूषण तथा कड़े आदि उसकी श्रेणी के अनुसार प्रदान किए जाते थे।"

साधारण व्यक्ति के लिए यह बहुत बड़ा प्रलोभन था। इसका कितना प्रभाव हुआ था इसका ब्यौरा उपलब्ध नहीं है।

हिन्दुओं में शूद्रों को उस समय सामाजिक विषमता सहन करना पड़ती थी और चातुर्वर्ण्य व्यवस्था में उनका स्थान सबसे नीचा था। वे अछूत माने जाते थे। सतही रूप से देखने से यह ज्ञात होता है कि यह वर्ग इस्लाम के प्रति अधिक आकर्षित हुआ होगा। परन्तु वस्तुत: अपनी जीवन-पद्धति के प्रति जितनी आसक्ति ब्राह्मणों को थी संभवत: उससे अधिक शूद्र कही जाने वाली जातियों को थी। कुछ कोली अवश्य सामूहिक रूप से जुलाहा बन गए थे, तथापि अन्य जातियाँ हिन्दू ही रहीं। इसके सामाजिक और आर्थिक कारण थे। इस्लाम यद्यपि मुसलमानों में ऊँच-नीच का भेद नहीं मानता तथापि भारत में आकर मुसलमानों में भी श्रेणी-भेद हो गए थे। यदि अछूत हिन्दू मुसलमान बनते भी थे, तब उनकी सामाजिक स्थिति श्रेष्ठ नहीं हो जाती थी। जिस समाज को वे छोड़कर जाते थे, वह भी उन्हें म्लेच्छ कहने लगता था, और जिसमें वे प्रवेश करते थे

१. डा० रिजवी, खलजी कालीन भारत, पृष्ठ २१६।

वह उन्हें छाती से नहीं लगता था। हाथ के कारीगरों को इस्लाम ग्रहण करने से कोई आर्थिक लाभ भी नहीं हो सकता था, उनकी रोटी-रोजी 'दीन' न हो कर उनका हुनर था। किसान और कारीगर उस युग के धर्म-युद्ध से अलग ही रहे और अपने परम्परागत विश्वासों पर दृढ़ रहे। तुर्कों के राज्यकाल में ही उनके मार्ग-दर्शन के लिए उन्हीं के वर्गों मे से संतों का प्रादुर्भाव भी होने लगा था।

कुल मिलाकर स्थिति यह रही कि बहुत उखाड़-पछाड़ करने और विषम प्रजापीड़न के उपरान्त भी तुर्क सुल्तान 'तुर्क तरीके' या 'सूफी तरीके' से भारत में इस्लाम का व्यापक प्रचार न कर सके। उनकी धर्मान्ध नीति के कारण हिन्दुओं में कुछ सामाजिक विकृतियाँ अवश्य आ गईं। कोई उदात्त धार्मिक, सामाजिक या सांस्कृतिक परम्पराएँ तुर्क सुल्तानों द्वारा भारत में स्थापित न की जा सकीं। तैमूर के आक्रमण के पूर्व सांस्कृतिक और धार्मिक क्षेत्रों में भारत विषम द्विविधा से ग्रस्त हो गया था। उस समय इस्लाम के महान् सिद्धान्त भी स्खलित हुए और हिन्दू समाज में भी विकृतियाँ प्रवेश कर गईं तथा देश का राजनीतिक चिन्तन भी दूषित हो गया। तुर्कों का दो सौ वर्ष का साम्राज्य कुछ असंस्कृत परम्पराओं की दुर्गन्ध छोड़कर समाप्त हो गया।

समन्वय के सूत्र

आलिमों द्वारा इस्लाम की जो संकुचित व्याख्या की गई थी उसके प्रति प्रारम्भ से ही विद्रोह का सूत्रपात हो गया था। सूफियों ने 'काफिर और मुसलमान' दोनों के सह-अस्तित्व को स्वीकार किया। प्रसिद्ध सूफी कवि सनाई ने एक छन्द लिखा था जिसका आशय है—"कुफ्र और इस्लाम दोनों 'उसी' के मार्ग पर अग्रसर हैं, और दोनों ही कहते हैं कि वह एक है और कोई भी उसके राज्य में उसका साझी नहीं है।" इस्लाम के लिए यह एक अत्यन्त क्रान्तिकारी विचारधारा थी। इसका भी आलिमों ने भीषण विरोध किया था। मनसूर हल्लाज (मृत्यु ९१९ ई०) को आलिमों ने इस कारण सूली पर चढ़ा दिया था कि वह 'अनलहक' (अहंब्रह्म) का नारा लगाता था। सूफी सन्त अपने सिद्धान्तों का मूल कुर्आन शरीफ और हदीस के नियमों में ही मानते थे, तथापि वे इनकी व्याख्या अपने मत के अनुरूप करते थे। आलिमों के क्षेत्र में कोई नवीन व्याख्या अनुमत ही नहीं थी।

तुर्कों की भारत-विजय के परिणाम स्वरूप सूफियों के भी अनेक सिलसिले भारत में प्रवेश कर गए। भारत में उनकी स्थिति विषम थी। तुर्कों द्वारा भारतीय जनता को अत्यधिक कुपित और विक्षुब्ध कर देने के कारण इन सूफियों का अस्तित्व तुर्क सैनिकों की तलवार पर आधारित था। उन्हें यह अनिवार्य था कि वे तुर्कों और आलिमों की राजनीति का साथ दें और इस्लाम के अनुयायी बढ़ाने का प्रयास करें। इस मजबूरी के कारण उन्हें भारत में अपनी उदार धार्मिक नीति को सकुंचित करना पड़ता था; तथापि ज्ञात यह होता है कि जो हिन्दू तलवार के भय से या समझाने-बुझाने पर भी इस्लाम ग्रहण नहीं करते थे, उनके विषय में उनकी नीति यह थी कि ऐसे हिन्दुओं को अपने विश्वास के अनुसार धर्म-साधना का अधिकार है।

हर कौम रास्त राहे दीने व किवला गाहे

जहाँगीर ने अपनी आत्मकथा तुजुके-जहाँगीरी में दिल्ली के शेख़ निजामुद्दीन औलिया के विषय में एक कहानी का उल्लेख किया है।[१] एक दिन शेख अपनी खानकाह की छत पर बैठे थे और यमुना में स्नान करने वाले हिन्दुओं को देख रहे थे। उसी समय वहाँ अमीर खुसरो पहुँचे। शेख ने अमीर से कहा, तुम वह भीड़ देख रहे हो? यह कह कर शेख ने यह पंक्ति कही—हर कौम रास्त राहे दीने व किवला गाहे। (प्रत्येक कौम वालों का एक मार्ग, धर्म और किवला होता है।)

निजामुद्दीन औलिया ने समझा-बुझा कर अनेक हिन्दुओं को मुसलमान बनाया था।[२] ज्ञात यह होता है कि जो हिन्दू मुसलमान नहीं बने थे उन्हें जीवित रहने और अपनी धर्म-पद्धति को अपनाए रहने के अधिकार को निजामुद्दीन मानते थे। यह सुनिश्चित हैं कि यह नीति आलिमों के सिद्धान्त 'इस्लाम या मृत्यु' के विपरीत थी। शेख निजामुद्दीन औलिया का प्रभाव अनेक तुर्क सुल्तानों पर रहा था। उनके कारण भारतवासियों को कुछ राहत मिली होगी।

देश प्रेम सबसे बड़ा धर्म

यह कहना भी पूर्ण सत्य नहीं है कि भारतीय मुसलमानों में राष्ट्रप्रेम का पूर्ण अभाव था। तुर्क सुल्तान और आलिमों की दुनिया अलग थी। अधिकांश तुर्क सुल्तान तथा अमीर अन-पढ़ एवं विलासी थे, उनको एकमात्र उपलब्धि उनकी रणनीति थी। आलिम अपने कट्टर सिद्धान्तों के बाहर बिलकुल नहीं जाना चाहते थे। तथापि भारतवर्ष में जन्म लेने वाले कुछ मुसलमान विद्वान इस देश को अपना राष्ट्र समझने लगे थे और उन्हें इस देश की प्राचीन ज्ञान-गरिमा का भी गौरव था। अमीर खुसरो उनके प्रतिनिधि हैं। अमीर खुसरो की कठिनाई केवल अधिकांश भारतवासियों द्वारा इस्लाम ग्रहण न करने में थी। इस द्विविधा के अधीन वे भारतीय संस्कृति के बहुत बड़े प्रसंशक थे। नूहसिपेहर में अमीर खुसरो ने लिखा है[३]—

"मैंने हिन्दुस्तान की प्रशंसा दो कारणों से की है। एक इस कारण से कि हिन्दुस्तान मेरी जन्मभूमि तथा हमारा देश है। देश प्रेम बहुत बड़ा धर्म है।"

इसके आगे अमीर खुसरो ने भारत के ब्राह्मण, यहाँ के ज्ञान, भारतीय संस्कृति तथा श्रेष्ठ परम्पराओं का जो विवरण दिया है वह अद्वितीय है। अमीर खुसरो लिखता है[३]—

"फिकह (इस्लामी धर्मशास्त्र)[४] के अतिरिक्त हिन्दुस्तान में सभी प्रकार के ज्ञान तथा दर्शन शास्त्र पाए जाते हैं। यहाँ का ब्राह्मण विद्वत्ता में अरस्तू के समान होता है। तर्क

---

१. तुजुके-जहाँगीरी, कैम्ब्रिज, पृ० १९६।
२. डा० रिजवी, खलजी कालीन भारत, पृ० १७८।
३. वही।
४. यदि तुर्क मन्दिर-ध्वंस कार्यक्रम न अपनाते और फारसी को प्रोत्साहन न देते तब भारत का ब्राह्मण 'फिकह' में भी पारंगत हो जाता।

शास्त्र, ज्योतिष, गणित तथा पदार्थ विज्ञान बहुत बढ़े हुए हैं। यहाँ बहुत बड़े विद्वान ब्राह्मण पाए जाते हैं किन्तु अभी तक किसी ने उनसे पूर्णतया लाभ नहीं उठाया है अतः उनके विषय में अधिक जानकारी नहीं हो सकी है। मैंने उन लोगों से कुछ शिक्षा ग्रहण की है, अतः मैं उन लोगों के महत्व को समझता हूँ। आत्म–विषयक ज्ञान में हिन्दू मार्ग-भ्रष्ट हो गए हैं[1] किन्तु मुसलमानों के अतिरिक्त अन्य लोग भी उन्हीं के समान है। यद्यपि वे लोग हमारे धर्म का पालन नहीं करते किन्तु उनके धर्म की अनेक बातें हमारे धर्म से मिलती–जुलती हैं। वे भगवान को एक मानते हैं और उस पर विश्वास रखते हैं। उनका विश्वास है कि भगवान शून्य से सभी वस्तुओं को जन्म दे सकता है। वह भगवान को प्रत्येक कलाकार, मूर्ख तथा जीव-जन्तु का आश्रयदाता मानते है। उनका विचार है कि भगवान के द्वारा ही समस्त अच्छे तथा बुरे कार्य सम्पन्न होते हैं। उसे प्रत्येक चीज के विषय में पूर्ण ज्ञान प्राप्त है। ब्राह्मण तथा हिन्दू इस प्रकार नास्तिकों, ईसाईयों, अग्नि की पूजा करने वालों तथा अनात्मवादियों आदि की अपेक्षा अधिक ऊँचे हैं। पत्थर, सूर्य, पशु तथा वृक्षों की वे पूजा अवश्य करते हैं किन्तु उनका विश्वास है कि ये सब वस्तुएँ भगवान की पैदा की हुई है। वे उन्हें केवल देवताओं का रूप मानते हैं। वे अपने आपको उन वस्तुओं का दास नहीं समझते। इस प्रकार की पूजा के विषय में उनका विश्वास है कि वह उन्हें अपने पूर्वजों द्वारा प्राप्त हुई है जिसे वे त्यागने में असमर्थ हैं।"

अमीर खुसरो के समय से ही यह स्पष्ट हो गया था कि हिन्दू-धर्म के सिद्धान्त ऐसे हैं कि उनसे इस्लाम का सामंजस्य बैठाया जा सकता है, साथ ही यह भी स्पष्ट हो गया था कि हिन्दुओं को सामूहिक रूप से मुसलमान नहीं बनाया जा सकता था। अर्थात्, हिन्दू और मुसलमान दोनों को साथ-साथ भारत में रहना होगा और ऐसी जीवन-पद्धति तथा वातावरण का निर्माण करना होगा जिसमें दोनों साथ-साथ रह सकें। तैमूर के आक्रमण के पूर्व प्रारंभिक तुर्कों के दरबारों में यह संभव नहीं था, इसके लिए भारत को अमीर खुसरो के पश्चात् एक शताब्दी तक प्रतीक्षा करनी पड़ी थी।

जैन सम्प्रदाय

वास्तव में भारतीय मूल के "बौद्ध धर्म" और "जैन धर्म", विशाल हिन्दू धर्म की शाखाएँ अथवा सम्प्रदाय मात्र हैं। तुर्कों के पहले हल्ले में ही भारत में बौद्ध धर्म समाप्त हो गया। हिन्दुओं के साथ-साथ जैनों को भी यातनाएँ भोगनी पड़ती तथा संभव है उनका अस्तित्व भी संकट में पड़ जाता, परन्तु जैन मुनियों और श्रेष्ठियों ने कुछ अधिक व्यवहार-कुशलता से कार्य किया। तुर्कों के पास अपना कोई व्यापारी वर्ग नहीं था। उसे भारत के श्रेष्ठियों के माध्यम से ही व्यापार चलाना पड़ता था। इस कारण इन जैन श्रेष्ठियों का सुल्तानों, अमीरों तथा तुर्क सैनिकों पर पर्याप्त प्रभाव बढ़ गया था। अलाउद्दीन खलजी ने लूटमार के द्वारा बहुत अधिक धन एकत्रित कर लिया था। उसकी

1. अमीर खुसरो को ग्लानि यही रही कि हिन्दुओं ने इस्लाम ग्रहण नहीं किया। उसकी केवल यही द्विविधा थी।

देखभाल तथा गणना के लिए उसे एक जैन श्रेष्ठि ठक्कुर फेरू को अपना कोषाध्यक्ष नियुक्त करना पड़ा था। दिल्ली तथा प्रादेशिक राजधानियों का समस्त व्यापार जैन श्रेष्ठियों के ही हाथ में था।

अलाउद्दीन खलजी के पुत्र कुत्बुद्दीन मुबारकशाह (१३१६-१३२० ई०) के राज्य-काल की एक घटना का वर्णन खरतरगच्छ-वृहद् गुर्वावलि में प्राप्त होता है।[1] दिल्ली के ठक्कुर अचलसिंह के अनुरोध पर सुल्तान कुत्बुद्दीन मुबारकशाह ने एक विशाल संघ-यात्रा की अनुमति का फरमान जारी किया था। तीर्थ-यात्रियों का यह समूह "आठ साधु और श्री जयर्द्धि महत्तरा आदि साध्वी एवं चतुर्विध संघ सहित, देश में म्लेच्छों का प्रबल उपद्रव होते हुए भी, सुहागिनी श्राविकाओं के मंगल-गीत, वन्दिजनों के स्तुति-पाठ और बारह प्रकार के बाजों की मधुर ध्वनि के बीच श्री देवालय के साथ" नागौर से चला था। वह सघ दिल्ली भी पहुँचा। वहाँ संभवतः दिगम्बर जैनों से कुछ मतभेद हो गया। सुल्तान कुत्बुद्दीन से दिगम्बर जैनों के मठाधीश द्रमकपुरीआचार्य चैत्रवासी ने शिकायत की। दिगम्बर मुनि को गलत सिद्ध कर दिया गया तथा "श्री पूज्यजी (जिनचन्द्र सूरि) के सामने ही राजद्वार पर खड़े हुए लाखों हिन्दू-मुसलमानों के समक्ष, राजकीय पुरुषों ने लाठी, घूँसा, मुक्का आदि से उसे जर्जर-देह बनाकर जेल खाने में डाल दिया।...."

गियासुद्दीन तुगलुक के राज्यकाल में भी इस प्रकार की एक संघ-यात्रा निकली थी।[2] सुश्रावक सेठ रयपति ने दिल्लीपति बादशाह गियासुद्दीन तुगलुक के दरबार में प्रतिष्ठा प्राप्त अपने पुत्र धर्मसिंह के द्वारा प्रधान मन्त्री नेब की सहायता से इस आशय का एक शाही फरमान निकलवाया—"श्री जिनकुशल सूरिजी महाराज की अध्यक्षता में सेठ रयपति श्रावक का संघ श्री शत्रुञ्जय गिरिनार आदि तीर्थ-यात्रा के निमित्त जहाँ-जहाँ जाए, वहाँ-वहाँ इसे सभी प्रान्तीय सरकारें आवश्यक मदद दें और संघ की यात्रा में बाधा पहुँचाने वाले लोगों को दण्ड दिया जाए।"

इस प्रकार के अन्य फरमान भी जैन श्रेष्ठि सुल्तानों से प्राप्त करते रहते थे।[3] इतना ही नहीं, जैन भट्टारकों के पाट-महोत्सव भी कभी-कभी मुसलमान प्रशासक करते थे। श्री जिनचन्द्रसूरि को खरतरगच्छ के नायक का पद वि० सं० १४०६ (सन् १३४९ ई०) में दिया गया था। उसका पाट महोत्सव हाजीशाह ने किया था।[4]

परन्तु सुल्तानों की यह कृपा जैन सम्प्रदाय के अनुयायियों को सदा ही प्राप्त नहीं होती थी। इस कारण जैन मूर्तियों एवं शास्त्र भण्डारों को छुपा कर रखना पड़ता था। आज अनेक जैन मन्दिर और मूर्तियाँ खण्डित रूप में प्राप्त होती हैं। ग्वालियर नगर के सभी

---

१. खरतरगच्छ-वृहद् गुर्वावलि, सिन्धी जैन ग्रन्थमाला, पृ० ६६।
२. वही, पृष्ठ ७२।
३. वही, पृष्ठ ७७।
४. अगरचन्द नाहटा, खरतरगच्छ का इतिहास, पृ० १८२।

प्राचीन जैन मन्दिर नष्ट कर दिए गए। तुर्कों ने अनेक जैन मन्दिरों की भी वही दशा की जो हिन्दू मन्दिरों की थी।

यहाँ सम्बद्ध बात यह है कि तुर्कों और जैनों के बीच हुए सम्पर्क ने तुर्कों को भारत-मूलीय धर्मों के प्रति किसी सीमा तक सहिष्णु होना सिखाया।

योगतन्त्र और नाथपंथ

सूफी सन्त प्रारंभ से ही भारतीय योगतन्त्र से परिचित हो गए थे। 'अमृत कुण्ड' नामक योगतन्त्र की पुस्तक का फारसी में अनुवाद काजी रुक्नुद्दीन (मृत्यु सन् १२१८ ई०) ने किया था। काजी रुक्नुद्दीन समरकन्द में रहते थे और किसी 'भोजर' नामक ब्राह्मण की सहायता से इस ग्रन्थ को समझकर उसे फारसी में लिखा था। 'अमृत-कुण्ड' का अनुवाद फिर अरबी भाषा में भी हुआ।[1] जब सूफी सन्तों ने भारत में अपनी खानकाहें बनाईं तब वे भारतीय योगियों के भी सम्पर्क में आए और उनकी साधना-पद्धति में योगाभ्यास भी सम्मिलित हो गया।

नाथपंथ के मूल प्रवर्तक गोरक्षनाथ थे। उनके द्वारा शैव सम्प्रदाय में योग दर्शन के साथ बौद्ध वज्रयान तथा सहजयान के कुछ सिद्धान्तों का सम्मिश्रण कर नाथपंथ का प्रचार किया गया। नाथपंथ कामरूप से खुरासान तक लोकप्रिय हो गया था और प्रारंभिक तुर्कों के गढ़ पेशावर तथा पंजाब में उनके प्रभावशाली मठ थे। ये नाथपंथी योगी ही सूफियों के सम्पर्क में आए थे। जब तुर्क-सत्ता के प्रसार के साथ इस्लाम का भी प्रचार भारत में हुआ तब नाथपंथियों ने इस्लाम और नाथपंथ के समन्वय का एक अभिनव मार्ग निकाला। कुछ नाथपन्थियों ने यह आन्दोलन चलाया कि समस्त पीर-पैगम्बर नाथपन्थ के चेले हैं और हजरत मुहम्मद का पालन-पोषण गोरक्षनाथ ने किया था तथा गोरक्षनाथ का नाम अरब में 'रैन हाजी' था। नाथपन्थियों का यह समूह जब मुसलमानों के बीच पहुँचता था तब रोजा-नमाज अपना लेता था और जब हिन्दुओं के बीच पहुँचता था तब पूजा-पाठ करने लगता था। उन्होंने एक 'अगमनाथ' की कल्पना की जो काबा गए थे और जिन्होंने वहाँ की उपासना को मूर्तिपूजा बतलाया था। कुछ नाथपन्थियों ने मस्जिद की मेहराब को शिव-विग्रह की योनि और मीनार को शिवलिंग का प्रतीक बतलाया था।[1]

धर्म-समन्वय का यह प्रयास कुछ घटिया प्रकार का था, अतएव न वह हिन्दुओं को ग्राह्य हुआ और न मुसलमानों को।

तथापि यह बात सुनिश्चित है कि नाथपन्थियों की योगसाधना ने सूफी, जैन और नाथपंथियों को आपस में मिलने-जुलने का एक साधन निर्मित कर दिया था। जैन साधुओं ने भी योगतन्त्र को बहुत श्रद्धा के साथ अपनाया था। दिगम्बर जैनों के आचार्य शुभचन्द्र ने योगशास्त्र पर 'ज्ञानार्णव' नामक ग्रन्थ लिखा था। इसे 'योगप्रदीपाधिकार' भी कहा

---

१. डा० रिजवी तथा डा० जैदी, अलखबानी, पृ० ५६।

जाता है। हेमचन्द्राचार्य ने श्वेताम्बरों के लिए 'योगशास्त्र' नामक ग्रन्थ की रचना की। योगाभ्यास के विवेचन के लिए सूफी सन्त, नाथपंथी तथा जैनाचार्य आपस में मिल सकते थे। सूफियों ने योग साधना को अपनी उपासना पद्धति में सम्मिलित अवश्य कर लिया था तथापि वे चमत्कारों के प्रदर्शन को उचित नहीं मानते थे। नाथपंथी योगी जन साधारण को अपने चमत्कारों के प्रदर्शन से अवश्य प्रभावित करते थे। कुछ जैन मुनियों के विषय में भी यह कथन मिलता है कि वे भी अनेक चमत्कार दिखाने में दक्ष थे। आचार्य जिनहंस सूरि के विषय में यह प्रसिद्ध है कि उन्होंने सिकन्दर लोदी को अनेक दैविक चमत्कार दिखाकर प्रसन्न किया था।[1]

नाथपन्थी योगियों के माध्यम से भारत के कुछ दरवेशों ने शिव का प्रसाद भाँग खाना भी सीख लिया था। मुस्लिम दरवेशों में 'कलन्दर' रोजा-नमाज आदि का पालन नहीं करते थे और स्वच्छन्द जीवन व्यतीत करते थे। शेखों की खानकाहें अत्यन्त समृद्ध थीं और ये कलन्दर उन पर टूट पड़ते थे। कलन्दरों के माध्यम से ही मुसलमानों ने सर्व प्रथम 'भाँग' का प्रयोग प्रारम्भ किया था।

नाथपन्थ और जैन सम्प्रदाय, दोनों ने भारत से एक बहुत बड़े जन समूह को इस्लाम ग्रहण करने से बचाया। ब्राह्मणों के जातिदम्भ से उत्पीड़ित शूद्रों को नाथपन्थ के 'अलख-निरंजनराम' ने सम्बल दिया। सुरक्षा की खोज में अनेक हिन्दू व्यापारी जैन सम्प्रदाय के अनुयायी हो गए।

चौदहवीं शताब्दी का एक महानगर

तैमूर के भारत-आक्रमण के पश्चात् भारत के हिन्दू, मुसलमान और जैन आपस में बहुत निकट आ गए थे। उस धार्मिक समन्वय में ग्वालियर के तोमरों का भी बहुत बड़ा योगदान था। उस पर विचार करने के पूर्व चौदहवीं शताब्दी के एक महानगर का समकालीन वर्णन प्रस्तुत करना उपयोगी होगा। तिरहुत के महाकवि विद्यापति ने जौनपुर को उस समय देखा था जब वहाँ इब्राहीम शर्की राज्य कर रहा था। विद्यापति ने जौनपुर का जो चित्र प्रस्तुत किया है वह तुर्कों के भारत के दो सौ वर्ष के राज्य की उपलब्धि का उदाहरण है। मध्ययुगीन मुसलमान इतिहासकारों ने शर्कियों के जौनपुर को भारत का 'शीराज' कहा है क्योंकि वहाँ अनेक मुसलमान विद्वान और कवि इकट्ठे हो गए थे। एक हिन्दू पण्डित के मस्तिष्क पर तत्कालीन जौनपुर ने क्या प्रभाव डाला था यह जानने योग्य है। विद्यापति ने कीर्तिलता में लिखा है[2]—"हे विलक्षण एक क्षण मन लगाकर सुनो। अब मैं तुर्कों के कुछ लक्षण कहता हूँ।"

"कहीं पर तरह-तरह के गुप्तचर थे, कहीं फरियादी, कहीं गुलाम थे। कहीं तुर्क लोग

१. अगरचन्द नाहटा, खरतरगच्छ का इतिहास, पृ० १९०।
२. डा० वासुदेवशरण, कीर्तिलता, पृ० ९२-११८।

हिन्दुओं को गेंद की तरह मार कर दूर भगा रहे थे। कहीं तई, तश्तरी, सुराही, तौला अथवा कुण्डा फैले हुए थे। कहीं तीर-कमान बेचने वाले दुकानदार थे।..........तुर्क आपस में अनेक सलाम ले रहे थे। कहीं बटुवे, जूते और मोजे खरीदे जा रहे थे। पीर, वली, सालार, और ख्वाजे 'अवे-वे' कहते हुए शराब पीते हुए घूम रहे थे। हाफिज कलमा ढ़ रहे थे। कुछ कसीदा पढ़ रहे थे, कुछ मस्जिद में भरे हुए थे और कुछ कतेव (कुर्आन) पढ़ रहे थे, इस प्रकार अनेक तुर्क वहाँ दिखाई दे रहे थे।"

"तुर्क अत्यन्त तल्लीनता से खुदा को याद कर पीछे भाँग का गोला खा लेता है। विना कारण ही क्रोध करता है तव उसका मुख ताम्रकुण्ड की भाँति लाल हो जाता है। तुर्क घोड़े पर सवार होकर वाजार में घूमकर अपना 'हेड़ा' नामक कर वसूल करता है। जब वह तिरछी दृष्टि से देखता है तो उसकी सफेद दाढ़ी पर थूक बहता है। अपनी समस्त सम्पत्ति शराब में गवाँ देता है और धन गरमागरम कवाव खाने में नष्ट कर देता है।....... यवन जव भाँग खा लेता है तब खाँ साहब बन जाता है। दौड़ो, मारो-काटो, सालन ले आओ, इस प्रकार उटपटाँग प्रलाप करता है।... यदि उसे कपूर के समान श्वेत भात भी लाकर दिया जाए तो भी प्याज-प्याज ही चिल्लाता है।"

"प्रधान नर्तकी मस्त होकर प्रशंसा के गीत गाती है। तुरकिनी चरख नाच नाचती है। उसके सिवाय किसी को कुछ अच्छा नहीं लगता।"

"सैयिद सीरनी बाँटता है, सव कोई उसका उच्छिष्ट खाते हैं। फकीर (दरवेश) दुआ देता है और जब कुछ नहीं पाता तो गाली देकर जाता है।"

"मखदूम (धर्मगुरु) नरकपति के समान माना जाता है। जब वह प्रेतात्माओं को बुलाकर अंगूठी के नग में प्रेतात्माओं का दर्शन कराता है तो देखने वालों को डर लगता है और उन्हें पीड़ा पहुँचती है।"

"काजी के हुक्म के बारे में क्या कहूँ। उसके न्याय से अपनी स्त्री पराई हो जाती है।"

"हिन्दू और तुर्क हिले-मिले बसते हैं। एक का धर्म अन्य के उपहास का कारण बन जाता है। कहीं मुसलमान बांग देते हैं। कहीं हिन्दू वेद-पाठ करते हैं। कहीं बिस्मिल्लाह कह कर पशुओं को मारा जाता है। कहीं ओझा रहते हैं कहीं ख्वाजा। कहीं उत्सव मनाए जाते हैं कहीं रोजा। कहीं तांवे के पात्र प्रयोग में लाए जाते हैं कहीं कूजा। कहीं नमाज पढ़ी जाती है कहीं पूजा होती है।"

"कहीं तुर्क रास्ते में जाते हुए मनुष्यों को वेगार में पकड़ लेता है। उसका अन्याय यहाँ तक बढ़ा हुआ है कि ब्राह्मण के लड़के को घर से पकड़ ले जाता है और उसके सिर पर गाय का चमड़ा लदवा कर ले चलता है। उसका तिलक मिटा देता है, जनेऊ तोड़ डालता है और उसके ऊपर घोड़ा चढ़ा देना चाहता है। कहीं ब्राह्मण के घर से यज्ञ या

व्रत-उपवास के लिए धोए हुए चावल तुर्क वल पूर्वक छीन लेता है और उन्हें मदिरा वनाने में काम में लाता है। कहीं मन्दिर तोड़कर मस्जिदें वनाता है। कब्र और मकवरों से पृथ्वी भर गई है, एक पैर रखने को जगह नहीं है।"

"तुर्क अपमान से गाली के रूप में 'हिन्दू' कह कर दुत्कारता और निकाल देता है।"

इवराहीम शर्की ने सन् १४ १ से १४४० ई० तक राज्य किया था। सन् १४१४ ई० के कुछ पूर्व विद्यापति जौनपुर आए थे। तुर्क उस समय तक जौनपुर पर दो शताब्दियों तक निरन्तर राज्य करते रहे थे। उस समय भी वहाँ कुछ वेद-पाठी ब्राह्मण रहते थे। तुर्क और हिन्दू "हिले-मिले" वसते थे। विद्यापति के वर्णन से ऐसा ज्ञात होता है कि वहुसंख्या हिन्दुओं की ही थी। यह भी ज्ञात होता है कि उस समय तुर्क कुर्आन शरीफ के निपेध का उल्लंघन कर शराव में मस्त रहते थे, साथ ही उन्होंने भाँग के गोले गटकना भी प्रारम्भ कर दिया था। हिन्दू जीवित थे, परन्तु उस समाज में 'हिन्दू' शव्द गाली वन गया था। ब्राह्मणों के वालकों को गाय का चमड़ा सिर पर लादना पड़ता था, उनका तिलक मिटा दिया जाता था। ये कोई वड़ी वातें नहीं है। जंव किसी असंस्कृत नृवंश के हाथ किसी वर्ग के पुरखे समर-भूमि में पराजित होते हैं तव उस दुर्वलता का मूल्य आगे की पीढ़ियों द्वारा चुकाया जाना अनिवार्य होता है। पराजितों की यह अनिवार्य नियति है कि वे अपने देश में ही दूसरे और तीसरे दर्जे के नागरिक माने जाएँ। यह राजनीति की वात है; धर्म के क्षेत्र की वात यह है कि हिन्दू भी हिन्दू के रूप में जीवित था और ब्राह्मण भी अपना वेद-पाठ किए जा रहा था। न तुर्क हिन्दुत्व को समाप्त कर सके और न हिन्दू तुर्कों को सुसंस्कृत वना सके।

तैमूर का आक्रमण

तैमूर ने भारत पर उस समय आक्रमण किया था जव तुर्क यहाँ दो शताव्दी तक राज्य कर चुके थे। वह मुसलमान था, उसके सैनिक भी मुसलमान थे। तैमूर का इतिहासकार शर्फुद्दीन अली यजदी इस आक्रमण को भी धर्म-भावना से प्रेरित वतलाता है।[१] तैमूर के पुरखे चंगेजखाँ तथा हलाकू को भी उनके इतिहासकारों ने धर्मप्राण ही वतलाया होगा। वास्तविकता यह है कि तैमूर ने भारत के मुसलमान तथा हिन्दू दोनों को ही लूटा था और दोनों की ही हत्या की थी। दोनों की ही कमजोरी यह थी कि दो सौ वर्ष तक वे निरन्तर आपस में तो लड़ते रहे, अपने राष्ट्र को विदेशी आक्रामक से वचाने की व्यवस्था की ओर उन्होंने ध्यान न दिया। तुर्कों के हाथों में दो सौ वर्ष तक भारत का शासन रह चुका था, यह जिम्मेदारी उनकी थी कि वे अपनी सल्तनत के दूसरे दर्जे के नागरिकों को भी राष्ट्रीय सुरक्षा के लिए संगठित करते तथा स्वयं भी उसके लिए संगठित होते। परन्तु वे

---

१. पीछे पृ० ४३ देखें।

आपसी विग्रहों एवं जनता की लूट-खसोट तथा उसके दमन में ही व्यस्त रहे और उनकी राजनीति भी पूर्णतः असफल रही। इतने क्रूर और आततायी शासन को सहन करने के उपरान्त भी भारत की जनता को नवीन विदेशी आक्रमण से सुरक्षा न मिल सकी।

तैमूर के आक्रमण के परिणामस्वरूप तुर्कों का भारत-साम्राज्य सदा के लिए समाप्त हो गया और अनेक छोटे-छोटे स्वतंत्र तुर्क राज्यों के साथ अनेक छोटे-छोटे स्वतन्त्र हिन्दू राज्य भी उभर आए। यदि भारतीय राजनीति इन नवीन राज्यों के झगड़ों तक ही सीमित रहती तब हिन्दू और तुर्क धार्मिक, सामाजिक और सांस्कृतिक क्षेत्र में समन्वय का मार्ग खोज लेते और भारत का पन्द्रहवीं शताब्दी के इतिहास का स्वरूप भिन्न होता। परन्तु इसी बीच तैमूर की ओर से राज्य करने का दावा करने वाले सैयिदों ने दिल्ली पर अधिकार जमा लिया। फिर उन्हें अपदस्थ कर अफगानों की टोलियाँ भी भारत पर चढ़ दौड़ीं। अफगान लोदियों के समय में उनके सुल्तानों ने बहुत बड़ी संख्या में अपने कबीलों को भारत में बुलाया था। उनका शासनतन्त्र भी तुर्कों से भिन्न था।

फिर भी पन्द्रहवीं शताब्दी धार्मिक क्षेत्र में समन्वय की शताब्दी थी। यद्यपि इस शताब्दी में एक तुर्क सुल्तान और एक अफगान सुल्तान मन्दिर-ध्वंस और क्रूरता के लिए प्रसिद्ध हैं, तथापि अधिकांश मुसलमान सुल्तानों ने हिन्दुओं के दमन और मन्दिर-ध्वंस को अपना प्रमुख कार्यक्रम नहीं बनाया था।

सिकन्दर बुतशिकन

ईसवी पन्द्रहवीं शताब्दी के प्रारंभ में एक तुर्क सुल्तान ने पूर्ववर्ती तुर्कों की जन-पीड़न और मन्दिर-ध्वंस की परम्परा को बहुत क्रूरता के साथ आगे बढ़ाया था। वह सुल्तान था कश्मीर का सिकन्दर बुतशिकन (१३८९-१४१३ ई०)।

कश्मीर में मुसलमानों का राज्य विचित्र परिस्थितियों में प्रारम्भ हुआ था। वहाँ के एक राजा ने बुलबुलशाह नामक सूफ़ी सन्त के प्रभाव में आकर इस्लाम ग्रहण कर लिया था, वह भी इस कारण कि वहाँ के ब्राह्मण उस राजा को हिन्दू के रूप में प्रतिष्ठा देने को तैयार न थे। यही राजा फिर सुल्तान सद्रुद्दीन कहा जाने लगा। उसने एक बौद्ध मन्दिर को मस्जिद भी बना लिया। उसकी रानी हिन्दू ही बनी रही और उसके मन्त्री भी हिन्दू थे। सद्रुद्दीन ने कश्मीरी जनता के धर्म में भी हस्तक्षेप नहीं किया। उसके कुछ समय पश्चात् हुआ सुल्तान सिकंदर बुतशिकन (मूर्ति-भंजक)।

सिकन्दर बुतशिकन का मूल नाम शंकर था। उसकी दो पत्नियाँ थी, जिनके नाम मीरा तथा शोभादेवी थे। उसका मन्त्री सियह भट्ट नामक ब्राह्मण था। उसके राज्य के प्रारंभिक काल में ही तैमूर से भयभीत होकर अनेक सैयिद, आलिम और शेख कश्मीर में आ गए। उन्होंने सिकन्दर को शरीअत के सिद्धान्तों से परिचित कराया। उसका मंत्री

सियह भट्ट मुहम्मद हम्दानी के प्रभाव में आकर मुसलमान हो गया।[1] फिर क्या हुआ, इसका वर्णन फरिश्ता ने दिया है—"सुल्तान ने सियह भट्ट के परामर्श से आदेश दिया कि समस्त ब्राह्मण तथा विद्वान हिन्दुओं को मुसलमान बना दिया जाए, माथे पर कोई टीका न लगाए, विधवाएँ अपने मृत पतियों के साथ सती न हों, सोने और चांदी की समस्त मूर्तियाँ शाही टकसाल में लाकर गला दी जाएँ और उनसे मुद्राएँ ढाली जाएँ। इस आदेश के कारण उस प्रदेश के हिन्दुओं पर घोर विपत्ति आ गई क्योंकि वे अधिकांश हिन्दू थे। ऐसे अनेक ब्राह्मणों ने जो न तो इस्लाम ग्रहण कर सकते थे और न देश छोड़ सकते थे, आत्महत्या कर ली; शेष देश छोड़कर अन्य देशों को चले गए। कुछ ऐसा वर्ग भी था जो सुल्तान तथा उसके मन्त्री के भय से बाह्य रूप से मुसलमान बन गया तथापि वास्तव में हिन्दू ही रहा।" जौन राजतरंगिणी के अनुसार सिकन्दर ने कश्मीर के सभी मंदिरों को तुड़वा दिया था। इन मन्दिरों में प्रसिद्ध मार्तण्ड-मन्दिर भी था। चक्रधर विष्णु तथा त्रिपुरेश्वर के भव्य मन्दिर भी तुड़वा दिए गए।

तबकाते-अकबरी में सिकन्दर बुतशिकन के 'धर्म-प्रचार' का विशद विवरण मिलता है[2]—"उसके अत्यधिक दान-पुण्य के कारण एराक, खुरासान तथा मावराउन्नहर के आलिम उसके दरबार में उपस्थित होने लगे और कश्मीर में इस्लाम प्रसारित हो गया। वह आलिमों में सैयिद मुहम्मद का, जो अपने समय के बड़े विद्वान थे, बड़ा सम्मान करता था और मूर्तियों तथा काफिरों के मन्दिर को नष्ट-भ्रष्ट करने का प्रयत्न किया करता था, उसने बहराने के महादेव के प्रसिद्ध मन्दिर का खण्डन करा दिया और उसकी नींव खोदकर जल तक गहरा गड्ढा खुदवा दिया। अन्य जगदर के मन्दिर का खण्डन करा दिया[3].........।"

---

१. हम्दानी से सियह भट्ट ने ही इस्लाम की दीक्षा नहीं ली थी; वरन् एक परित्यक्ता ब्राह्मणी लालमणि (मा लल्ला) भी उनके पौरुष से प्रभावित होकर उनकी शिष्या बन गई थी। लल्ला के सूफी रंग मे रँगे पद आज भी कश्मीर में बहुत प्रचलित हैं। इस महिला को हिन्दू और मुसलमान सभी श्रद्धा करते हैं। सियह भट्ट, लल्ला और हम्दानी, कश्मीर में इस्लाम के प्रस्थापक माने जा सकते हैं। उनका मार्ग वहाँ के ब्राह्मणों की संकुचित भावना ने ही प्रशस्त किया था।

२. डा० रिजवी, उत्तर तैमूर कालीन भारत, भाग २, पृ० ५१५।

३. एक आधुनिक इतिहासकार, डा० आर० के० परमू ने सिकन्दर बुतशिकन के इन कृत्यों को महत्वहीन समझा है। कारण यह बतलाया है कि—
But we must not over-exaggerate the fact of destruction, for the worshippers had also disappeared" तथा "We are not told how many of them (temples) were at that time places of worship or merely archaeological monuments of man's constructive achievements". A Comprehensive History of India, Vol. 5, p. 750.

सिकन्दर लोदी

पन्द्रहवीं शताब्दी के अन्तिम चरण में एक अन्य सिकन्दर भी भारत में हुआ था; वह था अफगान सिकन्दर लोदी (सन् १४८९-१५१७ ई०)। वह ग्वालियर के राजा मानसिंह (सन् १४८६-१५१६ ई०) का समकालीन था, अतएव उसकी धर्म-नीति पर विचार करना आवश्यक है।

सिकन्दर लोदी जब सुल्तान भी नहीं बना था, तभी से वह हिन्दू धर्म और मन्दिरों का घोर शत्रु था। कुरुक्षेत्र में यात्रा के लिए बहुत बड़ी संख्या में हिन्दू एकत्रित हुए। सिकन्दर उनके कत्लेआम का आदेश देना चाहता था। उसके साथियों ने सलाह दी कि इस विषय में आलिमों से पूछ लेना चाहिए। मलिकुलउलमा अब्दुल्लाह अजोधनी से सिकन्दर ने व्यवस्था माँगी। अजोधनी ने व्यवस्था दी—'प्राचीन मन्दिर को नष्ट करने की शरा में अनुमति नहीं है।' सिकन्दर इतना कुपित हुआ कि वह अजोधनी पर ही कटार लेकर दौड़ पड़ा और कहा, 'तू काफिरों का पक्षपाती है।' आलिम ने उत्तर दिया, 'जो कुछ शरा में लिखा है वह कहता हूँ और सत्य कहने में कोई भय नहीं है।"[1]

भारतीय सुल्तानों के इतिहास में पन्द्रहवीं शताब्दी में एक ऐसा आलिम मिल सका जो यह दृढ़तापूर्वक कह सका कि शरा में प्राचीन मन्दिर तोड़ने की अनुमति नहीं है। इससे पूर्व महमूद, कुत्बुद्दीन ऐबक, इल्तुतमिश, अलाउद्दीन खलजी किसी के समकालीन आलिमों ने शरा का यह नियम अपने सुल्तानों को न समझाया; संभवतः वे अपनी परिस्थितियों से विवश थे।

सिकन्दर ने खवासखाँ को नगरकोट तथा अन्य पर्वतीय प्रदेशों की विजय के लिए भेजा। उसने नगरकोट की विजय की तथा वहाँ के मन्दिर को तोड़ कर मूर्ति उठा लाया। उसके ऊपर जो पीतल का छत्र था वह उसे भी उठा लाया। वाकेआती-मुश्ताकी के अनुसार[2]—"उस छत्र पर हिन्दवी लिपि में कुछ लिखा हुआ था और वह लेख दो हजार वर्ष पुराना था।"[3] जब वे वस्तुएँ वहाँ पहुँची तो काफिरों की मूर्ति को सुल्तान ने कसाइयों को इस आशय से दे दिया कि वे उससे मांस तोलने के बाँट तैयार कराएँ। पीतल के छत्र के जल गरम करने हेतु बरतन बनवा डाले और उन्हें मस्जिदों तथा अन्य स्थानों पर इस उद्देश्य से भेज दिया कि लोग उसके जल से वजू किया करें।"[4] अहमद यादगार के अनुसार—"सुल्तान सिकन्दर बड़ा ही पवित्र जीवन व्यतीत करने वाला सच्चा आलिम तथा

---

१. डा० रिजवी, उत्तर तैमूर कालीन भारत, भाग १, पृ० १०४, २२८ तथा २५५।

२. डा० रिजवी, उत्तर तैमूर कालीन भारत, भाग १, पृ० १४३।

३. नगरकोट का मन्दिर तो फिर बन गया, परन्तु वह लेख हाथ न आ सका। उसके गलते ही भारत के प्राचीन इतिहास का एक सुदृढ़ आधार भी नष्ट हो गया।

४. ग्वालियर के तोमरों के शिवमन्दिर के धातु-निर्मित विशाल नन्दी का इसी प्रकार का उपयोग 'अकबर महान' ने किया था।

विद्वान था। वह अधिकांश आलिमों और विद्वानों के साथ रहता था। उसके राज्यकाल में इस्लाम को बड़ा सम्मान प्राप्त था।" "सुल्तान के इल्म और आलिमों के सत्संग का प्रभाव यह हुआ कि काफिरों को मूर्ति पूजा करने का साहस न होता था और वे नदी में स्नान भी न कर सकते थे। उसके राज्यकाल में मूर्तियों को भूमि में छिपा दिया गया था।"[1]

सिकन्दर लोदी की क्रूर दृष्टि मथुरा पर भी पड़ी। उस नगर की बहुत दुर्दशा की गई। मुश्ताकी तथा अन्य फारसी इतिहासकारों ने उसका विस्तृत विवरण दिया है[2]— "उसने काफिरों के मन्दिरों को नष्ट कर दिया था। मथुरा में जिस स्थान पर काफिर स्नान करते थे, वहाँ कुफ्र का कोई चिह्न न रह गया था। वहाँ उसने लोगों को ठहरने के लिए कारवाँ सरायों का निर्माण कराया था। वहाँ पर विभिन्न व्यवसाय वालों अर्थात् कसाइयों, बावर्चियों, नानवाइयों तथा शीरा बनाने वालों की दुकान बनवा दीं। यदि कोई हिन्दू अज्ञानवश भी वहाँ स्नान करता तो उसे पंगु बना दिया जाता था और उसे कठोर दण्ड दिया जाता था। कोई भी हिन्दू वहाँ अपनी दाढ़ी-मूँछ नहीं मुड़वा सकता था।"

यह हुआ सो हुआ, इस धक्के में मथुरा का केशवदेव का विशाल मन्दिर भी ध्वस्त हो गया। उसे सर्व प्रथम सन् १०३९ ई० में महमूद गजनवी ने तोड़ा था। विजयपाल देव के राज्यकाल में जज्ज नामक व्यापारी ने उसे सन् ११५० ई० में फिर बनवा दिया। इसे सिकन्दर लोदी ने फिर तोड़ दिया। सन् १६१० ई० में वीरसिंह देव बुन्देला ने इसे फिर बनवाया। औरंगजेब ने इसे फिर तोड़ दिया। इस शताब्दी में यह फिर खड़ा हो गया। विध्वंस की यह कहानी अत्यन्त विषादमय है। एक ओर तोड़ने की हठ, दूसरी ओर बनाने की हठ!

सिकन्दर लोदी ने और कितने मन्दिर तोड़े, इसकी तालिका देना यहाँ अभीष्ट नहीं है।[3] तथ्य की बात यह है कि जब ग्वालियर के तोमर धार्मिक समन्वय का मार्ग खोज रहे थे, उसी समय सिकन्दर उनकी भावनाओं को क्रूर ठेस पहुँचा रहा था।

---

१. इस प्रकार का एक तलघर नरवर में भी मिला है जहाँ सैकड़ों जैन मूर्तियाँ छुपा दी गई थीं। (पीछे पृ० ३७२ देखें।)

२. डा० रिजवी, उत्तर तैमूर कालीन भारत, भाग १, पृ० १०२, २२७ तथा २६०।

३. आधुनिक इतिहासकार प्राध्यापक निजामी ने सिकन्दर लोदी के मन्दिर-मूर्ति-ध्वंस कार्यक्रम के विषय में लिखा है—

"While determining the motivations in following this religious policy, one cannot afford to ignore the fact that tradition holds him responsible for destroying edifices of the Sharqi rulers at Jaunpur. Besides it is significant fact, that during his regime the Hindus took to learning Persion and were recruited in large numbers to different posts..." A Comprehsive History of India, Vol. V, P. 701.

पता नहीं मलिकुलउल्मा अब्दुल्लाह का फतवा सही था या प्राध्यापक निजामी का भाष्य सही है? हिन्दुओं के फारसी पढ़ने या फिर आगे चलकर हिन्दू और मुसलमान दोनों के अंगरेजी पढ़ने से मन्दिर-ध्वंस का समर्थन कैसे हो सकता है, यह समझ सकना कठिन है।

परन्तु इन दोनों सिकन्दरों के होते हुए भी, पन्द्रहवीं शताब्दी में हिन्दू और मुसलमान बहुत निकट आ गए थे; उन्होंने कुछ ऐसे मार्ग खोज लिए थे जो धार्मिक विद्वेष को कम कर सकें और सामासिक संस्कृति को जन्म दे सकें। यह प्रयास सुल्तानों और राजाओं ने भी किए थे तथा जनसाधारण ने भी। मध्ययुग के भारतीय इतिहास का यह परिच्छेद अत्यन्त गौरवशाली, स्तुत्य और अनुकरणीय है।

जनता का रोष

तुर्क, सैयिद और अफ़गान सुल्तानों ने एवं उनके सहयोगी आलिम, शेख और सूफियों ने जो अनाचार भारतीय जनता के साथ किए थे उनके कारण उस समय का प्रबुद्ध बहुसंख्यक समाज विक्षुब्ध हुआ था और उसने अपना रोष भी प्रकट किया था। ईसवी बारहवीं से पन्द्रहवीं शताब्दी का इस प्रकार का साहित्य, विशेषतः हिन्दी साहित्य, कम ही मिला है जिससे उस समय के बहुसंख्यक हिन्दुओं के मनोभावों के स्वरूप को जाना जा सके। परन्तु जो कुछ मिल सका है वह इस विषय पर पर्याप्त प्रकाश डालता है। जब पद्मनाभ ब्राह्मण तैमूर जैसे क्रूर व्यक्ति का भी रणमल्लछन्द में इस कारण स्तवन करने लगता है कि वह "शकशल्य" था[1] तब उस ब्राह्मण के रोष का कुछ स्वरूप ज्ञात होता है। पद्मनाभ को यह ज्ञात था कि तैमूर भी मुसलमान था, परन्तु उसके आक्रमण के कारण तुर्कों की शक्ति कम हो गई, अतएव वह भी वन्दनीय माना गया। तुर्कों के अत्याचारों से समाज व्यथित था, उस व्यथाजन्य रोष की यह अभिव्यक्ति थी।

ब्राह्मण का कथन अतिवादी मानकर छोड़ भी दें, तब एक जैन मुनि भी राजन्य वर्ग (हिन्दु राजाओं) के मनों को शुद्ध करने के लिए काव्यग्रन्थ लिख रहा था और उन्हें उपदेश दे रहा था कि वे अपनी जीवन-पद्धति की रक्षा के लिए सर्वस्व बलिदान करने के लिए सन्नद्ध हों।[2] बालक, स्त्री, ब्राह्मण और गौ की रक्षा के लिए एक बार फिर राजपूत उठ खड़े हुए थे। उस युग में राजन्य वर्ग ने 'उद्धरणो महीम्' को आदर्श बनाया था।[3] दो सौ वर्ष का घोर उत्पीड़न भी भारतीय जनता का उत्साह तथा साहस नहीं तोड़ सका था।

जब ग्वालियर के राजा डूंगरेन्द्रसिंह ने कालपी के सुल्तान पर विजय प्राप्त की तब उन्होंने अपने राजकवि विष्णुदास से प्रश्न किया था[4]—

म्लिच्छ बंस बढ़ि रहो अपारा, कैसे रहे धरम को सारा।

वास्तविकता यह है कि पन्द्रहवीं शताब्दी में भी भारत का जन-समूह विगत शताब्दियों में तुर्कों द्वारा किए गए अत्याचारों और मूर्ति-मंदिर-ध्वंसों को भूला नहीं था

---

१. पीछे पृ० ४६ देखें।
२. पीछे पृ० ६९ देखें।
३. पीछे पृ० ४१ देखें।
४. महाकवि विष्णुदास कृत महाभारत, पृ० १७१। पीछे पृ० ९०-९१ भी देखें।

और न उसने उनके समक्ष आत्म-समर्पण ही किया था। कल्याणमल्ल के राजकवि नारायणदास ने छिताई-चरित' की रचना तुर्कों और हिन्दुओं के वीच सद्भाव बढ़ाने के उद्देश्य से की थी। उसी रचना में मानसिंहकालीन देवचन्द्र ने निम्नलिखित पंक्तियाँ जोड़ दीं[1]—

धावइँ तुरक देस महि भारी, पुर-पाटन दीजहिं परजारी।
सुवसु वसहिं जे गंवई गाऊं, तिन्ह के खोज मिटावइं ठांऊं॥
वसति नगर पुरु उत्तिम थाना, खोद खेत कीन्हें मइदाना।
मारहिं तुरक भीति सिउ भीती, ढहहिं देहुरे करहिं मसीती॥

इस्लाम भी सत्य और हिन्दू धर्म भी सत्य

मलिकुलउल्मा अब्दुल्लाह अजोधनी ने केवल यह फतवा दिया था कि हिन्दुओं के प्राचीन मन्दिरों को नष्ट करने की अनुमति शरा में नहीं है। अजोधनी ने यह फतवा भी दिया था कि यदि हिन्दू किसी तीर्थस्थल पर प्राचीन काल से स्नान करते आ रहे हों तब उन्हें इससे भी न रोका जाए। यह केवल राजधर्म की शिक्षा थी, सुल्तानों के इस्लामी राज्य में हिन्दुओं को अपनी जीवन-पद्धति अपनाए रहने की अनुमति देने मात्र की सलाह थी। फिर भी यह फतवा आलिमों की उस धर्म-सभा के निर्णय से बहुत उदार था जो इल्तुतमिश के राज्यकाल में दिल्ली में जुड़ी थी।[2]

साथ ही, तत्कालीन हिन्दू और मुसलमान जनता सह-अस्तित्व के सिद्धान्त के प्रतिपादन के मार्ग पर इसके बहुत आगे बढ़ गई थी। उसका बहुत बड़ा अंश यह मानने लगा था कि इस्लाम भी सत्य है और हिन्दू धर्म भी सत्य है। एक घटना का उल्लेख तबकातेअकबरी में किया गया है।[3] बोधन (फारसी लिपि में लोदन, लोधन, पोधन और बोधन), नामक एक ब्राह्मण लखनऊ पहुँचा। वहाँ उससे किसी ने इस्लाम के सत्य के विषय में चर्चा की। बोधन ने उत्तर दिया, "इस्लाम सत्य हैं और मेरा धर्म भी सत्य है।" यह बात आलिमों तक पहुँचाई गई। तबकाते-अकबरी के अनुसार, "काजी प्यारा तथा शेख बुध ने एक दूसरे के विरुद्ध फतवे दिए।" तबकाते-अकबरी में यह नहीं बतलाया कि बोधन के धर्म-विवेचन से काजीजी सहमत हुए थे या शेखजी। दोनों से कोई एक सहमत हुआ अवश्य था, अर्थात् वह दोनों धर्मों को 'सत्य' स्वीकार करता था। यह सुनिश्चित है कि वह 'शेख' या 'काजी' जो भी बोधन से सहमत हुआ था, ईसवी पन्द्रहवीं शताब्दी के भारतीय समाज (हिन्दू और मुसलमान) की भावनाओं का प्रतिनिधित्व कर रहा था।

परन्तु सुल्तान-सभा में यह भी कुफ्र माना गया। सिकन्दर लोदी ने इस सिद्धान्त के विवेचन के लिए दूर-दूर से काजी, मुल्ला, आलिम, शेख, सैयिद, तथा सूफी बुलाए। फैसला यह

---

१. छिताई-चरित, प्रस्तावना, पृ० ४३-४४।
२. पीछे पृ० ३९३ देखें।
३. डा० रिजवी, उत्तर तैमूर कालीन भारत, भाग १, पृ० २१७।

हुआ कि "बोधन को वन्दीगृह में डाल दिया जाए और उसे इस्लाम की शिक्षा दीजाए; यदि वह इस्लाम स्वीकार न करे तो उसकी हत्या कर दी जाए।" बोधन ने अपना सिद्धान्त बहुत सोच-समझ कर निश्चित किया था। वह दोनों धर्मों की सत्यता प्रतिपादित करता रहा और मार डाला गया।

दो-ढाई सौ वर्ष भारत में रह कर भी मुल्ला, आलिम, शेख, सैयिद और सूफी, बहुत बड़ी संख्या में, इल्तुतमिश की धर्म-सभा के सिद्धान्त के आगे एक पग भी नहीं बढ़ सके थे। उनकी धर्म-नीति, राजनीति और समाज-नीति नितान्त एकांगी ही रही।

सुल्तान की आलिम-मण्डली की दण्ड व्यवस्था भी एकपक्षीय हुई थी। काजी प्यारा हो या शेख बुध, दोनों में से एक बोधन के धर्म-समन्वय से सहमत था; उसे इनाम मिल गई, बिचारे ब्राह्मण का गला काट दिया गया।

जनता की भावना

परन्तु आलिमों और पण्डितों के हाथ से अब बात निकल चली थी। समाज की महत्वपूर्ण समस्याओं पर अन्य वर्गों ने भी विचार करना प्रारम्भ कर दिया था। हिन्दू और मुसलमान जनता यह समझने लगी थी कि दोनों धर्मों के मठाधीश अपने निहित स्वार्थों की रक्षा के लिए सप्रयास विभेद की दीवारें उठाए हुए हैं।

मध्य और निम्न वर्ग के मुसलमानों ने हिन्दू धर्म के सत्य को भी स्वीकार किया और इस्लाम के सत्य को तो वे मानते ही थे। इधर हिन्दुओं का मध्यम और निम्न वर्ग दोहरे त्रास से पीड़ित था। मुसलमान आलिम उसे हिन्दू के रूप में जीवित नहीं देखना चाहता था; और सवर्ण अथवा समृद्ध हिन्दू भी उसे शूद्र कहकर केवल सेवा कराने के लिए पास बुलाना चाहता था, अन्यथा उसकी छाया से भी दूर रहना चाहता था।

इस दोहरे अन्याय के प्रति हिन्दू और मुसलमान दोनों धर्मों के मध्य-वर्ग और निम्न वर्ग ने समवेत विद्रोह किया था। सिद्धान्ततः मुसलमानों में नीच-ऊँच का भेद नहीं है, तथापि व्यवहार में यह भेद सदा रहा है। उनमें सैयिद (ब्राह्मण) भी होते रहे हैं, तुर्क-पठान (क्षत्रिय) भी और दास आदि नाम से शूद्र भी। फिर भी इस्लाम का 'दास' मुक्त होकर 'सुल्तान' बन सकता था, हिन्दू शूद्र ब्राह्मण नहीं बन सकता था। संभव है, इस्लाम के समत्व का यह प्रभाव हो कि पन्द्रहवीं शताब्दी का शूद्र अपने आपको हरिजन[1] कहकर ब्राह्मण की समता करने लगा था। विष्णुदास ने सन् १४३५ ई० के लगभग इसी स्थिति की ओर संकेत करते हुए लिखा था[2]—

विप्र भाग ले सूद्र अघाय, ब्राह्मण ह्वै के मांस चबाय।

विष्णुदास को अनुताप यह था कि शूद्र स्नान-ध्यान करके चन्दन लगाते हैं और ब्राह्मणों ने षट्कर्म छोड़ दिया है।

१. यह शब्द गांधीजी की देन नहीं है। मध्ययुग में सन्तों के अनुयायियों को 'हरिजन' कहा जाता था। चातुर्वर्ण्य के शिकंजे के बाहर रहकर दलित वर्ग के भक्त अपने-आपको 'हरिजन' मान कर एक विशाल बिरादरी के रूप में संगठित हो गए थे।

२. महाकवि विष्णुदास कृत महाभारत, पृ० १७२।

इस प्रकार हिन्दू और मुसलमान दोनों के ही दलित-पीड़ित वर्ग में भीषण असंतोष व्याप्त हो गया था और वे दृढ़ता पूर्वक समाज में अपने लिए आदरास्पद स्थान प्राप्त करने के लिए संघर्ष करने लगे थे। इस संघर्ष के प्रतीक हैं—कबीर ।

कहा जाता है कि कबीर मुसलमान थे। नाम से तो ऐसा ही ज्ञात होता है। उन्हें रामानन्द का शिष्य कहा जाता है। यह कथन ठीक ज्ञात नहीं होता। रामानन्द बहुत पहले हुए थे, उस समय कोई जुलाहा मुसलमान भी ब्राह्मण का शिष्य बनने के धृष्टता नहीं कर सकता था। संभव है कबीर के गुरु 'रामानन्द' कोई दूसरे हों। पन्द्रहवीं शताब्दी में रैदास और कबीर ऐसी दो विभूतियाँ हैं जो तत्कालीन सामान्य जनता के मनोभावों का प्रतिनिधित्व करती हैं। कबीर सूफी, आलिम, पण्डित, योगी, सन्यासी सबसे मिले थे और सबसे ही उन्होने ज्ञान-लाभ करने का प्रयास किया था।

कबीर ने हिन्दू-मुसलमानों के झगड़े पर व्यंग्य करते हुए लिखा है—

हिन्दू कहै मोहि राम पियारा, तुरुक कहै रहिमाना।
आपुस महँ दोउ लरि-लरि मूए, मरम न काहू जाना॥

बोव्रन हिन्दू धर्म और इस्लाम दोनों को सत्य वतला रहा था, और जुलाहा कबीर कह रहा था कि दोनों हीं मार्गभ्रष्ट हैं, उनमें से किसी को भी तत्त्वदर्शन नहीं हो सका, वे केवल झगड़ा कराते हैं। कबीर प्रयास यह कर रहे थे कि दोनों मार्ग यह अनुभव कर कि 'राम' और 'खुदा' में कोई भेद नहीं है, भेद केवल वाह्य आडम्बरों का है—

संतो राह दुनो हम दीठा।
हिन्दू-तुरुक हटा नहिं मानै, स्वाद सभन्ह को मीठा॥
हिन्दू बरत एकादसि साधें, दूध सिंघारा सेती।
अनकौं त्यागै मनै न हटकें, पारन करैं सगोती॥
तुरुक रोजा नीमाज गुजारे, बिसमिल बांग पुकारे।
इनको भिस्त कहां ते होई, सांझै मुरगी मारें॥
हिन्दू की दया मेहर तुरकन की, दोनों घट सौं त्यागी।
वै हलाल वै झटकै मारें, आग दुनौ घरि लागी॥
हिन्दू तुरुक की राह एक है, सतगुरु इहै बताई।
कहहि कबीर सुनहु हो सन्तो, राम न कहेउ खुदाई॥

दोनों राहों को कसौटी पर कस कर कबीर इस परिणाम पर पहुँचे थे कि दोनों के धर्माचार्य पाखण्डी हैं; सन्तों, हरिजनों, को कोई नवीन मार्ग खोजना पड़ेगा।

कबीर ने हिन्दू और मुसलमानों को मातृभूमि का भी स्मरण दिलाया था—

भाइरे, दुइ जगदीस कहाँ ते आया, कहु कवनै भरमाया।
अल्लह राम करीमा केसौ हजरति नाम धराया।

> गहना एक कनकते गहना, इनि महँ भाव न दूजा।
> कहन सुनन को दुई करि थापिनि, इक नमाज इक पूजा।
> वही महादेव वही महमद ब्रह्मा आदम कहिए।
> को हिन्दू को तुरुक कहावै, एक जिमी पर रहिए।

जिस मातृभूमि पर रहते हो, उसके भले-बुरे का ध्यान रखो, नमाज और पूजा दोनों ही खरे स्वर्ण हैं; जो महादेव है वही मुहम्मद है, जो ब्रह्मा है वही आदम है।

यह सोचना बहुत बड़ी भूल होगी कि कबीर की वाणी किसी एक व्यक्ति या मत के निजी विचारों का संग्रह है, उसमें उस समय की जनवाणी की अभिव्यक्ति की गई है। इस वाणी को सुना भी बहुत गया था। कबीर के अनुयायी हिन्दू भी थे और मुसलमान भी। उस समय बहुत लोगों ने माना था कि जो 'आलमों का रब्ब' (रब्बिल आलमीन) है वह हिन्दुओं की भी रक्षा करेगा, अल्लाह होने का यह उसका कर्तव्य है; इसी प्रकार जो समस्त विश्व का सृष्टा तथा पालक है, उसके अधिकार क्षेत्र से तुर्क या अफगान भी बाहर नहीं माने जा सकते।

तात्पर्य यह कि किसी बहाने से, किसी दर्शन से, किसी विचारधारा से सर्व साधारण हिन्दू और तुर्क पन्द्रहवीं शताब्दी में बहुत निकट आ गए थे। झगड़ा सुल्तानों और महाराजाधिराजों के बीच तथा कुछ आलिमों और पण्डितों के बीच रह गया था। पन्द्रहवीं शताब्दी में इन क्षेत्रों में भी यह झगड़ा समाप्त हो चला था। तोमरों का इतिहासकार इसका श्रेय भारत की महानतम सन्तानों में से एक मानसिंह तोमर को देने में प्रसन्न होता, परन्तु वास्तविकता यह है कि इसका श्रेय एक तुर्क सुल्तान को है, वह था कश्मीर का प्रतापी सुल्तान जैनुल-आबेदीन। जैनुल-आबेदीन ने सन् १४२० से सन् १४७० ई० तक राज्य किया था, अर्थात्, धार्मिक समन्वय की अपनी महान परम्पराएँ डालकर वह मानसिंह के राज्यारोहण के १६ वर्ष पूर्व स्वर्गवास[1] कर गया था। भारत में तुर्क सुल्तानों में सब धर्मों को समान आदर देने का प्रथम श्रेय कश्मीर के इस 'बड़शाह' को है।

जैनुल-आबेदीन की धर्मनीति

कश्मीर का राज्य प्राप्त करते ही जैनुल-आबेदीन ने पहला कार्य यह किया कि सिकन्दर बुतशिकन और उसके मंत्री द्वारा पीड़ित हिन्दुओं को संतुष्ट किया। जो व्यक्ति मुसलमान बना लिए गए थे उन्हें पुनः हिन्दू धर्म स्वीकार करने की प्रेरणा दी गई। जिन ब्राह्मणों को निष्कासित कर दिया गया था उन्हें फिर आदर पूर्वक अपने देश में बुलाया गया।[2] सुल्तान ने ब्राह्मणों को आदेश दिया और उनसे प्रतिज्ञा कराई कि जो कुछ उनके ग्रन्थों में लिखा है उसके विरुद्ध वे कोई बात न कहें। आशय यह था कि न तो किसी के

१. अर्थात् "जन्नतनशीन" हो गया था। हिन्दुओं और मुसलमानों के स्वर्ग भी अलग-अलग हैं। उन स्वर्गों की बस्तियाँ भी भिन्न प्रकार की हैं और उपलब्ध सुख-सामग्री भी भिन्न-भिन्न है।

२. पीछे पृ० ८४ भी देखें।

भय के कारण वे धर्मशास्त्र के नियमों का उल्लंघन करें और न मिथ्या पाखंड फैलाएँ। टूटे और उजड़े मंदिर भी फिर बनवाए गए। हिन्दू माथे पर टीका लगाकर निर्भय होकर रहने लगे। तवकाते-अकबरी के अनुसार—"प्रत्येक धर्म तथा प्रत्येक प्रकार के लोग अपनी इच्छानुसार जीवन व्यतीत करते थे। उसकी गोष्ठियों में हिन्दू मुसलमान विद्वान हर समय उपस्थित रहते थे। वह किसी स्त्री को बुरी दृष्टि से न देखता था और न किसी अन्य के धन का अपहरण करता था और न किसी अन्य के धन का लोभ करता था। सुल्तान मुसलमान आलिमों का भी अत्यधिक आदर किया करता था और कहा करता था कि ये हमारे गुरु हैं (तथापि अपने इन गुरुओं की संकुचित धर्म-व्यवस्था को वह नहीं मानता था)। वह योगियों का भी, उनकी उपासना तथा तपस्या के कारण सम्मान करता था।"

श्रीवर की जैन राजतरंगिणी के अनुसार, जैनुल-आवेदीन कश्मीरी, फारसी, अरवी तथा संस्कृत भाषाओं का विद्वान था। इस स्रोत के अनुसार, वह नीलमत पुराण, योगवाशिष्ठ तथा गीतगोविन्द का भी अध्ययन करता रहता था। 'कुत्व' के उपनाम से वह फारसी में कविता भी करता था। उसकी राजसभा के एक हिन्दू पण्डित को शाहनामा कण्ठस्थ था। सुल्तान ने महाभारत तथा राजतंरगिणी के फारसी में अनुवाद भी कराए थे।

"वहारिस्ताने-शाही" के अनुसार, सुल्तान ने राज्य के व्यय से समस्त टूटे हुए मंदिरों को ठीक कराया था। "यदि किसी ग्राम या झरने के पास किसी समय काफिरों की पहले कोई मूर्ति रही थी या कोई धार्मिक उत्सव हुआ करता था, तब सुल्तान का आग्रह होता था कि वह मूर्ति वहाँ पुनः स्थापित कर दी जाए और वह उत्सव पुनः प्रारम्भ कर दिया जाए।"........"धीरे-धीरे हिन्दुओं और गैर मुस्लिमों के रीति-रिवाज इतने प्रतिष्ठित और व्यापक हो गए कि देश के मुस्लिम विद्वान, उलमा, सैयिद तथा काजी भी विना हिचक के उन्हें मानने लगे। यह तो प्रश्न ही नहीं था कि कोई उनसे दूर रहे या उन्हें रोके।" "वहारिस्ताने-शाही" का अज्ञात लेखक यह सव लिखते हुए वहुत दुखी हुआ था। कासिम हिन्दू शाह ने भी गुलशने-इवराहीमी (तारीखे-फरिश्ता) में एक प्रश्न उठाया है, "जव किसी मुसलमान द्वारा दूसरा धर्म ग्रहण कर लेने पर शरीअत में मृत्युदण्ड की व्यवस्था है तव जैनुल-आवेदीन के आलिमों ने मुसलमान वने कश्मीरी ब्राह्मणों को हिन्दू वनाए जाने पर आपत्ति क्यों नहीं की ?" डा० आर० के० परमू[1] ने इसके साथ ही एक अन्य प्रश्न उठाया है, 'वे ब्राह्मण जो अपना धर्म छोड़ चुके थे, फिर अपने धर्म में कैसे सम्मिलित कर लिए गये ?" डा० परमू ने उसका उत्तर भी दिया है, "राज्य की विधि (या जवावित), जव वहुत आवश्यक हो, शरीअत तथा धर्मशास्त्र दोनों के ऊपर मानी जाती है।" कासिम हिन्दू शाह का प्रश्न मध्ययुगीन मुसलमान इतिहासकारों की मनोवृत्ति पर आधारित है और डा० परमू का प्रश्न धर्मशास्त्र के नियमों की अनभिज्ञता पर आधारित है। हिन्दुओं ने ऐसे अनेक व्यक्तियों को पुनः हिन्दू बनाया था जो बलपूर्वक या विवशतापूर्वक मुसलमान वना

---

१. ए कम्प्रेहेंसिव हिस्ट्री आफ इण्डिया, भाग ५, पृ० ७५४ (पाद-टिप्पणी)।

लिए गए थे।[1] फरिश्ता के प्रश्न का उत्तर वह नहीं है जो डा० परमू ने दिया है; उसका उत्तर यह है कि जैनुल-आबेदीन "रैय्यत परवर" था, ठीक वैसा ही जैसा सिद्धराज जयसिंह "प्रजावत्सल" था।[2] उस रैय्यत या प्रजा में हिन्दू, मुसलमान, बौद्ध, जैन सभी को अपनी धर्म-साधना करने की छूट थी और सबको अपने वैध व्यवसाय करने की छूट थी। सिद्धराज जयसिंह ने हिन्दुओं द्वारा तोड़ी गई मस्जिद राज्य के व्यय से बनवादी थी और जैनुल-आबेदीन ने राज्य द्वारा तोड़े गए मन्दिरों को राज्य के व्यय से बनवा दिए थे। इसमें न शरीअत बाधक है, न धर्मशास्त्र। शरीअत भी यह नहीं कहती कि बिना श्रद्धा और विश्वास उत्पन्न कराए किसी को ठोक-पीटकर मुसलमान बना लिया जाए। जो हृदय से एक अल्लाह, पैगम्बर और कुर्आन शरीफ की त्रयी पर विश्वास नहीं करता वह सुन्नत करा देने मात्र से मुसलमान नहीं बन जाता। यह सब आधुनिक इतिहासकार के क्षेत्र के बाहर है; आज के इतिहासकार को फरिश्ता से केवल तथ्य ग्रहण करना चाहिए, उसकी धर्मांध भावनाओं का उत्तर देना उसका कार्य नहीं है।

तात्पर्य यह कि ईसवी पन्द्रहवीं शताब्दी के एक तुर्क सुल्तान ने प्रथम बार ऐसा आदर्श प्रस्तुत किया था जो भारतीय 'पृथ्वीपति' की परम्पराओं के अनुरूप था, जिसने 'आलमों के रब' को हिन्दुओं का भी 'रब' माना था। कश्मीर का, भारत का (या मध्य-युगीन विश्व का) 'बड़शाह' बहुत बड़े दिल का मानव या महामानव था। वह सुल्तान प्रतापी भी बहुत था। उसका राज्य तिब्बत और पंजाब तक फैला हुआ था। उसकी मैत्री दूर-दूर के सुल्तानों से भी थी तथा ग्वालियर के तोमरों और मेवाड़ के राणाओं से भी थी।

वास्तव में यदि श्रीवर की राजतरंगिणी, तबकाते-अकबरी, बहारिस्ताने-शाही सभी एक मत न होते तब यह मानना कठिन होता कि पन्द्रहवीं शताब्दी में भारतभूमि पर जैनुल-आबेदीन जैसा महामानव सुल्तान भी हुआ था।[3]

---

१. खेद है, डा० परमू श्रृंगेरी मठ के शंकराचार्य माधव विद्यारण्य को भूल गए जिन्होंने विवशता-पूर्वक मुसलमान बनाए गए विजयनगर साम्राज्य के संस्थापक हरिहरदेव राय तथा बुक्काराय को पुनः हिन्दू बना लिया था। पहले मुसलमान हो जाने के कारण, जनता उनसे घृणा न करे इस उद्देश्य से इस प्रतिभाशाली विद्वान ने हरिहरदेव को विरूपाक्ष, शिव, का वरद घोषित किया था। महाराणा संग्रामसिंह ने सलहदी को मुसलमान से हिन्दू बनाया था और उसे सामाजिक प्रतिष्ठा देने के लिए उसके पुत्र के साथ अपनी राजकुमारी का विवाह कर दिया था। राणा ने चांदराय को भी मुसलमान से हिन्दू बनाकर उसे 'मेदिनीराय' की उपाधि दे दी थी।

२. पीछे पृष्ठ ३९० देखें।

३. यह बड़े दुख और अनुताप का विषय है कि भारत की महानतम सन्तानों में से एक इस बड़शाह पर न कश्मीर शासन ने शोध कार्य कराया है, न किसी विश्वविद्यालय ने और न केन्द्रीय शासन ने। इतना ही नहीं, बहारिस्ताने-शाही अभी तक 'अप्रकाशित' एवं अननुवादित है और जौनराज तथा श्रीवर की रचनाएँ अनुपलब्ध हैं।

ग्वालियर के तोमरों की धर्म-नीति

वीरसिंहदेव तोमर ने सन् १३९४ ई० में गोपाचलगढ़ पर अधिकार कर एक स्वतन्त्र हिन्दू राज्य की स्थापना की थी। राज्य-स्थापना की मुख्य प्रेरणा राज्येषणा ही होती है, तथापि ईसवी चौदहवीं शताब्दी के अन्त में, अथवा, फीरोजशाह तुगलुक की मृत्यु के उपरान्त ही सैकड़ों हिन्दू जागीरदार केवल राजा बनने के उद्देश्य को लेकर विद्रोही नहीं हुए थे। तुर्कों के अधीन उन्हें सदा दूसरे दर्जे का नागरिक समझा जाता था और उनकी जीवन-पद्धति का तिरस्कार किया जाता था; उन्हें केवल अनिवार्य कंटक के रूप में अंगीकार किया जाता था। उन्हें अपने धर्म और गौ, ब्राह्मण तथा स्त्रियों की मर्यादा तथा सुरक्षा के प्रति बहुत लगाव था और उनकी आँखों के सामने ही इन सबकी दुर्दशा होती थी। उनका निरन्तर यह प्रयास रहता था कि दिल्ली सल्तनत की तलवार शिथिल होते ही वे कहीं एक ऐसा कोना प्राप्त कर लें जहाँ वे अपनी परम्पराओं और विश्वासों का सम्मान पूर्वक पालन कर सकें। इल्तुतमिश, बलबन, अलाउद्दीन, फीरोजशाह जैसे प्रबल सुल्तानों की आँखें बन्द होते ही वे तुर्क सल्तनत के विरुद्ध खड़े हो जाते थे। अनेक सफल हुए, अनेक असफल हुए, तथापि उनका संघर्ष कभी निर्मूल न किया जा सका।

कमलसिंह (घाटमदेव) के समय में बद्र नामक हब्शी ने तंवरघार की जनता पर अत्यधिक अत्याचार किए थे।[1] उसके विरुद्ध कमलसिंह ने विद्रोह किया था। वे सफल न हो सके और मार डाले गए। उनके पौत्र वीरसिंहदेव को विषम संघर्षों के पश्चात् गोपाचलगढ़ पर अधिकार करने का अवसर मिल सका था। चम्बल से गोपाचल तक उनका स्वतन्त्र राज्य स्थापित हो गया। इस राज्य में यद्यपि हिन्दू बहुसख्यक थे, तथापि यह कहना संभव नहीं है कि समस्त मुसलमान इस क्षेत्र को छोड़कर भाग गए थे। जिन स्थानीय हिन्दुओं को तुर्कों के हाकिमों ने अपना दास बना लिया था, उन मुसलमानों को न तो तोमरों की राज्य-सीमा से भगाया गया था न वे कहीं जा ही सकते थे। वीरसिंहदेव के राज्यकाल में भी ग्वालियर में तथा बद्र की राजधानी अलापुर में कुछ मुसलमान रह रहे थे, इसमें सन्देह नहीं। इल्तुतमिश तथा अलाउद्दीन खलजी ने ग्वालियर में कुछ मस्जिदें, ईदगाह तथा आरामगाह भी बनवाए थे, भले ही वे मन्दिरों के परिवर्तित रूप हों।

परन्तु ऐसा कहीं उल्लेख नहीं मिलता कि वीरसिंहदेव, उद्धरणदेव अथवा वीरमदेव ने उनके राज्य के मुसलमानों के समक्ष "हिन्दूधर्म या मृत्यु" का विकल्प रखा हो या उन्हें राज्य से निष्कासित किया हो। यह भी कहीं उल्लेख नहीं मिलता, न ऐसी कोई स्थापत्य की साक्ष्य प्राप्त होती है कि इन प्रारंभिक तोमर राजाओं ने मुसलमानों के किसी उपासना-गृह या निर्माण को ध्वस्त किया हो।

वीरसिंहदेव और उद्धरणदेव के शिलालेखों से[2] यह अवश्य ज्ञात होता है कि उन्होंने

---

१. पीछे पृ० १८-१९ देखें।
२. पीछे पृष्ठ २३ तथा ३७ देखें।

'शकों का निपात' किया था, परन्तु वह निपात 'रण' में किया गया था, यह उन लेखों से ही स्पष्ट है। यह सुनिश्चित है कि यदि ये प्रारंभिक तोमर राजा इस्लाम के धार्मिक स्थलों का अपमान करते अथवा स्थानीय मुसलमानों को त्रास देते तब इस तथ्य का उल्लेख समकालीन फारसी इतिहासकार बहुत बढ़ा-चढ़ाकर अवश्य करते।

यह सुनिश्चित रूप से कहा जा सकता है कि वीरसिंहदेव के समय से ही ग्वालियर के तोमरों ने जैन सम्प्रदाय के अनुयायियों को पूर्ण प्रश्रय दिया था। वीरमदेव के तो मंत्री ही कुशराज जैन थे। कुशराज ने चन्द्रप्रभ का एक विशाल मंदिर भी निर्मित कराया था और उसका प्रतिष्ठा-समारोह बड़े समारोह के साथ किया था।[1]

ग्वालियर के तोमर राजा हिन्दू थे और शिव तथा दुर्गा के परम भक्त थे। उनके जितने भी प्रमुख ठिकाने थे वहाँ दुर्गा का मंदिर अवश्य प्राप्त होता है। उनके समय में शिव और विष्णु के मन्दिर भी बनाए गए और कुछ प्राचीन मन्दिरों की मरम्मत तथा देखरेख भी की गई। साथ ही, ग्वालियर के जैन नागरिकों को अपनी धर्म-साधना की पूर्ण स्वतन्त्रता थी।

यह स्मरण रखने की बात है कि मध्ययुग में जैन और हिन्दुओं के बीच अनेक कारणों से अत्यधिक साम्प्रदायिक विद्वेष फैल गया था। ब्राह्मणों ने यह व्यवस्था दी थी कि मस्त हाथी से प्राण बचाने के लिए भी जैन मन्दिर में प्रवेश नहीं करना चाहिए। परन्तु वीरसिंहदेव के समय से ही इस निषेध की उपेक्षा की गई। जैन श्रेष्ठियों, श्रावकों और मुनियों ने भी अपना दृष्टिकोण बदला और ग्वालियर में वे हिन्दुओं के साथ एक राष्ट्र के अंग बन गए।[2] एक महत्वपूर्ण बात यह भी दिखाई देती है कि जैनों के दिगम्बर और श्वेताम्बर सम्प्रदायों से झगड़ों से भी तोमरों का ग्वालियर मुक्त रहा था।

ग्वालियर के तोमरों की धार्मिक क्षेत्र में उदार नीति का प्रस्फुटन डूंगरेन्द्रसिंह और कीर्तिसिंह के राज्यकाल में हुआ था। यद्यपि डूंगरेन्द्रसिंह इस बात से चिन्तित थे कि उन की राज्य-सीमा से मिले हुए अनेक सुल्तान अपने राज्यों में हिंदुओं से अच्छा व्यवहार नहीं करते, फिर भी उन्होंने भारतीय राजा के आदर्शों का पालन किया और अपने राज्य में सभी धर्मों के अनुयायियों को अपनी धर्म-साधना की पूरी छूट दी। इन राजाओं के मन में कभी यह भावना उत्पन्न हो ही नहीं सकती थी कि किसी अन्य धर्म के, भले ही वह इस्लाम ही क्यों न हो, उपासना-गृहों को नष्ट किया जाए। इसके विपरीत, वे सभी धर्मों के उपासना-गृहों की मरम्मत कराते रहे।

डूंगरेन्द्रसिंह के राज्यकाल में ग्वालियर में जैन सम्प्रदाय का बहुत विकास हुआ था। जब दिल्ली, हिसार, चन्दवार के तथा स्थानीय जैन श्रेष्ठियों ने गोपाचलगढ़ की शिलाओं पर जैन मूर्तियाँ उत्कीर्ण कराने की अनुमति चाही, तब उन्होंने अत्यन्त उदारतापूर्वक यह अनुमति

---

१. पीछे पृष्ठ ६३ देखें।
२. पीछे पृ० १११ देखें।

दी। आज जो कुछ शेष बचा है उसे देखते हुए ऐसा ज्ञात होता है कि डूंगरेन्द्रसिंह और कीर्तिसिंह के राज्यकाल में ग्वालियर में केवल जैन धर्म का अस्तित्व था। परन्तु ऐसी बात नहीं है। ग्वालियर गढ़ की जैन प्रतिमाओं को परवर्ती मुगुल शासकों ने खण्डित तो किया परंतु उन्हें पूर्णतः उखाड़ फेकने का पराक्रम वे नहीं कर सके। नगर में जितने भी जैन मंदिर और हिन्दू मन्दिर थे, उन्हें उन्होंने पूर्णतः नष्ट कर दिया। समस्त ग्वालियर नगर (पुराने ग्वालियर) में किसी प्राचीन मन्दिर की एक दीवार भी शेष नहीं है, यद्यपि बाबर की ग्वालियर यात्रा तक वे बहुत बड़ी संख्या में थे, ऐसा उसकी आत्मकथा से ही ज्ञात होता है।[1] रइधू के वर्णन से भी यह ज्ञात होता है कि ग्वालियर नगर में सैकड़ों जैन मन्दिर तथा विहार बने हुए थे। हिन्दू मन्दिरों का उल्लेख करना रइधू ने उचित नहीं समझा। उसके समस्त ग्रंथ जैनियों की धर्म-कथाएँ है, उनमें अन्य धर्मों के उपासना-स्थलों का वर्णन अप्रासंगिक ही होता। यह सुनिश्चित है कि गढ़ के नीचे बसे हुए ग्वालियर नगर में हिन्दू और जैन मन्दिर बहुत बड़ी संख्या में बने हुए थे और उनमें उपासना होती थी।

समकालीन जैनकवि पण्डित-रइधू ने अपने ग्रन्थ सम्मत-गुण-निहान में एक घटना का उल्लेख किया है। संवत् १४९२ वि० (१४३५ ई०) में साहु खेतसिंह के पुत्र कमलसिंह ने ग्यारह हाथ ऊँची जैन प्रतिमा का निर्माण कराया। इसके प्रतिष्ठोत्सव के लिए उन्होंने महाराज डूंगरेन्द्रसिंह से आज्ञा माँगी। राजा ने स्वीकृति देते हुए कहा, "आप इस धार्मिक कार्य को सम्पन्न कीजिए। मुझसे आप जो मांगेगे सो दूँगा।" इससे यह प्रकट होता है कि जैन मूर्तियों की स्थापना के लिए राजाज्ञा की आवश्यकता पड़ती थी, तथापि वह बिना कोई अपमानकारक प्रतिबन्ध के प्रदान भी कर दी जाती थी और राज्य की ओर से अन्य सम्प्रदायों के उत्सवों में पूर्ण सहयोग दिया जाता था।

डूंगरेन्द्रसिंह तथा कीर्तिसिंह के राज्यकाल में ग्वालियर के जैन भट्टारकों ने जैन शास्त्रों का बहुत बड़ा संग्रह कराया था और अनेक दुर्लभ ग्रन्थों की प्रतिलिपियाँ कराई थीं। एक जैन साहु पद्मसिंह ने चौबीस जिनालयों का निर्माण कराया तथा एक लाख ग्रन्थ लिखवा कर भेंट में दिए थे।

यह भी एक अद्भुत संयोग है कि जिस वर्ष (सन् १४३५ ई०) डूंगरेन्द्रहिं के राजकवि विष्णुदास ने पांडवचरित लिखा उसी वर्ष रइधू ने सम्मत-गुण-निहान तथा पार्श्वपुराण लिखे थे।

डूंगरेन्द्रसिंह की मैत्री कश्मीर के सुल्तान जैनुल-आबेदीन से हुई। यह मैत्री सम्बन्ध कीर्तिसिंह के साथ भी बना रहा।[2] तोमरों के ग्वालियर और जैनुल-आबेदीन के कश्मीर की धार्मिक उदार नीति में अद्भुत साम्य है। इल्तुतमिश द्वारा ग्वालियर में बनाई गई ईदगाह टूटी-फूटी पड़ी थी। डूंगरेन्द्रसिंह ने उसकी भी मरम्मत कराई। फज्ल अली के अनुसार चिश्ती

१. पीछे पृ० ८४ देखें।
२. पीछे पृ० ८६ देखें।

सिलसिले के मुस्लिम सन्त अब्दुल कासिम डूंगरेन्द्रसिंह के राज्यकाल में ही आकर ग्वालियर में बसे थे।[1]

हिन्दू सुरत्राण

कीर्तिसिंह का एक विरुद 'हिन्दू सुरत्राण' था, ऐसा एक जैन मूर्ति के शिलालेख से ज्ञात होता है।[2] यह विरुद राणा कुंभा ने भी धारण किया था; वे तो 'हिन्दू-गजराज-नायक' भी कहे जाते थे।[3] इन विरुदों से कुछ परिणाम निकाले जा सकते हैं। राजनीति के क्षेत्र में 'सुरत्राण' या 'सुल्तान' स्वतंत्र सत्ता का द्योतक है। परन्तु इसका यह आशय कदापि नहीं था कि 'हिन्दू सुरत्राणों' ने तुर्क या अफगानों के समान अन्य धर्म के अनुयायियों को पीड़ित या त्रसित किया हो। विगत दो-ढाई शताब्दियों में तुर्क सुल्तानों ने भारतीय जनता, विशेषतः हिन्दुओं को, अत्यधिक पद-दलित और अपमानित किया था। यह 'हिन्दू सुरत्राण' का विरुद केवल इस बात का प्रतीक था कि उसकी राज्य-सीमाओं के भीतर हिन्दुओं को अपने विश्वासों के अनुसार आत्म सम्मान पूर्वक जीवन-यापन करने का अवसर मिलेगा और वे यह प्रयास भी करते रहेंगे कि तुर्क सुरत्राण अपनी कट्टर धार्मिक नीति का परित्याग कर दें। ज्ञात यह भी होता है कि हिन्दू सुरत्राणों की 'हिन्दू' की परिभाषा में वे समस्त भारतवासी आते थे जो भारत में निवास कर रहे थे या करने लगे थे, उनका व्यक्तिगत धर्म क्या था, यह महत्वहीन था। उन सबकी रक्षा का कर्तव्य 'हिन्दू सुरत्राण' का था, उसकी प्रजा के समस्त धर्म उस के संरक्षण के अधिकारी थे। यह संतोष की बात है कि इन 'हिन्दू सुरत्राणों' के धर्मशास्त्रों ने उन्हें अन्य धर्मों और विश्वासों का उन्मूलन करने का उपदेश नहीं दिया था और न उपासना-गृहों को ध्वस्त करने का निदेश दिया था। उसकी राज-सभाओं की पण्डित-मण्डली ने ऐसी कोई व्यवस्था (यानी फतवा) भी नहीं दिया था। उनका विश्वास उन्हें निर्माण की प्रेरणा देता था, न कि विनाश की। उनके ग्वालियर के निम्न और मध्य श्रेणी के लोग पीर और शेख को भी उतना ही आदरास्पद मानते थे जितना साधु, मुनि, सन्यासी, योगी और ब्राह्मण को।

कटुता और स्नेह, विनाश और निर्माण, प्रजा-पीड़न और प्रजा-पालन का यह परस्पर विरोधी तत्व भारतीय इतिहास की गंभीर समस्या है। दुर्भाग्य से 'तुर्क सुरत्राण' केवल अपवाद के रूप में ही कटुता, विनाश और प्रजा-पीड़न की परम्परा का परित्याग कर सके। वे भारत की उदात्त भावनाओं से पूर्ण परिचय कभी प्राप्त न कर सके और कटुता की दीर्घ-जीवी परम्पराएँ छोड़ गए। इन परिस्थितियों में भी 'हिन्दू सुरत्राण कीर्तिसिंह' भारतीय उदात्त परम्पराओं को भुला न सका और सभी धर्मों के प्रति उदार बना रहा। यह असाधारण बात अवश्य है, तथापि है भारतीय परम्पराओं के अनुकूल। उसका बुजुर्ग मित्र जैनुल-आबेदीन उसके समक्ष ऐसा आदर्श प्रस्तुत कर चुका था।

---

१. फज्ल अली के अनुसार अब्दुल कासिम डूंगरेन्द्रसिंह के राज्यकाल में ग्वालियर में आए थे। वे झाड़ी में बैठे रहते थे। उनसे शेख मोहम्मद गौस ने बैयत ली थी।

२. पीछे पृ० ९५ देखें।

३. आन्ध्र में इसी समय एक हिन्दू राजा ने 'आन्ध्रसुरत्राण' का विरुद धारण किया था।

हुसैनशाह शर्की मदावर में लुट-पिट कर ग्वालियर आया था। वह और उसके साथी मुसलमान सैनिक तथा आलिम नमाजी थे। ग्वालियर में उनकी उपासना की पूर्ण सुविधाएँ थीं, मस्जिदें भी थीं और ईदगाहें भी। कीर्तिसिंह ने उन उपासना-गृहों को बरबाद न होने दिया।

कल्याणमल्ल का धर्म-समन्वय

समकालीन हिन्दी कवि दामोदर के अनुसार कल्याणमल्ल का व्यक्तिगत धर्म वैष्णव था। वह ब्राह्मणों को दान देता था, एकादशी का व्रत रखता था और उस दिन गोदान भी करता था। वह नाथपंथ के अनुसार योगाभ्यास करता था।[1]

अयोध्या का अपदस्थ अफगान सूबेदार लादखाँ दिल्ली के सुल्तान से झगड़ कर ग्वालियर आ गया और कल्याणमल्ल की शरण में बस गया। कल्याणमल्ल ने उसका पूर्ण सत्कार किया। स्थापत्य का साक्ष्य यह कहता है कि कल्याणमल्ल के राज्यकाल में ग्वालियर में कम-से-कम एक नवीन मस्जिद अवश्य बनी थी। लदेड़ी की मस्जिद वास्तव में 'लादखाँ की मस्जिद' है। वह गढ़ से बहुत दूर नहीं है। उसमें दी जाने वाली अजान गढ़ पर सुनाई देती होगी।

हजरत मुहम्मद इस्लाम के अन्तिम नबी थे, उनके पहले अनेक नबी संसार में आए थे, उनमें से एक नबी हजरत सुलैमान भी थे। लादखाँ के सम्मानार्थ कल्याणमल्ल ने संस्कृत में सुलैमच्चरितम् भी लिखा। इस ग्रन्थ की रचना-शैली भी अद्भुत है। वह निम्नलिखित पंक्तियों से प्रारम्भ होता है—

श्रीशमीशंच वागीशं लक्ष्मीं गौरीं सरस्वतीम्।
गणेशमपिवाल्मीकिं व्यासंचापिनमाम्यहम्॥

फिर लादखाँ का वर्णन है। उसके पश्चात् कल्याणमल्ल लिखते हैं कि जब द्वापर का अन्त हुआ और कलियुग का प्रारम्भ हुआ तब दावुद के तनय 'विद्वान ज्ञान विग्रह सुलैमान' का अवतार हुआ। सुलैमान के शत्रुओं की उपमा रावण से दी गई है। सुलैमच्चरितम् में हजरत सुलैमान को अवतार के रूप में प्रस्तुत किया गया है।

कल्याणमल्ल के राजकवि नारायणदास ने तुर्क-हिन्दू विद्वेष के शमन के उद्देश्य से अपना 'छिताई-चरित' लिखा था। हिन्दुओं के लिए अलाउद्दीन खलजी यमराज के तुल्य था। उनका धन, धर्म, सम्मान सभी कुछ उसके निरंकुश शासनकाल में नष्ट हुआ था। नारायणदास ने उसी को अपने आख्यान का प्रमुख नायक बनाया। अलाउद्दीन जैसे व्यक्ति के चरित्र में भी नारायणदास ने ऐसा मोड़ दे दिया कि वह तत्कालीन हिन्दुओं के लिए भी घृणास्पद नहीं रह गया। उस बात पर घोर विवाद है कि अलाउद्दीन ने देवगिरि के राजा रामचन्द्र की राजकुमारी को अपनी पत्नी बनाया था या नहीं, अथवा उसने चित्तौड़ की पद्मिनी को देखा था या नहीं। मध्ययुग के मुसलमान इतिहासकार और कुछ आधुनिक

---

१. पीछे पृ० १२१ तथा १२२ देखें।

इतिहासकार इस विषय में एकमत हैं कि अलाउद्दीन की 'झपतयाली' नामक बेगम देवगिरि की राजकुमारी ही थी।[1] मलिक मुहम्मद जायसी ने अलाउद्दीन द्वारा पद्मिनी के दर्पण द्वारा दर्शन की कहानी ही लिख डाली है। परन्तु नारायणदास कुछ और कहता है—

रनथम्भोर देवलि लगि गयौ, मेरौ काज न एकौ भयौ ॥
इउँ बोलइ ढीली कउ धनी, मैं चीतौर सुनी पद्मिनी ।
बन्ध्यौ रतनसेन मइ जाई, लइगौ बादिल ताहि छुड़ाई ॥

इससे तो ऐसा ज्ञात होता है कि न देवलदेवी का किस्सा सही है, न पद्मिनी का। इतिहास की बात इतिहास जाने, नारायणदास का अलाउद्दीन देवलदेवी को लेने में असफल रहा था और चितौड़ में कोई पद्मिनी स्त्री थी ऐसा उसने सुना मात्र था।

नारायणदास की प्रतिभा का सर्वोत्कृष्ट स्वरूप उस समय दिखाई देता है जब अलाउद्दीन देवगिरि की राजकुमारी छिताई को पकड़ लेता है। छिताई ने अलाउद्दीन से यह वचन ले लिया कि वह उसे पुत्रीवत् मानेगा। दुखी होकर अलाउद्दीन ने कहा—

जिहि लगि मइं कीनी ठकुराई, सोऊ बात न सीरध भई ।
लीलति सांप छछूंदरि जइसे, भयौ बखानौ मोकहु तइसे ॥
पाप दिष्टि छोड़ी नरनाथा, सउंपी राघौचेतन हाथा ।
बारह सहस टका दिनमाना, आपुन बंध कियौ सुरितांना ॥

फिर छिताई के पति समरसिंह की खोज हुई। जब वह मिल गया तब उसे जँवाई-राजा मानते हुए अलाउद्दीन ने छिताई को उसे सौंप दिया। कृतज्ञतावश समरसिंह ने अलाउद्दीन को आशीर्वाद दिया—

कहइ सौंरसी सुनहु नरेसा, तोहि धाक कंपहि अरि देसा ।
तोहि धका पुहुमी जिउ नाहीं, अइसौ भयौ न कोई साही ।
तुम बाचा पाली आपुनी, कीरति चलइ राइ तुम तनी ।

तोमरवंशी राजपुत्र कल्याणमल्ल अथवा महाकवि विष्णुदास का पुत्र नारायणदास किसी भय से हिन्दू-मुस्लिम ऐक्य का मार्ग प्रशस्त नहीं कर रहे थे। वे विगत इतिहास को

---

१. 'झपतयाली' देवगिरि की राजकुमारी थी यह मानना कठिन है। वह देवगिरि की कोई अन्य सुन्दरी होगी। देवगिरि के राजा रामदेव की राजकुमारी को अलाउद्दीन ने पकड़ अवश्य लिया था, तथापि किसी कारण उसे वह अपनी मलिका नहीं बना सका। नारायणदास के अतिरिक्त हिन्दी के एक अन्य कवि के कथन से भी यही निष्कर्ष निकलता है। छिताई को अलाउद्दीन द्वारा पकड़े जाने के विषय में केशवदास ने वीरचरित्र में लिखा है—"हती छिताई अति सुन्दरी, सो पुनि छलबल तुरकनि हरी"। नारायणदास ने इस 'छलबल' की पूरी कथा कही है। केशव के अन्य कथन से यह ज्ञात होता है कि अलाउद्दीन उसे पत्नी बनाने में सफल न हो सका था—"तूं बपुरा को दुख दै सकै, कैसे पंगु सिधु कौं नकै। साहि छिताई कौं लै जाई, बिहना फूल्यो अंग न माई।" इससे यह ज्ञात होता है कि छिताई का किसी प्रकार उद्धार हो गया था। संभव यही है कि नारायणदास का विवरण ठीक हो।

भूले भी नहीं थे। परन्तु एक ही धरती पर रहने वाले निरन्तर लड़ते न रहें इसके लिए स्वस्थ वातावरण के निर्माण की आवश्यकता थी। कल्याणमल्ल और नारायणदास यही कर रहे थे।

जिस प्रकार विद्यापति ने इब्राहीम शर्की-कालीन जौनपुर का चित्र प्रस्तुत किया है, वैसा चित्र किसी ने कल्याणमल्ल के ग्वालियर का प्रस्तुत नहीं किया है। तथापि यह सुनिश्चित है कि लादखाँ और उसके साथी अफगान, तुर्क, आलिम आदि यहाँ 'हिन्दू' शब्द का प्रयोग गाली के रूप में न करते होंगे और न वे ब्राह्मण के बालक से गाय का चमड़ा उठवाने का प्रयास करते होंगे। न वे अपमान कर सकते होंगे न उनका अपमान होता होगा। कल्याणमल्ल के ग्वालियर में हिन्दू और मुसलमान समान स्तर पर पूर्ण सौहार्द के साथ मिले थे। मध्ययुगीन भारत के ग्वालियर को भारतीय सामासिक संस्कृति की धात्री होने का श्रेय दिया जा सकता है। उसके इस स्वरूप की रचना का प्रारंभ डूंगरेन्द्र-सिंह ने किया था, कीर्तिसिंह ने उसे आगे बढ़ाया, कल्याणमल्ल ने उसे अत्यधिक विकसित किया तथा उसका परम तेजस्वी और पूर्ण रूप दिखाई दिया मानसिंह तोमर के समय में।

ग्वालियर का यवनपुर

मित्रसेन के शिलालेख में कल्याणमल्ल के विषय में लिखा है—"यवनपुरपतिम् स्थापयामास राज्ये"। यवनपुर (जौनपुर) के अधिपति (लादखाँ) को कल्याणमल्ल ने अपने राज्य में कहाँ स्थापित किया था? उस स्थान पर जिसे आजकल लदेड़ी, जगनपुर या जौनपुरा कहा जाता है।

गोपाचलगढ़ की हिंडोलापौर से बाहर निकलने पर आगे आलमगीरी द्वार है। यह बहुत बाद की, अर्थात् औरंगजेब के समय की रचना है। आलमगीरी द्वार से बाईं ओर जाने पर एक मस्जिद मिलती है। यह भी औरंगजेब के समय की है। उसके आगे बाबा किपूर का मजार है जो अकबर के समय में बना था। सँकरी घनी बस्ती में आधा मील चलने पर सड़क के बाईं ओर एक विशाल भवन बना हुआ है, जो आजकल मस्जिद के रूप में उपयोग किया जाता है। सड़क के दाहिनी ओर एक विशाल भवन और है जो वास्तव में मस्जिद है, उसके सामने जलाशय भी हैं जो अब सूख गया है। इस मस्जिद के ठीक सामने एक टीले पर एक उत्तुंग द्वार बना हुआ है, जिसे बिना पौर का दरवाजा कहा जाता है, क्योंकि उसके आगे-पीछे कोई निर्माण नहीं है। नीचे की मस्जिद के बायीं ओर एक लगभग ५० फुट ऊँचा द्वार है। उसके कुछ अंश को आजकल पत्थरों से बन्द कर रखा है। थोड़ा और आगे चलने पर एक प्रवेश द्वार है जिसे आजकल 'दिल्ली दरवाजा' कहते हैं। यही क्षेत्र लदेड़ी है। यह कभी लद्दनखेड़ी या लादगढ़ अर्थात् ग्वालियर का जौनपुर था। उसके नाम अब हो गए हैं, जगनपुर और लदेड़ी। कल्याणमल्ल ने लादखाँ लोदी को यहीं स्थापित किया था।

इस स्थान का अभी तक पुरातात्विक दृष्टि से सर्वेक्षण नहीं हुआ है। गोपाचलगढ़ के उत्तर में बने भवनों के इस समूह में भारतीय वास्तुकला के एक ऐसे अंग के दर्शन होते हैं जो अन्यत्र दुर्लभ है। मस्जिद के पीछे वर्तमान सड़क के दूसरी ओर जो भवन समूह है उसके चारों ओर के प्राचीर की छतरियों पर तथा मुख्य भवन पर जो गुम्बदें बनी हैं वे दुहरी हैं। नीचे से गोल गुम्वद ऊपर की ओर जाती है और उसके ऊपर कमल का आवरण लगभग आधे भाग तक चढ़ाया गया है। उसके ऊपर है आमलक। गूजरी महल की छतरियों पर भी ठीक ऐसी ही गुम्वदें बनी हुई हैं। इसकी पाँच खम्भों की छतरियाँ भी ध्यान आकर्षित करती हैं। बहुधा छतरियों में चार, छह या आठ खम्भे होते हैं; परन्तु इस निर्माण की सभी छतरियों को पाँच खम्भों पर साधा गया है। इस भवन में कुछ बाद में भी जोड़ा-तोड़ा गया है और उसका आजकल मस्जिद के रूप में उपयोग हो रहा है, तथापि मूलतः यह मस्जिद कदापि नहीं है। हमारा यह अनुमान है कि यहाँ लादखाँ को ठहराया गया होगा।[1]

इस भवन की आधी मंजिल अब पुर गई है और वहाँ ऊँची सड़क बना दी गई है। सड़क के दूसरी ओर जो मस्जिद बनी है वह अपने ढंग की अकेली ही है। उसके पीछे, उसकी एक मंजिल का आधा भाग दबाती हुई आधुनिक सड़क है। दूसरी ओर कुछ परवर्ती कब्रें बना दी गई हैं। कब्रों के पास बहुत बड़ा पानी का हौज है जो अब सूखा पड़ा है। मिम्बर अभी तक बना हुआ है, उसके ऊपर की लदाव की विशाल छत गिर पड़ी है। उसमें नीचे के तलघर में जाने के लिए सीढ़ियाँ भी हैं और ऊपर छत पर जाने के लिए भी। यह बात सुनिश्चित ज्ञात होती है कि यह किसी मन्दिर को तोड़कर बनाई गई मस्जिद नहीं है, इसका एक-एक पत्थर इसी के लिए गढ़ा गया है। यह मस्जिद तोमर राजा कल्याणमल्ल ने अपने मित्र लादखाँ के लिए बनवाई थी।

इस मस्जिद की बायीं ओर जो विशाल द्वार बना हैं, वास्तव में वह किसी उद्यान या अन्य ऐसे ही स्थल का प्रवेश द्वार है। लगभग ५० फुट ऊँचे इस निर्माण में गोखें भी बनाई गई हैं और टोड़ियाँ भी लगी हैं। इसके मुख-भाग पर बहुत सुन्दर जाली काटी गई है। इस समस्त निर्माण में किसी पशु-पक्षी या लता-द्रुम का अलंकरण नहीं है और केवल ज्यामितिक आकारों के अलकरण हैं। इसकी गोखें, तोड़े तथा कटाव ठीक वैसे ही हैं, जैसे मानमन्दिर और गूजरीमहल के हैं; तथापि इसमें रंगीन टाइलों का अभाव है।

इस द्वार का छोटा प्रतिरूप कुतवार ग्राम में स्थित द्वार है, परन्तु वह छोटा है। इस निर्माण को सुनिश्चितरूपेण कल्याणमल्ल के समय का माना जा सकता है। इन भवनों का निर्माण कल्याणमल्ल ने अपने अतिथि लादखाँ के उपयोग के लिए कराया था। इनका समस्त वास्तु तोमरकालीन ग्वालियरी है, तथापि गुम्वदों के कमलों को छोड़कर

१. इस भवन की तुलना गूजरीमहल से करने पर उनकी वास्तुशैली का साम्य स्पष्ट हो जाता है।

सर्वत्र पठानों की धार्मिक भावना का समादर किया गया है। संभवतः भारत की यह पहली मस्जिद है जो पूर्ण धार्मिक भावना से हिन्दू राजा और हिन्दू कारीगरों ने निर्मित कर अपने अफगान मेहमानों को अर्पित की थी।

टेकरी के ऊपर जो बिना पौर का दरवाजा है, उसका उपयोग किस रूप में होता था, यह समझना कठिन है। वह पश्चिम-पूर्व को मुँह किए हुए भी नहीं है। इसी प्रकार का एक निर्माण चन्देरी में है जिसे "बादल महल द्वार" कहा जाता है। परन्तु उसमें प्रवेश कर आगे भवनों में पहुँचा जाता है। लदेड़ी के इस द्वार में प्रवेश कर कहीं भी नहीं पहुँचा जा सकता।

लदेड़ी का समस्त निर्माण निश्चय ही तोमर कालीन है। दिल्ली दरवाजे के आगे अलाउद्दीन खलजी के समय की बारादरी है। परन्तु वह अब ध्वस्तप्राय है।

ज्ञात यह होता है कि दिल्ली द्वार से प्रवेश करते ही तोमरकालीन ग्वालियर के मुसलमानों की बस्ती प्रारंभ हो जाती थी। यहीं तोमरों के मुसलमान अतिथि ठहरते थे और यहीं आकर ग्वालियर गढ़ को जीतने के लिए आजम हुमायूं ठहरा होगा। वह जो हुआ हो, यह सुनिश्चित है कि लादखाँ लदेड़ी के इन निर्माणों में ही ठहरा था। यहाँ तोमरों के वास्तुकलाविदों ने इस्लाम के प्रति अपनी सद्भावना अर्पित की थी और हिन्दू तथा मुसलमानों को सह-अस्तित्व का पाठ पढ़ाया था।

मानसिंह की धर्म-नीति

कल्याणमल्ल की धार्मिक नीति सहिष्णुता नहीं कहीं जा सकती, वह उससे कुछ अधिक थी। उसने इस्लाम के प्रति आत्मीयता का प्रदर्शन किया था, जो सहिष्णुता से कुछ आगे होता है।

अपने राज्यकाल के प्रारम्भ होने के उपरान्त ही मानसिंह ने नवीन भवनों का निर्माण प्रारम्भ कर दिया था तथा अपनी साहित्य और संगीत की साधना भी प्रारम्भ कर दी थी। साहित्य और संगीत जन-सान्निध्य की अपेक्षा करते हैं और वह गढ़ के ऊपर संभव नहीं था। उस युग में सूफियों ने संगीत को अपनी उपासना का ही अंश बना लिया था। मानसिंह की संगीत-सभा में कुछ मुसलमान भी सम्मिलित हो गए थे, जो सम्भवतः सूफी नहीं थे। इस सब समाज को गढ़ के ऊपर ले जाने में असुविधा होती, अतएव गढ़ के नीचे बादलगढ़ का निर्माण किया गया जिसका केन्द्र था वह महल जो अब गूजरीमहल के नाम से प्रख्यात है। इसी महल के प्रवेश द्वार पर अरबी अक्षरों में इस्लाम का धर्म-मंत्र "लाइ-लाहा इल्लिल्लाह, मुहम्मदुर्रसूल्लाह" लिखवा दिया गया। बाह्य दृष्टि से जितना परीक्षण किया जा सकता है उसके उपरान्त हम इस परिणाम पर पहुँचे है कि यह लेख मूल निर्माण के साथ ही जड़ा गया है। उसकी हरी टाइल्स का वैज्ञानिक परीक्षण हमारी सामर्थ्य और अधिकारिता से बाहर है। जब तक इस कला के विशेषज्ञ यह सिद्ध न कर दें कि यह बाद की कारसाजी है, तब तक मान कर यह चलना पड़ेगा कि यह लेख मानसिंह

ने ही जड़वाया था और निश्चय ही सन् १४६४ ई० के पूर्व जड़वाया था क्योंकि तब तक मानमन्दिर और गूजरीमहल के समस्त निर्माण पूर्ण हो चुके थे। फिर प्रश्न यह उठता है कि क्या ऐसी संभावनाएँ हैं कि अपने एक महल के प्रवेश द्वार पर मानसिंह इस्लाम के कलमे को जड़वा दे? हमारा स्वयं का विचार है कि यह सम्भावना थी। मानसिंह ने, संभव है, कुछ हिन्दू मंत्र और जैन मंत्र भी गूजरी महल पर जड़वाएँ होंगे जो परवर्ती समय में उखाड़ दिए गए हों। संभव है, इन मंत्रों युक्त अन्य भवन हों जो तोड़ दिए गए हों। गूजरी-महल के पीछे सुनिश्चित रूप से गूजरीमहल से भी ऊँचा शिव-मन्दिर था।[1] उसके द्वार पर रखे विशाल नन्दी पर भी कुछ खुदवाया गया होगा। परन्तु जो उपलब्ध नहीं है उसके आधार पर कोई परिणाम निकालना उचित नहीं है। प्रश्न मात्र यही शेष रह जाता है कि मान-सिंह ने यह कलमा जड़वाया क्यों था? नियामतुल्ला लिखता है कि मानसिंह बाह्य रूप से ही हिन्दू था हृदय से मुसलमान था क्योंकि उसने कभी किसी व्यक्ति (मुसलमान) के प्रति हिंसा का प्रयोग नहीं किया।[2] तब क्या यह कलमा 'हृदय से मुसलमान' होने का बाह्य प्रतीक है? सुनिश्चित रूप से नहीं। यह मानसिंह की युग-निर्माणकारी धर्म-समन्वय की नीति का प्रतीक है। जिस महल में हिन्दू-मुसलमान-सिद्ध-सूफी-दरवेश एकत्रित बैठ कर वाग्देवी की आराधना करते थे, उस भवन पर अपने मुसलमान नागरिकों की धर्म-भावना का समादर करने के प्रयोजन से कलमा अंकित कराया गया था। अपने आश्रित मुसलमानों की धर्म-भावना का सम्मान करना मानसिंह ने अपने पिता कल्याणमल से सीखा था।

जैसा नियामतुल्ला ने लिखा है, मानसिंह न वाह्य रूप से मुसलमान था न आन्त-रिक रूप से। वह परम वैष्णव था। उसने अपना राजचिह्न पृथ्वी का उद्धार करने वाले वराहवपु को बनाया था।[3] गोपाचल को वह अपना गोवर्धन मानता था। परन्तु यह उसका व्यक्तिगत धर्म था। उसे अपने राज्य की प्रजा के सभी धर्मों से लगाव था, जितनी धर्म साधनाएँ उस समय उत्तरी भारत में प्रचलित थीं, मानसिंह उन सबका सम्मान करता था।

खड्गराय ने इस विषय में विस्तार से नहीं लिखा है, तथापि उसने संक्षेप में सब कुछ कह दिया है[4]—

छह दरसन कौं दीनौ दान।

ये 'छह दर्शन' भारत के प्राचीन षट्दर्शन नहीं है। वे क्या थे इसे कबीर ने स्पष्ट किया है—

आलम दुनी सबै फिरि देखी, हरि बिन सकल अयाना।
छह दर्शन छियानवै पाखण्ड, आकुल किनहु न जाना॥

---

१. महल के पास जो मंदिर बनता है, वह महल से ऊँचा रखा जाता है। साथ ही इस शिव-मन्दिर के जो आमलक पड़े हैं वे भी इसकी उत्तुंगता की ओर संकेत करते हैं।

२. पीछे पृ० १६५ देखें।

३. पीछे पृ० १३०, १३१, ४१ तथा ४२ देखें।

४. पीछे पृ० ६७ देखें।

सोजना के पास प्राप्त जैनमूर्ति
(प्रस्तावना तथा पृष्ठ २१६ देखें)

कबीर और खड्गराय द्वारा उल्लिखित छह दर्शन निम्नलिखित हैं—

> जोगी, जंगम, शेवड़ा, सन्यासी, दरवेस।
> छठवा कहियें ब्राह्मनहि, छौ करि छौ उपदेस।

इनमें 'शेवड़ा' जैनी है और 'दरवेश' मुसलमान। छियानवे पाखण्ड भी परिभाषित हो चुके थे—

> छह सन्यासी, बारह जोगी, चौदह शेख बखाना।
> अठारह ब्राह्मण, बाइस जंगम, चुबिश शेवड़ा जाना।।

नाथपंथी योगियों की पीठ को तोमरों के समय ग्वालियर में पर्याप्त प्रतिष्ठा प्राप्त थी। उसे राज्य से सहायता भी मिलती थी। ब्राह्मणों को भी मानसिंह ने बहुत प्रश्रय दिया था।[1] शेवड़ा अर्थात् जैनी भी यथावत् राज्याश्रय प्राप्त किए रहे। मानसिंह के समकालीन चतरू ने नेमीश्वर गीत में लिखा है—

> एक सोबन की लंका जिसी, तौंवरु राऊ सबल बरबीर।
> भुजबल आपुनु, साहस धीरु, मानसिंह जग जानिए।।
> ताके राज सुखी सब लोग, राज समान करहिं दिन भोग।
> जैन धर्म बहुविधि चलैं, श्रावग दिन जु करें षट्कर्म।

चतरू के साक्ष्य के आधार पर यह कहा जा सकता है कि मानसिंह ने समय में जैन श्रावक प्रतिदिन अपनी रुचि के अनुसार 'षटकर्म' करने के लिए स्वतंत्र थे।

परन्तु 'दरवेश और शेखों' के विषय में मानसिंह की नीति क्या थी उसका कोई प्रत्यक्ष विवरण प्राप्त नहीं होता। कल्याणमल्ल के समय में जो अफगान और तुर्क ग्वालियर में आ बसे थे, उनमें से अनेक ग्वालियर में ही स्थायी रूप से बस गए होंगे। नियामतुल्ला के संक्षिप्त कथन और गूजरीमहल के कलमे को देखकर यह परिणाम निकाला जा सकता है कि महाराज मानसिंह अपनी मुसलमान प्रजा के धर्म को भी अत्यधिक सम्मान देते थे।

गूजरीमहल के द्वार पर कलमा जड़वा देने के कृत्य ने मानसिंह के प्रतिद्वंद्वी अफगान सुल्तान सिकन्दर लोदी पर कोई कल्याणकारी प्रभाव नहीं डाला। मानसिंह मथुरा भी गए थे और वहाँ से वे कल्याणकर चतुर्वेदी को ग्वालियर लाए थे।[2] उसके उपरान्त ही उन्होंने सुना होगा कि सिकन्दर ने मथुरा ध्वस्त कर डाली और वहाँ का मुख्य मन्दिर भी धराशायी करा दिया; उसने नरवर, पवाया, धौलपुर तथा मुंदरामल के मन्दिर भी तुड़वा दिए। ऐसे उत्तेजक वातावरण में भी मानसिंह ने अपना मानसिक संतुलन न खोया और वे अपनी प्रजा के समस्त धर्मों को समान आदर देते रहे। न उन्होंने ग्वालियर की मस्जिदें तोड़ीं और न गूजरीमहल के मस्तक पर से कलमा पुछवाया। सिकन्दर अपनी राह चला, मान अपनी राह चला।

---

१. पीछे पृ० १३८-१३९ देखें।

२. पीछे पृ० १३९ देखें।

मानसिंह के धर्म-समन्वय का एक अन्य साक्ष्य बैजू का एक ध्रुपद है। संगीताचार्य (नायक) बैजू संगीत में मानसिंह का शिष्य था और जाति से नागर ब्राह्मण। उसने, संभवतः, गूजरीमहल ही में एक ध्रुपद सुनाया था—

एहो ज्ञान रंगे ध्यान रंगे मन रंगे सब अंगन रंगे।
प्रथम राम-कृष्ण रंगे रहीम-करीम रंगे घटघट ब्रह्म रंगे ॥
रोम-रोम मन रंगे हरि सन रंग रंगे ॥
जप रंगे तप रंगे तीरथ व्रत नेम रंगे सर्वमयी अंग-अंग रंगे।
जीव जन्तु पन्नग पशु एक ईश्वर रंग रंगे सुरनरमुनि संग रंगे।
बैजू प्रभु कृष्ण रग रंगे ॥

'बैजू-प्रभु' से बैजू का आशय मानसिंह से ही है। बैजू का यह प्रभु मूलतः कृष्ण भक्त था। वह योग के ज्ञान और ध्यान का भी अभ्यासी था। साथ में 'रहीम-करीम' और 'एक ईश्वर' पर भी विश्वास करता था। कलमा का भाष्य आलिमों ने इतना विस्तृत नहीं किया था, यह भाष्य उस समय के उन भारतीयों द्वारा किया गया था जो सभी धर्मों के सह-अस्तित्व पर विश्वास करते थे।

यह भी संभव ज्ञात नहीं होता कि गूजरीमहल के द्वार पर कलमा किसी के भय या आतंक के कारण खुदवाया गया हो। बहलोल ने सत्ता हाल ही में प्राप्त की थी और उसे अपनी आन्तरिक स्थिति सुदृढ़ करने के लिए ही बहुत प्रयास करने पड़ रहे थे। वह ग्वालियर पहुँच भी नहीं सका था।[1] सिकन्दर लोदी और मानसिंह के बीच संघर्ष सन् १५०५ ई० में प्रारम्भ हुआ था। उसके पहले मानसिंह अपने सब निर्माण पूरे कर चुके थे। जिस समय गूजरीमहल निर्मित हुआ था उस समय किसी सुल्तान की दृष्टि ग्वालियर की ओर नहीं थी। ऐसी दशा में विवशता पूर्वक कलमा-भक्त बनने का कारण भी नहीं था, और उससे कुछ लाभ भी नहीं था। उस समय जो युद्ध हो रहे थे वे राज्य विस्तार के लिए हो रहे थे, उनमें हिन्दू-मुसलमान का प्रश्न ही नहीं था। लोदियों ने सैयिदों को समाप्त किया, फिर लोदी और शर्की लड़े, उधर मालवा के खलजी तथा गुजरात के सुल्तान भी आपस में लड़ रहे थे। यदि ग्वालियर की तलवार निर्बल होती तब 'कलमा' उसे बचा नहीं सकता था।

परिणाम एक ही निकाला जा सकता है। यह मानसिंह की उदार धार्मिक नीति थी कि उसने अपने एक महल के द्वार पर अरबी में कलमा उत्कीर्ण करा दिया।[2] जिस भावना

---

१. पीछे पृ० १५३ देखें।

२. यदि यह कलमा बाद की कारस्तानी हो तब भी मानसिंह की उदार धार्मिक नीति के विवेचन पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता। मानसिंह द्वारा महल के द्वार पर कलमा अंकित कराना कोई अनहोनी घटना नहीं है। विजयनगर साम्राज्य का सम्राट् देवराय द्वितीय (१४२३-१४४६ ई०) भी अपनी मुसलमान प्रजा की मनःतुष्टि के लिए अपने राजसिंहासन के समक्ष कुर्आन शरीफ की प्रति रखता था। उसने उनके लिए विजयनगर में एक मस्जिद भी बनवाई थी।

से प्रेरित होकर कल्याणमल्ल ने 'सुलैमच्चरितम्' लिखा था, उसके पुत्र मानसिंह ने उसी भावना से प्रेरित होकर यह कलमा अंकित कराया था। यह उदारता मानसिंह को दाय में मिली थी।

जैनुल-आवेदीन ने जब ब्राह्मणों को सुविधाएँ देना प्रारम्भ किया तब किसी आलिम या शेख ने प्रकटतः उसका विरोध नहीं किया था। मानसिंह द्वारा इस्लाम के धर्म-मन्त्र के प्रति समादर दिखाने का प्रभाव उसकी राजसभा की पण्डित-मण्डली पर क्या पड़ा था इसका कुछ संकेत प्राप्त होता है। मानसिंह के राजपुरोहित शिरोमणि मिश्र उससे रुष्ट होकर मेवाड़ चले गए थे। शिरोमणि मिश्र के वंशज केशवदास ने इस विषय में केवल संकेत किया है[1]—

> **भए त्रिविक्रम मिश्र तब, तिनके पण्डित राय,**
> **गोपाचल गढ़ दुर्गपति जिनके पूजे पाय ॥**
> **भाव मिश्र तिनके भये, जिनकै बुद्धि अपार।**
> **भए शिरोमणि मिश्र तब, षटदर्शन अवतार ॥**
> **मानसिंह सौं रोस करि, जिन जीती दिसि चार।**
> **ग्राम बीस तिनकों दये, राणा पांव पखार ॥**
> **तिनके पुत्र प्रसिद्ध जग, कीन्हें हरि हरिनाथ।**
> **तोमर पति तजि और सौं, भूलि न ओढ्यो हाथ ॥**

इस वंशावली से केवल यह प्रकट होता है कि शिरोमणि मिश्र धर्मशास्त्र के वहुत वड़े विद्वान थे और वे मानसिंह से रुष्ट होकर राणा के पास मेवाड़ चले गए थे। केशव ने शिरोमणि मिश्र के रोष का कारण नहीं वतलाया। यह सुनिश्चित रूप से कहा जा सकता है कि पौराणिक पण्डित के रोष का कारण यही गूजरीमहल का कलमा था। इसी समय ग्वालियर का एक ब्राह्मण बोधन यह मानने लगा था कि इस्लाम भी सत्य है, परन्तु शिरोमणि मिश्र उस वर्ग का प्रतिनिधित्व करते थे जो धर्म के मामले में यवन की छाया पड़ते भी न देख सकते थे। आलिम हों या पण्डित, धर्म-समन्वय उनके वर्चस्व के विरुद्ध प्रवल चुनौती था, वे उसके लिए न कभी सहमत हुए, न हो सकते हैं।

इस प्रसंग में भी मानसिंह ने अत्यन्त उदारता का परिचय दिया। शिरोमणि मिश्र राजा की नीतियों का तिरस्कार कर ग्वालियर छोड़ गए, तथापि राजा ने उनके पुत्र हरिनाथ को ही पुरोहित वना दिया और उन्हें इतना देता रहा कि किसी अन्य के सामने हाथ फैलाने की उन्हें आवश्यकता न पड़ी। निरंकुश एकतंत्र राज्य के अधिपति में इस प्रकार की उदारता और सहिष्णुता दुर्लभ है। यदि शिरोमणि मिश्र के 'रोष' का उत्तर मानसिंह 'रोष' से देते तव हरिनाथ ग्वालियर में नहीं रह सकते थे। परन्तु वे रहे और सम्मान के साथ रहे।

---

१. पीछे पृ० ३९ देखें।

मानसिंह के इस धर्म-समन्वय का समकालीन शेखों और सूफियों पर क्या प्रभाव पड़ा, इसका भी कोई प्रत्यक्ष प्रमाण नहीं मिलता। नियामतुल्ला का कथन अत्यन्त अस्पष्ट है। नियामतुल्ला का समय भी बहुत बाद का है। तथापि यह सुनिश्चित है कि मानसिंह की उदाराशयता का उस समय के कुछ सूफियों पर बहुत अधिक प्रभाव पड़ा था। शेख निज़ामुद्दीन औलिया हिन्दुओं को अपनी जीवन-पद्धति और विश्वासों के अनुसरण की स्वतंत्रता को ही स्वीकार कर सके थे। मानसिंह के समय में सूफियों का एक वर्ग इसके बहुत आगे बढ़ गया था।

मीर अब्दुल वाहिद बिलग्रामी की रचना हकायके-हिन्दी का उल्लेख हम पहले कर चुके हैं।[1] इसके सम्पादक तथा अनुवादक सैयिद अतहर अब्बास रिजवी ने इसके विषय में लिखा है—"हकायके-हिन्दी मीर अब्दुल वाहिद बिलग्रामी की उस समय की कृति है जब अकबर पाखण्डी आलिमों के चुंगल से न निकल सका था और उसके शासन काल के केवल १० वर्ष ही व्यतीत हुए थे, अतः इस पुस्तक को समकालीन बादशाह की देन नहीं अपितु समय की पुकार समझना चाहिए।"[2] समय की इस पुकार के निर्माण में जितना हाथ जैनुल-आबेदीन का था उससे अधिक हाथ महाराज मानसिंह तोमर का था, क्योंकि वह शताब्दियों से पीड़ित होते रहे वर्ग का राजा था। उस उत्पीड़न का प्रतिशोध लेने का उसे अवसर प्राप्त हो गया था। यह उसकी समाज-धारक नीति थी कि उसने प्रतिशोध का मार्ग त्याग धर्म-समन्वय का मार्ग अपनाया था। वह विस्तृत दृष्टिकोण का महान् भविष्य-द्रष्टा था अतएव उसने राम-कृष्ण के साथ रहीम-करीम को भी वन्दनीय माना तथा अरबी अक्षरों में कलमा को भी अपने एक महल पर लिखवाया। इसका कल्याणकारी प्रभाव पड़ा और एक सूफी विद्वान बिलग्रामी ने भारतीय धर्म के क्षेत्र में एक नवीन शब्दकोश प्रस्तुत किया। कबीर ने भी कहा था, जो महादेव है सो ही मुहम्मद है तथा जो आदम है वही ब्रह्मा है।[3] तथापि बिलग्रामी ने इस विचारधारा को कुछ अधिक विस्तृत बनाया। मीर अब्दुल वाहिद बिलग्रामी का शब्दकोश इस प्रकार है:—

सरस्वती[4]— से अल्लाह की दया के निरन्तर तथा लगातार पहुँचने एवं अल्लाह के वजूद (अस्तित्व) की ओर संकेत होता है जो तालिबों (साधकों) के चैतन्य हृदय को प्राप्त होती रहती है। जिनमें वारदात (उन्माद) जजबात (भावावेश) तथा इलहाम सम्मिलित है।

गोपी और गूजरी— इनका उल्लेख फरिश्तों की ओर संकेत करता है।

१- पीछे पृ० १४७ देखें।

२. हकायके-हिन्दी, पृ० ३७।

३. पीछे पृ० ४२२ देखें।

४. हकायके-हिन्दी, पृ० ७४।

उद्धव— का उल्लेख हो तो इससे रिसालत पनाह सल्लम (मुहम्मद-साहब) की ओर संकेत होता है।

यशोदा— की चर्चा हो तो इसका तात्पर्य खुदा की दया तथा कृपा का वह सम्बन्ध समझा जाता है जो उसकी ओर से संसार वालों के लिए पूर्व ही से निश्चित है।

नन्द महर— रियासत पनाह सल्लम (मुहम्मद साहब)।

गोवर्धनधारी—इससे लोगों का विचार है कि ईश्वर की अमानत के भार की ओर संकेत होता है जो 'काफ' नामक पर्वत से भी भारी है। मनुष्यों में इस भार को उठाने वाले हमारे रसूल सल्लम हैं।

बिलग्रामी ने यह शब्दकोश इस कारण प्रस्तुत किया था कि सूफी लोग अपनी धर्म-सभाओं में मानसिंह की राजसभा के ध्रुपद, विष्णुपद और होरी धमार गाने लगे थे। इस्लाम के आलिम उनके द्वारा गोवर्धनधारी या सरस्वती की वन्दना को कुफ्र न समझें इस कारण यह अभिनव शब्दकोश बनाया गया था।

इतिहास में महान् वह व्यक्ति नहीं माना जाता जो अपने असिदल के आधार पर बहुत बड़ा भू-भाग जीत सका हो और जनता को त्रास देता रहा हो। चंगेजखाँ, हलाकू और तैमूर को संभवत: कोई इतिहासकार 'महान्' नहीं कहेगा। इतिहास उस व्यक्ति को महान् मानता है जो युग-निर्माता हो, युग-सृष्टा हो, जो मानव को दानवता की ओर से विमुख कर देवत्व की ओर अग्रसर कर सके, जो कुछ ऐसी परम्पराएँ डाल सके जिससे आगे की पीढ़ियाँ उचित दिशा में मार्ग-दर्शन ले सकें तथा जिससे कल्याणकारी सांस्कृतिक परम्पराएँ निर्मित हो सकें। ग्वालियर के तोमर भारत के एक बहुत छोटे-से भू-भाग के अधिपति थे, उनका राज्य भी केवल १२९ वर्ष चला; तथापि उनके समय का ग्वालियरी संगीत, ग्वालियरी भाषा, ग्वालियरी चित्रकला, ग्वालियर का स्थापत्य और सर्वोपरि ग्वालियर का धर्म-समन्वय मध्ययुग के भारत के लिए बहुत बड़ी देन थे। इन महान् परम्पराओं के भव्य भवन पर स्वर्ण-कलश मानसिंह तोमर ने रखा था; सुनिश्चितरूपेण वह भारत की महानतम विभूतियों में है। उसके पहले के तीन सौ वर्षों से भारतराष्ट्र की धमनियों में धार्मिक विद्वेष का जो क्रूर विष प्रभाव दिखा रहा था, नीलकण्ठ के समान मानसिंह उसे पी गया; गूजरीमहल का नीले अक्षरों का कलमा उसी की पतली-सी रेखा है। भारत का यह नीलकण्ठ वन्दनीय है।

स मा प्त

तानसेन का मजार
(पृष्ठ ३१२ देखें)

लादखां की मस्जिद
(पृष्ठ ४२२ देखें)